21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन

IKKISVI SADI KE HINDI UPANYASO MEIN CHITRIT GRAMYA JEEVAN

A Thesis

Submitted in partial fulfillment of the requirements for the award of the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY
in
HINDI

By

Anil Kumar

(41700246)

Supervised By
Dr. Reeta Singh

Co-Supervised by
Dr. Kulwant Singh

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
PUNJAB
2022

लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी

घोषणा पत्र

मैं अनिल कुमार घोषणा करता हूँ कि मैंने ***21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन*** विषय पर लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा (पंजाब) के अन्तर्गत हिन्दी विषय की पी एच. डी की उपाधि डॉ0 रीता सिंह, अस्सिटेंट प्रोफेसर, स्कूल ऑफ समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा (पंजाब) के निर्देशानुसार स्वयं पूर्ण किया है तथा यह मेरा मौलिक कार्य है।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरे द्वारा प्रस्तुत यह शोध प्रबंध आंशिक रूप से अर्थात् पूर्ण रूप से किसी अन्य उपाधि के लिए अन्य किसी विश्वविद्यालय को प्रस्तुत नहीं किया गया है।

दिनांक 18/1/2022

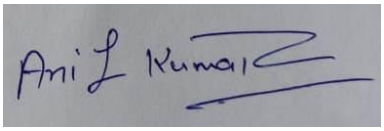

अनुसंधानकर्त्ता
ANIL KUMAR
अनुक्रमांक 41700246
पी एच. डी (हिन्दी)

लवली प्रोफशनल यूनिवर्सिटी

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि अनिल कुमार ने ***21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन*** विषय पर लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा (पंजाब) के अन्तर्गत हिन्दी विषय की पी एच. डी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध मेरे निर्देशन में स्वयं पूर्ण किया है। शोधकर्ता का अनुसंधान कार्य इनके व्यक्तिगत परिश्रम एवं अनुशीलन पर आधारित पूर्णतया मौलिक कार्य है। मेरे संज्ञान में यह शोध प्रबंध आंशिक अथवा पूर्ण रूप से किसी अन्य उपाधि के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय को प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं प्रस्तुत शोध प्रबंध को पी एच. डी (हिन्दी) की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की संतुति प्रदान करती हूँ।

दिनांक 05/02/22

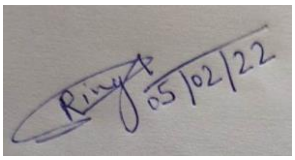

डॉ0 रीता सिंह

अस्सिटेंट प्रोफेसर,

लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी

प्रमाण पत्र (सह–निर्देशक)

प्रमाणित किया जाता है कि अनिल कुमार ने ***21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन*** विषय पर लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा (पंजाब) के अर्न्तगत हिन्दी विषय की पी एच. डी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध मेरे निर्देशन में स्वयं पूर्ण किया है। शोधकर्ता का अनुसंधान कार्य इनके व्यक्तिगत परिश्रम एवं अनुशीलन पर आधारित पूर्णतया मौलिक कार्य है। मेरे संज्ञान में यह शोध प्रबंध आंशिक अथवा पूर्ण रूप से किसी अन्य उपाधि के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय को प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं प्रस्तुत शोध प्रबंध को पी एच. डी (हिन्दी) की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की संतुति प्रदान करता हूँ।

दिनांक 18|1|2022

18|1|2022

डॉ0 कुलवंत सिंह
अस्सिटेंट प्रोफेसर,
चौधरी देवीलाल यूनिवर्सिटी, सिरसा
हरियाणा

21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन

प्राक्कथन

21 वीं सदी का युग वैज्ञानिक युग है। जिस कारण से परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहा है। इस वैज्ञानिक युग का प्रभाव प्रायः ग्रामीण जन–जीवन पर भी पड़ा है। आज भारतीय गाँव तेजी से बदल रहे है। इस बदलते सामाजिक, आर्थिक, राजैतिक, सांस्कृतिक पक्षों का वर्णन हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किया है। उपन्यासकारों ने भारतीय ग्रामीण समाज के प्रत्येक पक्ष से परिचित करवाते हुए बदलते यथार्थ का कारण भूमण्डलीकरण को बताया है। भूमण्डलीकरण के कारण आज भारतीय गाँव अपनी प्राचीन सभ्यता को छोड़कर आगे बढ़ चुके है। जिस कारण गाँवों की संस्कृति अब शहरों और नगरों के काफी समीप आ चुकी है। प्राचीन काल में गाँव में हर जातिवर्ग अपनी जातिगत कार्य के आधार पर हस्त शिल्पकार हुआ करता था जो गाँव की आवश्यकता पूर्ति का माध्यम था। गाँव अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को इन्हीं शिल्पकारों और तरह–तरह के कुटीर उद्योग के आधार पर पूर्ण करता था। अब मशीनों से बने समान सुन्दर, आकर्षण का कारण बनने और सस्ते होने से इन शिल्पीकारों का गाँवों से शहरों की तरफ विस्थापन हो चुका है। अब गाँवों में कार्य जातिगत न होकर मात्र अपनी आजीविका का साधन बन चुका है। आज हर गाँव में कोई भी कार्य जातिगत नहीं रहा है बल्कि कोई भी जातिवर्ग किसी भी अन्य कार्य को अपना सकता है।

कृषि व्यवस्था भी बदलते परिवेश के साथ घाटे का सौदा बनकर रह गई है। मँहगी दवाईयां, खाद–बीज, मौसम की मार, सरकार की नीतियाँ, फसलों के उचित दाम न मिलना, पानी की व्यवस्था न रहना आदि कृषि के पिछड़ेपन के कारण है। कृषक बढ़ते ऋण को चुकाने में असमर्थ होने के कारण आत्महत्याएँ कर रहे है। किसानों के बच्चे अब कृषि, किसानी न करके शहरों की तरफ बढ़ रहे है जिस कारण शहरों और गाँवों में बेरोजगारी बढ़ रही है। छोटे–मोटे धंधे अब स्थायी नहीं रहे जिसके चलते जीवन व्यापन किया जा सके।

ग्रामीण समाज के परिवार अब अपना स्वरूप बदल रहे है। कभी गाँव में संयुक्त परिवार ग्रामीण समाज की व्यवस्था का स्थायी अंग हुआ करता था। परन्तु आज ग्राम्य समाज में एकल परिवार पद्धति का अभिर्भाव हो चुका है। गाँवो में अब परिवार के मुखिया का फैसला रूढ़िगत समझकर परिवार के सदस्यों को खटकता है। गाँवो की सामाजिक व्यवस्था में औरतों को जमीन का हक नहीं दिया जाता है। आज भी शोषण, गृहिणी, पर्दा प्रथा की शिकार ग्रामीण महिला हो रही है।

गाँव में सामाजिक विकास हेतु बनाई जाने वाली संस्थाएं पंच, सरपंच, ब्लाक समिति, जिला परिषद् के सदस्य आज धन के बल पर मुखिया बनते है। जो पहले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते है बाद में जो थोड़ा बहुत बच जाता है उसे गाँव के विकास का रूप दिया जाता है। जिसका प्रभाव विकास के नाम पर बनी सड़के, नालियाँ, भवन समय से पहले ही बलि चढ़ जाते है। लायक सदस्य पैसों के अभाव के कारण इन संस्थाओं का मुखिया नहीं बन पाता है। छोटी जाति, दलित, गरीब को इन पदों के योग्य ही नहीं समझा जाता है। जिसके चलते भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। विकास के नाम पर सरकारी फाइले भरी जा रही है। वास्तविक में गाँव वैसे के वैसे ही रह जाते है।

गाँव के पिछड़ेपन के कारणों में विकास की धीमी रफ्तार, शिक्षा का अभाव, बेरोजगारी, नारी की योग्यता पर शंका, वाहनों का अभाव, चिकित्सा न होना, भ्रष्ट गाँव के मुखिया, सिंचाई व पीने के पानी की कमी, जातिवाद, धार्मिक भिन्नता, जनसंख्या वृद्धि, लघु उद्योगों की कमियाँ, सरकार की विरोधी नीतियाँ, बिजली की कमी इत्यादि है। इन सब विषयों पर चर्चा करते हुए शोध कार्य को पूर्ण किया जाएगा। इस सदी में लगातार उपन्यास लिखे जा रहे है। सबको समेट पाना एक अनुसन्धान में सम्भव नहीं है। इसलिए इसमें अपनी समझ से कुछ प्रतिनिधि उपन्यासों का चयन किया गया है जोकि मेरे शोध कार्य में 'ग्राम्य जीवन' को प्रस्तुत करते है। इस शोध कार्य का अनुशीलन इस सदी में प्रकाशित उपन्यासों *बाबल तेरे देश में, काशी का अस्सी, सहराना, पठार पर कोहरा, जो इतिहास में नहीं है, अकाल संध्या, अकाल में उत्सव, फाँस, कैसी आग लगाई, यही कहीं था घर, चाक, धूणी तपे तीर, अपवित्र आख्यान, रेत, रेहन पर रग्घू, हलफनामें, ग्लोबल गाँव के देवता, मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ, एक जमीन अपनी, काला पादरी, बाजत अनहद ढ़ोल, मुन्नी मोबाईल, उधर के लोग* इत्यादि।

प्रस्तुत शोध प्रबंध *21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन* है। सम्पूर्ण शोध कार्य सुव्यवस्थित रूप से हो सके इसलिए प्रस्तुत शोध कार्य को छह अध्यायों में विभाजित किया गया है।

- प्रथम अध्याय में इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि उपन्यास का प्रारम्भ, उपन्यासों का वर्णन विषय, उपन्यास की परिभाषाएँ, ग्राम आंचलिकता की धारणा, उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश आंचलिक या ग्राम्य उपन्यासों का आरम्भ के साथ–साथ ग्रामांचल से जुड़े साहित्यकारों का व्यक्तित्व और कृतित्व, इक्कीसवीं सदी तक उपन्यास के सफर का वर्णन किया गया है।

- द्वितीय अध्याय में इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन के सामाजिक पक्ष का वर्णन किया गया है जिसके अन्तर्गत ग्राम्य जीवन में परिवार, समाज, नारी शोषण, दलित, आदिवासी, मुस्लिम वर्ग, ग्रामीण समाज के अन्य जातिवर्ग और सभी वर्ग विशेष की समस्याओं से परिचित करवाया गया है।

- तृतीय अध्याय में इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का आर्थिक पक्ष का वर्णन किया गया है जिसमें आर्थिक मूल्य प्रवृत्तियाँ, आर्थिक शोषण, आदिवासी समाज का आर्थिक पक्ष, दलित समाज का आर्थिक पक्ष, मुस्लिम समाज का आर्थिक पक्ष, ग्रामीण समाज का आर्थिक पक्ष, किसान और आर्थिक तंगी आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है।

- चतुर्थ अध्याय में इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का राजनैतिक पक्ष का वर्णन किया गया है। जिसमें इक्कीसवीं सदी की राजनीतिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियाँ, राजनीतिक मूल्य प्रवृत्तियाँ, भूमंडलीकरण में राजनीतिक परिदृश्य, मुस्लिम वर्ग, आदिवासी वर्ग, कृषक वर्ग आदि वर्गों की राजनीतिक पक्षों को चित्रित किया गया है।

- पंचम अध्याय में इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन के सांस्कृतिक पक्ष का वर्णन किया गया है जिसमें भारतीय साहित्य में सांस्कृति की अवधारणा, विस्तार एवं महत्व, आदिवासी समाज का सांस्कृतिक पक्ष, मुस्लिम समाज का सांस्कृतिक पक्ष, दलित समाज का सांस्कृतिक पक्ष, ग्राम्य जीवन के मेले, त्यौहार, खान–पान, रीति–रिवाज, लोक कथाएं आदि के सांस्कृतिक पक्ष का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

- षष्ठम् अध्याय में इक्कीसवीं सदीं में भूमंडलीकरण में ग्राम्य जीवन में हुए विभिन्न परिवर्तनों का वर्णन किया गया है जिसमें भूमंडलीकरण का अर्थ, परिभाषा, स्वरूप, भारत पर भूमंडलीकरण का प्रभाव, मुस्लिम, दलित, आदिवासी, भारतीय कृषि, हिन्दी उपन्यासों का परिदृश्य भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में आदि विषयों पर चर्चा की गई है।

- अन्त में, उपसंहार में अन्तर्गत सम्पूर्ण अनुसंधान का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए यह स्थापित किया गया है कि इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति कलात्मक रूप में हुई है। इन उपन्यासों में बदलते समय की वास्तविकताएँ आकार लेती है और सामाजिक विकास की अवस्थाओं का साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

आभारः इस अनुसंधान को सम्पन्न कराने में आदरणीय डॉ० रीता सिंह अस्सिटेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जिनके मार्ग–निर्देशन में यह कार्य समय से सम्पन्न हो पाया। वह मेरे सहायक निर्देशक डॉ० कुलवन्त सिहँ, असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, चौ० देवीलाल यूनिवर्सिटी, सिरसा, हरियाणा की अहम् भूमिका रही जिन्होंने समय–समय पर मुझे अपने अनुसन्धान कार्य हेतु परामर्श देकर मुझे कार्य को संपन्न करवाने में तह दिल से सहयोग दिया व पुस्तकों सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करवाया। डॉ० विनोद सर, एसोसिएट प्रोफेसर, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, हिन्दी विभाग, फगवाड़ा, पंजाब की अहम् भूमिका रही है, उनके प्रति हार्दिक आभार। अपने दोस्तों गुरमीत, मनप्रीत, अमित ड़डवाना, पत्नी रेनू, भाई बजरंग एन. आई. टी. स्कोलर, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र, ममता मल्होत्रा टाईपिस्ट व मेरा सम्पूर्ण परिवार के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने इस कार्य में मेरा उत्साह ही नहीं बढ़ाया, बल्कि हर तरह का सहयोग किया। जिन संपादकों, लेखकों और आलोचकों की पुस्तकों और पत्र–पत्रिकाओं से मैंने संदर्भ ग्रहण किया है, उनके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

अंत में, मैं उन सभी लोगों और संस्थाओं का भी आभार व्यक्त करता हूँ जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मेरे शोध कार्य को पूर्ण करने में मेरी सहायता की तथा विभिन्न परिस्थितियों में भी मेरे मनोबल की दृढ़ता एवं मनोकामना बनाए रखने में मदद की। प्रस्तुत शोध प्रबंध इस उम्मीद और विश्वास के साथ प्रस्तुत है कि विद्वानजन, सुधीजन शोध प्रबंध में हुई त्रुटियों को स्नेह और उदारता से क्षमा करेंगे।

शोधार्थी
अनिल कुमार
पंजी. सं0 : 41700246
हिन्दी विभाग

विषय अनुक्रमणिका

भूमिका

1.1 समस्या कथन

1.2 समस्या औचित्य

1.3 शोध के उद्देश्य

1.4 परिकल्पना

1.5 शोध प्रविधि

1.6 पूर्वकृत शोध कार्य का सर्वेक्षण

प्रथम अध्यायः हिन्दी उपन्यासों की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि **1—34**

1.1 हिन्दी उपन्यास एवं ग्राम्य जीवन : स्वरूप और विकास

1.1.1 हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ

1.1.2 हिन्दी उपन्यासों का वर्णन—विषय

1.1.2.1 सामाजिक उपन्यास

1.1.2.2 मनोवैज्ञानिक उपन्यास

1.1.2.3 प्रगतिवादी उपन्यास

1.1.2.4 राजनैतिक उपन्यास

1.1.2.5 ऐतिहासिक उपन्यास

1.1.2.6 आँचलिक उपन्यास

1.1.2.7 आधुनिकबोध उपन्यास

1.1.3 उपन्यास के तत्व

1.1.4 उपन्यास की परिभाषाएँ

1.1.4.1 संस्कृत आचार्य

1.1.4.2 अंग्रेजी साहित्यकार

1.1.4.3 हिन्दी साहित्यकार

1.1.5 हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश

1.1.5.1 ग्रामीण स्वरूप

1.1.5.2 ग्राम : व्युत्पत्ति और अर्थ

1.1.5.3 ग्राम परिभाषा

1.1.5.4 भारतीय ग्रामीण जीवन और विशेषताएँ

1.1.5.5 उपन्यास साहित्य : ग्रामीण परिवेश

1.1.5.5.1 नगरीय परिवेश

1.1.5.5.2 ग्रामीण परिवेश

1.1.5.5.3 कस्बाई परिवेश

1.2 हिन्दी उपन्यासों में ग्राम आँचलिकता की अवधारणा

1.2.1 अँचल शब्द की उत्पत्ति एवं कोषगत अर्थ

1.2.2 अँचल की परिभाषा

1.2.3 आँचलिकता से तात्पर्य

1.2.4 ग्राम्य आँचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ

1.3 ग्रामाँचल से जुड़े साहित्यकारों का व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व

1.4 तुलनात्मक दृष्टि

द्वितीय अध्यायः 21वीं सदी के चयनित हिन्दी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का सामाजिक पक्ष **35–105**

2.1 परिवार

2.1.1 एकल परिवार

2.1.2 संयुक्त परिवार

2.1.3 ग्रामीण जीवन में तनाव और उलझने

2.2 समाज

2.2.1 जातिवाद और धार्मिक भिन्नता

2.2.2 नारी विमर्श

2.2.2.1 नारी अस्मिता

2.2.2.2 नारी मुक्ति आंदोलन

2.2.2.3 नारी की वास्तविक स्वतंत्रता

2.2.3 नारी शोषण

2.2.3.1 यौन शोषण

2.2.3.2 पारिवारिक सदस्यों द्वारा यौन शोषण

2.2.3.3 पारिवारिक तथा सामाजिक शोषण

2.2.4 आधुनिक स्त्री के संदर्भ में पश्चिमी और भारतीय जीवन दर्शन का समन्वय

2.2.5 इक्कीसवीं सदीं के हिन्दी उपन्यासों में स्त्री–पुरूष का संबंध

2.3 इक्कीसवीं सदी के ग्रामीण उपन्यासों में नारी चेतना

2.3.1 स्त्रियों द्वारा अन्याय का विरोध

2.3.2 देह प्रदर्शन का विरोध

2.3.3 कामकाजी नारी का दैहिक शोषण के विरूद्ध संघर्ष

2.3.4 नारी का सुविधाओं के लिए संघर्ष

2.4 दहेज की समस्या

2.5 वर्ग–संघर्ष की समस्या

2.6 इक्कीसवीं सदी के ग्राम्य हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग का सामाजिक पक्ष

2.6.1 दलित समस्याएँ

2.6.1.1 छुआछुत की समस्या

2.6.1.2 जाति भेद की समस्या

2.7 इक्कीसवीं सदीं के ग्राम्य उपन्यासों में चित्रित आदिवासी वर्ग का सामाजिक पक्ष

2.7.1 आदिवासियों की सांप्रदायिकता

2.7.2 आदिवासी नारी की समस्या

2.8 इक्कीसवीं सदी के ग्रामीण हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम वर्ग का सामाजिक पक्ष

2.8.1 मुस्लिम धर्म और प्रचलित मान्यताएँ

2.8.2 मुस्लिम धर्म में सामाजिक यथार्थ

2.8.3 मुस्लिम धर्म में सांस्कृतिक यथार्थ

2.9 इक्कीसवीं सदीं में ग्रामीण समाज के अन्य जाति–वर्ग : परिवर्तित स्थिति

2.10 तुलनात्मक दृष्टि

तृतीय अध्यायः 21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का आर्थिक पक्ष **106–189**

3.1 ग्राम्य जीवन की आर्थिक दृष्टि

3.1.1 आर्थिक मूल्य प्रवृत्तियाँ

3.1.2 आर्थिक शोषण

3.2 ग्राम्य जीवन के आदिवासी समाज का आर्थिक पक्ष

3.2.1 जमीदारों द्वारा आदिवासी भूमिधिकृत

3.2.2 ठेकेदारों द्वारा वेतन अपेक्षा

3.2.3 पूँजीपति वर्ग द्वारा आदिवासी मजदूरों से अवैध कार्य करवाना

3.2.4 आर्थिक मूल्य हेतू भ्रष्ट आदिवासी शिक्षा व्यवस्था

3.2.5 आर्थिक विकास के नाम पर आर्थिक शोषण

3.3 ग्राम्य आदिवासी समाज के आर्थिक पक्ष में पिछड़ेपन के अन्य कारण

3.3.1 ऋणग्रस्तता

3.3.2 कमिऔती, बेगार प्रथा और बंधुआ मजदूरी

3.3.3 अवैध खनन

3.3.4 वन कानून

3.3.5 नशा खोरी

3.3.6 बेरोजगारी की समस्या

3.3.7 अकाल की समस्या

3.3.8 विस्थापन

3.3.9 भ्रष्टाचार

3.4 ग्राम्य जीवन के दलित समाज का आर्थिक पक्ष

3.5 ग्राम्य जीवन में किसान और आर्थिक तंगी

3.5.1 किसान जीवन के संघर्ष

3.5.2 भूमंडलीकरण और किसान स्थिति

3.5.3 किसान जीवन और समकालीन परिदृश्य

3.6 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम समाज का आर्थिक पक्ष

3.6.1 कृषि और मुस्लिम समाज

3.6.2 खेती–किसानी और तकनीकी

3.7 ग्राम्य जीवन में अन्य जातिवर्ग का आर्थिक पक्ष

3.8 तुलनात्मक दृष्टि

चतुर्थ अध्यायः 21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का राजनीतिक पक्ष **190–278**

4.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियाँ

4.2 राजनीतिक मूल्य प्रवृत्तियाँ

4.2.1 इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक परिवेश

4.2.2 इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

4.2.3 राजनीति में भ्रष्टाचार

4.3 भूंमडलीकरण में राजनीतिक परिदृश्य

4.3.1 राजनीति : समाज सेवा बनाम स्वसेवा

4.3.2 राजनेताओं की चरित्रहीनता

4.3.3 राजनेताओं की संवेदनहीनता

4.3.4 राष्ट्रहित की भावना का लोप

4.3.5 पूँजी की राजनीति

4.4 ग्राम्य जीवन में दलित समाज का राजनीतिक पक्ष

4.4.1 दलितों का राजनीतिकरण

4.4.2 मीडिया और दलित समाज

4.4.3 सामाजिक समरसत्ता और सत्ता में भागीदारी

4.5 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम समाज का राजनीतिक पक्ष

4.6 विचार शून्य राजनीति

4.7 राजनीति में धर्म

4.8 राजनीति और जाति

4.9 दलबदलू राजनीति

4.10 प्रांतवाद, भाषावाद की राजनीति

4.11 वोट की राजनीतिक

4.12 राजनीति दलदल

4.13 अवसरवादी राजनीति

4.14 जनकल्याण की लुप्त होती भावना

4.15 इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में मीडिया का स्थान

4.15.1 भारतीय राजनीति में मीड़िया की भूमिका

4.15.2 मीड़िया जगत में स्त्री की भूमिका

4.16 तुलनात्क दृष्टि

पंचम अध्याय : 21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का सांस्कृतिक पक्ष **279–334**

5.1 भारतीय साहित्य में संस्कृति की अवधारणा

5.1.1 लोक शब्द की अवधारणा

5.1.2 संस्कृति शब्द की अवधारणा

5.1.3. लोक संस्कृति विस्तार एवं महत्व

5.1.3.1 शिष्ट संस्कृति

5.1.3.2 लोक संस्कृति

5.2 ग्राम्य जीवन के आदिवासी समाज का सांस्कृतिक पक्ष

5.2.1 पहनावा

5.2.2 खान पान

5.2.3 रहन सहन

5.2.4 लोक नृत्य

5.2.5 लोक कथा

5.2.6 लोक वाद्य

5.2.7 पर्व त्यौहार

5.2.8 संस्कार

5.2.8.1 जन्म संस्कार

5.2.8.2 विवाह संस्कार

5.2.8.3 मृत्यु संस्कार

5.2.9 रीति–रिवाज

5.2.9.1 विवाह सम्बन्धी रस्में

5.2.9.2 छोटुल प्रथा

5.2.9.3 गोदना गुदवाने की प्रथा

5.2.9.4 फूल की रस्म या सहिमा जुड़ाने की रस्म

5.2.10 लोक गीत

5.2.10.1 दुख के गीत

5.2.10.2 प्रेम संबंधी गीत

5.2.10.3 मनोरंजन के गीत

5.2.10.4 विवाह सम्बन्धी गीत

5.2.10.5 श्रम गीत

5.2.10.6 मृत्यु गीत

5.2.10.7 मेहमान के स्वागत के गीत

5.3 ग्राम्य जीवन के मुस्लिम समाज का सांस्कृतिक पक्ष

5.3.1 जन्म के रीति रिवाज

5.3.2 विवाह के रीति रिवाज

5.3.3 मृत्यु के रीति रिवाज

5.3.4 मुस्लिम समाज के प्रमुख त्यौहार

5.3.4.1 ईद

5.3.4.2 बकरीद या ईद–उल–अज़हा

5.3.4.3 शबे–बारात

5.3.4.4 मुहर्रम

5.3.5 विधवा विवाह

5.3.6 धार्मिक मान्यताएँ

5.3.6.1 कलमा

5.3.6.2 नमाज

5.3.6.3 रोजा

5.3.6.4 ज़कात

5.3.6.5 हज़

5.3.7 दरगाह, मन्नत, पीर पर विश्वास

5.3.8 शेरों शायरी, मुशायरा, कव्वाली

5.3.9 रहन–सहन, पहनावा

5.3.10 प्रथा एवं परम्पराएँ

5.4 ग्राम्य जीवन में दलित समाज का सांस्कृतिक पक्ष

5.4.1 देवी देवता

5.4.2 खान पान

5.4.3 शिक्षा दीक्षा

5.4.4 सामाजिक सम्मान

5.4.5 परिश्रमी कार्य

5.4.6 अंधविश्वास

5.5 ग्राम्य जीवन के मेले व त्यौहार

5.6 ग्राम्य जीवन में प्रचलित लोकगीत

5.7 ग्रामीण वेश भूषा

5.8 ग्रामीण खान पान

5.9 ग्रामीण रीति रिवाज

5.10 ग्रामीण लोक कथाएँ

5.11 तुलनात्मक दृष्टि

षष्टम् अध्यायः 21वीं सदी में भूमंडलीकरण के परिदृश्य में ग्राम्य जीवन में हुए परिवर्तन **335–373**

6.1 भूमंडलीकरण शब्द का अर्थ

6.2 भूमंडलीकरण की परिभाषाएँ

6.3 भूमंडलीकरण का स्वरूप

6.4 भूमंडलीकरण और नई सदी के हिंदी उपन्यास

6.5 भारत पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

6.5.1 भूमंडलीकरण से उजड़ते गाँव

6.5.2 भूमंडलीकरण से संयुक्त परिवार पद्धति का क्षरण

6.5.3 आपसी रिश्तों में दरारें

6.5.4 वृद्धों की दयनीय स्थिति

6.5.5 प्रतियोगिता की अंधी दौड़

6.5.6 नए मध्य वर्ग का उदय

6.6 आदिवासी समाज पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

6.6.1 भूमंडलीकरण के भंवर में आदिवासी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का संकट

6.6.2 भूमंडलीकरण में आदिवासियों का विस्थापन

6.7 ग्राम्य जीवन में दलितों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

6.8 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम समाज पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

6.9 भारतीय कृषि पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

6.10 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों का परिदृश्य भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में

6.10.1 बाजारीकरण

6.10.2 आर्थिक उदारीकरण

6.10.3 औद्योगीकरण

6.10.4 निजीकरण

6.10.5 अर्थकेन्द्रित मानसिकता

6.10.6 स्वार्थवादी प्रवृत्ति

6.11 आलोचनात्मक मूल्यांकन

उपसंहार **374–378**

ग्रंथ सूची **379–387**

1. आधार ग्रंथ सूची

2. सहायक ग्रंथ सूची

परिशिष्ट

1. पत्रिकाओं में छपे हुए लेख एवं संगोष्ठियों की छायाप्रति

2. लेखकों से साक्षात्कार

3. आत्मवृत

21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन

भूमिका

इक्कीसवीं सदी हिन्दी के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज का विस्तृत जीवन प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया है। हिन्दी के अनेकानेक उपन्यासों में लेखकों की दृष्टि केवल एक विषय पर न होकर सम्पूर्ण समाज, देश, राजनीति, धर्म एवं आर्थिक सभी पर बनी रही है। इसी तरह ग्रामीण यथार्थ को भी आधार बनाकर उपन्यास लेखन का कार्य प्रारंभ किया। जिन लेखकों ने गाँव की जिंदगी को समीप से देखा उसे ही आधार बनाकर गाँवों की समस्याएं उपन्यासों का विषय बनी। भारत ग्रामों का देश है – ये सभी बुद्धिजीवी कहते हैं परन्तु इस बात को विश्लेषित कर उन्हें लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास हिन्दी उपन्यासकारों ने खूब किया है। जमींदारी उन्मूलन अर्द्धशताब्दी से अधिक समय व्यतीत होने पर भी गाँवों की समस्याओं का आंशिक समाधान भी नहीं हुआ है। जमीदारों का स्थान बड़े भूमिपत्तियों और प्रभावशाली लोगों जैसे पंचायतों के मुखिया और सरपंचों ने ले लिया है। परन्तु गरीब ग्रामीण जिस किसी के संपर्क में आता है वही उसका शोषण करने लगता है। सेठ–साहूकार, सूदखोर, दुकानदार, व्यापारी, व्यवसायी, भूमिपति सभी के शोषण का शिकार आज भी ग्रामीण भोली भाँली जनता रहती है। गाँवों में संपन्नो द्वारा विपन्नों पर जो अमानवीय व्यवहार होता है। जातिवाद के कारण चरम पर है गाँवों की पंचायतें भी भ्रष्ट हैं। गाँवों में कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, वे लगभग आज भी सार्वजनिक सुविधाओं से वंचित रहते है।

1.1 समस्या कथन

हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों ने ग्रामीण जन–जीवन को अपने उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। लोक जीवन से जुड़े उपन्यासकारों ने अपने क्षेत्र विशेष के लोक–जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। इन उपन्यासों में जहाँ क्षेत्र विशेष की संस्कृति पेश की गई है वही इन उपन्यासों में उस क्षेत्र विशेष की समस्या को भी उभारा गया है। इन उपन्यासों में अलग–अलग क्षेत्र विशेष की कुछ कुप्रथाएँ भी लोक जीवन से संस्कृति के साथ जुड़ी हुई है। झुग्गी–झोपड़ियों में रहने वाले गरीब ग्राम्य जीवन का त्यागकर महानगरों में जीवन निर्वाह के लिए आए ये शहर में अच्छे रोजगार के अवसर ना पाकर एक भीखमंगे के रूप में जीवन व्यतीत करते है। आधुनिकता की दौड़ में आज पाश्चात्य जगत की प्रथाएं भी हमारे ग्रामीण जीवन को भली भाँति प्रभावित करती है। जहाँ ग्राम्य जीवन कभी कई पीढ़ियों के साथ जुड़कर एक परिवार का निर्माण करता था वहीं ग्राम्य जीवन आधुनिकता की दौड़ में परस्पर रिश्तों को बोझ समझने लगे और सामूहिक परिवार विघटित होने लगे है। जहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी की अपनी

अलग–अलग सोच ने सामूहिक परिवारों में विष घोलने का कार्य किया है। विकास की धीमी रफ्तार, शिक्षा अभाव, जातिवाद, नारी विमर्श, धार्मिक विभिन्नता, आदिवासी साम्प्रदायिकता, मुस्लिम समाज, दलित समाज, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक प्रथा, राजनीति, खेती–किसानी, कुप्रथाएं, भूमण्डलीकरण का भारत पर प्रभाव, बेरोजगारी इन्हीं विषयों को उभारना व सर्व सापेक्ष करना शोध समस्या का विषय होगा।

1.2 समस्या औचित्य

साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य जहाँ हमें अतीत से जोड़कर वर्तमान तक लाता है, वही भविष्य का भी निर्माण करता है। साहित्य का सभ्यता से घनिष्ठ संबंध है। संवेदना पर उपलब्ध साहित्य के गहन अवलोकन एवं शोध समस्या के महत्व के विविध पहलुओं के विवेचन से इस शोध समस्या के पूर्णतया मौलिक व औचित्यपूर्ण होने की संभावना होती है। इस पर किये जाने वाले अनुसंधान से हिन्दी साहित्य में सर्वथा नवीन आयाम का विकास होगा। आधुनिक समाज बहुत जटिल हो गया है। आज के समाज में कितनी ही विशेष प्रकार की समिति और समस्याएँ है। सभी अपने अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति करना चाहती है। इसी कारण आधुनिक समाज में संघर्ष की सम्भावनाएँ भी अधिक है। प्रथाओं के द्वारा इन पर नियन्त्रण रखना असम्भव है। समाज में परिवर्तन बहुत जल्दी–जल्दी होता है, इस कारण सामाजिक आवश्यकताएँ भी शीघ्रता से बदलती है पर प्रथाएँ रूढ़िवादी होती है, इसलिए इनके द्वारा बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाना जटिल होता है। आधुनिक समाज में अनेक प्रकार के समूह पास–पास रहते है, प्रत्येक की लोक संस्कृति और लोक जीवन की परम्पराएँ अलग–अलग होती है, ऐसी अवस्था में प्रथाओं के आधार पर सामाजिक संगठन व एकता कदापि स्थापित नहीं हो सकती। जहाँ शहरों में जाति, समाज आदि को छोड़कर लोग आगे बढ़ चुके है, वहीं गाँवों में आज भी इन सब चीजों को महत्व दिया जा रहा है जो ग्रामीण समस्या का कारण है। इसके इलावा ग्राम्य लोक जीवन की समस्याएँ भिन्न है शिक्षा का अभाव, विकास की धीमी रफ्तार, स्वास्थ्य की सम्पूर्ण सुविधा उपलब्ध न होना, मौसम की मार, अवैधानिक तत्वों की मौजूदगी, परिवहन के साधनों का अभाव, भौतिक सुख की सुविधाओं का अभाव इत्यादि।

1.3 शोध के उद्देश्य

भारत देश का बहुत बड़ा भू–भाग जनसंख्या की दृष्टि से गाँवों में ही निवास करता है, प्रत्येक ग्राम अपनी विशेष संस्कृति को धारण किए हुए है। इस शोध कार्य में एक से अधिक राज्यों व उनके कुछ ग्रामों का विभिन्न लोक जीवन, संस्कृति, परम्परा, रीति–रिवाज, समस्या का

परिचय करवाने में प्रभावी सिद्ध होगा। शोध कार्य के अंतर्गत लोकजीवन के निम्न बिन्दु सामने आएंगेः–

1. 21वीं शताब्दी के उपन्यास साहित्य का आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अनुशीलन करना।
2. ग्रामीण जीवन की नवीन संभावनाओं को सामने रखकर उपेक्षितों की व्यथाओं को वाणी प्रदान करना।
3. ग्रामों में किसानों की बढ़ती ऋण की समस्याएँ एवं उससे बढ़ती आत्महत्या के कारणों का वर्णन करना।
4. भूमंडलीकरण से भारतीय समाज के बदलते परिदृश्य का चित्र प्रस्तुत करना।
5. ग्राम्य मानव जीवन और मूल्यों में आधुनिकरण से हो रहे परिवर्तन के चित्रण की प्रस्तुति करना।

1.4 परिकल्पना

किसी घटना की व्याख्या करने वाला कोई सुझाव या अलग–अलग प्रतीत होने वाली बहुत सी घटनाओं के आपसी सम्बन्ध की व्याख्या करने वाला कोई तर्कपूर्ण सुझाव परिकल्पना कहलाता है। वैज्ञानिक विधि के नियमानुसार आवश्यक है कि कोई भी परिकल्पना परीक्षणीय होनी चाहिये। सामान्य व्यवहार में, परिकल्पना का मतलब किसी अस्थायी विचार से होता है जिसके गुणागुण अभी सुनिश्चित नहीं हो पाये हो। जिस प्रकार ध्रुव तारा रास्ते में भटके हुए राही को दिशा प्रदान करता है। ठीक उसी प्रकार परिकल्पना भी शोधकर्ता को अनुसंधान कार्य करने हेतु दिशा निर्देश करती है। परिकल्पना प्रारंभ से लेकर अंत तक सभी अनुसंधान का आधार है जिसकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए उसकी परीक्षा की जा सकती है। प्रस्तुत विषय पर अनुसंधान करने से पहले मेरे मन में निम्नांकित प्रश्न उपस्थित हुए –

1. तुलनात्मक अध्ययन की पृष्ठभूमि तथा उसका महत्व क्या है ?
2. हिंदी में आँचलिक ग्रामीण लोक जीवन उपन्यास साहित्य की परंपरा कैसी होगी ?
3. हिंदी उपन्यासों में भिन्न क्षेत्र और भिन्न उपन्यासकारों में उपन्यास साहित्य को लेकर कौन सी समानताएँ और विषमताएँ हो सकती है।
4. ग्राम, ग्रामीण, ग्रामीणता तथा अंचल, आंचलिक, आँचलिकता से तात्पर्य एवं उसका स्वरूप कैसा होगा ?

5. हिंदी साहित्य में आँचलिकता का प्रारम्भ रेणु ने मैला आँचल में किया, उसका अध्ययन करना और आँचलिक तत्वों को समझना ?

6. ग्रामाँचलिक और साधारण जन–जीवन में किस प्रकार का अंतर है ?

7. ग्रामीण जीवन प्राकृतिक परिवेश में कितना प्रभावित होता है ?

8. विभिन्न ग्रामाँचल में स्थित लोगों का और जनजातियों का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साँस्कृतिक जीवन कैसा है ?

9. ग्राँमाचलिक जन जीवन में राजनीति की पहल कैसी है ?

10. ग्रामीण जीवन कौन–कौन सी समस्याओं से ग्रस्त है पिछड़े तथा अज्ञानी रहने के कौन से कारण है ?

11. ग्रामीण जन–जीवन बदल रहा है तो किस रूप में बदल रहा है ?

1.5 शोध प्रविधि

जब कोई शोधकर्त्ता शोध समस्या का अध्ययन करना चाहता है तो समस्या निर्धारण के बाद उसका मुख्य सोपान शोध अभिकल्प को बनाना है यह मुख्य अनुसंधान कर्त्ता का शोध करने की योजना संबंधी उपकरण होता है। जिसके आधार पर अध्ययनकर्त्ता शोध कार्य के मार्ग में आने वाली स्थितियों को नियंत्रण में लाता है जिससे समय, धन तथा श्रम की बचत ही नहीं, बल्कि अनुसंधानकर्त्ता निरर्थक भटकाव से बचकर अत्यधिक आत्मविश्वास के साथ अपने अनुसंधान के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को प्राप्त कर लेता है। इस शोध प्रर्चना का मुख्य उद्देश्य समस्या से संबंधित प्राप्त मौलिक तथ्यों तथा आँकड़ों के आधार पर वर्णात्मक विवरण प्रस्तुत करना होता है। जो किसी समुदाय, समूह तथा व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होते हैं। किसी भी शोध को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए विभिन्न अध्ययन प्रणालियों तथा विधियों का प्रयोग करना अनिवार्य होता है। क्योंकि विज्ञान का संबंध वैज्ञानिक पद्धतियों से होता है न कि शोध विषय से। संबंधित वस्तुपरक तथा तथ्यपरक वैज्ञानिक निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए शोधकर्त्ता को निरीक्षण, तथ्य संचालन, वर्गीकरण प्रशिक्षण, पुर्नपरीक्षण, निष्कर्ष एवं प्रस्तुतीकरण आदि जटिल रास्तों से गुजरना पड़ता है।

प्रस्तुत शोध **'21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन'** भी कुछ शोध प्रविधियों को आधार मानकर सम्पूर्ण किया जाएगा। इस शोध कार्य हेतु प्रयोग की जाने वाली कुछ शोध प्रविधि निम्न प्रकार से होगी :–

तुलनात्मक शोध प्रविधि :—वह विद्या—शाखा है जिसमें दो या अधिक भिन्न भाषायी, राष्ट्रीय या सांस्कृतिक समूहों के साहित्य का अध्ययन किया जाता है तुलना इस अध्ययन का मुख्य अंग है। साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन व्यापक दृष्टि प्रदान करता है।

सामाजिक अनुसंधान :—प्राथमिक उद्देश्य ज्ञान की वृद्धि, ज्ञान का विस्तार एवं पुनः परीक्षा है। यह अध्ययन सामाजिक जीवन के अध्ययन, विश्लेषण तथा प्रत्यक्षीकरण करने की एक पद्धति के रूप में केन्द्रित है। इस अध्ययन की प्रकृति पूर्णतः वैज्ञानिक है और इसमें निरीक्षण, तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण आदि के द्वारा विषय को अवधारणाबद्ध किया जाता है।

विश्लेषणात्मक शोध :— शोधकर्ता का चरों पर नियंत्रण होता है। शोधकर्त्ता पहले से उपलब्ध सूचनाओं व तथ्यों का अध्ययन करता है।

ऐतिहासिक शोध :— इस शोध विधि में इतिहास को ध्यान में रखकर शोध होता है। मूल प्रश्न होता है क्या था? इस बात को जानने के लिए विषय वस्तु के अतीत को जानना बहुत जरूरी होता है।

1.6 पूर्वकृत शोध कार्य का सर्वेक्षण

1. स्वतन्त्रायोत्तर भारत में ग्रामीण जीवन की बदलती परिस्थिति और रेणु, शबनम तब्बसुम, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, 2014।

   इस शोध कार्य में गांवों में भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आए बदलाव का वर्णन करने के साथ—साथ इन परिस्थितियों को फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास "मैला आँचल" में प्रस्तुत समस्याओं से जोड़ा गया है। ग्रामीण जीवन के आर्थिक पक्ष का अध्ययन किया गया है।

2. हिन्दी उपन्यासों में गाँवों का बदलता स्वरूप, नीलम रानी, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, 2012।

   इस शोध कार्य में बिहार क्षेत्र में उपन्सासकारों द्वारा रचित उपन्यासों में गाँवों में बदलते हालातों को उभारकर बिहार क्षेत्र की सांस्कृतिक व आर्थिक संघर्ष का चित्रण किया गया है।

3. स्वतंत्रयोत्तर भारत में ग्रामीण समाज में बदलते मानव संबंध व रेणु का उपन्यास, शुभनारायण सिंह, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2008।

इस शोध कार्य में भारत की आजादी के बाद मानव में जाति, धर्मक्षेत्र के आधार पर उठे मतभेदों को रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में जाति, धर्म के टोले से जोड़कर गिरते मानवीय मूल्यों को उभारा गया है जो देशहित के लिए एक खतरा है।

4. श्री लाल शुक्ल कृत "राग दरबारी" उपन्यास का समाजशास्त्रीय अध्ययन, जय प्रकाश, चौ0 चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, 2000।

   प्रस्तुत शोध में श्रीलाल शुक्ल द्वारा रचित आंचलिक उपन्यास 'राग दरबारी' में पूर्णिया जिले (बिहार) के शिवपालगंज गांव व समवर्ती सीमा के गांवों के सामाजिक परिवेश का रहन–सहन, संस्कृति व गांव की दयनीय स्थिति से परिचित करवाया गया है।

5. नागार्जुना के उपन्यासों में अंचल दृष्टिकोण, समीर कुमार पाठक, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झांसी, 2014।

   इस शोध कार्य में नागार्जुन के उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश को निहारा है कठिन परिश्रम अर्प्याप्त मजदूरी भूखमरी व जमींदारों द्वारा शोषित होती नारी को रेखांकित किया गया है।

6. राही मासूम रजा के उपन्यासों में पात्र परिकल्पना, राकेश–नारायण, डॉ० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा, 2002।

7. इस शोध कार्य के दौरान राही मासूम रजा द्वारा अपने आंचलिक उपन्यास के पात्रों की नामकरण के साथ प्रत्येक पात्र किसी न किसी समस्या का शिकार रहा है उसको वर्णित किया गया है। राही मासूम रजा के आंचलिक उपन्यासों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण, प्रमोद कुमार राय वि० बि० सिंह विश्वविद्यालय, जौनपुर, 2002।

   इस शोध कार्य में ग्रामीण परिवेश में आजादी के दौरान उन्हीं राष्ट्र प्रेम की धारा प्रवाहित होती दिखाई गई है व वर्णन किया गया है कि राष्ट्र प्रेम के लिए नगरों के मुकाबले गांवों के लोग हमेशा आगे रहे हैं।

8. नवम दशक के उपन्यासों में चित्रित ग्रामीण जीवन, गिरिश काशिद, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर 2001।

   इस शोध कार्य में नवें दशक के आंचलिक उपन्यासों में सीधे–साधे सरल ग्रामीण जीवन का परिवेश दर्शाया है व नगरों महानगरों की तुलना में आपसी पारिवारिक प्रेम को चित्रित किया गया है।

9. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में विविध आयाम, दयाराम, महाराजा गंगा सिंह, विश्वविद्यालय, बीकानेर, 2016।

   इस शोध कार्य में रामदरश मिश्र जो एक आंचलिक उपन्यासकार है इनके उपन्यासों में विभिन्न ग्रामीण परम्पराओं, रीतिरिवाजों, उनके दुख–सुख व अंचल विशेष का वर्णन किया है।

10. हिन्दी की आंचलिक उपन्यास परम्परा का उद्‌भव और विकास, इंदिरा जोशी।

    इस शोध कार्य में प्रेमचन्द पूर्व, प्रेमचन्द, युगी, प्रेमचन्दोत्तर आंचलिक उपन्यासकार व उपन्यासों को विषय वस्तु बनाकर उनके आंचलिक उपन्यासों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि पूर्वकृत शोधकार्यों में ग्रामीण अंचल से जुड़े कुछ समस्याओं तथा विभिन्न विषयों, अर्थ, स्वरूप, जीवन मूल्य व कारकों का अध्ययन किया गया है। लेकिन मेरा शोध कार्य **'21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन'** भिन्न–भिन्न क्षेत्र को एक साथ ग्रामीण अँचल से परिचित करवाते हुए ग्रामीण आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति, ग्रामीण किसान, दलित समाज, आदिवासी समाज, मुस्लिम समाज के विभिन्न पक्षों व भूमंडलीकरण के भारत पर प्रभाव को एक साथ उभारेगा।

प्रथम

अध्याय

प्रथम अध्याय

हिन्दी उपन्यासों की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

हिन्दी के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज का विस्तृत जीवन प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया है। हिन्दी के अनेकानेक उपन्यासों में लेखकों की दृष्टि केवल एक विषय पर न होकर सम्पूर्ण समाज, देश, राजनीति, धर्म एवं आर्थिक सभी पर बनी रही है। इसी तरह ग्रामीण यथार्थ को भी आधार बनाकर उपन्यास लेखन का कार्य प्रारंभ किया गया। जिन लेखकों ने गाँव की जिंदगी को समीप से देखा उसे ही आधार बनाकर गाँवों की समस्याएं उपन्यासों का विषय बनी। भारत ग्रामों का देश है – ये सभी बुद्धिजीवी कहते है। परन्तु इस बात को विश्लेषित कर उन्हें लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास हिन्दी उपन्यासकारों ने खूब किया हैं। जमींदारी उन्मूलन उर्द्धशताब्दी से अधिक समय व्यतीत होने पर भी गाँवों की समस्याओं का आंशिक समाधान भी नहीं हुआ है। जमीदारों का स्थान बड़े भूमिपत्तियों और प्रभावशाली लोगों जैसे पंचायतों के मुखिया और सरपंचों ने ले लिया है। परन्तु गरीब ग्रामीण जिस किसी के संपर्क में आता है, वही उसका शोषण करने लगता है। सेठ–साहूकार, सूदखोर, दुकानदार, व्यापारी, व्यवसायी, भूमिपति सभी के शोषण का शिकार आज भी ग्रामीण भोली–भाँली जनता रहती है। गाँवों में संपन्नों द्वारा विपन्नों पर जो अमानवीय व्यवहार होता है जातिवाद के कारण चरम पर है। गाँवों की पंचायतें भी भ्रष्ट है, जिसमें अन्याय ही होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति कोई बहुत बड़ा वरदान लेकर नहीं आई। जिसमें जमींदार तो अंग्रेजों के साथ थे, जबकि किसान, मजदूर तथा दलितों ने कंधे से कंधा मिलाकर आजादी को पाया। लेकिन गाँवों में कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, वे लगभग आज भी सार्वजनिक सुविधाओं से वंचित रहते है।

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने वैविध्य और विकास के सभी कोणों को छूकर संवेदना और शिल्प को ही जीवित नहीं रखा। समाज की वास्तविक समस्याओं का भी समाधान खोजने का प्रयत्न किया है। आजादी के बाद समाज को विवशता की मुद्रा से निकालकर व्यापक अनुभवों और सामर्थ्य से भारतीय सामाजिक जीवन को नवीन ऊर्जा से प्रस्फुटित किया। सत्ता और राजनीति के द्वंद्व व्यक्ति और समाज की हड़ताल, पीढ़ियों की दूरियाँ, बदलते संबंधों की छटपटाहट, भारतीय समाज और जीवन में हो रहे परिवर्तनों को हिन्दी उपन्यास से सशक्त मुहावरे से पनपकर उसके द्वारा कलात्मक बहुरंगी विविधता की समग्रता में

भारतीयता की अभिव्यक्ति की। इक्कीसवीं सदीं के परिदृश्य में सामाजिक, राजनीति, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक, भूमंडलीकरण विषयों पर विशेष चर्चा हो रही है। इन विषयों पर विस्तृत चर्चा करने से पहले हम हिन्दी उपन्यासों की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश ड़ालते है।

1.1 हिन्दी उपन्यास एवं ग्राम्य जीवन : स्वरूप और विकास

इस शीर्षक का संवेदना पद व्याख्यापेक्षी है। सम्प्रति हिन्दी आलोचना में संवेदना पद अनुभूति के अर्थ में प्रस्तुत हो रहा है। आचार्य रामचन्द्र का भावुकता पद भी इसी के समकक्ष है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी इस पद का प्रयोग किसी व्यक्ति, देश या जाति के कृमिक अनुभवों का सम्पूजन के अर्थ में करते है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास* में लिखा है, "साहित्य रचना में अनुभवों की क्रिया–प्रतिक्रिया का केन्द्रीय महत्व है। तब किसी साहित्य के विकास को बेहतर समझने के लिए उस क्षेत्र के भाषा–भाषियों की संवेदना को समझना उपयोगी होगा।"(1) उपन्यास एक जटिल, मिश्रित और सतत् विकासमान विधा है। अतः लेखक, पाठक और जिस समाज में वे रहते है, उन सबकी संवदेनाओं का संश्लिष्ट रूप व्यक्त होता है। उपन्यासकार अनुभूति और भावुकता के साथ–साथ जीवन और जगत् के यथार्थ के गंभीर और बहुआयामी अनुभव, चिन्तन, तर्कसंगत व्याख्या, वैज्ञानिक विश्लेषण, सामान्यीकरण, निष्कर्ष आदि आवश्यक रूप से मिले–जुले रहते है।

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि संवेदना के धरातल पर हिन्दी उपन्यास एक मध्य वर्गीय वैश्य परिवार के सामान्य घरेलू यथार्थ और विशेष रूप से, हर दृष्टि से पिछड़ी हुई और दलित नारी के चरित्र और परिवेश से जुड़ा हुआ है। हिन्दी उपन्यास की पृष्ठभूमि में पंचतंत्र, जातक कथा, वृहद् कथा, वासवदत्ता, हर्ष चरित, कादम्बरी, हितोपदेश, तिलक मंजरी, बृहत् कथा मंजरी आदि अख्यानों ग्रन्थों को हम हिन्दी साहित्य में उपन्यास की पूर्व भूमिका कह सकते हैं। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों का उद्देश्य पाठकों को कल्पनालोक में घूमाना तथा उनका मनोरंजन मात्र करना होता था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक *हिन्दी साहित्य का इतिहास* में लिखा है, "हिन्दी साहित्य का सब से नया और शक्तिशाली रूप उपन्यासों में प्रकट हुआ।"(110) उपन्यास मानव जीवन की एक काल्पनिक कहानी है। जिसमें सामाजिक जीवन का भी यथार्थ रूप में चित्रण किया गया है। प्राचीन भारतीय जीवन का भी चित्रण यथार्थ रूप में चित्रित किया जाता है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसलिए हमें यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि हिंदी उपन्यास का जन्म आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव स्वरूप ही हुआ है। ऐसा कह सकते है कि उपन्यास साहित्य जिस रूप में आज है, वह पश्चिमी

साहित्य की देन है। पश्चिमी उपन्यास का स्वरूप दिखाते हुए नंददुलारे वाजपेयी ने अपने ग्रंथ *आधुनिक हिन्दी साहित्य* में लिखते है, "मध्ययुग के सांमती समाज का आविर्भाव हो रहा था और नगरों में नवीन मध्यम वर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी, उसी समय उपन्यास के साहित्यांग का आविर्भाव हुआ।"(124) बंगला उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासों पर व्यापक प्रभाव पड़ा और बंगला उपन्यास अपने प्रांरभिक रूप में अंग्रेजी उपन्यास साहित्य से प्रेरित था। इसलिए शिल्प की दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों पर अप्रत्यक्ष रूप में अंग्रेजी उपन्यास का प्रभाव दिख रहा था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने इतिहास ग्रंथ *हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास* में लिखते है, "बंगला उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यासों को अति प्राकृतिक अतिरंजित घटना, बहुत ऐय्यारी उपन्यासों से मुक्त किया और शुद्ध भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख किया।"(127)

हिन्दी उपन्यास की प्रारंभिक विकासधारा में उपन्यास कला के दर्शन कम है और नीति, उपदेश और चमत्कार प्रदर्शन ज्यादा है। ऐसा कहा जा सकता है कि उपन्यासकारों की दृष्टि सुधारवादी भावना के साथ–साथ मनोरंजन प्रदान करने की थी। ज्यादात्तर उपन्यास नारी जीवन, वेश्यावृत्ति, अनमेल विवाह आदि विषय को लेकर लिखे गये है। उपन्यास साहित्य की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि – 'उपन्यास औद्योगिक क्रान्ति के युग का महाकाव्य है।' विषयवस्तु की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना, राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं ग्रामीण जैसे तत्वों को प्रधानता देकर उपन्यास लिखे गए है।

1.1.1 हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ

हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ लाला श्री निवास दास कृत *परीक्षागुरू* 1882 से माना जाता है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यास अधिकतर ऐय्यारी और तिलस्मी किस्म के थे। अनुदित उपन्यासों में पहला सामाजिक उपन्यास भारतेन्दु हरिशचन्द्र कृत *पूर्णप्रकाश* और *चन्द्रप्रभा* नामक मराठी उपन्यास का अनुवाद था। आरम्भ में हिंदी में कई उपन्यास बंगला, मराठी आदि से अनुवादित किए गए थे। हिंदी में सामाजिक उपन्यासों का आधुनिक अर्थ में सूत्रपात प्रेमचंद से हुआ। प्रेमचंद पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिंदी की तरफ मुड़े। इनका *सेवासदन, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, निर्मला, गोदान* आदि प्रसिद्ध उपन्यास है, जिनमें ग्रामीण वातावरण का उत्तम चित्रण है। चरित्र चित्रण में प्रेमचंद गांधी जी के 'हृदय परिवर्तन' के सिद्धांत को मानते थे। बाद में उनकी लेखनी का रूझान समाजवाद की ओर गया, ऐसा जान पड़ता है। कुल मिलाकर उनके हिंदी उपन्यास आधुनिक सामाजिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है। जयशंकर प्रसाद के *कंकाल* और *तितली* उपन्यासों में भिन्न प्रकार के समाजों का चित्रण है, परंतु शैली सामाजिक कम काव्यात्मक अधिक है। प्रेमचंद की शैली अनुकरण से विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक,

प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि अनेक लेखकों ने सामाजिक उपन्यास लिखे, जिनमें एक प्रकार का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अधिक था। परंतु पांण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि ने फ्रांसीसी ढंग का यथार्थवाद और प्रकृतवाद अपनाया और समाज की बुराईयों का विस्फोट किया। इस शैली के उपन्यासकारों में सफल रहे *चित्रलेखा* के लेखक भगवतीचरण वर्मा, जिनके *टेढ़े मेढ़े रास्ते* और *भूले बिखरे चित्र* बहुत प्रसिद्ध है। उपेन्द्रनाथ अश्क का *गिरती दीवारें* का भी इस समाज की बुराइयों के चित्रणवाली रचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान है। अमृतलाल नागर की *बूंद और समुद्र* इसी यथार्थवादी शैली में आगे बढ़कर आँचलिकता से मिलने वाला एक श्रेष्ठ उपन्यास है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'जैनेन्द्र कुमार' से शुरू हुए। *परख, सुनीता, कल्याणी* आदि से भी अधिक *त्यागपत्र* उपन्यास ने हिंदी में बड़ा योगदान दिया। जैनेन्द्र भी दार्शनिक शब्दावली में अधिक उलझ गए। मनोविश्लेषण में अज्ञेय ने अपने *शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने अपने अजनबी* में उतरोत्तर गहराई और सूक्ष्मता उपन्यासकला में दिखाई। इस शैली में लिखने वाले बहुत कम मिलते हैं। सामाजिक विकृतियों पर इलाचन्द्र जोशी के *सन्यासी, प्रेत और छाया, जहाज का पंछी* आदि में अच्छा प्रहार किया है। इस शैली के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती का *सूरज का सातवाँ घोड़ा* और नरेश मैहता का *यह पंथ बंधु था* उत्तम उपलब्धियाँ हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में हजारी प्रसाद द्विवेदी का *बाणभट्ट की आत्मकथा* एक बहुत प्रसिद्ध उपन्यास है जिसमें प्राचीन काल के भारत को मूर्त किया गया है। वृंद्रावन लाल वर्मा के *लक्ष्मी बाई, मृगनयनी* आदि में ऐतिहासिकता तो बहुत है रोचकता भी है, परंतु काव्यमयता द्विवेदी जैसी नहीं है। यथार्थवादी शैली, सामाजिक यथार्थवाद की ओर मुड़ी *दिव्या* और *झूठा सच* के लेखक यशपाल और *बलचनमा* के लेखक नागार्जुन इस धारा के उत्तम प्रतिनिधि हैं, कहीं–कहीं इनकी रचनाओं में प्रचार का आग्रह बढ़ गया है। हिंदी की नवीनतम विधा आँचलिक उपन्यासो की है, जो शुरू होती है फणीश्वरनाथ 'रेणु' के *मैला आँचल* से और उसमें अब कई लेखक हाथ आजमां रहे हैं, पाण्डे और पाण्डे के इतिहास ग्रंथ *हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास* के अनुसार, जैसे "संजीव, रणेन्द्र, सुधा अरोड़ा, असगर वजाहत, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुदगल, राकेश कुमार सिंह, तेजिन्दर, हरिराम मीणा, महुआ माजी, पुन्नी सिंह, जय प्रकाश कर्दम, राजू शर्मा, प्रदीप सौरभ, भगवान दास मोरवाल, काशीनाथ सिंह, मधुकर सिंह, रामधारी सिंह दिवाकर, अजय नवारिया इत्यादि।"(265–308) लगभग एक दशक तक आँचलिक उपन्यास की खूब चर्चा रही, पर छठे दशक के अन्त में कथाकार आँचलिक तत्व मौजूद रहने पर भी अपने उपन्यासों को आँचलिक विश्लेषण देने से कतराने लगें।

1.1.2 हिन्दी उपन्यासों का वर्णन विषय

प्रेमचंद के उपन्यासों में विभिन्न प्रवृतियों के स्पष्ट कोई लक्षण नहीं मिलते, परंतु प्रेमचंद के पश्चात् जो उपन्यास लिखे गये, उनमें विभिन्न प्रवित्तियाँ उभरकर सामने आई। वस्तुतः प्रवृत्ति विषय के लक्षण प्रेमचंद से मिलने लग गए थे। अतः यहाँ पर प्रवृत्तियों विषयों को आधार मानते ही प्रेमचन्दोत्तर साहित्य का विवेचन किया जा सकता है। प्रेमचंद की विरासत को संभालने में उनके उत्तराधिकारी पूर्ण समर्थ रहे। इस युग में उपन्यास के अनेक मोड़ दिखाई देने लगे। तत्पश्चात् यह धारा कई शाखाओं में बँट गई। प्रेमचंद के बाद जैनेन्द्र की खूब चर्चा हुई। प्रेमचन्दोत्तर काल में हिन्दी उपन्यास विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हो रहा था। ये धाराएँ निम्न रूप से प्रवाहित हुई, जिसका विस्तार से वर्णन प्रस्तुत करने का मेरा प्रयास रहा है। विषयवस्तु की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना, राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं ग्रामीण जैसे तत्वों की प्रधानता देकर उपन्यास लिखे जाने लगे। जिसे निम्न रूप से पहचाना जाता है –

1.1.2.1 सामाजिक उपन्यास

1.1.2.2 मनोवैज्ञानिक उपन्यास

1.1.2.3 प्रगतिवादी उपन्यास

1.1.2.4 राजनैतिक उपन्यास

1.1.2.5 ऐतिहासिक उपन्यास

1.1.2.6 आँचलिक उपन्यास

1.1.2.7 आधुनिकबोध उपन्यास

1.1.2.1 सामाजिक उपन्यास

इन्द्रनाथ चौधरी ने अपनी पुस्तक *तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य में लिखा है,* सामाजिक उपन्यास "कला की आधारभूत विचारधारा व्यकित चिंतन से संबंध न होते हुए भी समाज मंगल की भावना से अनुप्रेरित होती है।"(17) इस धारा के उपन्यासकारों ने मुख्यतः व्यक्ति और समाज की मुख्य समस्याओं को लेकर उपन्यास की रचना की। जिनमें समाज में नारी की स्थिति, स्त्री पुरूष संबंध, धार्मिक अंध–विश्वासों के चित्र आदि की समस्याएँ विशेष उभरकर आई। प्रेमचंदोत्तर काल में, इस कोटी के प्रमुख उपन्यासकार विश्वम्भर नाथ कौशिक 'माँ' में कर्तव्यपरायणता माता का चित्र है, तो *भिखारिणी* में त्याग और अनुरागमयी नारी का आदर्श चित्र है। प्रेमचंद के पश्चात् इस परंपरा को यशपाल ने आगे बढ़ाया। उनके उपन्यास

झूठा सच तथा *मनुष्य के रूप* आदि में समाजवादी चिंतन उभरकर आया है। सुमन राजे के इतिहास ग्रंथ *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास* के अनुसार, "भगवती प्रसाद वाजपेयी के तीन सामाजिक उपन्यास 'निमन्त्रण', 'पतवार', 'पतिता की साधना' हैं। प्रताप नारायण श्री वास्तव के तीन उपन्यास 'विदा', 'विजय', और 'विकास' तथा इसके अतिरिक्त इस धारा को आगे बढ़ाने में भैरवप्राद गुप्त का 'गंगामैया', अमृतराय का 'नागफनी का देश', मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' आदि इस धारा के श्रेष्ठतम उपन्यास है, जो सामाजिक धारा के है।"(368)

प्रेमचंद के पश्चात् इस युग में कई नये साहित्यकार आये, जिन्होंने समाज की विभिन्न समस्याओं को अपने उपन्यासों में उजागर किया।

1.1.2.2 मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में समाज की उपेक्षा व्यक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसमें व्यक्ति के मन का विश्लेषण प्रधान रहता है। इसलिए इन्हें मनोविश्लेषणवादी उपन्यास भी कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वान फ्रायड, एडगर और जुंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को लेकर अनेक उपन्यास लिखे गये। पाण्डे और पाण्डे के इतिहास ग्रंथ *हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास* के अनुसार,"

इन तीनों विद्वानों के अनुसार व्यक्तिवादी जीवन दर्शन के चरम विकास की स्थिति में विशेष रूप से मध्यवर्गीय व्यक्ति के अतंरमुखी या आत्मकेन्द्रित होने के कारण बाहर से भीतर आता है। उसके दलित भाव कण का रूप धारण कर लेते हैं। व्यक्ति भी इन्हीं कुंठाओं का विश्लेषण करने वाला मनोविश्लेषणवादी कहलाता है। "मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथावस्तु संक्षिप्त, पात्रों की संख्या अल्प और ब्राह्य वातावरण के स्थान पर मानव मन का ही सूक्ष्म विश्लेषण पाया जाता है।"(286) जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार है।

जैनेन्द्र ने *परख, सुनिता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, मुक्तिबोध* आदि अनेक उपन्यासों में स्त्री–पुरूष के प्रेम जैसे विषयों का सुन्दर मनोविश्लेषण किया है। इलाचन्द्र जोशी के *सन्यासी, मृणमयी, परदे की रानी, प्रेत और छाया, लज्जा, जहाज का पंछी* आदि उपन्यासों में प्रेम और कामवासना को ही केन्द्रीय भाव के रूप में वर्णित किया गया है। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने *शेखर एक जीवनी*, तथा *नदी के द्वीप, अपने अपने अजनबी* में जीवन–मृत्यु, प्रेम–घृणा, हिंसा–अहिंसा, धर्म–नीति, प्यार–वासना आदि समस्याओं पर विश्लेषण किया है। इनके अतिरिक्त डॉ० देवराज का *पंथ की खोज*, नरोत्तम नागर का *दिन के तारे*, धर्मवीर भारती का *गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा*, श्री मति रजनी पनिकर के *पानी*

की दीवार, काली लड़की, जाड़े की धूप इत्यादि में नारी मनोविज्ञान के विविध रूपों का चित्रण मिलता है।

1.1.2.3 प्रगतिवादी उपन्यास

प्रगतिवादी अथवा समाजवादी उपन्यास का मूल आधार वह समाजवादी चेतना है, जो आदर्शवाद से आरंभ होकर यथार्थवाद की ओर गति करती है। प्रगतिवादी उपन्यासों में मार्क्सवादी विचारधारा प्रस्तुत होती है। इनमें सामाजिक समानता जैसे विषयों का समावेश किया गया है। वैसे प्रेमचंद के *मंगलसूत्र* से इसका आरंभ समझना चाहिए। परंतु यशपाल इस धारा के प्रधान उपन्यासकार माने जाते हैं। इनके *दादा कामरेड, पार्टी कामरेड, देशद्रोही, मनुष्य के रूप* इत्यादि में साम्यवाद की उपयोगिता नारी स्वात्रांय की सार्थकता, स्त्री–पुरूष संबंध इत्यादि का चित्रण किया गया है। इनका उद्देश्य राजनैतिक विचारधारा का प्रचार करना भी है। राहुल सांस्कृत्यायन *सिंह सेनापति* तथा *जयघोष* आदि उपन्यासों में प्राचीन कथा का आधार लेकर साम्यवादी विचारों का वर्णन किया है। भैरव प्रसाद गुप्त ने *मशाल, गंगामैया* में मध्यवर्ग तथा निम्न मध्य वर्ग के चित्रण द्वारा साम्यवादी विचारधारा का स्वरूप स्पष्ट किया है। जिनमें समाजवादी–प्रगतिवादी चेतना उपन्यास के मस्तिष्क पर बैठकर बोलती है।

1.1.2.4 राजनैतिक उपन्यास

राजनैतिक उपन्यासों में अलग–अलग देशों की विभिन्न राजनैतिक समस्याओं का चित्रण किया जाता हैं। साहित्यकारों ने उपन्यास साहित्य में राजनैतिक तत्व का समावेश बड़ी कुशलता से किया है। प्रेमचंद के *रंगभूमि* और *कर्मभूमि* उपन्यास में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का सुंदर चित्र उपस्थित किया है। इनके पश्चात् रामेश्वर शुक्ल अंचल ने अपने *बढ़ती धूप* उपन्यास में 1942 के राष्ट्रीय आंदोलन का चित्र प्रस्तुत किया है। भगवतीचरण वर्मा ने *टेढ़े–मेढ़े रास्ते* में प्रचलित सभी राजनीतिक विचारों का समावेश किया है। गुरदत्त ने *देश की हत्या, स्वराज्यदान* इत्यादि में तत्कालीन सरकार की असफलताओं का दर्शन कराया है।

1.1.2.5 ऐतिहासिक उपन्यास

हिन्दी उपन्यास में ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रारंभ बंगला के उपन्यासों के अनुवाद से हुआ था। इस प्रकार के उपन्यासों में इतिहास यानी भूतकाल पृष्ठभूमि में रहता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति धर्म, वीरता आदि के पुर्नउत्थान को दृष्टि में रखकर उपन्यासकारों ने हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास लिखें। ऐसे उपन्यास आज भी पाठक के प्राणों में ओज भरते हैं तथा धमनियों में रक्त संचार करते है। पश्चिमी संस्कृति के अनुकरण पर किशोरीलाल गोस्वामी ने

तारा, मल्लिका देवी, लखनऊ की कब्र, रजिया बेगम आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखें। यथार्थ रूप में वृदांवन लाल वर्मा हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में श्रेष्ठ हैं। *गढ़ कुण्डार, विराट की पद्मिनी, लक्ष्मीबाई, माधव जी सिन्धियां* जैसे सुन्दर ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर वे प्रेमचंद युग में प्रसिद्ध उपन्यासकार बन चुके थे।

इसके अतिरिक्त उन्होंने *कचनार, मृगनयनी, टूटे काँटें, भुवन विक्रम* आदि बहुत से छोटे–छोटे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। उनके सभी उपन्यासों में देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम, जन जीवन के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक संघर्षों और लोकजीवन का चित्रण मुखरित किया है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने *नरमेघ, सोमनाथ, आलमगीर, वयम रक्षाम्* आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इन उपन्यासों में उन्होंने भारतीय इतिहास मे आदर्श चरित्रों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

रांगेय राधव ने *मुर्दो का टीला, प्रतिदान, लखिमा की आँखें, अंधेरे के जुगनू* आदि ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। यशपाल जी ने *दिव्या* और *अमिता* केवल दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, बाकि इनके प्रगतिवादी धारा के उपन्यास है। इनके पश्चात् आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का *बाणभट्ट की आत्मकथा, चार–चन्द्रलेख, पुनर्नवा, अनाम दास का पोथा* आदि उल्लेखनीय है। राहुल संस्कृत्यायन का *सिँह सेनापति, जय यौधेय, राजस्थानी निवास* आदि उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक घटना और प्रसंग को आधार बनाकर उसे सम–साम्प्रयिकता के साथ जोड़ा गया है।

1.1.2.6 आँचलिक उपन्यास

शुक्ल के *हिन्दी साहित्य कोष* में लिखा है, आँचलिक उपन्यासों को, सामाजिक उपन्यासों का ही एक प्रकार बताया गया है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में यह एक विशिष्ट और नयी विधा है :

> 'आँचलिक' शब्द 'अँचल' से बना हुआ है। अँचल का अर्थ है – कोई विशिष्ट भूमि प्रदेश। उसी भूमि प्रदेश को केन्द्र में रखकर किये जाने वाले उपन्यासों को आँचलिक उपन्यास कहा जाता है। निश्चित प्रदेश की रीति–रिवाज, वेश–भूषा, खान–पान, बोली, प्रकृति, भूमि, फसलों इत्यादि को इस प्रकार के उपन्यासों में सजीवता दी जाती है। अधिकांश उपन्यास चल चित्र के शोट की तरह लिखे गये होते है, किन्तु सभी में आँचल विशेष स्पष्ट रूप से झलकता है। पात्र, वातावरण, संवाद, भाषा आदि तत्व अंचल के ही प्रभाव तले चलते हैं।(16)

इन्द्रा जोशी के *हिन्दी आँचलिक उपन्यास उद्‌भव और विकास* पुस्तक के अनुसार,

"आँचलिक उपन्यासकारों में फणीश्वर नाथ रेणू का प्रमुख स्थान रहा है वे 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' नामक दो उपन्यास लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नयी परम्परा को जन्म दिया। उन्होंने सभी उपन्यासों में बिहार प्रान्त के पूर्णिया जिले के 'परानपुर' व 'मेरीगँज' नामक ग्रामों की कथा को अभिव्यक्त किया है। वहाँ के ग्रामीण क्षेत्र के लोकजीवन, उत्सव, संस्कृति, भाषा, संस्कृति, नदी–नाले, खेती–बाड़ी आदि विषयों को बड़ी संजीवता के साथ प्रस्तुत किया है। इसी परंपरा के अन्य उपन्यासकारों में उद्‌यशंकर भट्ट ने 'सागर लहरे और मनुष्य' में मुम्बई के मछुआरों के जीवन और लोक संस्कृति का जीवित एक सुंदर वर्णन किया है। शिव प्रसाद मिश्र 'बहती गंगा' उपन्यास हिन्दी का बहुत ही महत्वपूर्ण आँचलिक उपन्यास है। जिसमें काशी नगरी का जीवन, लोकभाषा तथा रहन–सहन आदि का हु–बहु चित्रण किया गया है। इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार में नागार्जुन भी हैं। जिन्होंने 'बलचनमा', 'नई पौध', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ', 'करूण के बेटे', तथा 'दुःख मोचन' जैसे छह आँचलिक उपन्यासों की रचना की है। इनके उपन्यासों में मिथिला के ग्रामीण प्रदेशों के जन जीवन का चित्रण मिलता है। इसके इलावा धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' तथा 'ब्रह्मपुत्र, बलभद्र ठाकुर का 'आदित्यनाथ', 'मुक्तावली', 'लहरों की छाती पर' और 'नेपाल की बेटी', राजेन्द्र यादव का 'कुल्टा', 'शह और मात', अमृतलाल नागर के 'सेठ बॉकेमल', 'बूँद समुद्र', 'महाकाल' आदि आँचलिक उपन्यास कहे जा सकते है। हिंदी आँचलिक उपन्यासों की परम्परा कम से कम 65 वर्ष पुरानी है।(27) उपर्युक्त साहित्यकारों ने आँचलिक उपन्यास धारा को समृद्ध बनाने में बड़ा योगदान दिया है।

1.1.2.7 आधुनिकबोध उपन्यास

इस प्रकार के उपन्यासों में आधुनिकता की स्थिति के अनुसार आस्था विहीन समाज, अनिश्चय की स्थिति में लटके हुए इन्सान और आत्म निर्वासन की अभिव्यक्ति मिलती है। इस प्रकार के उपन्यासकारों में मोहन राकेश ने *अंधेरे बंद कमरे*, निर्मल वर्मा ने *वे दीन, लाल टीन की छत*, राजकमल चौधरी ने *मछली मरी हुई*, श्री कान्त वर्मा ने *दूसरी बार*, महेन्द्र भल्ला ने *एक पति के नोटस*, कमलेश भट्ट ने *डाक बंगला*, गंगा प्रसाद विमल *अपने से अलग*, नरेश मैहता का *यह पथ बंधु था, नदी यशस्वी है*, 'श्री लाल शुक्ल का *रागदरबारी* मन्नु भण्डारी का *महाभोज, आपका बंटी*, भीष्म साहनी का *तमस*, रमेश बक्षी का *18 सूरज के पौधे*, जंगदम्बा प्रसाद दीक्षित का *मुर्दाघर* आदि लोकप्रिय उपन्यास है।

1.1.3 उपन्यास के तत्व

आचार्यो ने उपन्यास के छः तत्व निर्धारित किए है जो इस प्रकार से है –

कथावस्तु और कथानक

पात्र और चरित्र चित्रण

संवाद योजना

देशकाल और वातावरण

भाषा शैली

उद्देश्य

1.1.4 उपन्यास की परिभाषाएँ

विभिन्न विद्वानों ने उपन्यास की जो परिभाषाएँ दी है, उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार से है –

1.1.4.1 संस्कृत आचार्य

संस्कृत के नाट्य शास्त्रीय ग्रंन्थों में 'उपन्यास' पूरक के प्रति मुख्य संधि के एक उपभेद की संज्ञा है। इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई हैं –

1. कविराज विश्वनाथ के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ *साहित्य दर्पण* के अनुसार, "उपन्यासः प्रसादनम्" अर्थात् प्रसन्न करने वालों को उपन्यास कहते है।"(13)
2. कविराज विश्वनाथ के अनुसार, "अपपति कतोदर्भ उपन्यास"

   "अर्थात् किसी अर्थ को युक्ति–युक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है।"(13)

1.1.4.2 अंग्रेजी साहित्यकार :–

अंग्रेजी विद्वानों ने भी उपन्यास को अपने ढ़ंग से अलग–अलग परिभाषित किया है।

(क) एडविन ग्योर अपनी पुस्तक *द स्ट्रक्चर ऑफ द नावेल* में लिखते है, "जिसमें सत्य और कल्पना दोनो का सहारा लेकर व्यापक सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई हो, उपन्यास कहलाता है।"(37)

(ख) रॉल्फ फॉक्स अपनी पुस्तक *द नावेल एण्ड द पीपुल* में लिखते है, "उपन्यास केवल कथात्मक नहीं है, यह मानव जीवन का गद्य है, यही पहली कला है, जिसने संपूर्ण मानव को अंगीकार किया और उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है।"(13)

(ग) ई.एम. फॉस्टर ने अपनी पुस्तक *ऐसपेक्ट्स ऑफ द नावेल* में उपन्यास की परिभाषा के बारे में लिखा है, "उपन्यास का आकार पचास हजार शब्दों से कम नहीं होना चाहिए। उपन्यास समाज की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है।"(7)

(घ) पसी कुवतक अपनी पुस्तक *द क्रैफ्ट ऑफ फ्रिक्शन* में लिखते है, "जहाँ इतिहास कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्वपूर्ण घटनाओं तक ही सीमित रहता है, उपन्यास परदर्शित जीवन के सत्य, शाश्वत और सर्वदेशीय रहते है।"(24)

(ड) अर्नेस्ट ए बेकर अपनी पुस्तक *द हिस्ट्री ऑफ दा इंग्लिश नावेल* में लिखते है, "उपन्यास गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या प्रस्तुत करने का सर्वोतम साधन है।"(18)

1.1.4.3 हिन्दी साहित्यकार

हिन्दी साहित्यकारों ने भी अपने अपने मत उपन्यास के बारे में प्रस्तुत किए है। उनके मत भी निम्न प्रकार से है :

(क) डॉ0 गणेशन उपन्यास को जीवन का रोचक साहित्यिक रूप बताते हुए अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन* में लिखते है, "उपन्यास मनुष्य के सामाजिक वैयक्तिक अथवा दोनो प्रकार के है। जो प्रायः एक कथा सूत्र के आधार पर निर्मित होता है।"(51)

(ख) डॉ० श्यामसुंदर दास अपने काव्य शास्त्रीय ग्रंथ *साहित्यालोचन* में लिखते है, "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"(114)

(ग) मुन्शी प्रेमचंद अपनी निबंधात्मक पुस्तक *कुछ विचार* में लिखते है, "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"(32)

(घ) डॉ0 त्रिभुवन सिंह अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यास यथार्थवाद* में लिखते हैं :

> उपन्यास गद्य साहित्य का वह समर्थ रूप है, जिसमें प्रबंध काव्य सा सुसंगठित वस्तु विन्यास, महाकाव्य की सी व्यापकता, गीतों की सी मार्मिकता, नाटकों सा प्रभाव, गर्भीय तथा छोटी कहानी सी कलात्मकता एक साथ मिल जाएगी। श्रृंखलाबद्ध कथानक द्वारा सरल तथा गुढ़ मानव चरित्रों एवं यथार्थ से युक्त उसके स्वभावों एवं मन की महती शक्तियों का पूर्ण जीवित एवं यथार्थ चित्र कल्पना के द्वारा जिस साहित्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है उसे उपन्यास कहते है।(14)

(ड़) डा0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ* में लिखते है, "उपन्यास यथार्थ मानव अनुभवों एवं सत्य का आंकलन है, वह जीवन की एकता में अनेकता तथा अपूर्णता में समग्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है।"(39)

(च) नंददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक *आधुनिक साहित्य* में लिखते है, "उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है, इसमें मानव जीवन और मानव चरित्र का चित्रण उपस्थित किया जाता है, उसे उपन्यास कहा जाता है।"(49)

(छ) बाबू गुलाबराय अपनी पुस्तक *काव्य के रूप* में लिखते है, "उपन्यास कार्य कारण शंखला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षा कृत अधिक विस्तार तथा पेंचीदगी के साथ वास्तविक, काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव–जीवन के सत्य को रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है।"(43)

1.1.5 हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश

1.1.5.1 ग्रामीण : स्वरूप

विश्व में पहले–पहल प्रकृति का ही अस्तित्व था, जब से जीव–जन्तु निर्मित हुए, प्रकृति ही उनका आश्रय स्थल बनी। आज भी हम देखते हैं कि कई पशु प्राणी वनों का आश्रय लेकर अपना उदर–निर्वाह करते हैं। इस प्रकार की स्थिति पहले सभी प्राणियों की थी, लेकिन इनमें से मनुष्य अलग प्राणी होने के कारण उसने प्रकृति को संस्कार दिया अर्थात् उसने विश्राम के लिए लकड़ियों से झोपड़ी बनाई और यही रहने लगा। इस प्रकार के विश्राम स्थल जगह–जगह पर निर्मित हुए और मनुष्य अपना उदर–निर्वाह करने लगा। मनुष्य ने जहाँ कुटिया बनाई थी, उसके आस–पास वह खेती करने लगा। इस प्रकार की स्थिति में परिवर्तन हुआ और अनेक स्थल पर ग्रामों का रूप निर्मित हुआ। यही मूल रूप आज के गाँवों का हैं।गाँव के उदय के संदर्भ में विश्वम्भरदयाल गुप्त अपनी पुस्तक *ग्रामीण समाजशास्त्र : साहित्य के परिप्रेक्ष्य में* कहते है :

> प्रारम्भ में ग्राम का आदि रूप 'कुल' था। मनु स्मृति से विदित होता है कि बारह बैलों और दो हलों से जितनी पृथ्वी जोती जाती थी 'कुल' कहलाती थी। इस ग्रामों का अधिपति एक 'कुल' का भोज करने का अधिकारी था और बीस ग्रामों का अधिपति पाँच 'कुलों' के भोग का अधिकारी था। कुछ समय पश्चात कुल से ग्राम से विष और विष से जन का विकास होकर राष्ट्र ने धारण किया।(65)

ग्रामीण समुदाय और व्यक्ति दोनों सदैव से एक दूसरे के आश्रित और पूरक रहे हैं। व्यक्ति ग्रामीण समाज की महत्वपूर्ण इकाई हैं। ग्रामीण जीवन में परिवार का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। परिवार ग्रामीणों के भौतिक और सांस्कृतिक जीवन में निर्णायक भूमिका अदा करता है। परिवार की जड़े ग्रामीण समाज में काफी गहरी है। परम्परागत रूप से ग्रामीण परिवार की प्रकृति संयुक्त रही है।

खेती में जिस प्रकार के अनाज की उपज होती है उसी के अनुसार ग्रामीण लोगों के खान–पान होता है। उनकी वेश–भूषा भी भौगोलिक–प्राकृतिक परिवेश के अनुसार सादी–सरल होती है। ये अपने खेतों में ही कुटियाँ बनाकर भी रहते है, वहाँ के भौगोलिक परिवेश के अनुसार उनको घरों की रचना भी सीधी–साधी होती है। भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो अपनी–अपनी स्थानीय बोली होती है, उसका रूप स्वाभाविक होता है। गाँव के रीति–रिवाज बहुत ही अर्थवान और परम्परा से आए होते है। स्थल विशेष के अनुसार रीति–रिवाज होते है। जाति–पाति का मूल रूप गाँवों में ही देखा जा सकता है। गाँवों में जाति के अनुसार कार्यों का विभाजन होता है। अनेक जातियों के कारण गाँवों में समानता का अभाव रहता है। डॉ. नागनाथ अपनी पुस्तक *ग्रामीण साहित्य : स्वरूप बोध में लिखते है,* "जाति व्यक्ति के कार्य, स्थिति, मिलनेवाली सुविधाओं और असुविधाओं का निर्धारण करती है।"(66) ग्रामीण परिवेश में उसका महत्व उसकी स्थिति जाति से निर्धारण होती हैं। ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पहलू पर जाति–प्रथा का गहरा प्रभाव पड़ा है। जाति एक बन्द वर्ग है, जो जन्म पर आधारित है और अपरिवर्तित है। केवल हिन्दू ही नहीं बल्कि अहिन्दू ग्रामीण भी जाति प्रथा से प्रभावित रहे हैं।

डा0 नागनाथ के कथानुसार, "भारत के ग्रामीण क्षेत्र में दूर–दूर तक फैली हुई जनसमुदाय की अपने आप बनी हुई जो संस्कृति है। वह कृषि केंद्रित है जिसे ग्राम संस्कृति कहा जा सकता है।"(11) प्राचीन काल से हमारे देश में ग्राम और शहरों का भेद स्पष्ट है।

ज्ञान अस्थाना अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण समस्याएँ* में लिखते है :

> शहरों और ग्राम की रचना में पहले से ही फर्क है। शहरों में सुसंस्कृत, समृद्धि, अलग–अलग उद्योग, व्यावसायिक व्यापार स्थिति, यातायात की अच्छी स्थिति और लेन–देन का काम होता है। जबकि ग्राम की रचना और संस्कृति भिन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि उसकी रचना अपनी एक स्वतंत्र और स्वावलंबिनी है। वह अपने आप में स्वतः पूर्ण है।(37)

युगानुपात से चलती आयी हुई यह ग्राम रचना ग्रामीणों को एक विशिष्ट ढंग से जोड़कर रखने वाली है। गाँव को कोई भी नागरिक इससे बाहर नहीं जाता है। वह इससे ही जुड़े रहता है। अगर इससे दूर भी जाता है तो उसे अपने गाँव के बगैर चैन नहीं आता। क्योंकि वह उससे जब अलग होता है, तो उसे गाँव की पुकार सुनाई देती है। कोई भी ग्रामीण व्यक्ति अपने आपको अलग महसूस नहीं कर सकता है। क्योंकि गाँव उसके अंतरंग में बसा हुआ है। ग्राम की समाज व्यवस्था अपने आप में स्वतःपूर्ण है। उसकी स्वतंत्र पहचान है। इस ग्राम समाज के व्यक्ति भी इससे अलग नहीं हो सकते है। इस प्रकार की ग्राम रचना में आने–जाने का मार्ग, घरों की रचना, गाँव का मुखिया का घर, मंदिरों का स्थान आदि बातों की रचना परंपरा से आयी हुई है। इस प्रकार ग्राम का बाह्य एवं अंतरंग स्वरूप कृषिकेन्द्र से मजबूत रूप से जुड़ा हुआ है। ज्ञान अस्थाना के शब्दों में :

> कृषिकेन्द्र में किसान मुख्य होता है, उसके संबंधी अन्य कारीगरों में बढ़ई, लुहार, कुम्हार खेती करने के साधनों की पूर्ति करते हैं। अन्य बलुतेदार (लेहनादार – बलुत गाँव के नट, नाई, धोबी, डूम, शैंशी आदि कारीगरों को दिया जानेवाला उपज का हिस्सा) किसानों की ही मदद करते हैं। किसानों की खेती से गाँव के कारीगरों का फरनल का कुछ हिस्सा पाने का हक बना रहता था। कृषि केन्द्रीय संस्कृति में सभी का हिस्सा रहता था अर्थात् किसी एक कारीगर का अभाव होगा तो ग्राम अधूरा ही रहता है। ऐसा माना जाता था। किसान, अलुतेदार–बलुतेदार (गाँव के काम आनेवाले धंधेदार लोगों में से एक हरेक जिसको खेतिहर के फसल में से हिस्सा मिलता है) इन सबका हक खेती के उत्पाद पर अदृश्य होता था।(31)

कृषि जीवन और किसान ग्राम संस्कृति के सभी लोगों को केन्द्र में रखकर ही यह समग्र 'गांवगाड़ा' (गाँव का कारोबार) अपने आप चलता था। ग्राम संस्कृति के बारे में डॉ० नागनाथ अपनी पुस्तक *ग्रामीण साहित्य : स्वरूप बोध* में कहते है – "ग्रामीण संस्कृति मुख्यतः प्राचीन काल से कृषिकेन्द्रीय संस्कृति थी। आज गाँवों में परिवर्तन का आरंभ हुआ है। यह बात सत्य है, परंतु कितना भी परिवर्तन हुआ तो भी 'कृषि केंद्रित रचना' यह ग्राम संस्कृति का प्रमुख वैशिष्ट ही रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं होगा।"(13)

ग्रामीण संस्कृति अध्यात्मपरक होने के कारण गाँव में धर्म का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। गाँवों में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, बौद्ध, जैन सम्प्रदाय के लोग रहते है। उपासना, रूढ़िया तथा अन्धविश्वास, विभिन्न देवी–देवताओं, लोकोत्तर–शक्तियों में आस्था, उत्सव–पर्व,

त्यौहारों, अनुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि के साथ–साथ मन्दिर और मठों का ग्रामीण जीवन में महत्त्व है। डा. नागनाथ गाँव के बदलते स्वरूप पर लिखते है :

> आज उन्नति हो गई है, गाँवों में सुधार हुआ है। आज जितने भी नगर हैं वह पहले गाँव ही थे। फर्क इतना ही है कि लोगों की संख्या में और विकास में परिवर्तन हुआ है। आज के लोग अपने आपको शहरों के समझते है, लेकिन उसका मूल रूप गाँव ही है। हमारे देश की सभ्यता का उदय ग्रामों से ही हुआ। वातावरण और परिस्थिति परिवर्तन के साथ–साथ जंगल ही पशुओं के चरागाह कुटीर, अरण्यखण्ड, आश्रम, जनपद और नगर के रूप में परिवर्तित हुए।(32)

1.1.5.2 ग्राम : व्युत्पत्ति और अर्थ

भारतीय भाषाओं में 'ग्राम' शब्द का प्रचलन बहुत होता आया है, लेकिन इसके प्रयोग और व्युत्पत्ति अर्थ के बारे में मतभिन्नता दिखाई देती है। ग्राम से ग्रामीण शब्द बना है, ग्राम का तात्पर्य गाँव से है, यह सब जानते है, लेकिन 'ग्राम' शब्द की 'व्युत्पत्ति के संदर्भ में कुछ मत निम्नलिखित हैं–

डॉ० ज्ञान अस्थाना ने अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण समस्याएँ* में पाणिनी को आधार मानकर लिखा है :

> पाणिनी ने ग्राम को एक स्वतंत्र धातु ही स्वीकार किया है जिसका अर्थ होता है 'आमन्त्रण'। इस दृष्टिकोण से देखा जाये तो जीवन के आमन्त्रण का मौलिक अधिकार ग्रामों को ही है। मूल रूप में सभ्यता और मनुष्य के प्रयोग की सारी सामग्री ग्रामों में ही प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास तीनों आश्रम भी गृहस्थ आश्रम पर ही आधारित है और गृहस्थ तो ग्रामों में ही रहता है। इस प्रकार बहुत सम्भव है कि इसी धातु के अर्थ पाठ पर 'ग्राम' शब्द प्रचलित हो गया हो।"(32)

पाणिनी व्याकरण के अनुसार," संस्कृत और प्राकृत में ग्राम शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है, रामायण, महाभारत, ऋग्वेद, शिलालेखों आदि में ग्राम आधुनिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।"(77)

ओम प्रकाश गाबा अपने ग्रंथ *तुलनात्मक पर्यायकोष* में ग्रामीण और गँवार शब्दों में सही अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है – "गाँव से संबंधित वस्तु या गाँव में रहने वाले को ग्रामीण कहा जाता है। अतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अर्थ है, गाँव की अर्थव्यवस्था।"(100) ग्रामीण शब्द

में तिरस्कार की ध्वनि नहीं है गँवार शब्द का प्रयोग केवल व्यक्ति के लिए होता है, ऐसे व्यक्ति के लिए जो गाँव में रहने के कारण सभ्यता और शिष्टाचार न सीख पाया हो।"(101)

आक्सफोर्ड डिक्शनरी में विलेज उस स्थान के लिए प्रयुक्त है जो 'हैमलेट' से बड़ा और नगर से छोटा हो। जिसका शासन नगर की अपेक्षा अधिक सरल हो। छोटी–छोटी इमारतों के समूह को भी 'विलेज' की संज्ञा दी गई है। इंग्लैंड के आदिकाल में भूमि के वे टुकड़े और घरों के समूह जो छोटे–छोटे 'हैमलेट' से बिखरे रहते थे 'विलेज' कहलाते थे। अंग्रेजी भाषा के आधार पर ग्राम वह भूमि खण्ड हुआ जो 'हेमलेट' अर्थात् 'पंखा' से कुछ मोटा हो तथा जहाँ छोटे–छोटे घर बसे हो। आधुनिक युग में हिन्दी में ग्राम का रूप प्रचलित है। वह अंग्रेजी 'विलेज' के अनुरूप है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट होता है कि ग्रामों का अस्तित्व मानव के निर्माण काल से है। ज्ञान अस्थाना अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण समस्याएँ* में फिर लिखते है, "मानव को सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बताता है कि संसार में मानव के अस्तित्व के साथ ही ग्रामों का उदय हुआ। हाँ, काल क्रमानुसार उसके संगठन का रूप अवश्य बदलता रहा।"(35)

1.1.5.3 ग्राम : परिभाषाएँ

ग्राम अथवा गाँव से हमारा तात्पर्य है, वे छोटी–बड़ी बस्तियाँ जो खेती के क्रम में बसी हैं। भारत बड़ा देश है, इसकी भूमि खेती के लिए उपयुक्त है और यहाँ के अधिकांश निवासियों का मुख्य धन्धा खेती है। इस दृष्टि से यहाँ की जनता प्रायः ग्रामवासिनी है। गाँव के संदर्भ में कुछ परिभाषाएँ निम्न है। विश्वम्भरदयाल गुप्त अपनी पुस्तक *ग्रामीण समाजशास्त्र : साहित्य के परिप्रेक्ष्य में* लिखते है :

> गाँव से सामान्यता आश्य पुरातन एवं पिछड़े क्षेत्र से लिया जाता है यथार्थ में गाँव का आशय यह नहीं है। गाँव एक समुदाय है। सामुदायिक भावना, सामान्य जीवन, निशचित भौगोलिक क्षेत्र एवं विशेष नाम से उसे एक समुदाय की श्रेणी में प्रतिष्ठित करते है। एक निशचित भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाला व्यक्तियों का समूह जहाँ व्यक्ति कृषि व्यवसाय में ही संलग्न रहते है, आर्थिक एवं अन्य प्रकार से एक दूसरे पर आश्रित रहते है तथा सामुदायिक एकता में बद्ध रह कर सामान्य जीवन व्यतीत करते है, गाँव कहलाते है।(67)

संस्कृत शब्दकोष के अनुसार गाँव को 'ग्रामम्' कहा जाता है। "जहाँ खेती में मेहनत करते हैं, जोतते है और उसमें फसल पैदा करके अनाज उपजाया जाता है।" गाँव समाज की ईकाई के रूप में वह रंगमंच है, जहाँ ग्रामीण जीवन का प्रमुख भाग स्वयं प्रकट होता है तथा कार्य करता है। गाँव का विकास कृषि युग के उद्‌भव के साथ सम्बद्ध है। इस प्रकार गाँव व्यवस्थित रूप में सामूहिक मानव–विकास की प्रथम स्थापना है और कृषि अर्थव्यवस्था के विकास की उपज है।

गाँव की कोई निशचित परिभाषा नहीं दी जा सकती। फिर भी कुछ ऐसे सामान्य तत्व है जो गाँव को परिभाषित करते है। आनंद यादव अपनी पुस्तक *ग्राम संस्कृति* में लिखते है, "गाँव वे क्षेत्र हैं जहाँ के निवासी सामुदायिक भावना में बद्ध होकर एक निश्चित क्षेत्र में सामान्य जीवन व्यतीत करते हुए कृषि और पशु–पालन व्यवसाय के रूप में करते है।"(9)

1.1.5.4 भारतीय ग्रामीण जीवन और विशेषताएँ

भारत जैसे विशाल देश में भौगोलिक, सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण भारतीय गाँव आकार, प्रकार एवं रचना की दृष्टि से समान नहीं है। किन्तु कतिपय ऐसी विशेषताएँ है जो अधिकतर गाँवों में लक्षित होती है – संक्षेप में गाँव की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

भारत विभिन्न जाति, धर्म, संप्रदाय और परंपराओं की संगम भूमि है। विश्वम्भरदयाल गुप्त अपनी पुस्तक *ग्रामीण समाजशास्त्र : साहित्य के परिप्रेक्ष्य में* लिखते है :

> पिछले सात हजार वर्षों से इसमें कई उतार–चढ़ाव आए। इसके साथ ही भारत की भौगोलिक स्थिति भी पहले से ही भिन्न रही है। भारत की भौगोलिक स्थिति विषम स्वरूप की है। घाटी, पर्वत, पहाड़, समतल भूमि, रेतीली, बारिश आदि की विभिन्न स्थितियाँ इस देश में प्रचुर मात्रा में है। हवामान भी विषम तथा विभिन्न प्रकार का होकर भी विभिन्न प्रकार की खेती के लिए अनुकूल है। इस कारण जहाँ उपजाऊ जमीन उपलब्ध होती है वहीं उपजाने के लिए मानवीय बस्ती बनाना अनिवार्य होता है। चौड़ी चकरी समतल भूमि बहुत और लगातार होगी, तो वहाँ एक ही जगह पर अधिक से अधिक व्यवसायिक खेती कर सकते है। पर इस प्रकार की व्यावसायिक पद्धति की खेती करने के लिए भारतीय भौगोलिक परिस्थिति अनुकूल नहीं है। इसलिए जहाँ–जहाँ समतल और फसल उत्पाद की दृष्टि से अनुकूल खेती करने और बस्ती बनाने की सुविधाजनक स्थिति होती है। वहाँ धीरे–धीरे छोटी सी बस्ती का निर्माण होता है, वही ग्राम कहलाता है।(28)

इस प्रकार की स्थिति होने के कारण भारत को सैकड़ों वर्षों से हजारों गाँवों के द्वेष से पहचाना जाता है। ज्ञान अस्थाना अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण समस्याएँ* में कहते है:

> भारतीय गाँवों का चाहे कितना भी आधुनिकीकरण अथवा शहरीकरण क्यों न हो तो भी गाँवों का शहर जैसा होना असंभव है। क्योंकि भारत में ग्रामीण संस्कृति अजरामर रही है। हाँ, आधुनिकीकरण जरूर होगा, कृषि करने में बहुत बदलाव होंगे तो भी खेती तो करनी ही पड़ेगी, खेती ग्राम संस्कृति का प्राण है। यही इसकी विशेषता है।(62)

भारतीय ग्रामों का युगानुरूप आधुनिक सुविधाओं से परिवर्तन होगा। खेती भारतीय संस्कृति का स्तर है। कृषि भारतीय संस्कृति की आत्मा और एकात्मक रूप और प्राणभूत सूत्र हैं।

भारत में प्रकृति की विविधता बहुत रही है। इस कारण स्थानीय स्तर पर विविध जीवन शैलियों का निर्माण हुआ है। विविध भाषाएँ, इस कारण साहित्य, विचार धाराएँ इसमें भी विविधता दिखाई देती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की एकता में बहुत विविधता रह गई और विविधता में एकता दिखाई देती है।

भारतीयों का हिंदू धर्म भारतीय संस्कृति के एकात्मकता का महत्वपूर्ण सूत्र है। मूल रूप से हिंदू धर्म की खासियत अन्य धर्मों से अलग है, क्योंकि इसका स्वरूप बहुत ही भिन्न है। इस धर्म का कोई निर्माता नहीं है, मूल रूप से, इसका स्वरूप, अपरिवर्तनीय, स्थिर नहीं है। इसका निर्माण अनेक ऋषि मुनियों, धर्मापार्तड़ों, उपनिषदकारों, दर्शनकारों, श्रुति–स्मृतिकारों ने किया है। इसे अनेक वर्षों से बनाया गया है। इसलिए वह मूल रूप से ही प्रवाह पूर्ण, लचीला, अनेकों को अपने में समाहित करने वाला अर्थात् पंथ, सम्प्रदाय, देवताओं, उपसंस्कृतियों को अपने में समाहित करने वाला है। इसका प्रवाह प्राचीन युगों से लेकर मध्ययुग, आधुनिक और आज भी ज्वलंत रहा है।

भारत में अन्य धर्म भी है जिसने हिन्दू धर्म की तरह फैलाव किया है वह अपनी अलग–थलग संस्कृति की उपज है। इस्लाम धर्म का फैलाव गाँवों में भी है। गाँवों में उनकी अपनी मस्जिद, इद्‌गाह, दरगाह आदि मुख्य धार्मिक स्थल होते हैं। इनमें भी पढ़े–अनपढ़, अमीर–गरीब, श्रमिक, किसान होते है। इनका भी रहन–सहन, रीति–रिवाज, वेश–भूषा, हिन्दू जैसी ही अपनी अलग संस्कृति है। भारतीय ग्रामीण सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार संयुक्त परिवार एवं जाति प्रथा है। ग्रामीण परिवार कृषि आश्रित है। पितृ सतात्मक हैं तथा उनकी प्रवृत्ति संयुक्त है ग्रामीण जीवन में परिवार अपेक्षाकृत सरल एवं स्वयंपूर्ण होता है। परिवार से

धर्म, व्यवसाय, जीवन श्रम, मनोरंजन, राजनीति आदि सभी प्रभावित होते रहे है। गाँवों के श्रम के विशेषीकरण की प्रवृत्ति है। प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण ग्रामीण रहन–सहन का स्तर निम्न है।

1.1.5.5 उपन्यास साहित्य : ग्रामीण परिवेश

परिवेश या देशकाल, वातावरण 'उपन्यास' नामक साहित्यिक विधा का जन्मकाल से ही एक अनिवार्य विधायक तत्व बना हुआ है, पर आधुनिक युग में इसकी महत्ता बहुत बढ़ गयी है। ग्रामीण और आँचलिक उपन्यासों में तो यह सर्वप्रमुख तत्व बन जाता है। इनमें भौगोलिक–प्राकृतिक परिवेश ही उपन्यास की रीढ़ की हड्डी बन जाता है और यहाँ तक की नायकत्व भी व्यक्ति से छीन कर परिवेश को दे दिया गया है। भौगोलिक, प्राकृतिक, परिवेश प्रधान उपन्यासों की 'रीढ़ की हड्डी' मजबूत होगी तो अन्य सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक–राजनीतिक परिवेश का यथार्थ चित्रण अपने आप जाएगा।

परिवेश की स्पष्ट प्रधानता, स्वतंत्रायोत्तर ग्रामीण उपन्यासों में दिखाई देती है। महात्मा गाँधी और विनोबा भावे जी की प्रेरणा से 'गाँव की ओर चलो' का नारा आया। उस काल के हिंदी उपन्यासकार अपने–अपने गाँवों की ओर चल पड़े। उन्होंने अपने गाँव के जीवन के बारे में बताने की निहित सौद्देश्यता से ही उपन्यास लिखे। हिन्दी में फणीश्वर नाथ रेणु के *मैला आँचल* से शुरू होकर *परती परिकथा* से होते हुए *पानी के प्राचीर, सागर, लहरे और मनुष्य* आदि बहुत सारे उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासों में परिवेश ही प्रधान रहा है। इनमें परिवेश ही स्थान विशेष के रूप में इनका नायक रहा है। इन उपन्यासों के गाँव आधुनिक सभ्यता से कुछ अलग रहे और कुछ उपन्यास सुदूर क्षेत्रों के अपरिचित जीवन पर लिखे गए। इन्हें ही आँचलिक उपन्यास कहा गया है। आँचलिक पर बहुत चर्चा हुई है। लेकिन परिवेश को महत्वता प्रदान करते हुए डॉ० सत्यदेव त्रिपाठी अपनी पुस्तक *उपन्यास विमर्श* में कहते है :

> गाँवों पर आधारित कृत्तियों को ग्राम कथा कहा गया। कुछ पिछड़े व कबीलाई क्षेत्रों पर लिखे उपन्यास ही आँचलिक कहलाए और असल में आँचलिक शब्द सिर्फ 'लोकल' के रूप में रह गया। किन्तु इस पूरी चर्चा में परिवेश बहुत प्रमुख बनकर उभरा और इस पर से दो परिवेश बहुत साफ–साफ उभरकर सामने आए– महानगरीय एवं नगरीय परिवेश और ग्रामीण परिवेश। एक तीसरा भी बना दोनों के बीच का – कस्बाई परिवेश।(13)

इस प्रकार क्षेत्र के आधार पर उपन्यास साहित्य के परिवेश का यह विभाजन बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। स्वतंत्रायोत्तर उपन्यासों को परिवेश के आधार पर ही पहचाना और समझाया जा सकता है।

1.1.5.5.1 नगरीय परिवेश

इस परिवेश का जीवन और व्यवहार बहुत अलग था। महानगरों मे विकास बहुत तेजी से और लगातार हुए है। महानगरों में आधुनिकता बहुत जल्दी आई, इससे ग्रामीण और अन्य परिवेश से नगरीय परिवेश स्पष्ट और जल्दी विभक्त दिखाई दिया। महानगरों में एकांकीपन, अलगाव, यंत्रवत् जीवन, दिखावापन, अजनबीपन, व्यावसायिकता, संबंधों की टूटन, गाँवों के प्रति देखने का अलग तरीका, फैशन आदि इस परिवेश की प्रवृत्तियाँ खुलकर हमारे सामने आती है।

1.1.5.5.2 ग्रामीण परिवश

नगरीय परिवेश के विपरीत ग्रामीण परिवेश रहा है, इसमें आजादी के बाद के परिवर्तनों को ग्रामीण नजर से देखा गया। वैज्ञानिकता, आधुनिकता, प्रजातांत्रिक व्यवस्था में व्यक्तिगत और जातीय स्वतंत्रता की शुरूआत हुई। धर्म और धार्मिक विश्वास के साथ इनका संघर्ष हुआ। रिश्तों में बदलाव की प्रक्रिया शुरू हुई, पर सब–कुछ गाँव में गाँव की तरह समाता रहा। खेती–बाड़ी, रहन–सहन, रीति–रिवाज, पंचवर्षीय योजनाएँ, कृषि के नये साधन, टूटते परिवार, सामाजिक संबंध एवं सांस्कृतिक मूल्यों की संपूर्ण दुनिया सामने आयी।

1.1.5.5.3 कस्बाई परिवश

नगरीय और ग्रामीण परिवेश के बीच में कस्बाई परिवेश उभरकर आया है। शहर की आधुनिकता और गाँव की पारंपरिकता के बीच पनपते तथा पिसते कस्बाई परिवेश के सौंदर्य को देखा तो वह सारा परिवेश समग्र रूप से आता है। जो शहरों के बाहर दिखते है। ये तो सभी उपन्यासों में किसी न किसी स्तर पर कम या कुछ अधिक मात्रा में परिवेश या देशकाल एवं वातावरण तत्व अनिवार्य रूप में विद्यमान रहता है। पर ग्राम–प्रधान उपन्यासों में इस तत्व की महत्ता सर्वोपरि है।

वस्तुतः ग्रामीण उपन्यासों का प्रतिपाद्य तो गाँव के जीवन को यथार्थ रूप में अंकित करना ही होता है, उसी का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और भौगोलिक–प्राकृतिक परिवेश ऐसे अंकन का आधार फलक बनता है। ग्रामीण उपन्यासों में गाँव के उत्सव पर्व लोक संस्कृति, लोक–गीत, खेत–खलिहान, अंध–विश्वास तथा रूढ़ियाँ, कर्म काण्ड, नीति–अनीति, छुआछुत, शिक्षा, स्त्री–शिक्षा, प्रेम संबंध, परिवार, विधवा समस्या आदि

सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश का चित्रण दिखाई देता है। इसके साथ–साथ आर्थिक, राजनीतिक परिवेशों में बेरोजगारी, पट्टीदारी, जंमीदारी, गुण्डा–गर्दी, चुनाव आदि का चित्रण होता है। प्राकृतिक दृश्यों की योजना तथा उसके भीषण और मनोहरी रूपों का सूक्ष्म एवं विश्व चित्रण ग्रामीण उपन्यासों की अपनी विशेषता है। इसका कारण है कि गाँव प्रकृति की गोद में बसे होते हैं और गाँव के जीवन का प्रकृति से बड़ा गहरा, आत्मीय और सार्थक संबंध होता है। ग्रामीण उपन्यासों में प्राकृतिक वातावरण उपस्थित करने के लिए गाँव की प्रकृति के विभिन्न रूपों और उपादानों– वर्षा, नदी, पर्वत, खेल–खलिहान, बगीचे, सँध्या, सुबह, चाँदनी, विभिन्न ऋतुएँ तथा ताल–तलैयों आदि का चित्रण कई रूपों में लेखक करता है। कहीं तो उसका मनोहर या भीषण रूप दिखाना ही उपन्यासकार का उद्देश्य होता है और कहीं किसी स्थिति विशेष को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्राकृतिक स्थिति या बाहय दृश्यों का विधान वह करता है। प्रकृति के मानवीकरण द्वारा उसे मानवीय रागों संवेदना से संबंद्ध कर जीवन और प्रकृति का अन्योन्यासित संबंध दिखाना भी प्रकृति–चित्रण का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है।

1.2 हिन्दी उपन्यासों में ग्राम आँचलिकता की अवधारणा

ग्रामाँचल उपन्यास में किसी विशिष्ट अँचल का समग्र रूप में चित्रण वहाँ की लोक भाषा में होता है। ग्रामाँचल उपन्यासों में उपन्यासकार ग्राम के अँचल विशेष की संस्कृति, रहन–सहन, खान–पान, तीज–त्यौहार, वेश–भूषा, धार्मिक अनुष्ठान, मेले, नृत्य, गीत, विषय वस्तु और पात्र आदि का निरीक्षण कर उसका यथार्थ चित्रण करता है। ग्राम्य जीवन के अँचल में विषय–वस्तु और पात्र अँचल की देन होते है। ग्रामाँचल से जुड़ा उपन्यासकार अँचल का केवल यथार्थ चित्रण न करके नयी चेतना का भी वर्णन करता है। आँचलिकता के विषय में निम्न बिंदुओं के आधार पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है –

1.2.1 अंचल शब्द की उत्पत्ति एवं कोषगत अर्थ

विश्व सुक्ति कोष में लिखा है, "हिन्दी भाषा में देश के एक प्रान्त भाग में प्रयुक्त होने वाला 'अँचल' शब्द मूलतः संस्कृत का शब्द 'अँचल' है जो संस्कृत के 'अँच' धातु में 'अलच्' प्रत्यय के भोग से निष्पन्न हुआ है। व्याकरणिक दृष्टि से यह एकवचन, पुल्लिंग योगरूढ़ एवं समूहवाची संज्ञा शब्द रूप है। सामान्य रूप में 'अँचल' का अर्थ वस्त्र का छोर 'ओढ़नी' आदि से लिया जाता है।"(113) हिन्दी तथा संस्कृत कोशों में इसका अर्थ वस्त्र के एक भाग के रूप में, जबकि अंग्रेजी शब्द कोशों में इसका अर्थ भू–भाग विशेष के अर्थ में लिया जाता है। इसी

आधार पर साहित्यकारों ने इसके व्यापक अर्थ पर जोर दिया है 'अँचल' शब्द के उत्पत्ति एवं कोशगत विविध अर्थ निम्न प्रकार से हैं –

1.2.2 अँचल की परिभाषा

(क) जयशंकर जोशी *हलायुध कोश* में अँचल शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार से किया है "अंचलः पु० अंचति प्रान्त भागं गच्छति। इति साहित्य दर्पणे।"(45)

(ख) डा. श्याम सुन्दर दास ने *हिन्दी शब्द सागर* में लिखा है, "साड़ी व ओढ़नी का वह भाग जो सिर अथवा कंधे से होता हुआ सामने छाती पर फैलाव हुआ हो। साड़ी का छोर, आँचल, पतला अंचरा। अन्य अर्थ इस प्रकार दिये गये है – किनारा, तट, तलहटी, घाटी, किसी प्रदेश या स्थान आदि का भाग।"(12)

(ग) शुक्ल के *मानक हिन्दी कोष* के अनुसार मानक हिन्दी कोश में 'अँचल' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए हुए है – "सीमा के आस–पास का प्रदेश, किसी क्षेत्र का कोई पार्श्व, किसी चीज के सिर पर पड़ने वाला भाग।"(24)

(घ) *राजपाल हिन्दी शब्दकोश*– "केश या प्रांत का एक भाग, नदी का किनारा, पल्लू, आँचल इत्यादि।"(69)

(ड़) श्री महेन्द्र चतुर्वेदी के *हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण* के अनुसार, "अँचल शब्द एक ऐसे भूखण्ड विशेष का वाचक है, जो सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से अपने आप में एक इकाई है, जिसके जीवन की कुछ अपनी विशेषताएं है।"(189)

1.2.3 आँचलिकता से तात्पर्य

जब आधुनिकता की प्रक्रिया द्वारा किसी विशिष्ट स्थान के पिछड़ेपन और जड़ता में बैचेनी पैदा करके मनुष्य के अनुभूति और विचारधारा को परिवर्तन के द्वारा बदला जाता है। तब आँचलिकता की सृष्टि होती है और आंचलिकता प्रतिफुल्लित होती है। आँचलिकता आधुनिकता की धारणा को ठोस बनाती है। जहाँ जड़ता से जूझने की कोई संभावना नहीं है तथा आधुनिकता के प्रतिफुल्लित होने की कोई सम्भावना भी नहीं है। इस प्रकार आँचलिकता के सार्थक होने की सम्भावना नहीं है। आँचलिक कृति के द्वारा गतिहीन समाज तथा सामाजिक जीवन को महत्व गतिविधि की नई दिशाओं से परिचित कराया जाता है। विद्या सिन्हा अपनी पुस्तक *आधुनिक परिदृश्य आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास* में लिखती है, "आँचलिकता कला, एक ओर लेखकीय दृष्टि के द्वारा आधुनिक गतिशीलता को व्यथित करने की सामर्थ्य रखती है तो दूसरी ओर अपनी स्थानीय विशिष्टता के द्वारा बृहतर राष्ट्रीय जीवन से भी जुड़ती है।"(21)

आँचलिक कृत्तियों में कथानक और चरित्रों से कई गुना अधिक महत्व अंचल को दिया जाता है। आँचलिक रचनाओं में कोई विशिष्ट अँचल व क्षेत्र या उसका कोई एक भाग या गाँव की प्रतिपाध व विवेच्य होता है। कथाकार संजीव *मेरी यात्रा* में लिखते है :

> आंचलिकता तभी सार्थक होती है जब स्थानीय दृश्यों, प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, भाषा व उच्चारण की विकृतियों, लोगों की स्वभावगत व व्यवहारगत विशेषताएँ, नैतिक मान्यताएँ आदि का समावेश बड़ी सावधानी के साथ किया जाता है। आँचलिकता तभी पूर्णतया सार्थक होगी, जब लेखक का मुख्य इष्ट, विशिष्ट कथा क्षेत्र एवं वहाँ की मानवीय संवेदना होती है। आँचलिकता का संबंध शिल्प या बनावट से उतना नहीं होता, जितना की सामाजिक संबंधों और ठोस भौतिक प्रसंगों से घिरे मनुष्य और उसकी संवेदना से होता है।(11)

तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र या जनपद के जन–जीवन का समग्र चित्रण उसकी प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत के साथ स्थानीय रंगों सहित वहाँ के निवासियों के समानान्तर होकर उसकी अनुभूति कर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति करना ही 'आँचलिकता' है।

1.2.4 ग्राम्य आँचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ

ग्राम्य आँचलिक उपन्यासों के आधार पर कतिपय प्रमुख विशेषताओं को निम्न प्रकार से अंकित किया जा सकता है –

1. आँचलिक उपन्यास का आधार और पृष्ठभूमि कोई अँचल विशेष होता है तथा यह अँचल या क्षेत्र विशेष न केवल भौगोलिक और प्राकृतिक दृष्टि से अपने आस–पास के विस्तृत क्षेत्र से भिन्न और विशिष्ट होता है।
2. आँचलिक उपन्यासों में किसी अँचल के ग्राम के जन–जीवन, रहन–सहन, खान–पान, उत्सव–त्यौहार तथा सम्पूर्ण जीवन पद्धति एक विशिष्टता लिए हुए रहती है।
3. आँचलिक उपन्यासों का कथानक, किसी व्यक्ति विशेष के बारे में नहीं बल्कि किसी गाँवों की ही कहानी होती है।
4. आँचलिक उपन्यासों में विशिष्ट जीवन के चित्रण के लिए एक विशिष्ट शिल्प का प्रयोग किया जाता है, जो पंरपरागत औपचारिक शिल्प से भिन्न होता है अर्थात् इसमें आवश्यकतानुसार लोककथा, लोकोक्तियाँ, लोकगीत प्रयुक्त होते है।
5. आँचलिक उपन्यासों में सबसे अधिक महत्व परिवेश को दिया जाता है।

6. आँचलिक उपन्यासों में ग्राम विशेष को समग्रता के साथ चित्रित किया जाता है। उसकी पद्धति खंड़ों में जोड़कर पूर्ण बनाने की होती है पूर्ण को खंडित कर विश्लेषण करने की नहीं।

7. आँचलिक उपन्यासों में कथा नायक होने पर भी ग्रामीण अँचल का विशिष्ट स्थान होता हैं।

8. आँचलिक उपन्यासों की कथानक की समग्रता, बिखराब, स्थिरता, यथार्थता तथा सत्यता आदि विशेषताएँ होती है।

9. आँचलिक उपन्यास में सम्पूर्ण अँचल को उभारने के लिए अनेक कथाओं का समायोजन किया जाता है तथा किसी केन्द्रीय कथा का अभाव होता है।

10. आँचलिक उपन्यास में व्यापक स्तर पर अंचल को चित्रित किया जाता है, इसलिए इसमें पात्रों की अधिकता होती है।

11. आँचलिक उपन्यास में सामूहिक संवाद शिल्प का प्रयोग किया जाता है अर्थात् आँचलिक उपन्यास अनेक पात्र एक साथ बोलते हैं।

12. आँचलिक उपन्यासों में सीमित क्षेत्र का प्रभाव की दृष्टि से सार्वजनिक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है।

13. आँचल भाषा शैली का प्रयोग किया जाता है, आँचलिक संबंधित अँचल की बोली या उपबोली का प्रयोग बहुतायत मात्रा में किया जाता है।

14. अँचल गाँवों के लोक तत्व का प्रयोग होता है।

15. आँचलिक उपन्यासों में लेखक का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय होता है अर्थात् प्राकृतिक वर्णन के साथ–साथ लोक जीवन के प्रत्येक पहलू का भी वर्णन मिलता है।

16. आँचलिक उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य अँचल की विशेषताओं, कुप्रथाओं तथा विसंगतियों को उजागर करना ही होता है।

1.3 ग्रामाँचल से जुड़े साहित्यकारों का व्यक्तित्व और कृतित्व

हिन्दी के ग्रामाँचल से जुड़े प्रमुख साहित्यकारों में संजीव, रणेन्द्र, सुधा अरोड़ा, असगर वजाहत, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुदगल, राकेश कुमार सिंह, तेजिन्दर, हरिराम मीणा, महुआ माजी, पुन्नी सिंह, मधुकर सिंह, पंकज सुबीर, अजय नावरिया, राजू शर्मा, रामधारी सिंह दिवाकर, प्रदीप सौरभ, भगवान दास मोरवाल, काशीनाथ सिंह आदि इक्कसवीं सदीं में मुख्य रूप से चर्चित

ग्रामीण जीवन पर उपन्यास लिखने वाले साहित्यकार है। इन साहित्यकारों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व निम्नलिखित प्रकार से है।

हरिराम मीणा

इनका जन्म 01 मई 1952 को ग्राम वामनवास, जिला सवाई माधोपुर, राजस्थान में हुआ। हरिराम मीणा सेवा निहत्त आई.एस. पुलिस एवं साहित्यकार का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। राजस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. राजनीति विज्ञान में किया। बैंक में क्लर्क की नौकरी के बाद राजस्थान पुलिस सेवा में भर्ती होकर वर्ष 1993 की वरिष्ठता के साथ आई.पी.एस. में पदोन्नति के माध्यम से पठन लेखक रूचि। 7 वे विश्व हिन्दी सममेलन में भाग लिया। हरिराम मीणा जी ने अपने निजी परसों से मानगढ़ की इतिहासिक घटना को जगह दिलाई। मानगढ़ पर लघु फिल्म बनवाने में सहयोग किया रांची के फिल्मकार श्री प्रकाश के निर्देशन में बनी फिल्म भारत का मौखिक इतिहास (ओरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया)।

कृत्तियाँ :कविता संकलन *हाँ चाँद मेरा है, रोया नहीं था यक्ष, मेघदूत के पत्रों यक्ष व कुबेर, सुबह के इंतजार में*। उपन्यास :*डांग, धूणी तपे तीर*

यात्रा वृतान्त –*साइबर सिटी से नंगे आदिवासियों तक*।

सम्मान –पुरस्कार – डा० अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार, राजस्थान साहित्य अकादमी का सर्वोच्च 'मीरा पुरस्कार' महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन पुरस्कृत।

राकेश कुमार सिँह

इनका जन्म 20 फरवरी 1960 को ग्राम गुरहा पलामू, झारखंड में हुआ। ये अपनी माँ के प्रति बहुत ही आसक्ति भाव और श्रद्धा भाव रखते है। पिता के पलामू के पांकी नामक जंगल में पदस्थापित थे, ब्लॉक में। चारों और निर्मित उस पांकी स्थान में अपने पिता के साथ रहकर लेखक ने जंगल का आस्वादन किया।

कृत्तियाँ : कथा संग्रह –*ओह पलामू, हांका तथा अन्य कहानियां, जोड़ा हारित की रूपकथा, महुआ मांदल और अंधेरा*। उपन्यास –*जो इतिहास में नहीं है, पठार पर कोहरा, हुल पहाड़िया,जहाँ खिलते हैं रक्तपलाश, साधो यह मुर्दो का गांव, केगरीगढ़ की काली रात, वैरागी वन के प्रेत, नीलगाडी का खजाना*। इतिहास ग्रंथ –*आदिपर्व, अरण्य कथाएँ, उलगुलाल, अवशेष कथा, अग्निपुरूष*। सम्मान –राधा कृष्ण पुरस्कार 2004, कमलेश्वर स्मृति पुरस्कार 2008।

प्रदीप सौरभ

इनका जन्म 5 सितम्बर 1959 को कानपुर, उत्तर प्रदेश में हुआ। कानपुर में जन्में लेकिन लम्बा समय इलाहाबाद में गुजारा। वहीं विश्वविद्यालय से एम.ए. किया। जन आन्दोलनों में हिस्सा लिया। कई बार जेल गये। कई नौकरियाँ करते छोड़ते दिल्ली पहुँच कर साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग से जुड़े। गुजरात दंगों की रिपोर्टिंग के लिए पुरस्कृत हुए। उपन्यास –*मुन्नी मोबाइल, तीसरी ताली, देश भीतर देश,* कविता संग्रह–*दरखत का दर्द,* संपादित – भारतेंदु कृत *अंधेर नगरी,* निबंध संग्रह–*सर्वेश्वर का रचना संसार*। सम्मान –अंतराष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान ब्रिटिश संसद में सम्मानित।

सुधा अरोड़ा

इनका जन्म 4 अक्टूबर सन् 1946 में हुआ। लाहौर के मोची दरवज्जे इलाके के एक पंजाबी परिवार में हुआ। सुधा ने अविभाजित भारत की धरती पर जन्म लिया था। माता वीजा देवी पिता रामलुभाया अरोड़ा दोनो ही साहित्य प्रेमी थे। इन्हीं से साहित्य प्रेरणा प्राप्त हुई। सुधा बी.ए. और एम.ए. (हिन्दी साहित्य) दोनों परीक्षा में गोल्ड मैडल अर्जित किया। उनकी उच्च शिक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से हुई। इसी विश्वविद्यालय के दो कॉलेजो में उन्होंने अध्यापन कार्य किया। इनकी कहानियाँ लगभग सभी भारतीय भाषा के अलावा कई विदेशी भाषाओं में अनुवादित है। कहानी संग्रह –*काला शुक्रवार* 2007, *कॉसे का गिलास* 2005, *रहोगी तुम वही* 2007, *एक औरत : तीन बटा चार* 2011, *अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी* 2014 उपन्यास–*बुत जब बोलते है* 2015, *यही कहीं था घर।* कविता –*एक औरत की नोटबुक।* एकांकी –*औरत की कहानी* 2008, आलोचना –*मन्नू भंडारी : सृजन के शिखर*। सम्मान –भारत निर्माण 2008, प्रियदर्शिनी अकादमी 2010, महाराष्ट्र हिंदी साहित्य अकादमी 2012, वागमणि सम्मान 2014, मुंशी प्रेमचंद कथा सम्मान 2014, मीरा स्मृति सम्मान 2016।

चित्रा मुद्गल

इनका जन्म 10 दिसम्बर 1966 को चेन्नई, तमिलनाडु में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा पैतृक गाँव निहाली खेड़ा, जिला उन्नाव, उत्तर प्रदेश में हुई और उच्च शिक्षा मुम्बई विश्वविद्यालय में हुई। इनकी शिक्षा हायर सेंकेडरी पूना बोर्ड से और शेष पढ़ाई मुंबई विश्वविद्यालय से की। कृत्तियाँ– अब तक नौ कहानी संग्रह –*जिनावर, बेईमान, अढ़ाई गज की ओढ़नी* इत्यादि। उपन्यास–*पोस्ट बॉक्स नंबर 203, नाला सोपारा, एक जमीन अपनी, आँवा, गिलिगडु*। सम्मान –फणीश्वर नाथ रेणु सम्मान, व्यास समान, साहित्य भूषण हिंदी अकादमी दिल्ली, यू.के. कथा सम्मान, साहित्य अकादमी सम्मान।

काशीनाथ सिंह

इनका जन्म वाराणसी (अब चंदौली) के जीयनपुर गाँव में 1 जनवरी सन् 1937 को हुआ था। इनकी प्रांरभिक शिक्षा उनके पैत्रिक गाँव के विद्यालय में हुई। सन् 1953 में हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। काशी विश्वविद्यालय में स्नातक, परास्नातक और पी.एच.डी. (1963) उपाधियाँ प्राप्त की। फिर सन् 1965 में वही उन्होंने अध्यापन कार्य शुरू किया और हिन्दी साहित्य के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करते हुए 1997 में सेवा निवृत्त हुए। हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० नामवर सिंह काशीनाथ सिंह के बड़े भाई हैं। कृत्तियाँ–कहानी संग्रह –*लोग बिस्तरों पर, आदमीनामा, सुबह का डर, नयी तारीख, सदी का सबसे बड़ा आदमी, कविता की नयी तारीख, खरोंच*। उपन्यास –*अपना मोर्चा, काशी का अस्सी* 2002, *रेहन पर रग्घू* 2008, *महुआ चरित* 2012, *उपसंहार* 2014। संस्मरण –*याद हो कि न याद हो, आछे दिन पाछे गए* 2004, *घर का जोगी जोगड़ा* 2006। शोध आलोचना – हिंदी में संयुक्त क्रियाएं, आलोचना भी रचना हैं, लेखक की छेड़छाड़। सम्मान –कथा सम्मान, समुच्चय सम्मान, शरद जोशी सम्मान, साहित्य भूषण सम्मान, भारत भारती पुरस्कार, साहित्य अकादमी पुरस्कार।

संजीव

संजीव का जन्म 6 जुलाई 1947 ई० को उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जिले के गाँव बाँगर कलाँ में हुआ था। इनकी उच्च शिक्षा विज्ञान विषय को लेकर हुई। बी.एस.सी., ए.आई.सी. की डिग्री लेकर इन्होंने सन् 1965 से 2003 ई० तक इंडियर आयरन एंड स्टील कंपनी, कुल्टी में केमिस्ट इंचार्ज के रूप में काम किया। वहाँ से स्वैच्छिक सेवा–अवकाश लेने के पश्चात् कुछ महीने हैदराबाद विश्वविद्यालय के विजिटिंग प्रोफेसर रहे। कुछ महीने तक अक्षरपूर्व (रायपुर) के संपादक रहे। करीब साल भर तक माधव प्रकाशन में संपादन कार्य करने के बाद राजेन्द्र यादव द्वारा हंस का कार्यकारी संपादक होकर दिल्ली में ही रहने लगे। कृत्तित्व –कहानी संग्रह –*तीस साल का सफरनामा, आप यहाँ हैं, दुनिया की सबसे हसीन औरत, ब्लैक होल, खोज, गली के मोड़ पर सूना सा कोई दरवाजा* इत्यादि। उपन्यास –*किसनगढ़ के अहेरी, सर्कस, सावधान नीचे आग हैं, धार, पाँव तले की दूब, जंगल जहाँ से शुरू होता है, रह गई दिशाएँ उस पार, फाँस, प्रत्यंचा* इत्यादि।यात्रा साहित्य –*सात समंदर पार*नाटक –*ऑपरेशन जानकी*। सम्मान–अपराध (प्रथम पुरस्कार) – अखिल भारतीय भाषा कथा प्रतियोगिता सारिकाइंदु शर्मा अंतर्राष्ट्रीय कथा सम्मान, लंदन 2001 पहल कथा सम्मान 2005। सुधा कथा सम्मान 2008। हिन्दी के सबसे बड़े (11 लाख रूपये के) तीन पुरस्कारों में से एक "श्री लाल शुक्ल स्मृति" इफको साहित्य सम्मान 2013।

रामधारी सिंह दिवाकर

रामधारी सिंह दिवाकर का जन्म अररिया जिले (बिहार) के एक गाँव नरपतगंज में 1 जनवरी 1945 ई० को एक निम्न मध्यवती किसान परिवार में हुआ। एम.ए., पी.एच.डी. (हिन्दी) मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार) में प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष पद से 2005 में अवकाश ग्रहण। अरसे तक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना के निदेशक रहे। कृत्तित्व –कहानी संग्रह –*नये गाँव में, अलग–अलग, अपरिचय, बीच से टूटा हुआ, माटी–पानी, झूठी कहानी का सच* इत्यादि। उपन्यास –*क्या घर क्या परदेस, काली सुबह का सूरज, आग–पानी आकाश, अकाल संध्या, दाखिल दारिज* 2014 इत्यादि। आलोचना –*भर गंगा में दूब*। **सम्मान एवं पुरस्कार** –शोकपर्व पर कहानी दिल्ली दूरदर्शन द्वारा फिल्म निर्मित। भरवान पोखर पर फिल्म। श्री लाल शुक्ल इफको स्मृति साहित्य सम्मान 2018।

भगवान दास मोरवाल

जन्म 23 जनवरी 1960 नगीना, जिला मेवात, हरियाणा में हुआ। राज्यस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. की डिग्री हासिल की। इसके बाद पत्रकारिता में डिप्लोमा हासिल किया। यही से इनके साहित्यिक जीवन का आरम्भ हुआ। कंजरों की जीवन शैली पर आधारित उपन्यास रेत को लेकर उन्हें मेवात में कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। इनके लेखन में मेवात क्षेत्र की ग्रामीण समस्याएं उभर कर सामने आती है। एम० ए० (हिन्दी) एवं पत्रकारिता में डिप्लोमा। उपन्यास : *बाबल तेरे देश में, रेत, काला पहाड़, नरक मसीहा, हलाला, सुर बंजारन*। कहानी संग्रह :*सिला हुआ आदमी, सूर्यास्त से पहले, अस्सी मॉडल उर्फ सूबेदार, लक्ष्मण रेखा*। कविता संग्रह :*दोपहरी चुप है*। सम्मान व पुरस्कार : श्रवण सहाय अवॉर्ड 2012 जनकवि मेहर सिंह सम्मान 2010। हरियाणा साहित्य अकादमी 2009। जनवरी 2008 में ट्यरिन (इटली) में आयोजित भारतीय लेखक सम्मेलन में शिरकत। पूर्व सदस्य, हिन्दी अकादमी दिल्ली एवं हरियाणा साहित्य अकादमी।

मैत्रेयी पुष्पा

इनका जन्म 30 नवंबर 1944 को अलीगढ़ जिले के सिकुर्रा गांव के एक गरीब किसान ब्राह्मण के घर में हुआ। इनके जीवन का आरंभिक भाग बुंदेलखंड में बीता। मैत्रेयी का नाम पुष्पा हीरालाल पांडेय है। पिता मैत्रेयी कहकर पुकारते थे तो माता पुष्पा कहकर। इन्होंने पीहर और ससुराल के दोनों नाम त्यागकर पिता और माता के प्रिय नाम मैत्रेयी पुष्पा से साहित्य क्षेत्र में प्रवेश किया। पिता उपाध्याय गोत्र के ब्राह्मण अड़तालीस बीघे खेत के मालिक थे परन्तु खेती के काम के बदले लड़कियों की खरीद–फरोख्त करने में अपना समय गँवा देते थे। बदचलनी

और दुष्चरित्र के चलते इनके पिता हीरालाल को कोई अपनी बेटी देने के लिए राजी न होता। तो इन्होंने मैत्रेयी की माता कस्तूरी को आठ सौ रूपये में पत्नी स्वरूप खरीदा। पिता की मृत्यु के समय मैत्रेयी मात्र 18 महीने की थी। इनकी आरंभिक शिक्षा झांसी जिले के खिल्ली गांव में तथा एम०ए० हिन्दी बुंदेलखंड कालेज, झाँसी में की। उपन्यास : *चाक, अल्मा कबूतरी, कहै ईसुरी फाग, बेतवा बहती रही, चिन्हार, इदन्नमम, गुनाह बेगुनाह*। आत्मकथा :*कस्तूरी कुण्डल बसै, गुड़िया भीतर गुड़िया*। कहानी संग्रह : *चिन्हार, ललमुनियाँ, त्रियाहठ, फैसला, सेंध, अब फूल नहीं खिलते, तुम किसकी हो बिन्नी*। पुरस्कार व सम्मान : हिन्दी अकादमी द्वारा साहित्य कृति सम्मान। कहानी *फैसला* पर कथा सम्मान *बेतवा बहती रही* उपन्यास पर उ० प्र० हिंदी संस्थान द्वारा प्रेमचंद सम्मान, मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा वीर सिंह देव सम्मान, वनमाली सम्मान 2011।

महुआ माजी

महुआ माजी का जन्म 10 दिसम्बर 1964 को रांची, झारखंड में हुआ था। इनकी रूचि चित्रकारिता में थी। कॉलेज के दिनों में कविताएं लिखने के शौक ने उनके लेखन को और मजबूत किया। वर्तमान में ये झारखंड राज्य महिला आयोग के अध्यक्ष के पद पर है। इनके द्वारा साहित्य में योगदान उपन्यास *मैं बोरिशाइल्ला, मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ*। कहानियाँ –*मोइनी की मौत, झारखंडी बाबा, उफ! ये नशा कालिदास, ताश का घर, सपने कभी नहीं मरते, जंगल, जमीन और सितारे* इत्यादि। सम्मान – इंदु अंतर्राष्ट्रीय कथा सम्मान, झारखंड रत्न सम्मान, मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी सम्मान इत्यादि।

अब्दुल बिस्मिल्लाह

इनका जन्म 5 जुलाई 1949 को उत्तरप्रदेश जनपद के इलाहाबाद के बलापुर गाँव में हुआ था। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए. तथा डी.फिल. की उपाधि अर्जित की। सम्प्रति वह जामिया मिलिया विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर हैं। इनके साहित्य में योगदान उपन्यास –*झीनी झीनी बीनी चदरिया, मुखड़ा क्या देखे, समर शेष है, जहरवाद, अपवित्र आख्यानव अन्य* कहानी संग्रह –*अतिथि देवो भवः, रफ–रफ मेल, रैन बसैरा, टूटा हुआ पंख, जीनिया के फूल*, नाटक –*दो पैसे की जन्नत*, आलोचना –*विमर्श के आयाम, अल्पविराम व मध्य कालीन हिन्दी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय*। पुरस्कार/सम्मान – 1987 में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, अखिल भारतीय देव पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान व हिन्दी अकादमी, दिल्ली के सम्मानों से भी समादृत।

पुन्नी सिहँ

इनका जन्म 1 अगस्त 1939 को इन्द्रप्रस्थ नगर, शिवपुरी (मध्यप्रदेश) में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक व हाई शिक्षा शिवपुरी से ही सम्पूर्ण हुई थी। इसके बाद ये भारतीय विद्यालय शिवपुरी के अध्यापक पद पर भी रहे। अध्यापन कार्य के दौरान ही इन्होंने लेखन कार्य प्रारम्भ किया। इनका साहित्य में योगदान उपन्यास : *पाथर घाटी शोर, तिलचट्टे, सहराना*। नाटक –*रेंजागंला* इत्यादि। मध्य प्रदेश सरकार द्वारा कई पुरस्कारों से सम्मानित रहे है।

मधुकर सिहँ

इनका जन्म 2 जनवरी 1934 को मिदनापुर, बंगाल में हुआ था और गाँव धरहरा (आरा) में पले–बढ़े हुए। 22 वर्षों तक हर प्रसाद दास जैन स्कूल में शिक्षक पद पर रहते आजीवन लिखते रहे। इनकी माता के गीतों व कथाओं का इनके जीवन पर गहरा प्रभाव रहा। समांतर कथा आंदोलनों में अहम भूमिका निभाने वाले मधुकर सिंह ने दलित उत्पीड़न, शोषित, वंचित लोगों के दुख–दर्द, उनकी आंकाक्षाओं व संघर्षों की अभिव्यक्ति को अपने लेखन का मकसद बनाए रखा। जीवन के अन्तिम समय में लकवाग्रस्त होने के कारण 15 जुलाई 2014 (आरा) बिहार में इनका निधन हो गया। साहित्य योगदान में 19 उपन्यासों की रचना *धर्मपुर की बहु, अर्जुन जिंदा है, सोनभद्र की राधा, बाजत अनहद ढ़ोल* इत्यादि। कहानी संग्रह –*पूरा सन्नाटा, भाई का जख्म, हरिजन सेवक, पहला पाठ, असाढ़ का पहला दिन* इत्यादि। नाटक –*सुबह के लिए, बाबू जी का पास बुक, कुतुब बाजार* प्रसिद्ध नाटक है। सम्मान/पुरस्कार – सोवियत लैण्ड नेहरू, फणीश्वर नाथ रेणु पुरस्कार, साहित्य सेवा सम्मान, कर्पूरी ठाकुर सहित अन्य पुरस्कार से सम्मानित थे।

रणेन्द्र

इनका जन्म 10 फरवरी 1960 को बिहार के नालंदा जिले में एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। प्रारंभिक व हाई शिक्षा नालंदा से सम्पूर्ण की। 1999 से 2005 तक 'कांची' नामक त्रेमासिक साहित्यिक पत्रिका का संपादन भी किया। कहानी और उपन्यास के साथ–साथ कविता में भी लेखन कार्य किया। इनकी रचनाओं में वैश्वीकरण एवं विकास के दौर में आदिवासी समुदायों के भीतर हो रहे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिर्वनों की बारीकी से पड़ताल हैं। साहित्य में योगदान उपन्यास –*ग्लोबल गाँव के देवता, गायब होता देश, गूँगी रूलाई का कोरस* इत्यादि। कहानी संग्रह –*रात बाकी, छप्पन छुरी बहत्तर पेंच*। कविता संग्रह –*थोड़ा सा स्त्री होना चाहता* हूँ। सम्मान/पुरस्कार : श्री लाल शुक्ल की स्मृति 2020 में इफको सम्मान व अन्य पुरस्कृत।

पंकज सुबीर

इनका जन्म 11 अक्टूबर 1975 को मध्यप्रदेश के होशँगाबाद जिले के सीवनी मालवा कस्बे में हुआ। पिता के शासकीय सेवा में चिकित्सक होने के कारण मध्यप्रदेश के विभिन्न शहरों में शिक्षा दीक्षा हुई। उसमें भी अधिकाँश सीहोर जिले में। प्राथमिक शिक्षा शाजापुर जिले के सुसनेर कस्बे में, माध्यमिक तथा हाईस्कूल शिक्षा सीहोर जिले के ही छोटे से कस्बे इछावर में हुई। तत्पश्चात् सीहारे के शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय से विज्ञान में स्नातक उपाधि तथा रसायन शास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि बरकत उल्लाह विश्वविद्यालय भोपाल द्वारा प्राप्त की। पत्रकारिता से लगाव होने के कारण दैनिक जागरण, साध्य दैनिक, सहारा समय जैसे समाचार पत्र व चैनलों से जुड़े रहे। साहित्य में योगदान सौ से ज्यादा साहित्यिक रचनाएँ जिनमें कहानियाँ, कविताएँ, उपन्यास, गजले, लेख और व्यंग्य इत्यादि। उपन्यास –*हलफनामें, विसर्जन, यह वो शहर तो नहीं*। कहानी संग्रह –*महुआ घटवारिन, गाँधी एट यरवदा*। आलोचना –*नई सदी का कथा समय*। पुरस्कार/सम्मान – ज्ञानपीठ पुरस्कार 2009, जे.सी. जोशी शब्द साधक जनप्रिय सम्मान, वागीश्वरी पुरस्कार, अंतर्राष्ट्रीय इन्दु कथा सम्मान, वनमाली कथा सम्मान व अन्य सम्मानों से पुरस्कृत।

असगर वजाहत

इनका जन्म 5 जुलाई 1946 को फतेहपुर, उत्तरप्रदेश में हुआ था। इन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. व यही से पी.एच.डी. की उपाधि भी ग्रहण की। पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली से किया। 1971 से जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली के हिंदी विभाग में अध्यापन किया। 5 वर्ष ओत्वोश लोरांड विश्वविद्यालय, बुडापेस्ट हंगरी में भी अध्ययन किया। यूरोप और अमेरिका के कई विश्वविद्यालयों में व्याख्यान हो चुके हैं। साहित्य में योगदान उपन्यास –*कैसी आग लगाई, मनमाटी बरसा रचाई, सात आसमान, पहर–दोपहर, धरा अकुँराई* इत्यादि। कहानी –*अंधेरे से, दिल्ली पहुँचना है, स्विमिंग पूल, सब कहाँ कुछ* व अन्य नाटक –*फिरंगी लौट आये, इल्ला की आवाज, वीरगति अकी, सबसे सस्ता गोश्त*। सम्मान/पुरस्कार – श्रेष्ठ नाटककार सम्मान हिन्दी अकादमी द्वारा, आचार्य निरंजननाथ सम्मान, संगीत नाटक अकादमी 2014, श्लाका सम्मान 2016 इत्यादि।

अजय नावरिया

इनका जन्म 6 जून 1972 को गाँव कोटला, मुबारकपुर, दिल्ली में हुआ। इनकी प्रारंभिक से सारी शिक्षा दिल्ली में ही सम्पूर्ण हुई। एम.ए., एम.फिल., पी.एच.डी. जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली से सम्पूर्ण की। शिक्षा सम्पूर्ण करने के पश्चात् जामिया मिलिया इस्लामिया

विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक पद पर कार्यरत है। इनका पारिवारिक जीवन संघर्षमय रहा। जिसका वर्णन इनके उपन्यास के माध्यम से देखा जा सकता है। साहित्य योगदान – उपन्यास *उधर के लोग*, कहानी –*पटकथा और अन्य कहानियाँ*। सम्पादन –*हंस के दलित विशेषांक, नैतिकताओं का टकराव पर केन्द्रित अंक*, डॉ0 उदित राज के लेख आदि का सम्पादन। सम्मान – सुधा साहित्य सम्मान, हिन्दी अकादमी का साहित्यिक कृति सम्मान।

तेजिन्दर

इनका जन्म 10 मई 1951 को जालंधर में हुआ था। उनकी शिक्षा छतीसगढ़ के बस्तर और रायपुर में हुई। इन्होंने देशबन्धु से अपने पत्रकारिता की शुरूआत की और बाद में कुछ समय तक सैंट्रल बैंक में काम करने के पश्चात् आकाशवाणी और दूरदर्शन में लंबे समय तक कार्यरत रहे। वे दूरदर्शन के उप–महानिदेशक के पद से सेवानिवृत हुए। इसके बाद अनटोल्ड नामक एक पत्रिका का भी संपादन प्रकाशन किया। तेजिंदर समाज के भीतर लेखक की भूमिका को बेहद महत्वपूर्ण मानते है। 2018 में 67 वर्ष की उम्र में इनका निधन हो गया। साहित्य में योगदान उपन्यास : *वो मेरा चेहरा* (जिसकी आलोचना के शिखर पुरूष प्रो0 नामवर सिंह ने अत्यन्त सराहना की) *हलो सुजीत, सीढ़ियों पर चीता, काला पादरी* इत्यादि। कहानी संग्रह –*घोड़ा बादल*। कविता –*बच्चे अलाव ताप रहे है* इत्यादि। सम्मान – मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी सम्मान, वागीश्वरी सम्मान, लीला स्मृति सम्मान, कथाक्रम सम्मान इत्यादि।

राजू शर्मा

इनका जन्म 1959 में बिहार में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव से प्राप्त की। बी.ए. तथा एम.ए. की शिक्षा पटना विश्वविद्यालय से सम्पूर्ण की। इनके पिता एक अध्यापक थे। माता से इनका अधिक स्नेह था। कॉलेज छात्र के समय इन्होंने लाल झंडा छात्र संगठन, यूनियन के चुनाव, हड़ताल, सांप्रदायिकता विरोधी आंदोलनों में भाग लिया। जहाँ से इनको राजनीति की साफ सच्चाई का एहसास हुआ। जिसका प्रभाव इनके उपन्यास हलफनामें में साफ–साफ झलकता है। कॉलेज शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त इन्होंने एक कंपनी में मार्केटिंग अफसर का पद ग्रहण किया। इसके बाद अनेक पत्र–पत्रिकाओं में संपादन विभाग में कार्य करने से लेखन कार्य प्रारम्भ किया। साहित्य में योगदान – उपन्यास –*हलफनामें, विसर्जन।* कहानी संग्रह –*शब्दों का खाकरोब, समय के शरणार्थी, नहर में बहती लाशें*। नाटक –*भुवनपति, मध्यम वर्ग का आत्मनिवेदन या गुब्बारों की रूहानी उड़ान, जंगलवश* इत्यादि। सम्मान – विजय वर्मा कथा सम्मान, मुक्तिबोध सम्मान।

1.4 तुलनात्मक दृष्टि

रेणु द्वारा प्रारम्भ की गई आँचलिक उपन्यासों की परम्परा में समकालीन उपन्यासकारों ने भी इस परम्परा में कड़ी जोड़ने का कार्य किया है। इस परम्परा की कड़ी में हरिराम मीणा, काशीनाथ सिहँ जैसे साहित्यकारों का आँचलिक वर्णन अपने आप में आधुनिकता को ग्रहण किए हुए है। रेणु जी ने जब मैला आँचल उपन्यास की रचना 1954 में की थी। उस समय भारत विभाजन के कुछ ही वर्ष बीते थे। जिस कारण सामाजिक ढ़ाँचा अस्त–व्यस्त था। उसी अस्त–व्यस्त ग्रामीण जन जीवन को रेणू जी ने यथार्थ के साथ चित्रित किया था। वही काशीनाथ सिहँ भूमंडलीकरण से भारत के ग्राम्य जन–जीवन का परिचय देते हुए नजर आते है। वही हरिराम मीणा भी अपने वर्तमान राजस्थान के गाँवों का जीवन व्यापन यथार्थ के साथ लिखते है। रेणू जी के समय में खेती किसानी जहाँ पालतू पशुओं से की जाती थी, वही आज काशीनाथ सिहँ जी इस खेती किसानी को ट्रैक्टर, आधुनिक मशीनीकरण से जोड़ते नजर आते है। वही मीणा आज भी राजस्थान के पिछड़े ग्राम्य जीवन का वर्णन करते है जो कही न कही रेणू के ग्राम्य जीवन से पिछड़ेपन से मेल खाता है। इसी तरह संजीव कृत *फाँस* उपन्यास भी ग्राम्य जीवन के पिछड़ेपन की कहानी सुनाता है। बात वही की वही है बस आज रहने का तौर तरीका, रंग–ढ़ंग जरूर बदल गए है। अगर सही मायनों में देखा जाए तो आँचालिक परम्परा का समय के साथ–साथ बदलना भी अपने आप में बदलाव ही है जो इक्कीसवी सदी में भूमण्डलीकरण के प्रभाव से प्रभावित रहा है। इसी परम्परा में महुआ माजी का उपन्यास *मरंग गोडा नीलकंठ हुआ* आदिवासी ग्रामीण लोगों की गाथा सुनाता है। जहाँ भूमण्ड़लीकरण में पूँजीपति, रेणू के उपन्यास के सूदखोरों, तहसीलदार जैसे पात्रों से मेल खाते है। वहाँ भी शोषण था और यहाँ भी शोषण का शिकार आदिवासी भोले भाँले ग्रामीण नजर आते है।

परिवर्तनशीलता जिंदगी का आधार है। सभी साहित्यकारों ने समय अनुरूप आए बदलावों को उपन्यासों के माध्यम से चित्रित किया है। ये परिवर्तित और परिवर्तनशील गाँवों भी सीधे स्पष्ट ग्रामीण परम्परा, रूढ़ि, प्रथाओं, बदलाव को ग्रहण करते नजर आते है। भगवार दास मोरवाल का मेवात के प्रति दृष्टिकोण मेवात के पिछड़ेपन की गाथा कहता है वही काशीनाथ सिहँ के उपन्यास के युवा पात्रों को आज अपना देश नहीं भाता। वे अमेरिका जैसे प्रगतिशील राष्ट्र को पसंद करते है जहाँ का जीवन आधुनिक चकाचौंध से चमकीला है। समय के साथ सभी उपन्यासों के पात्र, चरित्र–चित्रण, भाषा, कथावस्तु सभी में परिवर्तन आया है। बात है इस परिवर्तन को ग्रहण करने और न करने की।

निष्कर्ष

हम कह सकते है कि उपन्यास का प्रारम्भ *परीक्षागुरू* उपन्यास से प्रारम्भ होकर वर्तमान तक पहुँचते हुए अपने साथ अपने समकालीन यथार्थ का वर्णन करता आया है। चाहे वह यथार्थ सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक या फिर इस समय के भूमंडलीकरण का ही क्यों ना हो। सभी उपन्यासकारों ने अपने समकालीन परिस्थितियों से परिचित करवाया है। समयानुसार परिस्थितियाँ भिन्न–भिन्न हो सकती है। परन्तु यथार्थ अपना रूप कभी नहीं बदलता है। सभी उपन्यासकार चिंतनशील होने के साथ–साथ समाज सुधारक भी रहे है। सभी का नजरिया आदर्श प्रवृत्ति का नहीं रहा है। हाँलाकि समयानुसार सभी ने तरह–तरह के उपन्यास लिखे है परन्तु समय की आवाज और माँग के साथ उपन्यासों का लिखा जाना भी स्वाभाविक है।

उपन्यास परम्परा में आँचलिक उपन्यासिक परम्परा को भी हमने देखा कि किस तरह आँचलिक ग्रामीण उपन्यासों की परम्परा रेणू के *मैला आँचल* से प्रारम्भ होकर वर्तमान समय तक आई है। किस प्रकार छोटे–छोटे परिवारों के समूह ने इकट्ठा होकर नगरीय, ग्रामीण व कस्बाई परिवेश को जन्म दिया। इस ग्राम्य जीवन की जन झाँकी को किन–किन उपन्यासकारों ने किस तरह से एक लम्बी यात्रा को तय करके वर्तमान समय तक पहुँचाया है। समय के साथ उपन्यास की परिभाषा में बदलाव आया। और किस तरह से कुटुम्ब से गाँवों में बदलने के लिए समय परिवर्तनशील रहा। इस आँचलिक परम्परा में विभिन्न उपन्यासों के माध्यम से विभिन्न पक्षों का वर्णन हम आगे के अध्यायों में सहविस्तार से करेगे।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का सामाजिक पक्ष

21वीं सदी के उपन्यासों में सामाजिक पक्ष को उपन्यासकारों ने बहुत करीब से प्रस्तुत किया है। इस सदी के उपन्यासकारों ने सामाजिक पक्ष के हर पहलू जैसे परिवार, समाज, संस्कृति, शिक्षा–दीक्षा आदि ग्राम्य जीवन की विभूतियों को अपने साहित्य में स्थान देकर अपने विषय क्षेत्र से संबंधित इन पक्षों को उभारकर परिचित करवाया हैं।

इस सदी में गाँव में विभिन्न परिवर्तन आया है जो गाँवों को विकास के पथ पर लेकर आया है। गाँवों के बच्चे अब शहरों में पढ़ने–लिखने लगे हैं। किसी ने सच ही कहा था कि मनुष्य के जीवन का मुख्य आधार शिक्षा ही है। शिक्षित होने से गाँव में अब बहुत सारी नवीन संभावनाओं को गति मिली है। अब हर गाँव में पक्की सड़क जाती है। पानी की व्यवस्था अब कुओं पर निर्भर न रहकर ट्यूबवैल से पानी सप्लाई किया जा रहा है। बैलगाड़ी व खेती किसानी के लिए अब बैलों का स्थान ट्रैक्टर ने ले लिया है। खेती के लिए नए–नए उपकरणों का, खाद–बीज दवाईयों का प्रयोग भी किया जा रहा है। जिसके कारण गाँवों में इस का सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव बराबर पड़ता रहा है। गाँवो में, गाँवों की व्यवस्था पर अब बात की जाए तो गाँवों अपने–आपको परिवर्तित करके, शहरों की होड़ में खड़ा होता जा रहा है। एक समय तब था जब गाँव और शहर दो पृथक स्थान हुआ करते थे। जिसमें सुख–सुविधाओं के नाम पर शहरों में सब कुछ पाया जाता था अपितु गाँव में सुख–सुविधाओं के नाम पर केवल पिछड़ापन ही हुआ करता था। गाँव में अति प्राचीन समय में पीने के पानी के लिए भी कोसों दूर से पानी की व्यवस्था की जाती थी जिसे 'पनघट' कहा जाता था परन्तु आज पनघट का स्थान टूटियों, पानी के टैकों, टयूबवैल आदि ने ले लिया है।

आज हम अगर किसी गाँव में जाते है और उसी गाँव में अगर हम कुछ वर्षों के बाद फिर से आगमन करते है तो पाते है कि क्या यह वही गाँव है। देखते ही देखते इतना बदलाव आ जाता है जितना की शायद शहरों में ना आये। फैशन के नाम पर ग्रामीण लोगों में तन ढ़कने के इलावा अन्य कोई वस्त्रों का पहनावा प्रचलन में नहीं हुआ करता था। परन्तु अगर आज हम ग्राम्य जीवन के पहनावे पर नजर डालते है तो गाँवों के पढ़े–लिखे बच्चे आज फैशन के नाम पर चलने वाले वस्त्रों का जिनका प्रयोग शहरों में किया जाता है वही वस्त्र ग्रामीण

बालक भी प्रयोग करते है। अगर हम ग्रामीण जन–जीवन के घरों पर नजर डालते हैं तो पाते है कि आज ग्राम्य जन–जीवन में शहरों में बने आवासों का प्रचलन अब गाँवों में हो रहा है। कभी गाँवों में आवासीय स्थल मिट्टी व कच्ची ईंटों, चूने के बने होते थे। जो प्रायः गर्मियों में तेज धूप में भी ठण्डे रहा करते थे और सर्दियों में गर्म। परन्तु आज पक्की ईंटों के बने मकान इनके विपरीत है वातानुकूलित नहीं है। इन्हीं विषयों पर चर्चा करते हुए 21वीं सदी के चयनित उपन्यासों में ग्राम्य जीवन के विभिन्न सामाजिक पक्षों का वर्णन इस प्रकार से है :–

2.1 परिवार

समाज की प्रथम प्रमुख ईकाई परिवार ही है। कई सदस्यों के इकट्ठा होने से ही परिवार का निर्माण होता है। इन परिवारों के भिन्न सदस्यों द्वारा विभिन्न क्रियाकलाप जन–जीवन को प्रभावित करते है। ग्राम्य जीवन में परिवारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है इस पर गीता आर्या अपनी पुस्तक *परिवार का महत्व* में लिखती है :

> परिवार से बड़ा कोई धन नहीं होता हैं, पिता से बड़ा कोई सलाहकार नहीं होता, माँ के आँचल से बड़ी कोई दुनिया नहीं, भाई से अच्छा कोई भागीदार नहीं, बहन से बड़ा कोई शुभ चिंतक नहीं इसलिए परिवार के बिना जीवन की कल्पना करना कठिन है।(1)

> प्लेटो अपनी पुस्तक रिपब्लिक में लिखते है, "परिवार मनुष्य की प्रथम पाठशाला है।"(97)

परिवार साधारणतया पति, पत्नी और बच्चों के समूह को कहते है, किंतु दुनिया के अधिकांश भागों में वह सम्मिलित वास वाले रक्त संबंधियों का समूह है जिसमें विवाह और दत्तक प्रथा स्वीकृत व्यक्ति भी सम्मिलित हैं।

आगस्ट कॉम्टे की पुस्तक *सोशल फिजिक्स फरोम पाजिटिव* के अनुसार, "परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। एक अच्छा परिवार समाज के लिए वरदान और एक बुरा परिवार समाज के लिये अभिशाप होता है।"(21)

सभी समाजों में बच्चों का जन्म और पालन पोषण परिवार में होता है। बच्चों का संस्कार करने और समाज के आचार व्यवहार में दीक्षित करने का मुख्य काम गाँव में परिवार से होता है। इसके द्वारा समाज की सांस्कृतिक विरासत एक से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। व्यक्ति की सामाजिक मर्यादा प्रायः गाँवों में परिवार से ही निर्धारित होती है। औद्योगिक सभ्यता से उत्पन्न जनसंकुल समाजों और नगरों को यदि छोड़ दिया जाए तो व्यक्ति का परिचय मुख्यतः उसके परिवार और कुल से ही जाना जाता है। भारत के गाँवों में मुख्यतः

परिवार एक छोटी इकाई है जहाँ रक्त संबंध से जुड़े सारे सदस्य एक छत के नीचे निवास करते है। यही छोटे–बड़े परिवार मिलकर क्षेत्र विशेष पर एक आचार–विचार वाली संस्कृति के रूप में एक गाँव का निर्माण करते है। संसार के विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न कालों में यद्यपि रचना, आकार, संबंध और कार्य की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों में साहित्यकारों ने परिवार के अनेक भेदों का वर्णन किया है। देश, काल, परिस्थिति और प्रथा आदि के भेद से एक या अनेक पीढ़ियों का और एक या अनेक दंपत्तियों अथवा पति–पत्नियों के समूहों का होना संभव है। उसके सदस्य एक पारिवारिक अनुशासन व्यवस्था के अतिरिक्त पति और पत्नी, भाई और बहन, पितामह, पौत्र, चाचा और भतीजे, सास और पुत्रवधू जैसे संबंधों तथा कर्त्तव्यों एवं अधिकारों से परस्पर आबद्ध अन्य सामूहिक संदर्भों में एक घनिष्टतम रूप में रहते है। कृष्णा सोबती की पुस्तक *सोहबती : एक सोहब्बत* के अनुसार, "परिवार के दायरे में स्त्री और पुरूष के बीच कार्य विभाजन भी सार्वकालिक और सार्वतिक है।"(21)

फणीश्वर नाथ रेणु अपनी पुस्तक *मैला आँचल* के अनुसार :

> भोजन बनाना, बच्चें की देखरेख और घर की सफाई करना और कपड़ों की सिलाई आदि ऐसे काम है जो स्त्री के हिस्से में जाते है। पुरूष बाहरी तथा अधिक श्रम के कार्य करता है, जैसे खेती, व्यापार, उद्योग, पशुचारण, शिकार और गृहस्थ कार्य इत्यादि। तब भी यह कार्यविभाजन सब टोलों में एक सा नहीं है, कोई बड़ी सामान्य जाति के टोले में अलग है तो गाँवों के अन्य टोलों में अलग है।(29)

21वीं सदी के उपन्यासकारों ने विभिन्न प्रकार के परिवारों को अपने उपन्यासों में वर्णित किया है। इस सदी के कुछ परिवारों का वर्णन निम्न प्रकार से है।

2.1.1 एकल परिवार

एकल परिवार से तात्पर्य ऐसी पारिवारिक संरचना से है जिसमें केवल पति–पत्नी और उनके बच्चे ही शामिल होते है। इसके साथ ही परिवार का मुखिया भी केवल इन्हीं लोगों के प्रति उत्तरदायी होता है। एकल परिवारों के प्रति बढ़ती दिलचस्पी के पीछे सबसे बड़ा कारण यह है कि पति–पत्नी दोनों ही अब आर्थिक रूप से स्वतंत्र रहना चाहते हैं। जिसके चलते खुद से संबंधित किसी भी मसले में दूसरे व्यक्ति का हस्तक्षेप सहन नहीं किया जाता है।

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो रहा भारतीय समाज बहुत तेजी से अपनी मौलिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन ला रहा है। संयुक्त परिवार जो कभी भारतीय सामाजिक व्यवस्था की नींव हुआ करते थे, आज पूरी तरह विलुप्त होने के कगार पर पहुँच चुके है। इसका सबसे बड़ा

कारण यह है कि बदलते आर्थिक परिवेश में लोगों की प्राथमिकताएँ मुख्य रूप से प्रभावित हो रही है। मनुष्य का एकमात्र ध्येय केवल व्यक्तिगत हितों की पूर्ति करना ही रह गया है। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए वह अपने परिवार के साथ को भी छोड़ने से पीछे नहीं रहता। इसके इलावा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बढ़ती माँग भी परिवारों के टूटने का कारण बनती है।

एकल परिवारों का सबसे बड़ा नुकसान यही है कि वे परिवार की अंखडता और एकता पर बहुत गहरा प्रहार करते हैं। माता–पिता बड़े शौक से यह सोचकर अपने बच्चों का पालन पोषण और उनकी अच्छी शिक्षा की व्यवस्था करते हैं कि वृद्धावस्था में उनके बच्चे उन्हें सहारा देंगे। लेकिन होता इसका एकदम उल्टा हैं। बच्चे काबिल बनने के बाद अपने अभिभावकों के बलिदानों और प्रेम की परवाह किए बर्गर उनसे अलग अपनी एक नई दुनिया बसा लेते हैं, जिसमें माता–पिता के प्रति भावनाओं और उत्तरदायित्वों के लिए कोई स्थान नहीं होता। डॉ० देवेन्द्र पाल सिहँ तोमर अपनी पुस्तक *समाजशास्त्र के मूल सिद्धात* में एकल परिवार को इन शब्दों में परिभाषित करते है – "एकल परिवार सबसे छोटी इकाई है इसमें सदस्यों के रूप में केवल पति–पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे ही होते है। इन परिवारों को प्राथमिक व तात्कालीन परिवार भी कहते है।(22)

एक–दूसरे से दूर रहने की वजह से पारिवारिक सदस्यों में आपसी मेलजोल की भावना भी कम होने लगती है और धीरे–धीरे वह पूर्ण रूप से अपने ही परिवार से कट जाते हैं। पहले जो तीज–त्यौहार पूरा परिवार एक साथ हर्षोल्लास के साथ मनाया करता था। आज वहीं त्यौहार अलग–थलग रहकर अनमने ढ़ंग से मनाया जाने लगा है। संजीव महाजन अपनी पुस्तक *ग्रामीण समाजशास्त्र* में लिखते हैं "मनुष्य पहले अपने परिवार का सदस्य है और फिर राज्य का। उसे परिवार के रूप पर ही अपने को बनाना चाहिए।"(29) पहले जहाँ पारिवारिक सदस्यों की उपस्थिति उत्सवों में चार–चाँद लगाया करती थी, आज वहीं उत्सव मात्र एक औपचारिकता बन कर रह गए हैं।

संयुक्त परिवारों के विघटन और एकल परिवारों के उद्‌भव का सबसे बड़ा प्रभाव परिवार के बच्चों पर पड़ा है। नाती–पोतों के साथ समय व्यतीत करने का अरमान हर बुजुर्ग का होता है, साथ ही बच्चे भी अपने दादा–दादी के साथ समय बिताना पसंद करते हैं। लेकिन एकल परिवारों की बढ़ती संख्या परिवार के बच्चों को बड़ों के दुलार और स्नेह से महरूम रखने का कार्य करती है। खासतौर पर आज जब महिला और पुरूष दोनों ही बाहर कार्य करने जाते हैं और बच्चे घर में अकेले होते हैं, ऐसे में बड़ों के सहारे की आवश्यकता और बढ़ने लगी है।

2.1.2. संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार से अभिप्राय ऐसे परिवार से है जहाँ एक से अधिक पीढ़ियों के लोग एक साथ, एक ही छत के नीचे रहते हैं। सभी की जरूरतों, आवश्यकताओं को मिलकर पूर्ण किया जाता है। जहाँ छोटे–बड़े में मान–सम्मान होता है। संयुक्त परिवार में मुख्यतः परिवार के निर्णय घर के बड़े–बुजुर्गों द्वारा लिए जाते है जिनमें दादा–दादी प्रमुख होते है। परिवार के अन्य सदस्य बड़े बुजुर्गों द्वारा लिए गए फैसले पर अमल करते है। बड़े द्वारा लिए गए निर्णयों पर कोई बहस नहीं की जाती है संयुक्त परिवार पर जे.पी.सिंह अपनी पुस्तक *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन : 21वीं सदी में भारत* में लिखते है "संयुक्त परिवार सामान्यतः उन सभी व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो एक समान पूर्वजों की संतानें हो, इसमें कुछ विवाह संबंधी भी होते हैं। भारत में परिवार से तात्पर्य संयुक्त परिवार से ही है।"(117) के.एम. पनिक्कर अपनी पुस्तक *हिंदू सोसायटी एंड क्रॉसरोड* में लिखते हैं कि "हिंदू समाज की इकाई व्यक्ति नहीं बल्कि संयुक्त परिवार है।"(206)

संयुक्त परिवार प्रणाली यद्यपि बहुत प्राचीन है, तथापि इसके फलस्वरूप में बहिर्विवाह, उत्तराधिकार तथा सांपत्तिक अधिकार के नियमों में, कालक्रम में परिवर्तन होता रहा है। जर्मन विद्वान एवं भारत विद्या उपागम के समर्थक जूलियस जॉली अपनी पुस्तक *हिंदू लॉ एंड कस्टम* में लिखते हैं :

> न केवल माता–पिता तथा संतान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं बल्कि कभी–कभी इनमें कई पीढ़ियों तक की संताने पूर्वज तथा समानांतर संबंधी भी सम्मिलित रहते हैं।(11)

औद्योगिक क्रांति ने पाश्चात्य देशों में परंपरागत संयुक्त परिवार भंग कर दिया है। जिसका कारण बढ़ते हुए यंत्रीकरण के फलस्वरूप व्यक्ति को परिवार से बाहर मिली आजीविका सुरक्षा और उन्नति की सुविधाओं को बताया जाता है। भारत में भी औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नई अर्थव्यवस्था और नए यंत्रीकरण तथा आर्थिक संगठनों का आरंभ हो चुका है। ईरावती कर्वे अपनी पुस्तक *किनशिप ऑर्गनाइजेशन इन इंड़िया* में लिखती है :

> एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो सामान्यतः एक ही घर में रहते है। एक ही रसोई में बना भोजन करते है। संपति के सम्मिलित स्वामी होते है एवं सामान्य पूजा में भाग लेते है तथा जो किसी न किसी रूप में एक दूसरे के रक्त संबंधी होते है। (104)

परिवार का संयुक्त रूप समाप्त हो रहा है। नगरों और ग्रामों में संयुक्त परिवार पहले से कम हो गए है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। परिवर्तन के संबंधों में विद्वानों में मुख्यतः दो प्रकार का विचार है। एक विचार के अनुसार परिस्थिति के प्रभाव स्वरूप परिवार में कातिपय परिवर्तन होने पर भी उसका संयुक्त रूप नष्ट नहीं हो रहा है। दूसरे विचार के अनुसार औद्योगिक सभ्यता भारत में भी संयुक्त परिवार को बहुत कुछ उसी युगल परिवार के रूप में उपस्थित करेगी। जो गाँव कभी संयुक्त परिवार के साथ ही अपने अंदर संसार को समाता था। एस.सी. दूबे अपनी पुस्तक *मानव और संस्कृति* में लिखते हैं :

> यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हो और निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हो, तो उनके सम्मिलित रूप को संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।(17)

देवेन्द्र अपनी पुस्तक *आज के समय में परिवार का महत्व और उसका बदलता स्वरूप* में लिखते है :

> यदि संयुक्त परिवारों को समय रहते नहीं बचाया गया। तो हमारी आने वाली पीढ़ी ज्ञान संपन्न होने के बाद भी दिशाहीन होकर विकृतियों में फँसकर अपना जीवन बर्बाद कर देगी। अनुभव का खजाना कहे जाने वाले बुजुर्गों की असली जगह वृद्धाश्रम नहीं, बल्कि घर है। छत नहीं रहती, दहलीज नहीं रहती, पर–ओ–दीवार नहीं रहती, वो घर, घर नहीं होता, जिसमें कोई बुजुर्ग नहीं होता।(3)

2.1.3. ग्रामीण जीवन में तनाव और उलझने

ग्राम्य जीवन में संयुक्त परिवारों में शान्ति और खुशहाली का स्थान अब तनाव व उलझनों ने ले लिया है। इस अंशाति का कारण पारिवारिक सदस्यों की बढ़ती महत्वकांक्षा है। आज परिवार का हर सदस्य अपने आपको स्वतन्त्र करना चाहता है। इस स्वतन्त्रता का विचार उनके मन में परिवार की पीढ़ी दर पीढ़ी का बदलाव ले कर आया है। आज जो बड़े कहते है वह बच्चे नहीं करना चाहते। उनके अनुसार बड़ों की बातों और विचारों में रूढ़िया है। जो बच्चे करना चाहते है उनका विरोध बड़े इस कारण करते है कि रजाई से बाहर पैर न निकाले तो दिन अच्छे व्यतीत हो जाएँगे। ताकि बड़े होकर बच्चों को इस चीज का पछतावा ना हो कि सब कुछ दुनिया की अंधी चकाचौंध में खो गया। परस्पर विचारों की भिन्नता ही तनाव व उलझनों का कारण बनती है। इस पर भारत भारद्वाज ने अपने लेख *टूटने के बाद सन्नाटा* में स्पष्ट लिखा है :

इस उपन्यास का आरंभ अप्पू के धमकी भरे उच्छवास और उसकी माँ विमला ओर देहरादून प्रवासी पति रमेश त्रिपाठी के संवाद से होता है। यह स्पष्ट है कि रमेश की अपनी पत्नी से दूरी है और अब आरूषि आ गयी है। उपन्यास का पूवार्द्ध अप्पू की मानसिकता की खोज पर केन्द्रित है।(98)

सुधा अरोड़ा का उपन्यास *यही कही था घर* में मानसिक तनावों और उलझनों का ग्रामीण जीवन में किस तरह बिखराव पैदा कर रहा है। उपन्यास में सामाजिक, रूढ़ियों, विश्वास के कारण पात्रों को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कभी वे उन समस्याओं से संघर्ष करते है और कभी–कभी उनमें उलझते जाते है। उपन्यास की स्त्री पात्र सुजाता खुद मानसिक रूप से तैयार नहीं, कि वह पढ़ाई छोड़कर शादी कर ले। लेकिन माँ–बाप के कहने पर और परिवार के धार्मिक गुरू स्वामी जी के कहने पर सुजाता चुपचाप शादी कर लेती है। सुजाता के माध्यम से लेखिका ने यहाँ परिवार की बड़ी लड़की की स्थिति और दशा को दर्शाया है। जिसमें अक्सर बड़ी बेटी को सारी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। सुजाता की छोटी बहन विशाखा भी मानसिक उलझनों में पड़ी एक स्त्री पात्र का उदाहरण है। जो समकालीन पुरूषसत्तात्मक समाज और मानसिकता पर आक्रोश प्रकट करती है।

व्यक्ति समाज में परिवार का एक महत्वपूर्ण अंग है, किन्तु जिस परिवार में वह रहता है। वहाँ समाज के अन्य घर भी बसे होते है। वहाँ कई तरह की विसंगतिया प्रचलित है। जिसका प्रभाव ग्रामीण लोक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन्हीं विसंगतियों के प्रति व्यक्ति विरोध करना चाहता है। यदि वह विरोध कर पाता है तो कई तरह की समस्याओं से संघर्ष करना पड़ता है और यदि विरोध सफल न हुआ, तो मानसिक तनाव उत्पन्न होने लगता है। 21वीं सदी के इस आधुनिक घुटन भरे जीवन की तमाम उलझनों, तनावों को इस दौर के हिंदी उपन्यासों में भी साफ पकड़ा जा सकता है।

कथानायक चेतन मानसिक तनावों से घिरा हुआ है। घर की आर्थिक विषमताओं के बीच चेतन इसी सोच में रहता है कि उसे कब नौकरी मिलेगी, घर का बोझ कब उतार पायेगा। किंतु जब उसे नौकरी मिल जाती है तब भी वह तनाव में ही रहता है। उसे अब इस सवाल का जवाब चाहिए कि वह कब अपने कार्यालय के विरोधी माहौल से समायोजित हो पायेगा। अंबाला छावनी के इंश्योरेंस कम्पनी का उसका कार्यालय और वहां काम करने वाले सभी अधिकारी खासकर शिखर पुरूष चेतन से एक आउटसाइडर की तरह व्यवहार करता है। उसे कई प्रकार की प्रताड़ना देता रहता है ताकि वह ऑफिस से तंग आकर नौकरी से निकल जाये। लेकिन चेतन उन सामाजिक संघर्षों और समस्याओं से खुलकर संघर्ष नहीं करता। बल्कि चुपचाप उन

समस्याओं को शहीदी मुद्रा में सहन करता है और अपने गाँव में अपने परिवार की यादों और ख्यालों में शहर में अपने आपको अकेला पाता है। जब उसे शायद गाँव का वो घर कहीं ज्यादा अच्छा लगता है। इस शहरी घुटन से। इसी कारण उसे मानसिक तनावों से गुजरना पड़ता है। व्यक्ति का यही मानसिक तनाव उसके अंदर दुर्बलता को जन्म देता है। ऐसे में व्यक्ति में अनेक दुर्बलताएँ आ जाती है। उपन्यास का कथानक चेतन का व्यक्तित्व कई कमजोरियों से भरा हुआ दिखाई देता है। जिसके कारण उसका मन भी अस्थिर रहता है। कई बार चेतन के सामने स्थिति आई कि वह नौकरी छोड़ दे या अधिकारियों के अत्याचारों को सहन करता रहे। चेतन तनावग्रस्त और आजीविका उपार्जन के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति है। तो दूसरी तरफ सामाजिक असंगति के शिकार बने खंडित व्यक्ति का प्रतीक है। लेखक ने वर्तमान जीवन की अनेक ग्रामीण समस्या की तनाव भरी पारिवारिक, सामाजिक, अकेलेपन की परिस्थितियों को प्रस्तुत कर चेतन के द्वारा वर्तमान समाज की बेसहाय अवस्था को दिखाया है। राजीव कुमार अपनी पुस्तक *महानगरीय जीवन में संबंधों की नियति* में लिखते है :

> आज पूँजी के मानदंड के अनुसार ढ़लने के लिए जीवन बाध्य है। जिस शिवम के लिए निधि घर में बार–बार विद्रोह करती है, वही शिवम अपना कैरियर बनाने के लिए उसे एक झटके में छोड़ देता है। शिवम के स्ट्रगल में निधि उसे भावनात्मक सहयोग के साथ आर्थिक सहयोग भी देती है। लेकिन शिवम् उसे ब्रेक दिलवाने वाली चंदा, जो एक बच्चे की माँ भी है, से शादी कर लेता है। जो शिवम निधि के सामने दहाड़ता था चंदा के सामने मिमियाने लगता है।(86)

संजय कुंदन के उपन्यास *टूटने के बाद* में भी लेखक ने लगभग सभी पात्रों के माध्यम से ग्रामीण जीवन के तनाव व उलझन, उनसे होने वाले परिवर्तनों प्रभावों को विस्तार से प्रस्तुत किया है। रमेश त्रिपाठी, पत्नी बिमला, बेटा अभय और अप्पू अपनी अपनी जिंदगी में व्यस्त है। न किसी की एक–दूसरे से नजदीकी है और न ही अपनापन। रमेश जो घर के मुखिया है उन्हें गाँव में सत्ता, पैसे, मान और यश चाहिए। इसलिए वह पत्नी और बच्चों को छोड़कर देहरादून चला जाता है। मध्यवर्गीय परिवार की इस कथा पात्र में प्रत्येक पात्र महत्वकांक्षा के उच्च शिखरों पर पहुँच जाता है। रमेश त्रिपाठी अपने गाँव में परिवार की समस्याओं को अलग अपनी जिंदगी और समस्याओं में उलझा हुआ है। पत्नी बिमला भी अपने परिवार, माँ–बाप, शादीशुदा बहन कमला के जीवन संघर्ष को लेकर चिन्तित रहती है। अप्पू की जिंदगी में हताशा और निराशा के साथ–साथ उलझनों और तनावों का चित्रण लेखन ने किया है। भारत भारद्वाज *टूटने के बाद सन्नाटा* में स्पष्टतः कहते है :

> इस उपन्यास का आरंभ अप्पू की धमकी भरे उच्छवास और उसकी मां बिमला और देहरादून प्रवासी पति रमेश त्रिपाठी के संवाद से यह स्पष्ट है कि रमेश की अपनी पत्नी से दूरी है और अब उसकी जिंदगी में आरूषि आ गयी है। उपन्यास को पूर्वार्द्ध अप्पू की तनाव स्थिति पर केन्द्रित है।(7)

अप्पू के भीतर लगातार कही न पहुंचने से निराशा उभरती रहती है और निराशा के एक क्षण में वह अपनी मां विमला को मोबाइल पर एस.एम.एस. करके भेजता है– "मैं जा रहा हूँ पता नहीं कहाँ। मुझे खोजने की कोशिश मत कीजिएगा।"(49) अप्पू के इस व्यवहार से उसकी माँ परेशान हो जाती है और खुद के बेटे के पास पहुँच जाती है। उपन्यास में अप्पू एक तनाव ग्रस्त पात्र है। अकेलेपन और साधारण माहौल में रहकर अप्पू अपने आपको संतुष्ट नहीं कर पाता है। बार–बार वह कई तरह की उलझनों में फँसता रहता है। अप्पू के शब्दों में, "यह घर यह अकेलापन। यह लक्ष्यहीनता जीवन है, लेकिन जीवन नहीं है। वह जीवित है लेकिन जीवित नहीं है। कल उसकी जिंदगी में थोड़ी हंसी उस गौरेया की तरह आयी थी, जो रोज सुबह खिड़की खोलते ही एक झलक दिखाकर फुर्र हो जाती है।"(51)

तेजस्वर पाण्डेय और संगीता पाण्डेय अपनी पुस्तक *भारत में सामाजिक समस्याएँ* में लिखते है :

> निरंतर कार्य और विश्राम नहीं, मनोरंजन के लिए अवकाश नहीं, कार्य की एकरसता भंग करने वाले बदलाव नहीं बाँटने समझने या सहानुभूति देने वाला भी नहीं होगा तो उसका मानसिक तनाव से घिरपाना स्वाभाविक है।(47)

सुधा अरोड़ा ने अपने उपन्यास *यहीं कहीं था घर* में मोनू के माध्यम से एक संयुक्त परिवार के तीसरी पीढ़ी के पौत्र की उलझन व तनाव की स्थिति को व्यक्त किया है। जो गाँव से शहर जाकर अपने बाल्य बुद्धि के दौर में कुछ करना चाहता है। वह समझता है कि पूर्वज निकम्मे है, जो कभी शहर में घर नहीं बना सके। सालों से इस पुराने घर में पूर्वजों की जमीन पर खेती–बाड़ी करके जी रहे है। बच्चे के भीतर पैदा होने वाली टीस को इस प्रकार व्यक्त किया है :

> बस बहुत हो गया। अब आप और इस तरह लड़ोगे तो मैं यह घर छोड़कर चला जाऊँगा। मैं सच्ची कह रहा हूँ, जाऊँ मैं ? चला जाऊँ ? उसके शब्द धमकी दे रहे है। लेकिन उसकी आँखें भीगी और आवाज सहमी हुई है।(155)

साथ ही चित्रा जो मोनू की माँ है। उसकी स्थिति इन शब्दों में देख सकते हैं :

मेरे भीतर एक गुबार भर गया है, मैं बच्चों की तरह गला फाड़कर रोना चाहती हूँ, चीखना चाहती हूँ। हल्का होना चाहती हूँ, पर दिवाकर के सामने रोने में मुझे अपना अपमान लगता है। मैं सड़क चलते किसी अजनबी के सामने रो सकती हूँ। बेशक वह मुझे एक पागल औरत समझे, पर दिवाकर को अपने बेशकीमती आंसुओं का तोहफा देकर उनकी आंखों में दया या बेजान तटस्थता को और झेलना मेरे लिए नामुमकिन है।(174)

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में व्यक्ति की अपनी निजी जीवन संबंधी समस्याओं के साथ–साथ आधुनिक युग की समस्याओं, उलझनों का चित्रण भी किया गया है। व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ कैसा संबंध है। इसको पहचानना भी आवश्यक, यही उपन्यास में दिखाया गया है। कथानायक साजिद अली के व्यक्तित्व की सहनशीलता और तमाम उलझने उसके निजी जीवन, परिवार काम और दोस्तों के संदर्भ में भी समझी जा सकती है। साजिद के अतिरिक्त उपन्यास में अहमद की कार्य प्रणाली, शकील की उलझन, कमाल का साधा व्यक्तित्व के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। साजिद को जब नौकरी नहीं मिलती है तो वह अपने गाँव चला जाता है। कुछ वर्ष वह गाँव में रहकर खेती करके पैसे कमाता है। तो उसे यह महसूस होने लगता है कि जगह और परिस्थितियाँ व्यक्ति को अपने अनुकूल बना लेती है। अपने गाँव के पुराने दोस्तों के साथ मिलकर सामाजिक समस्याओं और कई तरह के विषयों पर भी वह विचार विनिमय करता रहा। लेकिन साजिद के मन मे ंयह उलझन भी रहती है कि इस तरह के कार्यों में पाँव रखने से वह सफल हो पायेगा भी या नहीं। सामाजिक परिस्थितियों के साथ वह कभी जुड़ पाता है तो कभी नहीं भी। इस बीच 'द नेशन डेली' नाम का पत्र (जो अंग्रेजी का प्रमुख अखबार है) मैं नौकरी करने का अवसर उसे मिलता है। इसी कारण साजिद फिर से अपना गाँव छोड़कर जाने पर मजबूर हो जाता है। व्यक्ति को समाज की विषमताओं, कमज़ोरियों और नैतिक–अनैतिक के साथ मानव जीवन जीना पड़ता है। इसका सटीक उदाहरण है – उपन्यास के स्त्री पात्र सल्लो और अनुराधा का जीवन। शादी के बाद सल्लो अर्थाभाव के कारण सही समय पर इलाज न होने के कारण बीमार पड़ जाती है और अन्ततः मर जाती है। दूसरी तरफ अनुराधा अपने माता–पिता और रिश्तेदारों के दबाव में कम उम्र में शादी करने पर मजबूर हो जाती हैं और पढ़ाई–लिखाई छोड़कर न चाहते हुए भी शादी कर लेती है। आधुनिक जीवन में व्यक्ति परिस्थितियों के जाल में फँस कर अपनी स्थिति से असंतुष्ट, ना खुश और तनावग्रस्त रहता है। असगर वजाहत *कैसी आग लगाई* उपन्यास में लिखते है :

हमारा समाज छोटी–छोटी बिरादरियों में बँटा हुआ है और ये बिरादरी लोकतांत्रिक यानी बिरादरी की बैठकों में जनमत के आधार पर निर्णय लेती है और चाहती है कि उनका प्रतिनिधित्व उनकी ही जाति या बिरादरी का आदमी करे। यह बिरादरी समूह या गठबंधन नया नहीं है, बहुत पुराना है। इसे तोड़ना अभी सम्भव नहीं है।(79)

जिस समाज का चित्रण किया है वह अत्यधिक क्रूर एवं निर्दयी है। समाज के चलते, नीति नियमों के चलते अपनी ईच्छा के विरूद्ध ऐसा काम कर डाला कि जीवन भर रिप्ले बीन दुःखी और अफसोस की आग में जुझती रही। उपन्यास में व्यक्ति के तनाव व उलझने रिप्ले भूत योनि से व्यंजित होती है। खोजी पत्रकार को सुनायी गयी अपनी दुःखमयी कहानी से रिप्ले बीन की स्थिति का पता चलता है। इस पर भारत भारद्वाज *प्रेत की भूतकथा पुस्तकवार्ता* में लिखते हैं :

पर भूत रोया। यह भी मेरे जीवन का विलक्षण अनुभव था। आँसुओं से तर झुर्रीदार चेहरा। आँसुओं से भीगते चेहरे का खुदरापन न जाने कहा गायब हो गया। एक स्निग्ध, कोमल कातर चेहरा कुछ कहने के लिए व्याकुल था। रोने का यह क्षण अचानक अनायास आया।(15)

समाज को मनुष्य की तमाम समस्याओं का उत्तरदायित्व ठहराने से पहले हमें सोचना होगा कि हमने ऐसा समाज बनाया ही क्यों ?

ग्रामीण परिवार के सदस्यों के तनाव व उलझन जो परिवार शहरीकरण से प्रभावित है। गाँव शहर के पास होने की वजह से परिवार के सदस्यों में शहरी परिस्थितियाँ ग्रामीण परिस्थितियों से टकराव करके उलझन की स्थिति पैदा करती है। जो कथा की मुख्य स्त्री पात्र है के मन में एक प्रेमपूर्ण दुनिया की आकांक्षा रहती है, किंतु जो जीवन भर उसे नहीं मिलती। एक बार निधि का प्रेमी शिवम्, निधि को रूपदत्त नाम के एक आदमी के साथ देख लेता है तो शिवम्, निधि को अपशब्द तक कह देता है :

जब सोचता हूँ मैं उसके और तुम्हारे बारे में, मेरे बदन में आग लग जाती है। मैंने देखा है ! तुम दोनों को बस स्टैंड पर। मेरे सामने ..... छि! तुम बदचलन हो। पता नहीं, मैनें तुममें क्या देखा। उसने निधि को जोर का धक्का दिया ! वह तैयार नहीं थी। एकदम से गिर पड़ी ..... शिवम् कहे जा रहा था, सच बताओ निधि, तुम्हारा उसके साथ कितना गहरा संबंध था ? तुमने उसे कितना पास आने दिया था ? मुझे तो लगता है, आज भी तुम उससे मिलती हो?(40)

व्यक्ति को निजी संघर्ष के कारण पड़ने वाले प्रभाव का चित्रण किया है। लेखक को इतने बड़े समाज में रहकर अकेला पन महसूस होता है। वह अपने छोटे बेटे को बताते हुए लिखता है :

> और ... मेरा कोई मित्र नहीं बना, किसी को जरूरत ही नहीं महससू हुई, मेरी किसी ने समझा ही नहीं, मुझे इस लायक, कि मुझसे उसे कुछ मिल सकता है, तो मैं इसके लिए क्या कर सकता हूँ ? यह क्या मेरा कसूर है? मैंने तो किसी के लिए अपने दरवाजे बंद नहीं किए थे, सबके लिए खुले रखे थे। कोई फटका ही नहीं मेरे पास, तो मैं क्या करूँ ? नहीं समझा लोगों ने मुझे लाभकारी और ताकतवर, तो ठीक ही तो समझा। न तो दुनिया से मुझे कोई शिकायत है, न दुनिया को मुझसे कोई शिकायत करने का हक है। कोई मुझे क्या समझता है, दुनियां की नजरों में मैं कैसा दिखता होऊंगा – इसकी परवाह मैंने कभी की क्या ? कभी नहीं की। तो ठीक है, में अगर असफल हूँ तो अपने ही मापदण्डों के अनुसार असफल हूँ। दुनिया के मापदण्डों की मैंने परवाह ही कब की। (92)

लेखक इसी तनाव से परेशान होकर अपने बेटे को समझाता है। लेखक के शब्दों में :

> मगर ..... तुम, बेटे ..... तुम मेरी तरह दुनिया की अनदेखी मत करना। नहीं तो दुनिया पलट कर तुम्हें जिस तरह अनदेखा करेगी, वह तुमसे झेला नहीं जाएंगा। तुम, तुम ही हो, मैं नहीं। मैं भी मैं ही था, मेरे पिता नहीं।(94)

इससे स्पष्ट होता है कि इक्कीसवीं सदी के सही मायनों पर जीवन और मूल्यों पर काफी प्रभाव डाला है। इस विखंडित समय में हिन्दी उपन्यासों में ग्राम की खुशहाली का स्थान तनाव और उलझन भरी जिंदगी ले रही है। इसके लिए ग्रामीण की सभ्यता को खुशहाल बनाने के लिए मन की गाँठे खोलकर आधुनिक मानव द्वंद्वों को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।

2.2 समाज

एक से अधिक परिवारों के इकट्ठा होने से समाज का निर्माण होता है। हर समाज में अपनी एक विशेष परम्परा, प्रथा होती है। जोकि व्यक्ति की विशेष पहचान बनती है। प्रायः देखा भी जाता है कि अमुक व्यक्ति उस समाज से संबंधित है। कारण उस समाज की जिस समाज में वह रहता है उसकी छवि उसमें विशेष तौर पर जाहिर होती है। इस पर प्लेटो की पुस्तक *रिपब्लिक* के अनुसार :

समाज व्यक्ति का स्पष्ट रूप है। मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। मनुष्य ने अपने लम्बे इतिहास में संगठन का निर्माण किया है। वह ज्यों–ज्यों मस्तिष्क जैसी अमूल्य शक्ति का प्रयोग करता गया, उसकी जीवन पद्धति बदलती गयी। जीवन पद्धतियों के बदलने से आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ और इन आवश्यकताओं ने मनुष्य को एक सूत्र में बाँधना प्रारम्भ किया। इस बंधन से संगठन बनें और यही संगठन समाज कहलाये, मनुष्य इन्हीं संगठनों का अंग बनता चला गया। बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने मानव को विभिन्न समूहों एवं व्यवसायों को अपनाते हुए विभक्त करते गये, मनुष्य की परस्पर निर्भरता बढ़ी और इसने मजबूत सामाजिक बंधनों को जन्म दिया।(122)

वर्तमान सभ्यता से मानव का समाज के साथ वहीं घनिष्ठ संबंध हो गया जो शरीर में शरीर के किसी अवयव का होता है।

पी.के. कुलकर्णी और डॉ0 दलीप खैरनार अपनी पुस्तक *समाजशास्त्र परिचय* में लिखते है :

मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसने बहुत वर्णों के अनुभव से यह सीख लिया है कि उसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यों का सम्यक् विकास सामाजिक जीवन द्वारा ही सम्भव है एंकाकी जीवन कोरी कल्पना है शिक्षा और समाज के संबंध को समझने के लिये इसके अर्थ को समझना आवश्यक है।(24)

हरिकृष्ण रावत अपनी पुस्तक *समाजशास्त्र विश्वकोष* में लिखते है, मनुष्य की मित्रता पूरन या कम से कम शांतिपूर्ण संबंधों का नाम समाज है।(7)

2.2.1 जातिवाद और धार्मिक भिन्नता

जब हम समाज में आगमन करते है तो आज भी हम देखते है कि ग्रामीण समाज जातिवाद और धार्मिक भिन्नता के आधार पर बँटा हुआ है। गाँव में प्रायः एक से अधिक जाति व धर्मों के लोग निवास करते है। शहर के लोग जाति और धर्म को छोड़कर आगे बढ़ चुके है किन्तु ग्रामीण जनता आज भी जातिवाद और धार्मिक भिन्नता को धारण किए हुए है। जोकि ग्रामीण समाज के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण है। इस पर समाजशास्त्रीय आलोचक और आर.एम. शर्मा की पुस्तक *जातिवाद अर्थ और इतिहास* में लिखा है :

जातिवाद किसी व्यक्ति की अपनी जाति के प्रति अंध–श्रद्धा जो कि दूसरी जातियों के हितों की प्रवाह नहीं करती और अपनी जाति के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्य जरूरतों को पूरी करने का ही ध्यान रखती है।(2)

भगवान दास मोरवाल कृत *रेत* मेवात अँचल के रेत के ढूहों के बीच बसे छोटे से गाँव गाजूकी को केन्द्र में रख काननचारी 'कंजर' जाति के आचार व्यवहार का चित्रण करता है। कंजरों में सगाई की रस्म, विवाह बन्धन में बँधने के बजाय 'बुआ' बनने और दाम्पत्य में सुख अनुभव कर 'खिलावड़ी' बनने को तरजीह देना जैसी रीतियों–प्रथाओं का चित्रण कर समाज के जन–जीवन पर प्रकाश डाला गया है। यहां विवाह संस्था को खुलकर निस्सार बताया जाता है। "क्या मिलता है ब्याह करके। जिन्दगी भर खसम और औलाद के साथ–साथ भाभी बनी सास, ननदों की चाकरी ही तो करनी पड़ती है। मरी, बुआ बनी रहती तो उमर भर मजे करती' बुआ बनकर वे धड़ल्ले से पेशा कर न जाने कितने ग्राहकों को संतुष्ट करती है।(89) काका कालेलकर की पुस्तक *सूर्योदय का देश* में लिखा है, "जातिवादी शक्तिशाली पक्ष द्वारा की जाने वाली वो अन्धाधुंध अवहेलना है जो कि स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक तत्वों जैसे समानता, भाईचारा को खत्म करती है।"(2)

पी.ए. सोरोकिन ने अपनी पुस्तक *सोशल मोबिलिटि* में लिखते है –

> राजनैतिक मत के अनुसार जाति प्रथा उच्च के ब्रह्मणों की चाल थी। व्यावसायिक मत के अनुसार यह पारिवारिक व्यवसाय से उत्पन्न हुई है।। साम्प्रदायिक मत के अनुसार जब विभिन्न संप्रदाय संगठित होकर अपनी अलग जाति का निर्माण करते है, तो इसे जाति प्रथा की उत्पत्ति कहते है। परम्परागत मत के अनुसार यह प्रथा भगवान द्वारा विभिन्न कार्यों की दृष्टि से निर्मत किए गए है।(17)

ग्राहक भी समाज के सभी वर्गों से आते है – रिटायर्ड एस.पी., ईंट भट्ठा मालिक, समाजवादी नेता, रीयल एस्टेट के व्यापारी, शेयर बाजार के खिलाड़ी, कैंटीन, ठेकेदार आदि। विवाह उनके यहाँ मत्था ढ़काई, के रूप में होता है। इसका दारूण पक्ष यह है कि किसी भी उम्र का हट्टा–कट्टा आदमी अपने पैसों के बल पर कैशार्य की देहली लाँघती अल्हड़ गिलहरी जैसी युवतियों का भोक्ता बन जाता है यानी आज के बाद यह न कूदती–फूदती गिलहरी रहेगी, न रम्भा। बस एक खिलावड़ी भर रह जाएगी, यही उनकी पहचान होगी। इनके लिए मर्द की जाती का भी कोई अर्थ नहीं है। भले ही वह हिन्दू हो या मुसलमान भगवान दास मोरवाल अपने उपन्यास *रेत* में लिखते है :

"जब तक निभेगी ठीक है, ना निभेगी लात मारकर चलता करूँगी"(63) ही इसका जीवन सिद्धान्त है। यह समाज धीरे–धीरे मातृ–सत्ता तक परिवार व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है। क्योंकि यहाँ अर्थ की निवन्ता स्त्री बनती जा रही है जबकि असलीयत यह है :

> इस घर का मालिक कोई मर्द तो हरगिज नहीं हो सकता। कभी–कभी उसे लगता है कि घर का मालिक न तो कमला बुआ है, न उसकी दोनो बेटियाँ सुशीला, माया। असली मालिक है सुशीला की दोनो बेटियाँ उसकी ननद रूकमणि और वंदना। पूनम अभी छोटी है। कहने का तात्पर्य यह, या बकौल सन्त्रों कि जितनी कमाई से घर चले, वही उसका मालिक। कंजरों का पुरूष वर्ग तो निठल्ला बना घूमता हुआ चोरी–चकोरी नकबजनी आदि कर्मों में संलिप्त रहते है – चोरी नकबजनी के एक से एक बढ़िया 'हुनर' इन्हें आते है।(75)

कंजरों की बेड़िया–साँसी जैसी उपजातियों का परिचय भी उपन्यास में मिलता है। एक प्रकार से उपन्यास कंजर जाति का समाज शास्त्रीय अध्ययन बन जाता है।

इस संदर्भ में प्रदीप सौरभ का उपन्यास *मुन्नी मोबाइल* महत्वपूर्ण रचना मानी जा सकती है। इसके दो प्रमुख प्रसंग है "एक साधारण घरेलू नौकरानी मुन्नी की महत्वाकांक्षाओं का वह सफर जो उसे उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता की ऊर्जा से डॉन बनाता है और बाजार के शातिर हाथ जो उसकी हत्या कर देते है और प्रसंग नैरेटर/लेखक/पत्रकार आनंद भारती के आँखो देखे गोधरा कांड।"(45)

मधुकर सिंह के उपन्यास, *बाजत अनहद ढ़ोल* में बिहार के बदलते गाँवों की तस्वीर अंकित हुई है। विकास की विभिन्न योजनाएँ, इन्हें कार्य रूप देने वाला बी.डी. ओ., प्रखंड अधिकारी आदि का अमला गाँवों में पंचायत चुनाव से लेकर विधायक चुनाव तक में होने वाली जातीय–समीकरणों की टेढ़ी–मेढ़ी चाले, स्त्री शक्ति और दलित शक्ति का नया उभार और इन सबके बीच पनपते नक्सलवाद आदि को छोटी सी कथा में अनुस्पूत किया गया है। इस रूप में कि बिहार प्रांत के ग्रामीण परिवेश पर लिखे गए बड़े उपन्यासों के लिए यह एक लघु उपन्यास एक चुनौती बन जाता है। गाँवों में सवर्णों और दलितों में जो कशमकश चलती रहती है, उसका चित्रण जमीनी सच्चाइयों के साथ किया गया है। इस घटना के गाँव में स्वर्ण सामन्त बौखला उठे। यदु सिंह ने इसे अपने खिलाफ खुली चुनौती समझा। उन्होंने बुलाकर समझाया :

> तुम्हारे हरवाह–चरवाह की गन्दगी ने सीधे हम पर हमला बोल दिया है। धिक्कार है तुम्हारे जाति वंश की। हमारे सामने चमार–दुसाध की ऐसी हिम्मत ? नाकेबंदी करनी होगी इनके खिलाफ ? हम गाँव के नान्ह रे आन से अपना कोई काम नहीं कराएंगे। दूसरे गाँव से मजदूर मँगाएगे। वोट के दिन सालों को उन्हीं के घरों में बंद कर देंगे। ब्राह्मण टोली को समझाँएगे बन्द करो बेनीमाघो का हुक्का पानी ? उसकी पतोहियां ब्राह्मण कुल कलंकिनी है।(49)

पी.ए. सोरोकिन ने अपनी पुस्तक *सोशल मोबिलिटी* में लिखा है "मानव जाति के इतिहास में बिना किसी स्तर विभाजन के उसमें रहने वाले सदस्यों की समानता एक कल्पना मात्र है।"(122)

गाँव में 'पूँजी और सामन्ती गठजोड़' का विरोध करता यह उपन्यास गाँव की बदलती सूरत और मूरत का प्रतिबद्ध दृष्टि से परिचय कराता है। रामधारी सिंह दिवाकर *अकाल संध्या* पूर्णियाँ जिले के मरकसबा तथा बड़कन दो गाँवों के माध्यम से उपन्यासकार गाँवों में सिर उठाती दलित शक्ति के उत्थान की कथा कहता है। जिसने परम्परागत सामन्ती शक्तियों और नेतृत्व को खुली चुनौती देकर सारे गाँवों के निजाम को अपनी मुट्ठी में कर लिया है। किन्तु दूसरी तरफ यह चिन्ता भी जताई गई है कि जमींदारों या बबुआन टोले के विरोध में खड़ी हुई दलित शक्ति स्वयं उन्हीं का प्रतिरूप बनती जा रही है। यदि बड़का गाँव में बबुआन टोले में गाँव के नामी–गिरामी जमीदार बाबू हरिवंश शर्मा की शानदार हवेली है। तो दलित दयानंद उर्फ डायमंड का 'जलमहल' तथा दलित लुचाय राम के एस.पी. पुत्र रामचरन का भव्य 'व्हाइट हाऊस' भी है। आरक्षण और नई–नई योजनाएँ गाँव में आ जाने से दलित गाँव में सिर उठाकर चलते है। गाँव के इस बदले 'हवा पानी' और 'बनी बनाई व्यवस्था' के बदलने से सब लोग हैरान–परेशान है कि 'जन मजूर' आज किस तरह ऐंठकर बात कर रहे है। यह बड़ी भारी अनर्थकारी परिवर्तन है, यह शूद्वों के उदम की काली आँधी है। जमींदारों बाबू–बबुआनों की जमीन दिल्ली पंजाब कमा कर लौटे छोटे–मोटे मजदूर खरीद रहे हैं :

> सोलकन टोले और बमनटोली का समाजिकता भी अब सामान्य हो चला है। रिश्ते को सामान्यतः बनाने में सबसे बड़ी भूमिका तो समय की थी। दूसरी बड़ी बात थी राजनीति में शूद्रों का आकस्मिक उभार जिसमें अब तक चली आती धारणा और व्यवस्था चरमरा गई। छोटी जातियों और सवर्णों के बीच शादी–ब्याह भी काफी होने लगे है।(115)

जिसके कई उदाहरण कथा में प्रस्तुत किए गए है। लेकिन जात का विषय यह है कि "जात का खूँटा जरा भी हिल नहीं रहा। दूसरी ओर रणबीर सेना और सुवर्ण सुरक्षा संघ जैसे संगठन इन गाँवों में जिस रूप में राजनीति कर रहे हैं"(210) उस सबका परिचय भी उपन्यास में मिलता है। इसी राजनीतिक उथल–पुथल का परिणाम है कि अब दलित भी अपनी वोट का मनचाहा इस्तेमाल करने लगे हैं :

> पहले ब्राह्मण, राजपूत, कुम्हार हम लोगों को वोट कहा देने देते थे। अब हम वोट देते हैं और अपने मन से वोट देते हैं। जिसकी मजाल है कि हमको रोल दे। ई जो परमुख साहब बैठे है ई जी मुखिया जी यादव जी' रामबरन और लुचाय राम चमारों को अब बामन, राजपूत सब परनाम करते हैं क्योंकि इनके बेटा लोग अफसरी कुर्सी पर है।

> किन्तु चिंता की बात यही है कि राजा चाहे किसी भी वक्त में कोई भी रहे सामान्य जनता की नियति तो वहीं की वहीं खड़ी है, मुदा एकके बात हजूर .... एके बात से चिन्ता होती है कि जो कुछ चढ़ गया सिंहासन पर वहीं राजा ? और राजा राजा एक समान। क्या बामन–राजपूत, भुइहार, क्या जादव, कुर्सी, चमार–छरकार! राजा राजा एक सम्मान। सबको देख लिया हजूर।(286)

इस प्रकार *अकाल संध्या* में भारत के नए चेहरे की तस्वीर बहुत सूक्ष्मता और प्रामाणिकता से उकेरी गई है। नए समाज में निजी जाति के लोगों के बदलने की कथा को भी प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में अब नीची जाति के लोगों ने सामान्य जाति के लोगों की प्रताड़ना सहना बंद कर दिया है :

> तब तक बड़काऊ की अगुआई में कई हरिजन बबुआनों पर टूट पड़े और उन्हें सोपने लगे, लगता था कि हरिजन आज सूद सवारी समेत जनम भर के अन्याय का बदला चुका लेना चाहते थे और हरिजन उन्हें गाय–गोरू की तरह पीट रहे थे।(57)

जहाँ कभी बड़ी जाति के लोगों द्वारा इन छोटी जाति के लोगों पर अत्याचार करते थे। पर समाज बदल गया और उसका परिणाम आज बाबू लोग झेल रहे थे।

इस परम्परा के 20 वीं शताब्दी के उपन्यासकार ने भी जाति विमर्श पर कुछ इस तरह ही अपने पात्रों के माध्यम से यातना सहते लोगों का चित्रण प्रस्तुत किया था। जहाँ उन्होंने जातिवाद को अपने देश की एक कमजोर कड़ी बताते हुए लिखा था। रांगेय राघव *जब आवेगी काली घटा* में लिखते है :

> तुर्क अनेक जातियों को प्रलोभन देकर खासकर निम्न जाति के लोगों को मुसलमान बना रहे है। इसलिए वृद्ध राजपूत ने भारतीयों की धार्मिक कायरता से क्षुब्ध होकर कहां यदि यह नीच जातियां और शाक्त तथा बौद्ध और मुसलमान न होते तो इस देश में यह विदेशी थे ही कितने।(109)

अर्थात् उस समय भी जातिवाद देश के लिए खतरा बना था और आज भी एक खतरा ही है। जहाँ भारतीय हम कभी बन नहीं पा रहे है और धार्मिक, जातिगत आधार पर हम अपनी पहचान बना रहे है।

हालांकि वर्तमान हिन्दू धर्म की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसके द्वारा एक ऐसे गैर हिन्दू राज्य की स्थापना करना है जहाँ सभी धर्म समान है। इस प्रकार जातिगत भेदभाव और दलित

को अपने से अलग समझने वाले इस समाज में एक और नई मुसीबत को बुलावा दे रहे है, वह अराजकता है। इस पर माता प्रसाद गुप्त ने *झोपड़ी से राजभवन तक* में लिखा है :

> मेरे से निर्धन और दलित परिवार में पैदा हुए व्यक्ति जिसने परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थी उसने भी कठिनाईयों को दूर करते हुए, आगे की ओर कदम बढ़ाया है। इस पर मेरे मन में विचार आया है कि क्यों ने अपने बारे में लिखूं ? इससे समाज के दलित, असहाय गरीब लोगों को प्रेरणा मिलेगी और उनमें उत्साह पैदा होगी।(99)

2.2.2 नारी विमर्श

हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री विमर्श जिसमें नारी जीवन की अनेक समस्याएं देखने को मिलती है। हिन्दी साहित्य में छायावाद काल से स्त्री विमर्श का जन्म माना जाता है। 21 वीं शती की कथाकार एक पूरी वैचारिक पृष्ठभूमि और तैयारी के साथ उपन्यास–लेखन में प्रवृत्त हुई हैं। उन्होंने न केवल विवाह संस्था को पुनर्परिभाषित किया है अपितु स्त्री–पुरूष संबंधों के समस्त आसंगों को समाज में नई दृष्टि से विश्लेषित किया है, बिना इस बात की परवाह किए कि कौन उनकी विचार–सारणी को कितनी दूर तक ग्रहण कर पाता है, उससे सहमत हो पाता है। महादेवी वर्मा ने *श्रृंखला की कड़िया* में लिखा है :

> आज हमारी परिस्थिति कुछ और ही है। स्त्री न घर का अलंकार मात्र बनकर रहना चाहती है और न ही देवता की मूर्ति बनकर प्राण–प्रतिष्ठा चाहती है। कारण वह जान गयी है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना है तथा उपयोग न रहने पर फेंक दिया जाना है तथा दूसरे का अभिप्राय दूर से उस पुजापे को देखते रहना है, जिसे उसे न देकर उसी के नाम पर लोग बाँट लेंगे।(158)

यहाँ स्त्री अपना एक निजी स्पेस बनाने के लिए तत्पर है। एक प्रकार से यहाँ विवाह संस्था को पूरी तरह नकार दिया जाता है। नारी विमर्श पर महिला लेखिका क्षमा शर्मा *स्त्रीत्ववादी विमर्श : समाज और साहित्य* में लिखती है :

> गोदान में प्रेमचन्द जिस तरह धनिया और मालती का चित्रण करते हैं वे भी पश्चिम और भारतीयता की बहस उलझकर रह जाते है। बल्कि स्त्रीत्ववादी दृष्टि से देखें तो जयशंकर प्रसाद प्रेमचन्द से कहीं अधिक प्रगतिशील दिखाई देते है। वह ही हैं जो ध्रुवस्वामिनी में पति के जीवित रहते ध्रुवस्वामिनी का विवाह उसकी पसंद के पुरूष चन्द्रगुप्त से करने की वकालत करते है।(17)

प्रारम्भ में यह कचोट व्यक्त होती है "फेमिनिज्म आया जब जाकर। मर्दाना दो औरताना भी होना पड़ेगा" आगे चलकर वे मिथकीय कथाओं में स्त्री पात्रों का मनचाहा भोग करने की प्रवृत्ति की मीमांसा इस रूप में करती है। मछली की बू से गन्धाती मत्स्यगधा नाम की सुन्दरी, वेद व्यास को नाजायज़ जन्म दे, सत्यवती कैसे बनी। अपने समय के मिरंडा हाऊस हॉटल का चित्रण जिस रूप में किया गया है। उससे नई जीवन शैली में ढ़ली नई पीढ़ी की लड़कियों का परिचय मिलता है। क्षमा शर्मा आगे *स्त्रीत्ववादी विमर्शः समाज और साहित्य में* लिखती है :

> स्त्री सशक्तिकरण के जो भी प्रश्न समाज में प्रकट हो रहे हैं, साहित्य उनसे निरपेक्ष नहीं रह सकता। हर काल में स्त्रियों के बलीकरण के प्रश्न बदलते रहे है। आज स्त्रियाँ लिंगभेद, महिलाओं पर हिंसा को रोकना, निजी कानूनों में संशोधन, महिला स्वास्थ्य तथा आर्थिक दशा आदि में मुद्दों से जूझ रही है। स्त्रियों को समाज की अग्रगामी धारा में जोड़ने में महिला आंदोलन ने प्रमुख भूमिका निभाई है। आज साहित्य में भी महिला आंदोलन द्वारा उठाए गए मुद्दे प्रमुखता से उभर रहे है। यह एक अच्छी खबर है।(19)

ग्रामीण सेज पर है जहाँ हमारे समाज के उस कड़वे सच से सामना कराता है जिसमें कन्या जन्म एक अभिशाप माना जाता है। लड़के के जन्म की सूचना भर से परिवार में थालियाँ और ढोल–ढ़माके बजाए जाते है, पर कन्या जनम पर यह आलन है। जिस दिन वह पैदा हुई, घर में कोई उत्सव नहीं मना, लड्डू नहीं बाँटे, बधावा नहीं बजा। उलटे घर की मनहूसियत ही बढ़ी। दादी ने चूल्हा तक नहीं जलाया। लालटेन की मद्धम रोशनी में सिर पर हाथ रखे देर तक बैठी रही। बेटे की बेटी के लिए उनके मन में अस्वीकार का भाव था। दूसरी–तीसरी बेटी की हर्षपूर्ण स्वीकृति तो समाज के किसी भी परिवार में नहीं हो पाती। दूसरी पोती के होने पर दादी का इस प्रकार टूटना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यहाँ एक सवाल जरूर उठा दिया है कि लड़की के आगमन पर यह मायूसी का आलम क्यों होता है। पचास–साठ साल के दौर से यही स्थिति आज भी स्वतंत्रता के बाद तक नहीं बदल पाई है।

जैन समाज में स्त्री पर धर्म के नाम पर हो रहे अत्याचारों का वर्णन काँकरिया ने अपने उपन्यास में किया है। जैन धर्म के जो संयासी–संयासिनें मुँह पर कपड़ा इसलिए बाँधकर चलते है कि किसी जीवाणु की हत्या न हो जाए। वे किशोरियों–नवयुवतियों पर कैसा कहर ढ़ाते है कि धार्मिक क्रिया के नाम पर बर्बर ढंग से केश लुंचन कर उसको संन्यास में दीक्षित किया जाता है। जैसा कि गाँव में किसान बछड़ों के युवा होते ही उनके अंडकोष को काट देते है। जिससे उनकी सम्भोग की सामर्थ्य और इच्छा ही नष्ट हो जाए। इस रूप में लड़कियों को धर्माषित कर उनके साथ घोर अन्याय किया जाता है। संघमित के प्रश्न के माध्यम से यह प्रश्न

उठाया गया है कि छोटी–छोटी बालिकाओं को संन्यास में दीक्षित कर उनका कौन सा उपकार कर रहे हैं, गुरूदेव? जैसे एक वीणावादक का सत्य उसकी वीणा में, नृत्यांगना का सत्य उनके घुँघरूओं में, कुम्हार का चाक में, पक्षी का उड़ान में, वैज्ञानिक का प्रयोगशाला में ..क्योंकि वहीं वे अपनी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ उड़ेलकर .... अपना सर्वश्रेष्ठ मानवता को देकर मुक्त हो सकते हैं, मोक्ष पा सकते है, वैसे ही एक ग्यारह वर्षीय बालिका का सत्य तो उसके खिलौने और उसकी पुस्तक ही हो सकता है। उसके सत्य पर किसी और सत्य का आरोपण करना क्या उसके सत्य के साथ बलात्कार नहीं होगा ? जवानी के कपड़े बचपन में नहीं पहने जा सकते हैं, गुरूदेव। इस प्रकार सामूहिक रूप से हो रही बाल–दीक्षाओं के प्रति यहाँ आक्रोश और विरोध दर्ज किया गया है। धर्म में दीक्षित होकर भी वे सुरक्षित कहाँ है, इन धार्मिक आश्रमों, डेरों आदि में स्त्री का शोषण होता है।

> नहीं सर, मैं इस गन्दगी में लोट नहीं लगा सकती। मैं इस हवा–पानी की जीव नहीं। यदि मैं आत्महीन हो गई, मेरा स्वाभिमान पराजित हो गया, गर्दन मरोड़ दी गई उसकी तो कितनी दूर जा पाऊँगी मैं ? अब जीवन ही हाथ से निकल जाएगा तो जीविका लेकर क्या करूँगी मैं ?(159)

इस प्रकार यहाँ स्त्री समाज द्वारा दी गई यातनाओं, प्रताड़नाओं और दैहिक श्रापों में झुकती नहीं है, उनका भरपूर प्रतिकार करती है।

काशीनाथ सिंह के उपन्यास *महुआ चरित्र* में उस सामाजिक दृष्टि पर चोट की गई है जो स्त्री पुरूष के लिए पृथक–पृथक बनाए गए मानदंडो पर जीती है। इसलिए उपन्यास के प्रारम्भ में ही ये शब्द उसके स्वर से परिचय करा देते है "जब तक समाज ऐसा है तब तक झूठ या छल ही हमारा अन्तरिक्ष है।"(41) जाहिर है यहाँ लेखक अपनी काव्यात्मक शैली के इस लघु उपन्यास में स्त्री को लेकर लगाए गए बन्धनों के प्रति एक आक्रोशात्मक प्रतिशोध दर्ज करता है। आत्मकथानक शैली में कथानायिका लड़की अपने शरीर की माँगों को पूरी तरह जायज ठहराती है। सामाजिक इतियां, भीतियों, वर्जनाओं की परवाह किए बिना पढ़ाई–लिखाई पूरी कर उन्तीस की खिंची उम्र में जब यौवन का शरीर ढ़लने की प्रक्रिया में आ गया है तो उसका मानसिक विस्फोट इस रूप में होता है। घर की माड़ी हालत और कैरियर की चिन्ता ने कभी अहसास ही नहीं होने दिया कि मैं भी औरत हूँ, मेरी भी देह है। उस देह की अपनी जरूरते हैं, माँगे हैं, भूख है। और अब जब उन्तीस की उम्र पार कर रही हूँ तो मुझे क्यों लग रहा है कि या तो यौवन आया ही नहीं या आकर चला गया। वह अच्छी तरह जानती है कि जिन्दगी के इस मोड़ पर यदि साजिद न होकर कोई भी शिशिर, शशांक या शुभम कोई भी हो सकता था,

केवल एक सुदर्शनीय पुरूष होता। इसी कारण वह 'दो बच्चों के बाप' अपने पड़ोसी साजिद के सम्मोहन में बँध रेल यात्रा में उसे अपना कौमार्य समर्पित कर देती है। अब उसके सामने समस्या आती है ऐसे बच्चो ंकी 'कुँवारी माँ' बनने की जिसका बाप मुसलमान है, "कि पति–पत्नी नमक पानी नहीं है कि इस तरह घुल मिल जाएँ। कि पानी–पानी रहे। न नमक–नमक। उन दोनों की अपनी–अपनी प्राइवेसी होनी चाहिए और अपनी–अपनी जिन्दगी।"(51)

इस प्रकार काशीनाथ सिंह इस उपन्यास में नए जमाने की नारी की दृष्टि से स्त्री पुरूष संबंधों का नया वृत्त खोलते हैं।

प्रेम भौजी एक परिवर्तित नारी है। वह विधवा होकर भी विधवा नारी के लिए बनाये निषेधों में रहना अस्वीकार करती है। वह पूर्णरूप से मुक्ति की कामना करती है। फिर वह चाहे मुक्ति शारीरिक, मानसिक या आर्थिक हो। पति की मृत्यु के बाद भी अन्य पुरूषों के साथ संबंध स्थापित करती है उसकी सोच के अनुसार "उभाना (नाप) देती थी प्रेम भौजी मगन को। इंच–इंच नपाटी थी देह। क्या गजब का यौवन था। मगन ही क्यों, रामरतन कोरी की संग देख लो। ताल के पास बबूल के झंड़ों में अपनी आंखों से देखा है दोनों को। बऊ तेरो कौल, प्रेम मौजी चमेली खसिया से गोलियाँ मँगाती थी कि पेट में बच्चा न रह जाए। क्या करें, मन चलायमान है भौजी का और आँखें चँचला।"(32)

यौन–शुचिता के संदर्भ में कथाकार राजेन्द्र यादव का कथन *नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास* के अनुसार :

> आज नारी ने पुराने सारे संस्कार धो दिये है और यौन–शुचिता की पूत योनि वह मूल्य चर्म अंकित वाली सामंती नैतिकता आज भी औद्योगिक दुनिया में उसे अपने व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से पिछड़ी और औछी लगती है। शारीरिक पवित्रता की उस दकियानूसी धारणा या किशोर संबंध संकोच भी अनुपस्थिति आज उसके मन में कोई पाप–बोध नहीं जगाती, यौन मुक्ति भी उसे अपने अस्तित्व के अधिकार की एक मौलिक आवश्यकता होती है और इसे यह चरित्रिक शील के साथ जोड़ना भी पसंद नहीं करती।(159, 160)

राजेन्द्र यादव भी एक स्त्री विमर्श आलोचक है। और आलोचक के नाते उन्होंने नारी के आधुनिक यौन मीमासां में लिप्त नारी का चित्रण किया है।

मैत्रेयी पुष्पा उपन्यास वार्तालाप *चाणक्य विचार पत्रिका* में लिखती है :

> समाज में बढ़ते प्रेम विवाह का ये उदाहरण भी समाज में खूब फल फूल रहा है। शहरी माहौल में यह कोई नई बात नहीं थी पर अब यह सब ग्रामीण जीवन का भी एक पहलू बनता जा रहा है। जहाँ ग्राम्य समाज में आज यह एक अपराध समझा जाता है। चाक में गाँव की एक ऐसी स्त्री की संघर्ष की कथा है जो अपनी देह को पुरूष, घर, परिवार और समाज की आबरू की हवजा गाड़ने वाली जमीन मानने की मानसिकता को अस्वीकार करती है।(9)

गीतांजलि श्री *नागपाश में स्त्री* में लिखती है :

> आज बाजार के दबाव और सूचना संसार साधनों माध्यमों के फैलाव ने राजनीति, समाज और परिवार का चरित्र पूरी तरह बदल डाला हैं। मगर पितृसग का पूर्वग्रह और स्त्री को देखने का उसका नजरिया नहीं बदला, जो एक तरफ स्त्री की देह को ललचायी नजरों से घूरता है। तो दूसरी तरफ उसके कठोर यौन–शुचिता की अपेक्षा भी रखता है।(43)

इस प्रकार से स्पष्ट है कि 21वीं सदी के उपन्यासों में नारी आधुनिकता की इस लगड़ी दौड़ में शोषण का शिकार रही है। गाँव से शहर तक उसे हर कदम पर नौचने वाले भेड़िए ही मिले रक्षा करने वाले रक्षक नाम मात्र के मिले। 21वीं सदी के उपन्यास में ग्रामीण नारियाँ भी पिछड़ेपन में जन्म वर्ग या गरीब परिवार में जन्म लेने के कारण जमींदारों, साहूकारों, सामंतों द्वारा शोषित होती है।

2.2.2.1 नारी अस्मिता

नारी अस्मिता का प्रश्न आज बहुत महत्त्व का प्रश्न समझा जाता है। आज यह कहने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। कि पूरी तरह नहीं तो बहुत हद तक रूढ़ियों और वर्जनाओं से स्त्रियों ने मुक्ति पा ली है और सामाजिक, आर्थिक यहाँ तक कि देश में राजनैतिक ढाँचे में भी उसकी उपस्थिति अनिवार्य रूप से दर्ज हो चुकी है। मगर ये उपलब्धियाँ अचानक हासिल नहीं हुई, बल्कि अन्य पिछड़े समुदायों मानव समूहों की मुक्ति के आंदोलन के साथ ही हुई। प्राचीन काल में स्त्रियाँ सामाजिक, राजनैतिक तंत्र से अपनी उल्लेखनीय हैसियत रखती थी। पर जैसे–जैसे समाज विकास की ओर बढ़ता गया, आर्थिक ढ़ाँचा सांमती रूप में विकसित हुआ, पुरूषों का वर्चस्व बढ़ता गया। स्त्रियों के बारे में बहुत सारे ऐसे मिथक गड्डे गये जिनसे यह स्थापित हो गया कि वे भौतिक और मानसिक दोनों दृष्टिकोणों से पुरूषों की अपेक्षा कमजोर हैं। यह पूर्वाग्रह भारत में नहीं पश्चिमी समाज में भी दिखाई पड़ता है जो स्वयं की उदारवाद और सभ्य आचरण का मानक समझता है। 21वीं सदी ज्ञानोदय काल में जिन्होंने मानव

अधिकारों की बात उठाई उनमें भी यह पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। प्रसिद्ध नारीविद् सरला महेश्वरी का *नारी प्रश्न* में कहना है कि :

> तथ्यों पर गौर करने से पता चलता है कि मनुष्य के अपने अधिकारों की अवधारणाओं में उन्होंने स्त्रियों को शामिल ही नहीं किया। बल्कि सचेत रूप में स्त्रियों को पुरूषों से अलगान की बातें भी कहीं। ज्ञान प्रसार आंदोलन के दौर में बौद्धिक व्यक्तिवाद के जिन सिद्धांतों की चर्चा की जाती थी, उन्हें स्त्रियों पर लागू नहीं किया जाता था। तर्क दिया जाता था कि स्त्रियाँ अपनी प्रवृत्ति से ही बौद्धिक रूप से पूर्ण विकसित होने में असमर्थ है। (14)

भारत में स्त्रियों की अवस्था को लेकर विचार–विमर्श की व्यवस्थित पंरपरा आधुनिक काल में पूर्व नहीं दिखलाई पड़ती है। हालाँकि मध्यकाल में मीराबाई जैसी एकाध स्त्रियाँ उपस्थित है। जिन्होंने सीमित दायरे में रहकर भी पुरूष वर्चस्व आधारित व्यवस्था को चुनौती दी, पर व्यापक और स्पष्ट रूप से पुनर्जागरण के दौरान ही स्त्रियों के मानवीय अधिकारों की बात उठी। राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी दयानंद तक के चिंतन और कार्यक्रम में स्त्रियों के संबंध में खुला दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। आलोचक राजेन्द्र यादव *अतीत होती सदी और नारी का भविष्य* में लिखते है :

> लोकगीतों के आदि शोधकर्त्ता ने गहरा अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि स्त्रियों के गीतों में पुरूषों का मिलाया हुआ एक शब्द भी नहीं है। स्त्री–गीतों की सारी कीर्ति स्त्रियों के ही हिस्से की है। यह संभव हो सकता है कि एक–एक गीत की रचना में बीसों वर्ष और सैकड़ों मस्तिष्क लगे हों पर मस्तिष्क थे स्त्रियों के ही, यह निर्विवाद है। (37)

इस दौर में हिन्दी उपन्यासों में स्त्री–अस्मिता की बातें उठने लगती है। प्रारंभ में इसका सवर सुधारवादी है पर आगे चलकर मुक्ति की माँग सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक रूढ़ियों के खिलाफ है। स्त्रियों के हक की बात स्वतंत्रता ने बाद के उपन्यासों में जितने स्पष्ट रूप से उठाई गई उतने स्पष्ट रूप में स्वतंत्रता पूर्व के उपन्यासों में नहीं। किन्तु इस कारण इन उपन्यासों के महत्त्व को कम करके नहीं देखा जाना चाहिए।

उपन्यास साहित्य की एक नई विद्या है। जीवन के बहुमुखी आयामों, जटिलताओं और विसंगतियों का चित्रण जितनी व्यापकता के साथ उपन्यास में हो सकता है, उतनी व्यापकता के साथ अन्य विधाओं में संभव नहीं है। शायद इसलिए ई.एम.फॉस्टर ने *उपन्यास के पक्ष* को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

उपन्यास मानवीयता से ओत–प्रोत होता है। उत्कर्ष अथवा अपकर्ष से न जीवन में और न उपन्यास में बचा जा सकता है। हो सकता है हमें मानवता से घृणा हो किंतु यदि उसमें से अशुभ निराश्रित किया जाए अथवा उसे परिष्कृत किया जाए तो उपन्यास निस्तेज हो जाएगा। (16)

सुमन कृष्णकांत अपनी पुस्तक *इक्कीसवीं सदी की ओर* में लिखती है :

स्वतंत्रता के बाद भारतीय स्त्री की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है। बहुत थोड़े पैमाने पर ही सही, लेकिन इक्कीसवीं सदी की स्त्री बड़ी तेजी से आकार ग्रहण कर रही है, और उम्मीद कर सकते हैं कि नई सदी में वह भारतीय समाज की एक समर्थ ओर स्वतंत्र इकाई होगी। (137)

कितना सही नाम रखा है अरविंद जैन ने अपनी पुस्तक *औरत होने की सजा* हम क्यों आसानी से उन कानूनों में फेर बदल करे जो हमारे ही वर्चस्व में सेंध लगाते हों ?"(37)

2.2.2.2 नारी मुक्ति आंदोलन

सृष्टि के आरंभ से ही सृष्टि के निर्माण और संचालन में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मानव जाति की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का मूल आधार नारी को ही माना जाता है। नर और नारी सृष्टि के विकास का मूल आधार नारी को ही माना जाता है। नर और नारी की सृष्टि के दो मूलभूत तत्व हैं। दोनों के सहयोग और समन्वय से ही सृष्टि की रचना होती है। नारी की सृजनात्मक शक्ति के कारण ही गृह संस्था का जन्म हुआ तथा परिवार और समाज का विकास हुआ। सृष्टि रचना में पुरूष की तुलना में नारी का योगदान अधिक हैं। प्रजनन अथवा वंश वृद्धि प्राणियों का महत्त्वपूर्ण कार्य है। गर्भधारण नारी को सृष्टि का आधार कहा गया है। नारी पुरूष की प्रेरणा और पुरूष संघर्ष का प्रतीक है। प्रेरणा एवं संघर्ष का समन्वय ही पूर्ण जीवन है। आशारानी त्योहरा अपनी पुस्तक *भारतीय नारी दिशा दशा* में लिखती है :

पुरूष को प्रकृति ने शरीर बल अधिक दिया है तो स्त्री को दृढ़ता और शरीर सौंदर्य अधिक दिया है। पुरूष संसार में जोश और साहस भरसाने के लिए दोनों की भिन्न प्रकृति से ही परस्पर पूरकता और जीवन की पूर्णता संभव है।(172)

पुरूष और नारी दो विरोधी नहीं वरन् एक–दूसरे के पूरक तत्व हैं। मानवीय गुणों की दृष्टि से विचार किया जाए तो पुरूष की तुलना में नारी अधिक मानवीय हैं। इसलिए यह पुरूष का आदर्श भी है। महादेवी वर्मा *श्रृंखला की कड़िया* के अनुसार –"पुरूष विकास क्रम में नारी से

पीछे है। जिस दिन वह भी पूर्ण विकास तक पहुँचेगा वह स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, दया, कोमलता इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण है"(113) नर–नारी की पूरकता और नारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए महादेवी वर्मा का कहना है कि :

> पुरूष समाज का न्याय है, स्त्री दया, पुरूष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा, पुरूष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरूष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा। ऐसा एक भी सामाजिक प्राणी नहीं मिलेगा जिसका जीवनी, भगिनी, पुत्री आदि स्त्री के किसी न किसी रूप से प्रभावित न हुए हो।(113)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदिकाल से ही नारी का गौरवमय स्थान रहा है और वह पुरूष की पूरक तथा समकक्ष सहयोगी ही रही है।

डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव *हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक स्वरूप* के अनुसार :

> हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक स्वरूप टूटा, वहीं दूसरी ओर स्त्री स्वतंत्रता के कारण नवयुवक स्त्रियों के स्वरूप में परिवर्तन आया। जो स्त्रियाँ आजीविका के साधन स्वयं जुटाती थी उनकी मानसिकता में धीरे–धीरे व्यापक परिवर्तन आया और इस प्रकार उन्होंने जीवन और चिंतन के स्तर पर पुरूषों के समान ही स्वयं को प्रस्तुत करने की कोशिश की।(103)

इतनी सारी महानताओं के बाद भी नारी को समाज ने वह स्थान मिला जिसकी वह अधिकारी है। संपूर्ण समाज व्यवस्था का निर्माण पुरूषों द्वारा होने के कारण नारी की भूमिका दूसरे दर्जे की ही रही है। समानता के इस युग में स्त्री पुरूष की साँझा संस्कृति का निर्माण आवश्यक है। यही वह बिन्दू है जहाँ से नारी मुक्ति की बात प्रारंभ होती है। विश्व में नारी मुक्ति के संघर्ष का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना नारी के शोषण का इतिहास। जॉन स्टुअर्ट मिल *द सब्जेक्शन ऑफ दी वीमेन* में कहते है :

> अगर हम देखें कि किसी भी देश में ऐसे पुरूषों की संख्या कितनी है जो वहशियों से थोड़े ही बेहतर हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि समाज में एक बड़ी संख्या अभी भी उन व्यक्तियों की है, जो अपने मूल पशुत्व और स्वार्थ पर सभ्यता का मुलम्मा चढ़ाए हुए हैं।(22)

नारीवादी आंदोलन का प्रारंभ पश्चिम से हुआ जिसका प्रभाव भारत पर पड़ा। नारी के अधिकारों के प्रति नवीन चेतना सर्वप्रथम पश्चिम में दिखाई देती है।

2.2.2.3 नारी की वास्तविक स्वतंत्रता

आजकल स्त्री स्वतंत्रता का बहुत ही सीमित अर्थ में लिया जाता है। नारी स्वतंत्रता का अर्थ किसी स्त्री द्वारा किसी भी बंधन को न मानना, इस रूप में लगाया जाता है। इसमें स्त्री को आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त होते ही समाज के सभी नियमों को ठुकरा कर स्वच्छंद आचरण करने का बल मिलता है। चित्रा मुदगल ने अपने उपन्यासों के माध्यम से नारी स्वतंत्रता को वास्तविक तथा तर्क शुद्ध रूप में प्रस्तुत करती है। चित्रा मुदगल के अनुसार नारी स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंद आचरण या फ्री सेक्स नहीं, समाज में पुरूषों के समकक्ष स्त्रियों को प्राप्त अधिकारों का सही उपयोग है। पुरूष द्वारा नारी को केवल शरीर समझने वाली बीमार मानसिकता का विरोध कर स्त्री की बौद्धिक प्रतिभा को प्रमाणित करने का प्रयास है।

ए*क जमीन अपनी* उपन्यास में अंकिता के माध्यम से चित्रा मुदगल ने स्त्री–विमर्श का मुद्दा जोर–शोर से उठाया है। स्त्री के मस्तिष्क को नकार कर उसे केवल शरीर समझने वालों के लिए अंकिता कहती है, "ऐसे पुरूष जो कि स्त्री को मात्र जिन्स समझते है ..... उन्हें औरत को स्वयं ठुकराकर यह जता देना चाहिए कि वह भी आत्मसम्मान रखती है।"(54) इसी कारण अंकिता बिना वजह औरतों के मामलों 'गोपनीय रिपोर्ट' चटखारे लेने वाले तिलक को फटकारते हुए कहती है, यह कुछ और नहीं पुरूष की बीमार मानसिकता ही है जिसकी विरासत अब भी आप जैसे ओछी मनोवृत्ति वाले पुरूष ढ़ो रहे हैं और मौका पाते ही दूसरे पर उल्टी करने लगते है। अंकिता नारी स्वतंत्रता के संदर्भ में पुरूष को प्रतिपक्ष नहीं बनाती, बल्कि स्त्री पुरूष साँझेदारी की वकालत होती है। उसका कहना है :

> मैं स्त्री और पुरूष की समान साँझेदारी की पक्षधर हूँ किन्तु उसके अंहवादी शोषण स्वरूप ही नहीं .... पुरूष को उसे बाड़ से मुक्त कर बराबरी का दर्जा देना होगा ...नहीं देता तो नारी को घर परिवार और समाज के आंतक से आतंकित न होकर खोखली दीवारों से सिर पटक–पटककर प्राण देने के बजाय, बाहर निकलने का साहस जुटा आत्मनिर्भर हो नये सिरे से जीवन जीने के विकल्पों को खोजना चाहिए।(55)

यहाँ लेखिका विवाह के नाम पर स्त्री की अस्मिता के कुंठित होने पर संबंध विच्छेद को आवश्यक मानती हुई यह आवश्यकता प्रतिपादित करती है कि स्त्री स्वयं आत्मनिर्भर बने।

उपन्यास में नीता वर्जनाहीन जीवन–शैली को ही नारी स्वतंत्रता समझती है। इसके विपरीत मि० सुधीर के साथ रहने में उसे अनैतिकता महसूस नहीं होती। इसके विपरीत वह विवाह को माता–पिता द्वारा दी गई व्यवस्था का नाम देती है। उसकी दृष्टि में विवाह एक स्वेग है। अपना समर्थन करती हुई वह कहती है :

उनकी पत्नी है तो क्या ? .... पत्नी ..... या मात्र एक व्यवस्था ? माता–पिता द्वारा सौंपी गई व्यवस्था ! जो उन्हें सास–ससुर बनने के संतोष से ही नहीं पूरती तथाकथित कौंटुबिक और उसके सामाजिक दायित्व से भी उऋण करती है। जितनी खोखली रीति–नीति उतनी ही आड़म्बर पुती की महत्ता। ऊपर से पुष्ट, भीतर से पोली। सात फेरों के स्वाँग में रची–बसी। वास्तविक अर्थों में अर्चना उसकी पत्नी होती तो वह पर स्त्री के साथ ढूढ़ँता ? आकर्षित होना अलग बात है, साथ ढूढँना वह असंतुष्टि है, अनुपलब्धि है, बोध है जिसकी सघन, ललक उसे अनायास मेरी ओर खींच लाई है। जानती हूँ – सुधीर के मन–प्रांगण का वह कोना सर्वथा रिक्त है और मैं पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती हूँ। पत्नी शब्द में मुझे दायित्व की बू आती है .... इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खो दी है।(160, 161)

रामविलास शर्मा *प्रेमचन्द और उनका युग* में लिखते है, "पारिवारिक झगड़ों का मूल कारण है, आर्थिक–स्थिति से परिवार पिछड़ना और स्त्रियों को इसे दोषी मानना है।"(5)

शरद सिंह लेख मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास *हँस पत्रिका* में लिखते है कि, "हिन्दी के आधुनिक साहित्य में वे उस लाइट हाउस के भाँति है जो विमर्श के नाम पर दिग्भ्रमित होने वालो को सही रास्ता दिखाती है। मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य को पढ़ना स्त्री जीवन से होकर गुजरने जैसा है।"(11)

2.2.3 नारी शोषण

आदिकाल से ही नारियों की दशा दयनीय व शोचनीय थी। स्त्रियों की दशा को देखकर स्वामी विवेकानन्द *आजकल पत्रिका* कहते है "स्त्रियों की अवस्था को सुधारे बिना जगत के कल्याण की कोई संभावना नहीं है।"(20) भारतीय समाज में प्राचीन काल से पुरूष प्रधान संस्कृति है। पुरूष की तुलना में आज भी नारी को दोयम स्थान दिया जाता है। प्राचीन काल में तो नारी को चारदीवारी के अंदर ही रहना पड़ता था। आज शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार होने के कारण नारी पढ़ लिखकर अपने अधिकारों के लिए जाग्रत हो रही है। पुरूष के कंधे से कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में अपनी क्षमता सिद्ध कर रही है। लेकिन यह प्रमाण अल्प है। प्राचीन काल की तरह आज भी नारी को एक भोग्य की वस्तु के रूप में देखा जाता है। गुलाम की तरह उसके साथ बर्ताव की परिस्थिति का वर्णन इक्कीसवीं सदीं के ग्रामीण उपन्यासों में देखने को मिलता है। जहाँ नारी का तरह–तरह से शोषण इक्कीसवीं सदीं के उपन्यासकारों व महिला उपन्यासकारों ने प्रस्तुत किया हैं नारी शोषण का वर्णन निम्न प्रकार से है –

2.2.3.1 यौन शोषण

भारतीय समाज व्यवस्था में यौन संबंधों की स्थापना के लिए विवाह संस्था के अतिरिक्त अन्य मार्गों से भी मौन संबंध स्थापित किये जाते है। इस समाज में नारी को काम वासना की तृप्ति का साधन मानने वाले इस पुरूष प्रधान संस्कृति में नारी का शोषण दिखाई देता है। यहाँ डॉ० बलवंत साधू जाधव *प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना* में लिखते है – भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था में शक्ति और धन के आधार पर सवर्णों को इज्जत, सम्मान, प्रतिष्ठा के अधिकारी बताया है। ग्रामों में तो दलित युवतियों इनके पंजों में फँसकर उनके विलास की सामग्री बनती है।(183) इस कथन से विदित होता है कि सवर्ण के लोग सत्ता, धन–बल का प्रयोग करते हुए दलित नारियों को अपनी हवस का शिकार बनाते हुए उनका यौन शोषण करते है। जिनका व्यापक रूप में संजीव के उपन्यास में विवेचन हुआ है। कथाकार संजीव के उपन्यास *फाँस* में :

> दूसाध लोग पंडित लोगों के यहाँ हलवाही का काम करते है। पंडिताइन फंकन की बहू को हाथ–पाँव मालिश करने को कहा जाता है। इस पर फेकन बहू ने इन्कार कर दिया था, "हमसे आपका देह छुवा जाएगा।" इतने से कसूर का इतनी बड़ी सजा दी जाती है जिसे सुनकर शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते है। संजीव लिखते हैं, "पांडे और पंडनाइन ने उसे औरत को हाथों से पकड रखा था और पांडे का साला उसे दबोचे हुए था।" काली कता है "अरे बारे बरे! क्या एक औरत खुद अपने सामने एक दूसरी औरत का बलात्कार करवा सकती है।(93, 94)

इस कथन से स्पष्ट है कि नारी की दलित नारी बात न मानने पर उसका यौन शोषण किया जाता है। आज गाँवों–गाँवों में लगभग यही स्थिति दिखाई देती है।

मैत्रेयी पुष्पा स्वयं बलात्कार जैसी अमानुष पीड़ा को भोगती रही। उन्होंने अपनी आत्मकथा *कस्तूरी कुंडल बसै* में बड़ी ईमानदारी और निर्भीकता से इस बात को उद्घटित किया है। बचपन से लेकर विवाह होने तक अनेक कामांध पुरूष ने उनके साथ शारीरिक खिलवाड़ करने का प्रयास किया। माँ के नौकरीजन्य मजबूरियों के कारण अल्पायु से यौन शोषण का शिकार होती मैत्रेयी को शारिरिक, मानसिक यातना को झेलना पड़ा। मैत्रेयी की माँ कस्तूरी ग्राम सेविका की नौकरी के कारण गाँव–गाँव भटकती थी, वह मैत्रेयी को अपने साथ नहीं रख सकती थी। वह चाहती थी कि बेटी पढ़–लिखकर स्वावलंबी बने। इसलिए मैत्रेयी को सिर्कुरा, झाँसी, अलीगढ़ आदि स्थानों में दूसरों के आश्रय में रहकर पढ़ाई करने की मजबरी थी। माँ शहर में जहाँ–जहाँ पढ़ने भेजती थी वहाँ–वहाँ कोई न कोई शिकारी घात लगाये बैठा है। बालिका कहाँ जाकर किसे सुनाए आप बीती। डा0 वीरेन्द्र सिंह यादव *इक्कीसवीं सदी की*

दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक में लिखते है, "मीडिया में चल रहा स्त्री देह का व्यापार और उमसें आजादी के आत्मछल या गुलामी के सुख को भोगती स्त्री की स्वैच्छिक शिरकत तथा साम्प्रदायिक धर्मोन्माद की हाँहाकारी गूँजे।"(39)

बच्ची मैत्रेयी का सखा एदल्ला चमार हैं तो दूसरे बच्चे उसे चमारिन बुलाते हैं। साइकिल वाला जगदीश, मैत्रेयी को भला लगता है क्योंकि वह एदल्ला का बस्ता भी साइकिल में टाँग लेता है। मगर जगदीश ज्यादा देर यह भलाई का ढ़ोंग नहीं कर पाता है। वह नन्हीं मैत्रेयी को सर्र से ले जाता है या फिर वही हमला, मासूम बच्ची पर मर्दाना प्रहार चालू ..... घबराकर माँ ने संयोजिका के यहाँ अलीगढ़ में रखा मगर घर का छोटा बिगडैल बेटा सोने नहीं देता बच्ची को ..... फिर रखा अलीगढ़ वाले एक गाँव के भाई–भाभी के पास। मगर वहाँ था एक खर्राट बुड्ढ़ा ... हरकत आगे चली, मैत्रेयी चिल्ला पड़ी, पिटी पर भाग निकली, एक साहसी माँ की बेटी के जोखिम भरे दिन रहे होंगे वे। जब गाँव की बस पर चढ़कर मैत्रेयी सफर करती तब युद्ध जीतने जैसा साहस करना पड़ता था। अपनी कोमल काया का घोर कोर–कोर दुश्मन से बचाकर लाने के लिए बाइज्जत और साबुत। बस पर स्वार होती युवा बच्चों के साथ बस का ड्राइवर चालाकी से छेड़छाड़ करता है। मैत्रेयी पुष्पा कीआत्मकथा *कस्तूरी कुण्डल बसै* कथानुसारः

यह पेट पर निचियों से हमला करता है और हाथ सरकाता हुआ आगे बढ़ाता है। सीना ऐसे दबाता था जैसे किसी छोर ने चबा डाला हो। पलटकर बाहँ पकड़ ली .... बोला, ये हमारी साली साहिबा है .... सटकर बैठ गया और वहीं पेट पर चिकोटी काट ली।" माँ का हेड क्लर्क सारस्वत ...." में उससे बड़ी बात तक जूझी थी .... और सारस्वत गालियाँ देता हुआ कमरे से बाहर हो गया था।" और तो और भारतीय समाज की महान परंपरा में गुरू को भगवान से ऊँची जगह बिठाने वाले भी तौबा कर लेते होंगे। जब माननीय प्रिंसीपल साब एक्स्ट्रा क्लास के नाम पर सुकोमल बालिका को बुलाकर धर दबोचते हैं, "बांहों के घेरे में कस रहे हैं लड़की को। चुंबन और मनुहार ....सिटपिटा गयी लड़की ....पकड़ी–धकड़ी, छुटने की जद्दोजहद। मार–पीट, नोंचा–खोंसी, ...लड़की हार नहीं मान रही। मुँह बकोट लिया। हाथ में दाँत गड़ा दिये।(92, 94)

एक ही जीवन में पुरूष रूपी पिशाचों द्वारा इतनी छली गयी। मैत्रेयी का जीवन बड़ा ही खौफनाक रहा। मादा होने की ऐसी सजा तो जानवर भी नहीं दिया करते। डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव *इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक* में लिखते हैं, "कि एक अन्धी–अँधेरी सुरंग की यात्रा, जिसका कोई अंत नहीं, अति सुखवाद, भोगवाद की पाश्विक हवस।"(40)

नायिका के पति को भी कुछ ऐसे ही किरदार के रूप में अंकित किया है जो हर नारी को अपने पैरों की रखैल समझकर उससे दिल बहलाना चाहता है। इस पर नायिका अपने पति से कहती है, मैं आप जैसे लम्पट पर थूकती हूँ मैंने आपकी कितनी इज्जत की है। पर आप मक्कार व लुगाईखोर है। मैं मिनखोरी नहीं हूँ। केवल पेट भरने के लिए आपके पास नहीं रहूँगी। मेरे हाथ–पाँवों और शरीर में बड़ी ताकत है। मेहनत मजदूरी करके पेट भर लूँगी।

2.2.3.2 पारिवारिक सदस्यों द्वारा यौन शोषण

अखिल नारी जाति के लिए यौन–शोषण एक अभिशाप है। उस स्थिति में यह अभिशाप और भी अधिक भयावह हो उठता है। जब अपने ही परिवारजनों द्वारा यौन–शोषण किया जाता है। समाचार पत्रों में प्रतिदिन यौन–शोषण के जितने भी मामले सामने आते हैं, उनमें कई मामले ऐसे होते है। जिनमें अपने ही परिवारजनों द्वारा लड़कियों पर अत्याचार किया जाता है। फिर यह भी अनुसंधान का विषय है कि आखिर ऐसे कितने मामले सार्वजनिक होते है।

चित्रा मुद्गल के उपन्यास *एक जमीन अपनी* में भी परिवारजनों के द्वारा लड़कियों के यौन–शोषण का प्रभावी चित्रण हुआ है। उपन्यास की नायिका नमिता भी इस यौन–शोषण की पीड़ा से भी मुक्त नहीं है। जब नमिता दस साल की थी, तब एक बार माँ ने इन्द्र भैया के उपनयन संस्कार के लिए उसे हफ्ते पूर्व ही भेज दिया था। एक दिन बच्ची नमिता जब मौसी के कहने पर नाश्ते का ट्रे लेकर मौसी जी के कमरे में पहुँची तो मौसा उससे इधर–उधर की बातों में फुसलाते हुए उसके हाथ अजीब तरीके से पेश आए। मौसा जी कैसी ही जल्लादी आँखों से तैरते हुए उसे चेतावनी दी – जो हुआ सो पेट में डाल! अपने मगज–फिरे बाबू जी से पाने की कतई जरूरत नहीं, वरना मामूली सी बात जीवन–जले बैर हो उठेगी। और फिर इसी तरह ही हरकत अन्ना साहब ने नमिता के साथ की थी।

नमिता की अतरंग सहेली स्मिता की बदन भी एसे ही शोषण का शिकार बनी है। उसका दुर्भाग्य यह है कि स्वयं अपने मटकाकिंग पिता से शोषित है और एक बार नहीं कई बार। स्मिता की यह बात सुनकर नमिता सकते में आ गई थी – "पिता के लिए कोई पुत्री देह हो सकती है ?"(44) यहाँ तक कि पिता से वह गर्भवती भी हो गई। उस गर्भ से उसने छुटकारा तो पाया लेकिन इस हादसे ने उसे मानसिक रोग का शिकार बना दिया।

सुशीला टाकभौरें के काव्य संग्रह *स्वातिबूंद और खारे मोती* में आक्रोश की ध्वनि सुनाई देती है –

माँ–बाप ने पैदा किया था गूँगा

परिवेश ने लंगड़ा बना दिया

चलती रही परिपाटी पर

वैसाखियां चरमराती है

अधिक बोझ से अकुलाकर

विस्कारित मन पुकारता है

बैसाखियों को तोड दूँ।(2)

वासवानी मैडम के पास काम करने वाली नमिता की सहकर्मी गौतमी भी अपने परिवार जनों द्वारा शोषित है। वह अपने सौतेले भाई विनोद से ही शोषित है। गौतमी रात को पढ़ाई करती थी और विनोद भी पढ़ाई के बहाने जागता था। एक रात विनोद ने उससे प्रेम निवेदन कर डाला। सौतेले भाई के अनपेक्षित व्यवहार से गौतमी स्तब्ध हो उठी। नाइटी के भीतर विनोद के जबरन रंगते–मसलते हाथों से बचने के लिए उसने बहुत संघर्ष किया। ..... भयभीत गौतमी ने रात को उठकर पढ़ना बंद कर दिया। मगर विनोद ने उसका पिछा न छोड़ा।

उपन्यास पढ़ते हुए कभी ऐसा लगता है कि संसार के सारे रिश्ते झूठे है। पुराणों में स्त्री को देवी, माता, भगिनी, भार्या आदि अनेक रूपों में नवाजा गया है। किन्तु वास्तविकता यही है कि आज भी स्त्री–पुरूष के लिए मात्र एक मादा है, जो उसकी वासना को तुष्टि प्रदान कर सकती है। इस वासना के सामने पुरूष यह भूल जाता है कि जिससे वह काम तुष्टि प्राप्त कर रहा है, वह मेरी अपनी बेटी है, भतीजी है या बहन है।

भारत में प्राचीन काल से स्त्री को उसकी मातृत्व शक्ति के कारण पूजा जाता है। नारीवादियों के अनुसार तो स्त्री की यह शक्ति ही उसकी दासता का कारण बनी हुई है। खानदान के लिए वंश चलाने वाला कोई होना चाहिए और यह वंश खानदान को एक स्त्री ही दे सकती है। इसलिए पुत्रवती स्त्री का समाज में हर काल में सम्मान होता आया है। किन्तु स्त्री ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उसकी इस शक्ति का ही पुरूष समाज शोषण कर सकता है।

चित्रा मुद्गल के *एक जमीन अपनी* उपन्यास में हिन्दी साहित्य में पहली बार धोखे से कोख को खरीदने की प्रवृत्ति का भंडाफोड़ किया गया है। अजंवा वासवानी नमिता को उघोजक संजय कनोई के लिए आभूषणों की मॉडलिंग करने की नौकरी देती है। किन्तु नमिता को पता

नहीं होता कि इसकी आड़ में क्या खिचड़ी पक रही है। संजय कनोई 'प्रेम' जैसी संवेदनशील भावना की आड़ में नमिता के सामने अपने दुखी दाम्पत्य जीवन का रोना रोकर और उसे विवाह का लालच देकर धोखे से उसे गर्भवती बनाता है। नमिता गर्भपात करना चाहती है, लेकिन संजय उसे गर्भपात से रोकता है। हैदराबाद में नमिता को अन्ना साहब की हत्या का समाचार मिलता है तो इस आघात से उसका गर्भपात हो जाता है। नमिता के गर्भपात की खबर सुनकर संजय कनोई प्रेमी का नकाब उतारकर असली रूप में सामने आ जाता है :

> जानती हो बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया ? ..... मैं रंड़ियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हो – मुझे नहीं गँवारा थी ऐसे किराये की कोख। मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो ....पवित्र हो, जो मुझ पर प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने। .... मैं तुमसे शादी करूं न करूं .... मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशोआराम में रह सकती थी।(227)

वास्तव में अंजना वासवानी संजय कनोई के लिए ऐसी कुँवारी लड़कियाँ मुहैया कराने का काम करती है, जिससे प्रेम का नाटक खेलकर संजय कनोई पिता बन सके। संजय कनोई की पत्नी निर्मला माँ बनने में असमर्थ है और संजय को अपना पौरूष प्रमाणित करने के लिए बाप बनना है। स्त्री को उसकी सहमति या असहमति से केवल देह समझ, उसे भोग और बच्चे पैदा करने की मशीन समझने वालो के मुँह पर करारा तमाचा लेखिका ने इस उपन्यास के माध्यम से दिया है। मृदुला गर्ग ने वार्तालाप *कथादेश पत्रिका* के शब्दों में :

> कोख के लिए ब्याही जाने की नियति तो हिन्दुस्तानी औरत, हमेशा से झेलती आई है, पर कोख को इच्छा से उधार देने (गौतमी के संदर्भ में) या उसके लिए छल द्वारा उपर्युक्त होने की अवमानना आज के युग की देन है, गौतमी और नमिता के जरिए, आवां ने इक्कीसवीं सदी में इस सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति दी है।(12)

2.2.2.3 पारिवारिक तथा सामाजिक शोषण

नारी जागरण के बाद भी आज भारतीय नारी शोषण के अनेक रूपों को सहन कर रही है। जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक कारणों और परिस्थितियों में उसका पारिवारिक तथा सामाजिक स्तर पर शोषण होता है। यह शोषण विवाह के पहले माँ–बाप, भाई–बहन तथा अन्य रिश्तेदार करते है। तो विवाह के पश्चात् सास–ससुर, पति, ननद–देवर तथा परिवार के अन्य सगे–संबंधी करते हैं। वह पूर्णतः पराश्रित होने के कारण उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अधिकारहीन और महत्वहीन जीवन के कारण ही नारी शारीरिक और मानसिक शोषण का

शिकार होती हुई दिखाई देती है। इस समस्या का केन्द्र नारी के भीतर छिपी असुरक्षा की भावना तथा उसके आश्रित विसंगतियों की शिकार है जो वर्षों से समाज में व्याप्त थे। मैत्रेयी पुष्पा ने नारी की इस शोषित स्थिति को अपनी रचनाओं में बेबाकी से चित्रित किया है।

नारी अस्तित्व को लेकर अपने अपने समय पर कई विद्वानों ने चिंता व्यक्त की है, तुलसी दास जी ने "ढ़ोल गवार, शूद्र, पशु, नारी सकल, ताड़ना के अधिकारी" कहकर नारी को प्रताड़ना का पात्र समझा है तो मैथिलीशरण गुप्त ने "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी" कहकर चिन्ता व्यक्त की है। प्रसाद ने "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" कहा तो, शेक्सपियर ने "दुर्बलता तुम्हारा नाम ही नारी है" कहकर नारी अस्तित्व को संकीर्ण बताया है।

कस्तूरी कुंडल बसै उपन्यास *आत्मकथा* की नायिका कस्तूरी भी विवाह नहीं करना चाहती। वह विवाह को बंधन मानती है, इसलिए पढ़–लिखकर स्वावलंबी बनना चाहती है। परंतु माँ–बाप तथा भाई–भाभी के द्वारा उस पर एसे वाक् बाण चलाये जाते हैं कि उसका हृदय क्षतविक्षत हो जाता है। माँ कहती है, "मेरी सौत, तू खानदान की जड़ में दीमक, हम सबका सफाया कर देगी। हरजाई कौन–सा यार तुझे ब्याह होकर विदा होने से रोक रहा है।"(15) कस्तूरी सामाजिक विधान से डरकर भागना चाहती है। परंतु भाग नहीं पाती। क्योंकि भाभी ने अत्यंत कडुवाहट तथा घिनौने शब्दों में ननद की प्रताड़ना करते हुए कहा, "लाली, किताबों में क्या पढ़ती हो ? उनमें यही लिखा है कि जिंदगी अनब्याहे ही काट दो और भारी सिल की तरह भईया की छाती पर लदी रहो।"(16)

यहाँ की लड़कियाँ यह नहीं जानती कि जवानी में औरत को रोटी कपड़ा वही देता है, जो उसके संग सोए–बैठे। अपना बच्चा पैदा करे। इस घर में बहन का इरादा भईया के संग सोने का हो गया होगा। इस तरह मानसिक आघात पहुँचाकर कस्तूरी को 800 रु0 तक अय्याश व्यक्ति के हाथों बेचकर उसका विवाह किया जाता है। ऐसे अनेक प्रसंगों द्वारा अपने उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्रियों के शोषण का बेबाकी से चित्रण किया है। अरविंद जैन *औरत अस्तित्व और अस्मिता* के शब्दों में "आपकी दृष्टि भविष्य की उस स्त्री पर है, जो संघर्ष करते हुए समग्र पितृसतात्मक व्यवस्था के विरूद्ध एक चुनौती बनकर खड़ी हो सके?"(31)

2.2.4 आधुनिक स्त्री के संदर्भ में पश्चिमी और भारतीय जीवन दर्शन का समन्वय

आधुनिक समाज में नारी की साक्षरता व चेतना में आये हुए फैलाव के कारण उसके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है। प्रभाकर श्रोत्रिय *औरत अस्मिता व अस्तित्व* के अनुसार :

> इस कारण महिलाएँ पहले की तुलना में अधिक निर्भीक, स्वावलंबी, अधिकार चेतना, अस्मिता व अस्तित्व के प्रति सजग एवं संवेदनशील दिखाई देती हैं। उनमें आ रहा यह सकारात्मक परिवर्तन एक विचित्र स्थिति से गुजर रहा है। उनके एक ओर शिक्षा, नौकरी, जीवन मूल्यों में बदलाव की स्थिति है तो दूसरी ओर 'परंपरागत' संस्कार हैं। संक्रमण की इस स्थिति में कामकाजी महिलाएँ दुविधाग्रस्त एवं असुरक्षित हो गई हैं। फिर भी तथाकथित पुरूष क्षेत्रों में उनकी हिस्सेदारी तेजी से बढ़ रही है।(1)

आधुनिक भारतीय स्त्री के सामने जीवन दर्शन के दो पक्ष हैं। पहला पक्ष पारपंरिक है जिसमें घर की चौखट में कैद रहकर पति की खुशी में अपनी खुशी ढूढँना है। दूसरा पक्ष पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध से प्रभावित हो समग्र भारतीय संस्कृति को नकारते हुए स्वतंत्रता या नारी अस्मिता की रक्षा के नाम पर उच्छृंखल आचरण करना है। चित्रा मुदगल ने अपने उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में आधुनिक भारतीय नारी के मन में चल रहे इस अंतर्द्वन्द्व का विवेचन–विश्लेषण कर भारतीय तथा पश्चिमी सभ्यता के बीच सुवर्णमध्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

चित्रा मुदगल के *एक जमीन अपनी* उपन्यास में विज्ञापन जगत के एक खास चुने हुए कथा और परिवेश के माध्यम से आधुनिक नारी की सच्ची अस्मिता, व्यक्ति के रूप में उसकी सार्थक और वास्तविक परिस्थिति की तलाश की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें वह स्वयं स्त्री के द्वारा ही स्त्री की समस्याओं से निपटने की पहल करती हुई, उसे आगाह करती है कि वह छद्म स्वाधीनता के भीतर छिपी हिंस्त्र पराधीनता के अदृश्य मायावी जंजालों को पहचाने। क्योंकि ऐसा न होने से वह परंपरा भी अधिक क्रूर, मामावी और नाशुक्रे बंधनों में बंध गई है। बदलते हुए परिवेश से उसके रूप में भी बदलाव आ गया है। आभूषण की बेड़ियाँ अब रंगीन सपनों, देह प्रदर्शन के सुखों और कास्मेटिक्स में तबदील हो गई है। कहना न होगा कि यहाँ भी अंततः वह उसी वस्तु में बदल जाती है, जिसके विरूद्ध संघर्ष कर रही है। पुराने समाज में वह अगर भोग्य थी तो आज उपभोग्य बन गई है। पुराने जमाने में शरीर सौंपने की बाध्यता थी और आज स्वेच्छा से सौंप रही है। फिर दोनों स्थितियों में अंतर कहाँ रह जाता है ? आधुनिक नारी जिसे मुक्ति, आत्मनिर्भरता और समृद्ध समझती है, वही उसकी गलत प्रक्रिया के कारण उसे आर्थिक दरिद्र और दयनीय बनाती है। चित्रा मुद्गल ने समूचे परिवेश और महाजनी पुरूष समाज द्वारा स्त्री के लिए फैलाये गये जाल का विस्तृत चित्रण करते हुए भी नारी के अपने उत्तरदायित्व का निर्धारण किया है। अगर स्वेच्छा से अपनी चुनी हुई आधुनिकता का कारण कर रही है तो उसके हानि–लाभ के उत्तरदायित्व को वह दूसरों पर डालकर निरीह बनी रह सकती। प्रसिद्ध

लेखिका सीमोन द बुआ *के द सैंकड सेक्स* पुस्तक में उक्त कथन महिला समाज में परिलक्षित होती है :

> स्त्री की स्थिति अधीनता की है। स्त्री सदियों से ठगी गई है और यदि उसने कुछ स्वतन्त्रता हासिल की है तो बस उतनी ही जितनी पुरूष ने अपनी सुविधा के लिए उसे देनी चाही। यह त्रासदी उस आधे भाग की है, जिसे आधी आबादी कहा जाता है।(6)

अपने कथ्य को रचनात्मक रूप देने के लिए लेखिका ने *एक जमीन अपनी* उपन्यास में दो नारी चरित्रों की सृष्टि की है। जो विज्ञापन व्यवसाय से जुड़ी है। दोनों स्वाधीनता आकांक्षी, संघर्षशील है, किंतु उनके संघर्ष में गुणात्मक अंतर है। अंकिता प्रतिरोधात्मक तनाव के साथ विज्ञापन जगत में है जबकि नीता उसके प्रवाह में अपने को समूचा डाल देने या बहा देने को ही अपना संघर्ष और साहस समझती है। लेखिका ने दिखाया है कि नीता एक दिग्भृमित आधुनिक नारी है, जो पुरूषों द्वारा अपनी हुकूमत के लिए नारी को तरह–तरह के संबंधों के मुखौटे पहनाने के खिलाफ एक विद्रोहिणी दिखाई देती है। परंतु वास्तव में वह एक आत्मकेन्द्रित नारी है। निजी समृद्धि ख्याति और सफलता की चंकाचौंध में वह भूल चुकी हैं कि उस जैसी स्त्री के कर्मों का समाज पर क्या प्रभाव होता है। रातों रात नम्बर वन मॉडल बन जाने के लिए वह लगभग नग्न होकर विज्ञापन एवं फिल्मों में काम करती है। इस ग्लैमर की दुनिया के लिए अपने को नग्न करने को वह 'साहस' और 'स्वाधीनता' का नाम देती है। वहीं दूसरी ओर अंकिता इस आधुनिकता को अपनी शर्तों पर स्वीकार करती है क्योंकि उसके हर कदम के साथ समाज बोध, नारी–अस्मिता सार्थक स्वाधीनता और देशबोध की गहरी उत्तरदायी की प्रवृत्ति जुड़ी है। इस अर्थ में उसका वैयक्तित्व संघर्ष आधुनिक नारी के संघर्ष व प्रतिरूप बन जाता है। वह कथित स्वाधीनता को न तो किसी गलत आत्मघाती मूल्य के साथ स्वीकार करती है न उच्छृंखलता को साहस का नकली बाना पहनाती है। साहस किसे कहते है ? स्वाधीनता और आधुनिकता क्या होती है ? इन्हें वह जानती है। अपने इसी मूल्य बोध और विवेक के कारण वह आधुनिक नारी की सार्थक प्रतीक बन पाई है। विज्ञापनों में नग्न होना तो दूर आज की पार्टी–संस्कृति को भी वह पूरी सजगता से नारी के प्रति विलास संस्कृति में बदल जाने का प्रतिपाद करती है। जिस 'आब्जर्वेशन' विज्ञापन कंपनी में वह काम करती है उसके सबसे बड़े खातेदार का अपने कंधे पर रखा हाथ झटक देती है, "दिस शोल्डर बिलांग्स टू मी .... अपना हाथ जगह पर रखेंगे या मैं उसे जगह बताऊ?"(30) बेशक इस उदण्डता के कारण उसे नौकरी छोड़नी पड़ती है। मि० भोजराज की जिस कंपवनी 'माध्यम' में वह कार्यकारी अधिकारी है उसी भोजराज से यह कहते हुए वह नहीं हिचकती कि "मैं अश्लीलता का आश्रय लेकर उत्पाद बेचने

के विरूद्ध हूँ।"(189) अपनी दृढ़ता, साहस और स्वाधीन चेतना के कारण उसे विज्ञापन जगत में अनेक षड़यंत्रों का सामना करना पड़ता है। उसे 'माध्यम' से इस्तीफा देना स्वीकार है किन्तु किसी तरह का समझौता वह नहीं करती। अपनी गरिमा और दृष्टिकोण को त्यागकर पाई गई आधुनिकता उसका मार्ग नहीं है। अंकिता न तो नीता की तरह पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में सुध–बुध होती है और न ही 'अबला तेरी यही कहानी' वाली प्रतिमा लेकर बैठती है। वह अपने जीवन–दर्शन में पश्चिमी और भारतीय दोनों परिवेशों का सुवर्णमध्य स्थापित करती है।

2.2.5 इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में स्त्री–पुरूष का संबंध

सामाजिक संरचना परिवार की इकाइयों से निर्मित होता है, जिसमें नारी की भूमिका प्रमुख है। स्त्री–पुरूष के सहयोग सम्मिलन से ही यह सुचारू रूप से चलता है। आधुनिक महिलाएँ अपने पति को नचाने में कुशल हैं। पति को सर्वस्व मानना तो दूर अपशब्द कहने में भी संकोच नहीं करती है।

आज स्त्री पुरूष के बीच संबंधों का दृष्टिकोण बदल रहा है। नैतिकता शब्द युगीन पृष्ठभूमि में बौद्धिकता के तले कुचला जा रहा है। प्रेम की नई परिभाषा गढ़ी जा रही है। जिसमें न शील का आग्रह है न चरित्र की उदारता। बस है तो 'स्व' का आग्रह और सुधा की तृष्टि।

उपन्यास में चित्रा मुदगल ने स्त्री–पुरूष के जीवन सिथति को बखान किया है। मानव गतिविधियाँ जब अस्त–व्यस्त हो जाती है और समाज व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसलिए अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक जीवन को मानव जीवचन में प्रक्षद देना ही उचित है।

अशिक्षित परिवारों से अधिक शिक्षित परिवारों में स्त्री–पुरूष संबंध ध्वस्त होते नजर आते हैं। आज की लड़कियाँ विवाह के पश्चात् भी स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है।

इसमें लेखन ने विवाह की ऐसी समस्या को अंकित किया है जो नारी स्वतंत्रता पर आधारित है। परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता–पिता और संतान साथ–साथ रहते हैं। इनकी दृष्टि में दंपत्ति और उनकी संतान रहती है।

चित्रा मुदगल अपने *एक जमीन अपनी* उपन्यास में परिवार में स्त्री–पुरूष से अपवित्र संबंधों का वर्णन करती है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को चलाने और उसका विकास करते हुए संबंधों एवं व्यवहारों को बनाए रखने की आधारभूमि हैं। मैहता उपन्यास का नायक है। उसकी पत्नी कोकिला अपने पति से दाम्पत्य जीवन में अतृप्त होकर अपने देवर के साथ अपनी यौन इच्छाओं को पूर्ण करती है। जब देवर की मंगनी निश्चित होती है तो असुरक्षा का अहसास

करती है। क्योंकि देवर नयी जिंदगी की शुरूआत से पहले भाभी को दूर रखने लगता है। चित्रा मुदगल के उपन्यास *एक जमीन अपनी* में भाभी नारी पात्र के शब्दों में :

> माँ ने भाई का रिश्ता तय कर दिया। मंगनी होते ही एकाएक भाई का मन कोकिला की ओर विरक्त होने लगा। वह बहुत कोशिश करती उसे घेरने की ..... मगर भाई को शायद यह भान हो चुका था कि यौन संबंध अब उसके सुखमय भविष्य की राह में रोड़ा है।(71)

डॉ ज्योति किरण *पंचशील : शोध समीक्षा* के शब्दों में :

> इस समाज में स्त्रियां जब अपनी समझ और काबिलियत जाहिर करती है तब वह कुलच्छनी मानी जाती है, जब खुद विवके से काम करती है तब मर्यादाहीन समझी जाती है। अपनी इच्छाओं, अरमानों के लिए जब वह आत्मविश्वास के साथ लड़ती है और गैर समझौतावादी बन जाती है, तब परिवार और समाज के लिए वह चुनौती बन जाती है।(61)

भारतीय समाज में भी सामाजिक संबंधों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसका वर्णन चित्रा मुदगल के उपन्यास में *एक जमीन अपनी* इस प्रकार से है :

> जन्मदिन के चार दिन बाद कहीं जाकर स्मिता ने ममता को फोन लगाया। अब तू बता झल्लोरानी एक हो गया। तेरा जन्मदिन, ऊपर से नई नौकरी। कब खिला रही पिला रही ? इतवार को इतवार को मार गोली। चल बता देना। पर जरा पहले, विक्रम शरत से मित्रता खतम् ? खत्म ही समझ। बेवकूफ है साला। कल तो नहीं था ? अंडडड ..... राश्त को फोन कर रहा होटल में एक सस्ता सा कमरा लेकर मिलते हैं दुविधा हो गई कि मैं कुँआरी माँ नहीं बनना चाहती। वह मेरा प्रेमी होने के काबिल नहीं।(202)

उपन्यास में चित्रा मुद्गल ने स्त्रियों के संघर्ष, उनके अस्मिता बोध तथा पुरूष के विरोध में उठने वाले स्वर के रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास की एक और नारी पात्र सुनंदा विवाह संस्था के बाहर माँ बनना स्वीकार करती है। सुनंदा किशोरी बाई की बेटी है। जिसका मुसलमान प्रेमी सुहैल विवाह करने के लिए राजी है परन्तु उससे इस्लाम धर्म अपनाने की शर्त रखता है। इस स्थिति में सुनंदा विवाह से इनकार कर देती है, क्योंकि केवल शादी करने के लिए वह अपने व्यक्तित्व की पहचान खाने को तैयार नहीं। सुनंदा के माध्यम से लेखिका यह संदेश देना चाहती है कि स्त्री को अपने 'स्व' की लड़ाई घर से ही आरंभ करनी है क्योंकि आवाज को दबाने की पहल घर में ही होती है। चित्रा मुदगल के नारी पात्र के शब्दों में :

> पुरूष को हमेशा यह भ्रम सताता रहा है कि अगर औरत उसकी बराबरी करने लगी तो क्या होगा ? फिर बराबरी में न आ जाए इसलिए पुरूष मानसिकता को इसी बात में भलाई नजर आती है कि उसे सहेली के बजाय पहेली बनाकर रखो।(205)

सामाजिक रीतियाँ मूल्य निर्धारण में अहम भूमिका निभाती है। प्रेम मानव–जीवन की मृदुतम भावना है जो विभिन्न युगों में भिन्न–भिन्न रूपों में विद्यमान रही है। जब हम प्रणय को मूल्य मानते हैं तो हमारा गंतव्य क्या है ? प्रणव के प्रति मूल्य दृष्टि का अर्थ होगा कि या तो हम इसे मानव–जीवन की सार्थकता अथवा सफलता की शर्त या कसौटी मानते हैं या फिर यह ऐसी शक्ति है जो जीवन को प्रफुल्लता और उसके साथ ही पूर्णता प्रदान करती है। दोनों स्थितियों में इसकी काम्यता अथवा महत्ता प्रमाणित होती है। चित्रा मुदगल कहती है :

> अपने लाभ के लिए समाज दो प्राणियों को जो कि स्वयं आत्मनिर्भर होकर अपने परिवार के पालन–पोषण में समर्थ हो सकते है, उन्हें जाति धर्म के साम्प्रदायिक उन्माद में झोंक देता है तो दूसरी तरफ दलित और स्वर्ण के विवाह बंधन में बाँधने का प्रस्ताव रखकर राजनीतिक सीढ़ियाँ बनने की पृष्ठभूमि बनाकर उसे सही मानता है। खेवाड़े के माध्यम से पवा नमिता पर अपनी मंशा जाहिर करता है – जीवन साथी के रूप में ब्राह्मण और दलित का गठबंधन सुंदर, बद्धिमती संतानें ही नहीं देता, राजनीति में भी फलदायी समीकरण सिद्ध होगा। सवर्ण–अवर्ण दोनों के वोट झोली में होंगे।(237)

स्त्री–पुरूष अपने संबंधों को किस तरह का नाम दे वह उसकी मानसिकता पर निर्भर करता है। कोई अपने अकेलेपन को मिटाने के लिए तो कोई श्रृंगारिक कामनाओं को बुझाने के लिए तो कोई वैयक्ति जीवन में समाज से सुरक्षा पाने के लिए एक–दूसरे से कुछ न कुछ संबंध बनाये रखते हैं। स्त्री–पुरूष दोनों समाज में मुख्य पहलू माने जाते है। स्त्री बिना पुरूष, पुरूष के बिना स्त्री का जीवन परिपूर्ण नही हो सकता। दांपत्य जीवन स्त्री–पुरूष को एक अलग प्रकार का अनुभव दे डालता है।

स्त्री पुरूष संबंध सकारात्मक भावना से चलते है तो परिवार में सुखमय वातावरण बना रहता है। आज के आधुनिक समाज में तो स्त्री–पुरूषों के बीच मित्रता पनपना स्वाभाविक है। भारतीय समाज में भी आजकल यह भी देखने को मिलता है कि स्त्री–पुरूषों में भी मित्रता जम रही है। श्रृंगारिक भावनाएँ व्यक्ति को मायामोह में फँसा देती है।

चित्रा मुद्‌गल आज के आधुनिक समाज में सामाजिक संबंधों में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव किस प्रकार पनप रहा है। चित्रित किया है। *एक जमीन अपनी* उपन्यास में परिवार में अपवित्र संबंध का उदाहरण है कि :

माँ ने भाई का रिश्ता तय कर दिया। मंगनी होते ही एकाएक भाई का मन कोकिला की ओर विरक्त होने लगा। वह बहुत कोशिश करती उसे घेरने की ..... मगर भाई को शायद यह भान हो चुका था कि यौन संबंध अब उसके सुखमय भविष्य की राह में रोड़ा है।(71)

मेहता की पत्नी कोकिला अपने पति से संतृप्त नहीं है और देवर की मंगनी को लेकर परेशान। उसका देवर तो नयी जिंदगी की शुरूआत से पहले अपनी भाभी को दूर रखने लगता है। भाभी को यह बात अच्छी नहीं लगती है। देवर से उसके भीतर तो अवैध संबंध है कुछ भी करने को तैयार हो जाती है। देवर के मंगेतर को बुलाकर एक दिन सारी बात खुलकर बता देती है। देवर ने अपनी भाभी से अचानक संबंध रोकने से हताश कोकिला देवर का विवाह रोकने के पूरे रास्ते ढूँढ़ने लगती है। एक दिन देवर की मंगेत्तर रूचिरा को कोकिला खरीदारी के बहाने उसे बाहर ले जाकर समझाती है कि देवर के साथ उसके अवैध संबंध है। ऐसे में रूचिका परेशान हो जाती है।

इक्कीसवीं सदी में नारी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हैं, संकटग्रस्त जीवन में भी अपने परिवार को बचा कर जीना चाहती है। इसी कारण वह कई बार आत्मलांछना की समाज द्वारा शिकार होती रहती है। यद्यपि संस्कारों में पकड़ने से नारी–मुक्ति पाना चाहती है, किन्तु मन पर पड़े संस्कारों की गहरी छाप से मुक्ति पाना असंभव सा लगता है। देश में असंख्य नारियाँ हैं जो परंपरागत भारतीय मानसिकता से जुड़ी है। वह चाहकर भी बने बनाए दायरे से बाहर नहीं आ सकती है। पुरूष द्वारा शोषण होने पर भी उससे जुड़कर रहने की माँग करता है।

नारी की समस्या को बदलते जीवन में सुधार नहीं लाया है केवल परिवर्तन। नगरीय, ग्रामीण और महानगरीय समाजों के कुछ शिक्षित बौद्धिक वर्गों की नारी भी अधिकारों के प्रति सचेत हुई है पुरूष के भी नारी के प्रति अपनी दृष्टि बदल रही है। बदले सामाजिक परिवेश में अपने स्वतंत्र अस्तित्व तथा अस्मिता के प्रति सचेत होकर नारी अपने पुरूष के समकक्ष स्थापित करने लगी है। आज की नारी अपने कार्य व्यवहार एवं वैचारिक चिंतन में कई मानसिकता लिए हुए है।

2.3 इक्कीसवीं सदी के ग्रामीण उपन्यासों में नारी चेतना

उपन्यास एक ऐसी विद्या है जिसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिवेश के साथ–साथ पारिवारिक संबंधों का भी चित्रण किया जाता है। परिवार में मुख्यतः नारी का चित्रण प्रमुख होता है। नारी पात्रों के बिना वह उपन्यास अपूर्ण रहेगा। नारी पात्रों का उल्लेखन

आधुनिक उपन्यासों में देखने को मिलता है क्योंकि प्रगतिशील आंदोलन में नारी की अस्मिता को दर्शाया गया है।

समकालीन इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में नारी चेतना का प्रमुख स्थान है। इनमें क्रमशः *एक जमीन अपनी, मुन्नी मोबाइल, चाक, धूणी तपै तीर, अकाल संध्या* आदि उपन्यासों में ग्रामीण स्त्री नारी के साथ–साथ शहरी, महानगरीय स्त्रियों का चित्रण भी किया है। इन उपन्यासों में हमें यह भी देखने को मिलता है कि समाज में नारी चेतना, अन्याय के प्रति विरोध, देह प्रदर्शन का विरोध, नारी विमर्श आदि के बारे में विस्तृत रूप से दर्शाया गया है।

2.3.1 स्त्रियों द्वारा अन्याय का विरोध

भारतीय संस्कृति में स्त्री सदियों से शोषित–दलित रही है। उस पर होने वाले इन अनगिनत अत्याचारों का चाहे वे परिवार जनों की ओर से किए जा रहे हो या किसी अन्य की ओर से विरोध करने वाली स्त्री को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। निस्संदेह खुले रूप से उसकी प्रशंसा की जाती है, पर अंदर ही अंदर उसकी आलोचना ही होती है। चित्रा मुदगल इसकी अपवाद है, जिन्होंने अपने उपन्यास *एक जमीन अपनी* में अनेक जगहों पर ऐसी स्त्रियों का चित्रण किया है, जो अन्याय का विरोध करती है।

सुनंदा एक मुसलमान लड़के सुहैल से प्रेम करती है और उससे गर्भवती हो जाती है। उसकी परेशान माँ किशोरीबाई उसका बच्चा गिराना चाहती है पवर सुनंदा इन्कार कर कहती है, बच्चा नहीं गिराएंगे। अपने जांगर पालेंगे।और माँ बनती है। सुहैल भी उससे प्यार करता है। उससे शादी करना चाहता है पर साथ ही वह यह भी चाहता है कि सुनंदा इस्लाम कबूल कर अपना धर्म बदले और नाम भी बदले। सुनंदा को धर्म बदलकर ब्याह करना मंजूर नहीं। आखिर उन्होंने सुनंदा के सामने यह विकल्प रखा कि चाहे वह इस्लाम कबूल न करे पर बिरादरी में नाक रखने भर को नाम तो बदल दे। सुनंदा इसके लिए भी इन्कार करती है और बिन ब्याहै ही सुहैल की सतमासी बच्ची की माँ बनती है। सुनंदा ने 'मे एण्ड बेकर' कंपनी में, जहाँ वह काम करती है, वहाँ जचकी की छुट्टी के लिए आवेदन किया था पर कंपनी ने सुनंदा को नोटिस जारी किया कि अगर वह ब्याह का प्रमाण पत्र प्रस्तुत नहीं करेगी कंपनी में तो न तो उसकी जचकी छुट्टियाँ कानूनन मंजूर होगी न छुट्टियों की तनख्वाह मिलेगी। ब्याहता स्त्रियाँ ही जचकी के फायदे की कानून अधिकारणी है। इसके खिलाफ सुनंदा कामगार आघाड़ी के जरिये अपने अधिकार के लिए कंपनी प्रबंधन के साथ संघर्ष करती है। उसका कहना है कि :

> सुविधा का प्रावधान गर्भवती स्त्री और बच्चे को लेकर है, न कि कुँवारी माँ के विशेषणों के लिए कुँवारी माँ ? क्या ब्याहता माँ के ही समान जचकी के घोर कष्टों से होकर

नहीं गुजरती? उसे आराम की जरूरत नहीं होती ? माँ बनना किसी के निजी मामले की बजाय कंपनी का मामला कैसे हो गया ?..... फिर मैं आत्मनिर्भर हूँ। अपनी बच्ची की परवरिश स्वयं कर सकने में समर्थ। मेरा मातृत्व ब्याह के बटुच्चे प्रमाण पत्र को मोहताज नहीं।(112)

डॉ. संदीप रणभिरकर *पंचशीलः शोध समीक्षा* में लिखते है "स्त्री विमर्श स्त्री के स्वयं की स्थिति के बारे में सोचने और निर्णय करने का विमर्श है। सदियों से होते आए शोषण और दमन के प्रति स्त्री चेतन में ही स्त्री को अन्यास का विरोधी बनाया है।"(87)

एक जमीन अपनी की अंकिता भी ऐसी ही संघर्षशील लड़की है। घर वालों के विरोध के बावजूद उसने सुधांशु से विवाह किया है। उसने जब देखा कि सुंधाशु को पत्नी के रूप में एक स्त्री ही नहीं केवल नौकरानी चाहिए। जो बस उसी के लिए जीती रहे और अपने में घुटती रहे, तो वह उसे त्यागकर विज्ञापन एंजेंसी में नौकरी करने लगती है। नौकरी करते समय भी उसे मि० मैथ्यू जैसा बोस मिलता है, जो अपने किसी खाते के लिए अपने स्त्री मातहत हो खातेदार के सम्मुख अपनी वासना की तृप्ति के लिए परोसनें से नहीं हिचकता। इन्कार में अंकिता की नौकरी चली जाती है, पर वह हिम्मत न हारकर दूसरी नौकरी प्राप्त करती है और मालिक के वेश में छिपे इन देह के व्यापारियों को मुहतोड़ जवाब देती है। इतना ही नहीं अपने चरित्र पर लांछन लगते देख मि० भोजराज को त्यागपत्र भी देने का साहस दिखाती है। विज्ञापन की ग्लैमर वाली दुनिया में आने के लिए जहाँ लड़कियाँ कोई भी शर्त स्वीकार कर सकती है, वहां अंकिता जैसा संघर्षशील युवती किसी की ऊँगली के उठने पर त्याग पत्र देने के लिए सिद्ध हो जाती है। गाँव में माँ के मरने पर भाई–भौजाइयों में बँटवारे को लेकर चल रही कीचड़–उछाली को देखकर माँ द्वारा दी गयी संपत्ति में भी मुँह मोह लेती है। चित्रा मुदगल के उपन्यास साहित्य में अंकिता सबसे अधिक संघर्षशील लड़की के रूप में चित्रित हुई है जो अपने अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। उसके सामने *आवाँ* की नमिता परिस्थिति की उपज लगती है।

अन्याय के विरूद्ध विरोध का प्रश्न प्रस्तुत करते हुए नायिका के मुँह से कहलाया है क्यों नही मैं लाँदे हुए बंधन तोड़ती हूँ ? सच कहती हूँ कि अपने को तिलमिल व मारने वाली मैं, क्यों डरती हूँ कि यदि मैं प्रति द्रोह करूँगी या उससे अलग हो जाऊँगी तो मेरे चारों और 'छिनाल' शब्द का भयंकर शोर मच जाएगा ? मेरे स्त्रीत्व पर कीचड़ के छींटे पड़ने लगेगे। पत्नी सदा सहन करती है कि घर का नंगापन बाहर जाये। पर आप तो अन्याय पर अन्याय कर रहे है। सुनिये, में तीन दिनों की मोहलत देती हूँ फिर मैं अदालत के दरवाजे खटखटाऊँगी। इस

नारी पात्र में भी अन्याय के खिलाफ खुलकर चुनौती दी है। फिरोजपुरी अपनी पुस्तक *मोम के रिश्ते* में लिखते है :

> मेरे ऊपर लगाया आरोप बेबुनियाद है जज साहब। मैं पैसा शोमन की कमाई का नहीं लुटाती। मैं तो अपनी तनख्वाह में से बेसहारा माँ–काप की मदद करके अपना फर्ज अदा करती हूँ। जिस माँ–बाप ने पाल–पोसकर मुझे बड़ा किया, पढ़ा–लिखाकर नौकरी लगवाई। आज वे बूढ़े और लाचार हैं। उनकी मेरे सिवा कोई और संतान नही ंतो क्या मैं भी अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो जाऊँ। यदि बेटी माँ–बाप का सहारा नहीं बन सकती तो कौन देगा परिवार में कन्याओं को जन्म ? कन्या भ्रूण हत्याएँ होगी।(34)

2.3.2 देह प्रदर्शन का विरोध

वास्तव में मनुष्य के जीवन में कपड़ों का महत्त्व अपने शरीर को ढँकने के साथ–साथ अपनी सुंदरता को बढ़ाने की दृष्टि से भी है। लेकिन आज आधुनिकता के नाम पर स्त्रियों के कपड़े कम से कम होते जा रहे है। इसका परिणाम यह होता है कि लोगों में स्त्रियों के प्रति देखने का दृष्टिकोण बदल जाता है। 'स्त्री के कपड़ों के अंदर झांकने' के दूषित मनोवृत्ति इससे पनपती है। *एक जमीन अपनी* में नीता की विज्ञापन फिल्म में उसके अर्द्धनग्न दृश्य देखकर अंकिता सोचती है :

> हम किसे पहनाना चाहते हैं ये पोशाकें, फैशन और आधुनिकता की आड़ में ? इन्हीं का असर है कि पार्टियों में उसने युवतियों को बाकायदा होड़ करते पाया है। कि आज की शाम कौन कम से कम कपड़े पहनकर लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केन्द्र बनेगा। लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केन्द्र या गिद्ध दृष्टियों के बीच मांस का टुकड़ा।(86)

लेखिका व्यक्ति स्वातंत्रय की विरोधी नहीं है किन्तु उसका मानना है कि जब हम समाज में होते हैं तब कुछ संकेतों का पालन हमें करना चाहिए। क्योंकि वह कोई कार्य निजी नहीं होता जो सार्वजनिक हित–अहित को प्रभावित करता है। प्रतिक्रिया प्रकट करने का उसे पूरा अधिकार है .... और करना चाहिए ... अपने कमरे के भीतर आप नंगे रहिए, कौन झाँकने, ताकने जाता है, किसे आपत्ति हो सकती है? मगर घर से बाहर आप मात्र एक व्यक्ति नहीं होते समाज होते है . ... लेकिन नीता जैसी कुछ स्त्रियाँ आधुनिकता के नाम पर अपनी देह–प्रदर्शन का लाभ उठाकर रातों–रात सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ना चाहती हैं और इसके लिए इन्हें किसी प्रकार का अपराध बोध नहीं है। उल्टा वे इसका विरोध करने वालों को दकियानूसी करार देती हैं। अपने देह प्रदर्शन पर नाराज अंकिता से नीता कहती है :

उन कपड़ों को पहनकर जब मैं किसी प्रकार संकोच और अश्लील भाव से ग्रस्त नहीं होती या मेरी तरह ही अनेक स्त्रियाँ तुम क्यों कर ऐसा कर रही हो समझ पाने में असमर्थ हूँ। दरअसल तुम उन छद्म महिला सामाजिक संगठनों जैसी दकियानूसी भावना और भावुकता से आक्रांत हो जो अपने स्वार्थ, पुराने और नेटई स्थापित करने की फिराक में बिकनी और मिड़ी से झाँकती टाँग से स्त्री की अस्मिता खतरे में पड़ता महसूस करती है।(93)

नीता की ये सारी बातें अश्लीलता के संदर्भ में पुरूष पक्षधरता की बातें है। इसमें पुरूष का ही फायदा है क्योंकि अपनी मौन तृष्टि के लिए उसे अब स्त्री को शिकार बनाने की आवश्यकता नहीं, जब नीता जैसी स्त्रियाँ खुद शिकार बनने के लिए तैयार हों। अंकिता इस तथ्य को भँली–भाँति जानती है और नीता को सचेत भी करती है कि आधुनिकता की जिस परिभाषा को तुम जी रही हो जीना चाहती हो, क्या तुमने अन्वेषित और अर्जित की है, नहीं! दरअसल वह परिभाषा–अधिकार, आधुनिकता, समता और स्वतंत्रता के नाम पर पुरूषों द्वारा ही अखबारों, पत्रिकाओं, विज्ञापनों, फिल्मों, पोस्टरों, स्लाइड्स के माध्यम से स्त्री को सौंपी जा रही है। आजकल पत्रिका में वंदना वीथिका लिखती है –

नारियों के लिए सबसे बड़ा अभिशाप उनकी अशिक्षा है और उनकी परतंत्रता का कारण उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव। आज स्थिति परिवर्तित हुई है। आज हर क्षेत्र द्वार लड़कियों के लिए खुल रहा है। वे हर जगह प्रवेश पाने लगी है – जमी से आसमां तक – पृथ्वी से चाँद तक (कल्पना चावला, सुनीता विलियम) उनकी पहुँच है।(27)

2.3.3 कामकाजी नारी का दैहिक शोषण के विरूद्ध संघर्ष

व्यवासायिक जगत में नौकरी करने वाली स्त्रियों की ओर देखने का उनके मालिकों का तरीका बहुत अजीब होता है। कई बार वे अपने मालहतों को भोग के लिए जिस्म या रखैल की तरह समझने लगते है। इससे स्त्री का व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है। परंतु चित्रा मुद्गल के उपन्यासों में ऐसी स्त्रियाँ मौजूद है जो अपने मालिकों को या उन्हें जिस्म समझने वालों को कड़ा सबक सिखाती हैं।

'आब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग' में काम करने वाली महिलाओं को उनका बॉस मैथ्यू अपने ग्राहक को सौंपने से नहीं चूकता। लेकिन अंकिता नागिन की तरह फुफराकर उसे अपनी जगह बता देती है। लीली प्रेशर कुकर वाले मि० सक्सेना का मैथ्यू की कंपनी में बड़ा खाता था। एक पार्टी में सक्सेना ने अंकिता से अशिष्टता की थी। भरी पार्टी में अंकिता ने उसका हाथ झटककर उसे अपमानित किया था।

इस उपन्यास में स्त्री से संबंधित बातों को चटपटा बनाकर मजाक के रूप में उसका आसुरी आनन्द लेने वाले तिलक जैसी प्रकृति वाले पात्रों को भी लेखिका ने आड़े हाथों लिया है।

डॉ० रामदरश मिश्र *हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा* में लिखते है कि "उपन्यास जीवन के हर गली–कूचे में घूम सकता है, आवश्यतानुसार हर छोटी बड़ी चीज का चित्र अंकित कर सकता है अर्थात् उसका मूल उद्देश्य होता है यथार्थ का विश्वास दिलाते हुए आगे चलना।"(13) सुप्रिया पाठक *रंगमंच एवं स्त्री* के शब्दो में :

> सार्वजनिक स्पेस में स्त्री की आमद भारतीय समाज में एक सामान्तर प्रक्रिया रही है जिसके लिए सारी लड़ाइयाँ स्त्रियों ने खुद लड़ी है, बेशक कुछ सहदृया और सुविवेकी पुरूषों का सहयोग भी उन्हें अपनी जगह बनाने में मिलता रहा।(7)

रामविलास शर्मा *प्रेमचन्द और उनका युग* के अनुसार :

> पारिवारिक झगड़ों का मूल कारण आर्थिक–जीवन की कमी जब तक पुरूषों द्वारा एक कमाना, दस लगाना की नीति बंद नहीं होती तब औरत को घर चलाने के लिए बाहर निकलना पड़ेगा घर का बोझ उसकी परिश्रम की कीमत से अधिक होने पर उसे गलत बनना पड़ेगा और गलत बनना स्त्री की जरूरत नहीं मजबूरी है। तो समाज में एक बुरी औरत कहलाती है न कि अपने–आपको वेदी पर रख के घर चलाने वाली।(91)

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास *चाक* में भी इसी तरह की समस्या का चित्रण किया गया है पर दादी क्या करे ? उनका मानना है कि जो माता बेटी जनती है, उसकी साँसे मरते दम तक काँटों में उलझी रहती हैं। आत्मा शूलों से बिंधी घिसटती रहती है जिंदगी सूली पर टँगी रहती है। लोकाचार और जगत व्यवहार में आनेवाली परम्पराएँ सारे अपयश की गठरी बेटी के सिर धरकर न जाने उसे कब संगीन से संगीन सजा देने की हिमायती हो उठें ? दादी के आखरों का सार यही हैं – "बेटी खेरापातिन इस व्यथा को गीत की लम में ढ़ालने से पहले काँपती आवाज में यह सवाल जरूर पूछती है – घर की आबरू धिय–बेटी की देह में धजा की तरह नहीं गड़ी रहती भला ?"(208)

2.3.4 नारी का सुविधाओं के लिए संघर्ष

आधुनिक युग में नारी ने घर ही दहलीज लाँघकर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। अर्थ प्राप्ति के लिए व्यावसायिक जीवन में प्रवेश किया। परंतु वहाँ भी उसे तरह–तरह की सुविधाओं का सामना करना पड़ता है। एक ओर से अपनी शारीरिक प्रकृति–परेशानियों से

उलझना पड़ता है। दूसरी अपने मालिकों से। मालिको का रवैया तो हमेशा शोषण का रहता है। सरकार इस शोषण को रोकने के लिए कुछ प्रयास करती है। परन्तु नौकरी देने वाली संस्थाएँ उनमें से भी कुछ सुराख ढूँढ़ निकालती है और अपने मतदतों का शोषण करने का प्रयास करती है। परन्तु आधुनिक इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में ऐसी स्त्रियाँ मौजूद है जो इस शोषण के विरोध में संघर्ष करती है। चित्रा मुदगल के उपन्यास *एक जमीन अपनी* की :

> सुनंदा को सुहैल से प्रेम हो गया और वह बिन ब्याहे ही उसकी सतमासी बच्ची की माँ बन गई। सुनंदा ने जहाँ वह जिस कंपनी में नौकरी करती है। वहाँ जचकी छुट्टी के लिए आवेदन दिया था पर कंपनी ने सुनंदा को नोटिस जारी किया कि अगर आप ब्याह का प्रमाण पत्र प्रस्तुत नहीं करेंगी तो कंपनी में न तो उसकी जचकी की छृट्टियाँ कूानन मंजूर होंगी न छुट्टियों की तनख्वाह मिलेगी। ब्याहता स्त्रियाँ ही जचकी के फायदे की कानून अधिकारिणी है। इसके खिलाफ सुनंदा कामगार आघाड़ी के जरिये अपने अधिकार के लिए कंपनी प्रबंधन के साथ संघर्ष करती है। उसका कहना है कि सुविधा का प्रावधान गर्भवती स्त्री और बच्चे को लेकर है न कि कुँवारी माँ के विशेषणों के लिए कुँवारी माँ बनना किसी के निजी मामले की बजाय कंपनी का मामला कैसे हो गया ? .. ... फिर मैं आत्मनिर्भर हूँ। अपनी बच्ची की परवरिश स्वयं कर सकने में समर्थ। मेरा मातृत्व ब्याह के टुच्चे प्रमाण पत्र का मोहताज नहीं है। जहाँ नारी को समाज में दर–दर की ठोकरे खाने के लिए मजबूर होना पड़ता हैं।(196)

आजकल पत्रिका में रघुवीर सहाय नारी के संघर्ष पर लिखते है

नारी बेचारी है

पुरूष की मारी

तन से क्षुद्रित

लपक कर झपक कर

अंत में चित है।(24)

2.4 दहेज की समस्या

सृष्टि योजना में नारी का स्थान पुरूष की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। इसी कारण वह जगत की पूज्यनीय है। पुरूष प्रधान समाज में नारी अपनी सुरक्षा नहीं कर पा रही है। पुरूष का सच्चा प्रेम उसे नहीं मिल पा रहा, पुरूषों की उद्धत काम–वासना का शिकार होकर

नारी पतितावस्था को पहुँच रही है। परिस्थितियों के बहाव में नारी अनेक पुरूषों के संपर्क में आ रही है और वह अपने स्त्रीत्व की रक्षा नहीं कर पा रही है। आफताब फाजिल अपनी पुस्तक *दहेज समस्या और समाधान* में कहते है –

> प्रताड़ना से लेकर दहेज हत्या तक होते हुए से बीमारी आत्महत्या तक विशाल रूप में फैल चुकी हैं। मंहगाई के इस दौर में बाप की कम कमाई के कारण दहेज के लिए पर्याप्त इंतजाम न होने के कारण लड़कियों की उम्र बढ़ती जाती है। अधिक आयु में शादी होने का प्रभाव समाज पर पड़ता है और अगर अधिक आयु में भी शादी न हो सके तो कई बार देखने को मिला है कि लड़की के बाप ने समस्त परिवार के साथ आत्महत्या कर ली।(11)

भारतीय समाज में बेटी के जन्म लेते ही माँ–बाप चिंताग्रस्त हो जाते है। क्योंकि विवाह के समय वर पक्ष को गरीब माँ–बाप दहेज देने में असमर्थ होते हैं। दहेज प्रथा भारतीय जीवन का वह अभिशाप हैं जो मध्यवर्गीय परिवार की सारी सुख शांति समाप्त करती है। दहेज न दे सकने की विवशता अनमेल विवाहों का सूत्रपात करती है और फिर त्रासदी की एक लंबी परंपरा आरंभ हो जाती है।

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में भी ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों द्वारा दहेज प्रथा का चित्रण प्रस्तुत किया गया है जैसे मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में कस्तूरी की विधवा माँ तथा भाई गरीबी के कारण दहेज देने में असमर्थ रहे। इसलिए कस्तूरी को 800 रूपये में हीरामन नाम के नाकारा, अय्याश व्यक्ति के हाथों बेच दिया गया। ससुराल में कस्तूरी की कीमत 800 रू0 में खरीदी हुई चीज से ज्यादा कुछ नहीं रही। मुँह दिखाई की रस्म कस्तूरी को पसंद नहीं है। इसलिए वह अपने चेहरे की नुमाइश करने को तैयार नहीं थी। *कस्तूरी कुण्डल बसै* उपन्यास में मुँह दिखाई करने वाली औरतों में से एक बूढ़ी ने सुना दिया :

> ओ, आठ सौ की घोड़ी, तू मुँह नहीं दिखाती, तेरी यह मजाल ! हम तो सोच रहे थे नई छोकरी की तरह शरमा रही है, पर तू तो जोर आजमा रही है। तेरे भइया ने खनखनाते चाँदी के कलदार वसूले है, मुफ्त में नहीं आई सो नखरे पसार रही है।(125)

वधू मूल्य देकर, बहू के रूप में सुसराल वालों को कए खरीदी हुई दासी मिल जाती है, जिसके लिए उसे सदा ताने ही सुनने पड़ते हैं। लड़कियों का ब्याह के नाम पर वस्तु जैसा क्रय–विक्रय करने का घटिया काम किया जाता है। इसी उपन्यास में विधवा विद्या बीबी भी पति के मृत्युपरांत चार बच्चों का पालन–पोषण बड़े कठिनाई से करती है। बेटियों के विवाह के दहेज न दे सकने के कारण तीनों बेटियों का बूढ़े वर के साथ अनमेल विवाह कर वह

चिंतामुक्त हो जाती है परंतु बेटियों की चिंता वही से प्रारंभ हो जाती है। उम्र के लिहाज से कुछ समय उपरांत ही उनके पती बुढ़ापे के पढ़ाव में आ जाएंगे बच्चे पैदा होगे और वहीं दोबारा बेटियां अपनी विधवा माँ की कहानी को दोबारा दोहराएंगी, यही पीढ़ी दर पीढ़ी की कहानी इतिहास दोहराती रहेगी। स्वयं लेखिका को भी इस समस्या से जूझना पड़ा। माँ के आदर्शों के सिद्धांतों तथा विवाह में दहेज न देने की माँ की जिद के कारण मैत्रेयी अपने पसंद के लड़के के साथ विवाह नहीं कर पाई। अडू के नगलावाले पाठकजी का इंजीनियर लड़का मैत्रेयी को जीवन साथी के रूप में बहुत पसंद था। परन्तु माँ दहेज के बदले खेती का हक पाठक जी को नही दे सकती थी, क्योंकि जीवन निर्वाह का एकमात्र साधन खेती थी। दहेज के कारण स्त्रियों का वैवाहिक जीवन दुःखों के घोर अँधियारों से घिर जाता है।

दहेज प्रथा का एक ओर नया रूप भगवान दास मोरवाल ने अपने ग्रामीण उपन्यासों *काला पहाड़, बाबल तेरे देश में, सुर बंजारन, रेत* आदि में किया। जहाँ इन उपन्यासों की पृष्ठभूमि मेवात क्षेत्र का पिछड़ापन है। जहाँ दहेज देने और आर्थिक स्थिति में पूर्ण असफल होने के कारण यहाँ के पारिवारिक लोगों द्वारा अपनी बेटियों को इसी तरह बेटी को अनमेल पुरूष से शादी करवाई जाती है और बदले में वर पक्ष वाले कुछ रूपये लड़की वालों को दे देते है। जहाँ लड़की एक तरफ से कभी भी अपने घर वापिस नहीं आती है। जो पैसे देकर बहु लेकर जाते है एक तरह से उनका अधिकार बेटी पर उसके परिजनों से ज्यादा हो जाता है। कालिदास ने *अभिज्ञान शाकुन्तलम* में कन्या को पराई वस्तु कहा है :

> कन्या वस्तुतः वह धरोहर है, जिसे पिता पाणिग्रहण करके सौंप देता है। जिस प्रकार बैंक अपने पास जमा की गई धरोहर राशि को ब्याज सहित चुकाता है उसी प्रकार पिता भी धरोहर (दू कन्या) को सूद दहेज सहित लौटाता है।(19) इस प्रकार दहेज में कुछ आर्थिक कर्त्तव्य की भावना भी निहित है।

हमारे यहाँ विवाह अभिभावकों द्वारा तय किये जाते है तथा उसे ग्रामीण समाज में कभी न टूटने वाला धार्मिक संस्कार माना जाता है। अभिभावकों द्वारा आयोजित विवाह में किसी समय कुछ वैवाहिक रीतियाँ भी प्रचलित थी और उनका दुष्परिणाम भी प्रायः नारियों को ही भुगतना पड़ता था। स्त्री कितनी भी पढ़ लिख ले परंतु विवाह का निर्णय खुद नहीं ले पाती। आज एक शिक्षित नारी भला क्या नहीं कर सकती ? परंतु वास्तव में ऐसा कोई भी नहीं सोचता। कविता यादव *दहेज प्रथा एक गंभीर समस्या* के शब्दों में "सती–प्रथा व जाति–प्रथा की तरह दहेज प्रथा भी हमारे देश–समाज की एक ज्वलंज प्रथा है। जिसके समाधान के लिए बहुत

कार्य किये जाने पर भी कुछ नहीं हुआ। ढ़ाक के तीन पात के समान सारे समाधान के प्रयास ज्यों के त्यों रह गए।"(2)

2.5 वर्ग–संघर्ष की समस्या

प्राचीन काल से उच्च वर्ग के भूमिधरों, सामंतों और पूँजीपतियों ने निम्न वर्ग के लोगों पर अत्याचार और अन्याय किये हैं। निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली छोटी जातियाँ सदा से ही उच्च वर्ग द्वारा शोषित एवं पद दलित होती रही है। भारतीय समाज में प्रचलित जात–पात की अनिष्ट प्रथा को रोकने के लिए गाँधी जी, ज्योतिबा बाई फुले, भीमराव अम्बेडकर आदि समाज सुधारकों ने प्रयत्न किये। आजादी मिलने पर सरकार ने जात–पात के खिलाफ कानून बनाये और उसे मिटाने की कोशिश की है। इतना कुछ करने पर भी ग्रामों में ऊँची जाति के लोग निम्न जाति के लोगों को अछूत और हीन समझते है उनके स्पर्श को भी अपवित्र माना जाता है। सविता सिहँ स्त्रीवादी महिला लेखिका है – वह अपनी एक कविता *मैं किसकी औरत हूँ* में लिखती है :

मैं किसकी औरत हूँ

कौन है मेरा परमेश्वर

किसके पाँव दबाती हूँ

किसका दिया खाती हूँ

किसकी मार सहती हूँ ...(1)

कस्तूरी कुण्डल बसै उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने इस समस्या का यथार्थ वर्णन किया है उपन्यास का पात्र एदल्ला चमार जाति का होने के कारण उच्च वर्ग उस पर भयंकर अत्याचार करते है। एदल्ला चमार को प्यास लगने पर पानी पीने के लिए मना करते है। एकदम लाल होने तक उसका कान उमेंठना, सिर में धूल डालना, जोरों से बाल खींचना आदि अनेक जुल्म उस पर करते हैं। सारे बच्चे एदल्ला के ऊपर अपने–अपने बस्ते लाद देते है, बोझ से एदल्ला की गर्दन लचकने लगी। वह ज्यादा बोझ के कारण चल नहीं पाया तो एक बच्चे ने फराश की संटी तोड़ी और एदल्ला की टांगों में मारने लगा तो एदल्ला लड़खड़ाकर गिर पड़ा। सारे बस्ते बिखर गये। बस्तो में से रोटियाँ और पराँठों की पोटलिया गिर गई। सारा खाना फैल गया। एदल्ला के घूटने फूट गए, पर वह बिखरे खाने को बटौरने दौड़ पड़ा। रोटियों की धूल झाड़ने लगा। तभी धनश्याम जाट के लड़के न उसकी कमर में लात मारी और कहा, "साले ठेठ, यह क्या किया ? परॉठे, रोटी हम उठा लेते। हमारा खाना छूकर धरम बिगाड़ दिया। अब हम सारे

दिन भूखे रहेंगे।"(40) निर्दोष के साथ मार–पीट, गाली–गलौच करके अँगोछे से ही उसके हाथ पाँव बांधकर खेत में लुढ़का दिया। इस अमानुष सजा को देखकर दिल करूणा से भर उठता है। गाँव में जाति को अत्यंत महत्व दिया जाता है। ऊँच–नीच, श्रेष्ठ–कनिष्ठ के स्तर पर भेदभाव किया जाता है, छुआछूत को उच्च वर्ग अपने जीवन में बहुत महत्वपूर्ण मानता है।

मैत्रेयी पुष्पा के घटना के अनुसार कस्तूरी ने अपनी बेटी मैत्रेयी के विवाह के समय गाँव की सार्थकन (भिश्तिन) के हाथों बर्तन मंजवा लिए तो गाँव की स्त्रियों ने तूफान खड़ा कर दिया। क्योंकि ब्राह्मण साक्किनियाँ से श्रेष्ठ जाती के है, उसके हाथों घिसे हुए बर्तन में खाने ब्राह्मणों को पाप लगेगा, उनका धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। ऐसा वे मानती है, "सक्किनियाँ, ब्राह्मणों को अपने माँजे धोए में खवावेंगी? दारी तू जैन्तम में जाएंगी। समझे रहियो, फिर कितनी ही हूं निवाज दुआ पढ़ियो, सब अकारथ हो जाएंगी।"(298) गाँव की सुहागिन स्त्रियाँ कस्तूरी को बहुत लताड़ती है, भाई समझाता है परंतु वह कब अपने सिद्धांतों को छोड़ सकती है ? अंत में भाई ने विवाह को अधूरा छोड़कर जाने की धमकी दी, गाँव की स्त्रियों ने कस्तूरी को बहिष्कृत कर दिया तब कस्तूरी को अपनी आत्मा की आवाज को कुचलकर अपने सारे सिद्धांतों को ताक पर रखने को विवश होना पड़ा।

2.6 इक्कीसवीं सदी के ग्राम्य हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग का सामाजिक पक्ष

वैदिक काल से चली आ रही भारत के सामाजिक जीवन की सबसे पुरानी संस्था 'वर्ण व्यवस्था' है। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म की आत्मा है। इस व्यवस्था के मूल की जाँच पड़ताल की जाए तो इसका मूल वेद, भगवद्गीता, शल्पथ ब्राह्मण, पुराणों और मनुस्मृति आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों में मिलता है। देश में अनेक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तन हुए हैं। नये–नये राज्य बने और बिगड़ते रहे। इसके फलस्वरूप नये–नये धर्मों की उन्नति और अवनति होती रही, परंतु वर्ण व्यवस्था का लोप न हो सका। यह आज भी अपने नये रूप के साथ विद्यमान है। प्राचीन काल में हिन्दू समाज चार वर्णों में विभाजित था।

प्रो० चमन लाल *दलित साहित्य एक मूल्यांकन* में लिखते है, "सर्वाधिक उत्पीड़ित व उपेक्षित दलितों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को समाजशास्त्रीय दृष्टि, संवेदना, भारतीय समाज की जटिलता भी उभर कर सामने आती है और साथ ही दलितों के जीवन संघर्षों, जीवन की मार्मिक पीड़ा का अंकन कलम से होता चलता है।"(17)

भारतीय समाज में दलित वर्ग सदियों से शोषित, पीड़ित और उपेक्षित बनकर हाशिये पर पड़े रहे। शिक्षा, ज्ञान सुविधा और सम्मान से वंचित इन वर्गों को मुख्य धारा से जोड़ने के लिए आजादी के दिनों से अब तक अनेक प्रयत्न किये गये किन्तु वर्ण, वर्ग, लिंग भेद के विरूद्ध

समता, सम्मान और सामाजिक न्याय की संवैधानिक अवधारणा के बावजूद इनकी स्थिति में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। फिर भी, इनमें से कुछ एक पीढ़ियाँ शिक्षित होकर अपनी अस्मिता, अधिकार पहचान के लिए जीवन के हर क्षेत्र में संघर्षशील दिखाई पड़ती है।

डा० अम्बेडकर ने यहाँ के समाज को देखा उसमें स्थिति दलित समाज की पतनावस्था को देखा, उनका खून उबलने लगा था। क्योंकि इस घिनौनी प्रथा का शिकार उन्हें ही होना पड़ा था। उन्होंने रस वर्ण–व्यवस्था का गहन अध्ययन किया और उसमें परिवर्तन करने हेतु अनेक वर्ष राह देखी। किन्तु जब इस व्यवस्था में परिवर्तन की कुछ गुजांइश नहीं दिखी तो अपने आपको और लाखों दलितों को धर्म परिवर्तन कर इस व्यवस्था से मुक्ति दिलवाई। दलितों के लिए रात–दिन संघर्ष कर उन्हें मनुष्यत्व दिलाया। उन्हें पूरे अधिकार दिलवाए। इससे दलित समाज आज भाग रहा है।

डॉ० अम्बेडकर की जो 'समता' पर आधारित विचारधारा थी उसने ही बाद में 'दलित साहित्य' के रूप में जन्म लिया। दलित साहित्य की शुरूआत पहले मराठी, बाद में हिंदी में हुई। दलित साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत, अर्थात् अम्बेडकर वाद का केन्द्र बिन्दु सामान्य मनुष्य है। जो शोषित, पीड़ित, दलित है। जिसका सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक शोषण किया गया है। मार्क्सवाद का महत्व कैसे बढ़ेगा ? इसका विचार किया जाता है। मनुष्य को शोषण से मुक्त कराना ही उसका उद्देश्य है। दलित साहित्य 'मानव मुक्ति' का पुरस्कार करता है। एक तरफ भाग्य भगवान पूर्व जन्म, स्वर्ग–नरक, धर्मशास्त्र और कर्मकाण्ड का विरोध करता है तो दूसरी तरफ समता, स्वतंत्रता, बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहता है।

2.6.1 दलित समस्याएँ

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में दलित, निम्न, मध्यवर्गीय समाज का चित्रण किया गया है। अजय नावरिया का उपन्यास *ऊधर के लोग* रूपनारायण सोनकर का उपन्यास *सुअरदान* और संजीव का उपन्यास *फाँस* आदि उपन्यासों में ग्राम्य जीवन की भोली–भाँली ग्रामीण जनता में साहूकारों, जमींदारों, पूँजीपति कुल द्वारा जा रहे दलित जाति पर शोषण, अत्याचार आदि वर्तमान समस्या का चित्रण किया गया है। 'प्रेमचंद के पोते' आलोक राय *ग्रामीण जीवन को अपनी लेखनी में उकेरा था प्रेमचंद ने* बताया कि :

> समाज में वही पीड़ादायी परिस्थितियाँ आज भी हैं लेकिन आज के रचनाकार कुछ नयापन चाहते हैं। यथार्थ को कहने का तरीका व्यक्तिवादी अधिक हो गया है। राय ने कहा कि हर कालखंड में प्रवृत्तियाँ हावी होती है। नये रचनाकारों में व्यक्तिवादी नजरिया जादुई आकर्षण कम होने का कारण हो सकता है।(2)

वर्तमान युग में ग्रामीण परिवेश में वर्ग व जाति की समस्या वैसी ही है नगरों, महानगरों में सामान्यत वर्ग, जाति का भेदभाव शिक्षित वर्ग होने के कारण कुछ हद तक कम दिखाई देता है। ऐसा नहीं है कि बिल्कुल नहीं है शहरों के बाहर बनी झूग्गी झोपड़ियाँ बेरोजगारी की मार झेलने वाले गाँवों से आए दलित वर्गों का पिछड़ेपन का रूप उजागर करती है। वही इसके विरोध व प्रतिरोध में अस्मिता विमर्श भी सामानांतर रूप से चल रहा है। वैसे अस्मिता शब्द वस्तुतः दर्शन व गणित से संबधित है। जर्मनी के प्रसिद्ध गणितज्ञ ली बीनत्ज ने पुस्तक *टेस्ट ऑफ फीमेल अडेन्टी* में लिखा है कि "प्रत्येक वस्तु का अपने साथ या अन्य वस्तुओं के साथ समानता का सबंध नहीं होता। सभी व्यक्ति समान, शारीरिक सरंचना से निर्मित होने पर भी पृथक–पृथक संबंध रखते है और वही उनकी पहचान या अस्मिता होती है।"(2)

डा० अम्बिका प्रसाद *हिन्दी साहित्य में किसान : सपने और चुनौतियाँ* में लिखती है :

> ऐसे भीषण समय में प्रेमचंद आज भी हमारे लिए प्रासंगिक और समकालीन है क्योंकि न किसानों और जमीन की समस्या हल हुई है न भूमिगत मजदूरों को श्रम शोषण से मुक्ति मिली है, बल्कि उसमें स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों और अल्पसंख्यकों के नये आयाम ओर जुड़ गए है।"(13)

भारत में स्वतंत्रता के बाद में अस्मिता का प्रश्न मात्र विचार धारा के रूप में नहीं अपितु आंदोलन के रूप में सामने आया है। दलित, आदिवासी, स्त्री, अल्पसंख्यक आदि सभी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहे हैं। इस स्तर पर आगे देखा जाए तो दलित समस्या, दलित साहित्य भी, दलित अस्मिता की सशक्त अभिव्यक्ति कर रहा है। खासकर इक्कीसवीं सदी के कथा साहित्य और उसमें भी उपन्यासों में दलित समाज और उनकी अस्मिता व्यापक व प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुई है। इस संदर्भ में हम इक्कीसवीं सदी के कुछ हिन्दी उपन्यासों को देख सकते है जिसमें ग्रामीण समाज में दलितों के शोषण का चित्रण किया गया है।

अजय नावरिया के उपन्यास *उधर के लोग* में राना को सफेद रंग बहुत पसंद है, जब प्रो० इस बारे में जानना चाहता है तो वह बताता है कि "शायद गरीब होने के कारण ? ..... तुम शहर में पैदा हुए हो न इसलिए गाँव में लाठी मार कर कमर तोड़ देते हैं हाई कास्ट के लोग"।(148) वह आगे कहता है "ब्राह्मण भी तो गरीब होते है, पर सफेद कपड़े पहन सकते है। उनके पैर क्यों पूजते है लोग ? और काहे का हाईकास्ट .... जिसकी लाठी उसकी भैंस ... कल तक की बैकवर्ड कास्ट भी वही व्यवहार करती है, आज इसके साथ ..... अब जादव कम्यूनिटी भी वही कर रही है।"(149) इस तरह से उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग का शोषण कर रहे हैं और अमीर लोग गरीब लोगों की मजबूरी का फायदा उठाते हैं।

रूप नारायण सोनकर ने अपने उपन्यास *सुअरदान* में उच्च वर्ग के लोग हैं सुशील, आयशा, जयंत आदि। इन लोगों के परिवेश से पता चलता है जैसे :

> यह दोपहर का वक्त था, बिग बनाने में यह हप्पी आवर्स चल रहे है। हैप्पी आवर्स के दौरान एक बीचक मुक्त थी। व्हिस्की, वोद्का या जिन पर भी एक पैग पर एक पैग मुफ्त था कि मुझे आज भी बिल का भुगतान नहीं करने देगी, वह बिल हमेशा खुद चुकाती थी जिद करके।(49)

रूपनारायण सोनकर का उपन्यास *सुअरदान* भी इसी देश की अभिव्यक्ति है। दलित समाज के देश से जुड़े हुए दसरा उपन्यास है, इस उपन्यास में चित्रित समाज है उसके संघर्ष, प्रतिरोध और विकास का गहन रूप मिलता है। गाँव में समानता, बंधुता, एकता स्थापित करना उनका मिशन है। गाँव में दलित समाज के साथ बराबर भेदभाव करता जाता है। यह शिक्षा केन्द्र तक में फैला हुआ है, दलित महिला द्वारा बनाया गया खाना उच्च वर्ग के बच्चे नहीं खाते। स्कूलों में बच्चों को अलग–अलग बैठाया भी जाता है। चूँकि उस समय गाँव का प्रधान दलित होने के कारण इसका व्यापक स्तर पर विरोध घोषणा के तौर पर होता है कि "स्कूल का भोजन दलित महिला ही बनायेगी। उसको नहीं हटाया जायेगा, जो विरोध करेगा उस पर मुकद्मा चलाया जाएगा। जिसकी कोई जमानत नहीं होगी।"(143) इस तरह से गाँव का दलित प्रधान संकटा प्रसाद चिकवा गरीबों का मुक्तिदाता बनकर उभरता है। वह दलितों की राजनीतिक व शैक्षिक हिस्सेदारी पर ज्यादा जोर देता है। वह यह मानकर चलता है कि बिना संघर्ष के कुछ होने वाला नहीं है।

सुअरदान उपन्यास में गाँव के प्रधान और खल पात्र सत्यनारायण त्रिपाठी का भी हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। गरीबी के संकट में पड़ जाने के कारण उसके चेहरे की प्लास्टिक सर्जरी करवाने की पूरी जिम्मेदारी पिगरी फार्म के मालिक उठाते है। उनकी शर्त यह थी कि, आप दलित, पिछड़ी, अल्पसंख्यकों और गरीब सवर्णों के औरतों पर अत्याचार नहीं करेंगे, मानवता के प्रति जिन भी महापुरूषों ने कार्य किए है, उनको अपमानित नहीं करेंगे। इस तरह से इस उपन्यास में समाज का चित्रण उसके अपने अंतविरोधियों के दायरे में किया गया है। इससे भी आगे यह उपन्यास सवर्ण समाज की मिथकीय अवधारना 'गोदान' को खंडित करते हुए समाज के सामने नयी अवधारणा 'सुअरदान' को रखता है। कंवल भारती *दलित साहित्य : 21वीं सदी* में लिखते है :

> हिन्दू समाज में गौर से जितनी धारणाएँ जुड़ी हुई है, सब मिथक है, गोदान के लिए सुअरदान की कल्पना भी सोचकर की अपनी कल्पना है और बड़ी मौलिक कल्पना है।

यदि गोदान एक मिथक है तो सुअरदान भी एक मिथक है। लोहा लोहे को काटता है, इस ख्याल के साथ सोमकर ने सुअरदान का मिथक गढ़ा लेकिन सोमकर ने इसे सिर्फ मिथक नहीं रहने दिया, बल्कि उसे हकीकत में भी मूर्त रूप दे दिया है।"(30)

इस उपन्यास से सोनकर यही साबित करते हैं कि जब तक इस देश में शिक्षित लोग नहीं होगे तब तक असमानता रूढ़िगत मान्यताओं को दूर करके एक नये समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता है।

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में दलित पर ब्राह्मणवाद के प्रभाव क्षेत्र से परिचित करवाया। आज विचारणीय बात है कि अब आज का ब्राह्मण आजादी से पूर्व दलितवादी छुआछूत के सोच वाला ब्राह्मण नहीं रहा। अब उसके व्यवहार व चिंतन में बदलाव आया है। जिस तरह कोई किसी विद्या में मास्टर हो जाता है वह समाज को उसकी जानकारी देने लगता है। इसी तरह पंडित भी अपनी रोजी–रोटी के लिए परंपरागत संस्कृति के माध्यम से कार्य कर रहा है। वह दलितों पर अपना कोई शिंकजा नहीं कस रहा।

दूसरी ओर आज दलित भी बेचारा गरीब दलित नहीं रहा। वह भी देश की आर्थिक संपन्नता का लाभ उठा रहा है। उसके पढ़ा–लिखा होने से तथा आरक्षण के सहयोग से नौकरी प्राप्त कर वह भी संपन्न होने लगा है। वह भी जानता है कि आर्थिक संपन्नता से अब सवर्ण व दलितों के बीच की दूरियां कम होने लगी है।

2.6.1.1 छुआछुत की समस्या

भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था तथा जातीय व्यवस्था का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। आज आधुनिक काल में भी गाँव में छुआछूत, ऊँच–नीच की भावना बड़े पैमाने पर व्याप्त है। वर्ण व्यवस्था के कारण दलितों की बस्ती गाँव के बाहर रहती थी। उनका स्पर्श तथा उनका साया भी छूने से ब्राह्मण वर्ग अपवित्र हो जाता है। वे शुद्ध होने के लिए अनेक मार्गों को अपनाते हैं। जैसे स्नान, पूजा–पाठ, जाप–ताप, यज्ञ, हवन आदि। डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव *21 वीं सदी की दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक* पुस्तक में लिखते है :

राष्ट्रीय आन्दोलन की स्मृतियों, परम्परा की रूढ़ियाँ और क्रान्तिकारी विरासतें, विचारधाराओं के ठहराव और अंतर्विरोध, सामंती समाज का संरक्षण और विनाश, वर्ण और जातिपरक व्यवस्था की असंगतियाँ मुख्य सरोकार एवं चिंताएं हैं।(37)

हमारे देश में महात्मा फूले, शहू महाराज, डॉ० बाबा साहेब अम्बेडकर आदि समाज सुधारकों ने जाति–भेद मिटाने की जी–जान से कोशिश की। आजादी के बाद सरकार द्वारा भी

प्रयत्न किये गये लेकिन छुआछुत जैसी समस्याएँ आज भी मौजूद हें। दलितों के अस्पृश्य मानने से दलितों की अनेक पीढ़ियाँ पशुओं से गयी–बीती जिंदगी जीती आ रही है। मुझे यहाँ डॉ० महेन्द्र भटनागर अपनी पुस्तक *समस्यामूलक उपन्यासकार – प्रेमचन्द* के विचार योग्य लगते हैं :

> छुआछुत हिन्दू समाज की एक भयंकर सामाजिक बीमारी है। धार्मिक अंधविश्वासों द्वारा पोषित छुआछूत की भावनाएँ हिन्दू समाज के अधिकांश जनों में व्याप्त है। ये लोग चाहे अनपढ़, ग्रामीण, स्त्री–पुरूष हो या पढ़े लिखे नागरिक दोनों अपने इस सामाजिक कुरिति से मुक्त नहीं कर सके।(116)

इस कथन से विदित होता है कि भारतीय समाज में जब तक अंधविश्वास, अज्ञान या अशिक्षा रहेगी तब तक छुआछुत की समस्या होगी।

कथाकार संजीव के उपन्यास *सूत्रधार* में नाई जाति के दलसिंगार ठाकुर और उनका बेटा भिखारी एफौना यज्ञ में सेवा करने जाते है। इस यज्ञ में आरा, काशी, अयोध्या, पटना के पंडित सम्मिलित होते हैं। नाई अपने–अपने सेवा में लगे थे। दलसिंगार ठाकुर पुण्य कार्य मानकर पछोट खंगाल रहे थे। उसी समय भिखारी यज्ञशाला में जाता है। तब उसके गौरवर्ण सुनूर व्यक्तित्व को देखकर एक पुरोहित उसे ब्राह्मण समझकर यज्ञशाला को रंगीन अक्षत से चौक पुरने का काम देता है। भिखारी को यह काम करते देखकर एक ब्राह्मण कहता है, "आपको ब्राह्मण नहीं भेटाया जो नाई के लड़के से जगशाला भरस्ट करवा रहे है।"(22) इस कथन से विदित होता है कि ब्राह्मणवादी संस्कृति छुआछुत तथा जातिवादी की भावना को मानती है।

कथाकार संजीव का उपन्यास पात्र पंडित कहता है भिखारी ठाकुर को गौशाला में काम करते हुए देखकर पंडित कहते है, "जावो बच्चा दूसरा काम देखो एक बात सुन लो जात मत छिपाना पाप लगेगा।"(23) इससे स्पष्ट होता है कि अस्पृश्यता का प्रमुख कारण वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था तथा अंधश्रद्धा है। अंधश्रद्धा की आड़ में दलितों का धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक शोषण सवर्ण द्वारा किया जाता है। हम कह सकते हैं कि अछूत–दलितों का अधिकार सवर्ण समाज ने छीन लिया है। शहरों की तुलना में देहातों में जात–पात का ध्यान ज्यादा रखा जाता है। दलित शोषण की समस्या को प्रभावात्मक रूप से उठाया है।

2.6.1.2 जाति भेद की समस्या

भारतीय समाज में धर्म के साथ–साथ जाति और गौत्र का महत्व हजारों साल से रहा है। जिससे मुक्ति पाना असंभव है। आज भारत देश में जातीयता एवं सांम्प्रदायिकता की दुविधा

फैल रही है। आज समाज में छुआछुत, जाति–पाति कम नहीं हुई है। राष्ट्रीय भावना से प्रेरित समाज 'हम एक है' का नारा लगाता है तो दूसरी ओर अपने–अपने समाज को संगठित करता हुआ दिखाई देता है। डा० देवेश ठाकुर *मैला आँचल की प्रतिक्रिया* के विचार अनुसार :

> एक ओर राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित भारतीय समाज एक स्वर में अंग्रेजी शासन के विरूद्ध उठ खड़ा हुआ था और दूसरी ओर स्वयं नगर नहीं, ग्राम्य और आँचलिक स्तर पर ही जातिवाद का 'विष बीज' विकास पा रहा था। जिससे व्यक्ति–व्यक्ति के बीच मतभेद की खाई गहरी हो रही थी और व्यक्ति समाज जातिगत आधार पर अलग–2 समूहों में विभाजित और विच्छिन्न होकर परस्पर द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता के भाव को बढ़ाता हुआ राष्ट्रीय शक्ति एकता और उदात्त मानवीयता के आदर्शों को धूमिल कर रहा था।(68)

इससे स्पष्ट है कि जातिभेद के कारण समाज में दरारों का निर्माण हो रहा है। वीरेन्द्र यादव *बहिष्कृत होती हाशिए के समाज की चिंताएं* में लिखते है, "क्या सचमुच आज का लेखक अपनी वर्ण और वर्ग के परोपकार की भूमिका में सीमित हो गया है। दो राहे नहीं है कि लेखक कमोवेश हमेशा पढ़े–लिखे मध्य वर्ग का ही हिस्सा रहा है।"(4) समाज व्यवस्था में बदलाव लाने के लिए जाति की दरारों का समूल उच्चारण करने की आवश्यकता है। जिससे बलशाली भारत का स्वप्न वास्तव में उतर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि सवर्णों द्वारा दलितों को जीवन में घृणा और अपमान को झेलना पड़ता है। रवीन्द्र राय *मुक्ति का विमर्श* आलोचना में गोदान पर लिखते है" गोदान ग्रामीण संस्कृति के ध्वसं की कथा है तो बहुत लंबी ग्राम–संस्कृति के निर्माण की लेखक कहता है कि मुक्ति की राह बहुत लंबी है उसकी प्राप्ति के लिए लड़ना होगा संघर्ष करना होगा।"(17)

2.7 इक्कीसवीं सदी के ग्राम्य उपन्यासों में चित्रित आदिवासी वर्ग का सामाजिक पक्ष

इक्कीसवीं सदी के ग्राम्य उपन्यासों में आदिवासी समाज के जीवन में आने वाली साम्प्रदायिकता, सभ्यता, संस्कार और उनकी समस्या के बारे में चित्रण किया गया है। संजीव का उपन्यास *जंगल जहां से शुरू होता है* रणेन्द्र का *ग्लोबल गाँव के देवता* राकेश कुमार सिहँ *पठार पर कोहरा, जो इतिहास में नहीं है,* महुआ माजी *मरंग गोडा नीलकंठ* हुआ आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का एक हिस्सा आदिवासी समाज के वर्तमान समस्या का चित्रण किया गया है। रणेन्द्र, ईमाँ मुझे खेंचे हैं तो रोके मुझे कुफ्र *नया ज्ञानोदय* में प्रकाशित अपने लेख में लिखते हैं :

जादूगोड़ा हावड़ा मुम्बई रेल लाइन पर टाटा नगर रेलवे स्टेशन से 14 किलोमीटर की दूरी पर है। 'यूरेनियम कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड' यहाँ की खादानों से यूरेनियम का खनन करवा रहा है। जिसका शोधन भी जादूगोड़ा में ही होता है। प्रतिवर्ष तीन लाख टन रेडियोधर्मी कचरे की डम्पिंग भी इसी इलाके में होती है। खदान से निकलने वाला कचरा इससे दस गुणा ज्यादा यानी तीन लाख टन प्रतिवर्ष होता है।(10)

रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता* उपन्यास में भारत के नहीं, बल्कि विश्व के ग्रामीण समाज के एक हिस्से आदिवासी समाज पर होने वाले अन्याय, अत्याचार, शोषण आर्थिक मंदी का चित्रण किया गया है।

वर्तमान समय में भारत के ग्रामीण आदिवासी समुदायों के सामने एक खतरा उन्मूलन का है और दूसरा अनुकूलन का अर्थ है कि अस्तित्व को खोकर दूसरे धर्मों, सांस्कृतियों और समाजों में विलय उन्मूलन का खतरा सत्ता की ओर से है। तो अनुकूलन का धर्म की ओर से, उन्हें अपने से अलग मानने का भी है।

कथाकार रणेन्द्र के उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में प्राइवेट कंपनियाँ अपने विकास के लिए और लोभोदृश्य के लिए ही काम करने लगती है। पूँजीवादियों का लक्ष्य आर्थिक रूप से सशक्त होता है। वे कभी जनता की लड़ाई के लिए सोचते भी नहीं। उदाहरण के लिए इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :

शर्त को दरकिनार करते हुए खुले खादानों से बाक्साइट की निकासी के बाद गड्ढ़े भरने की बजाय यों ही छोड़े जा रहे हैं। लाभ का कुछ भी हिस्सा पाट के लोगों के विकास पर कंपनियाँ खर्च नहीं करती थी। न पीने के पानी व्यवस्था, न हॉस्पिटल, न मलेरिया, डायरिया की रोकथाम का कोई इंतजाम। लेबर के अलावा स्थानीय लड़कों को और किसी काबिल समझा ही नहीं गया। भले उनके पास बी.ए., आई.ए.की डिग्रीया हो।(51)

जहाँ भी प्राइवेट कम्पनियों को लाभ पहुँचने की जगह होती तो वहाँ पर वे किसी तरह अपना कदम जमाकर पूरी तरह शोषण करना चाहते हैं। कंपनियों का मुख्य उद्देश्य लाभ होने से वे जनता की भलाई, मौलिक सुविधाओं की कल्पना पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। रमेश उपाध्याय *आदिवासी संघर्ष* में लिखते हैं :

वर्तमान व्यवस्था विकास के नाम आदिवासियों की इन उन्नत, सुन्दर और टिकाऊ सभ्यता, संस्कृति को समूल नष्ट करने पर तुली है। देशी, विदेशी, कॉरपोरेट, बिल्डर,

भू–माफिया, मीडिया, खदान कम्पनियाँ और केन्द्र तथा राज्य सरकारें सभी आदिवासियों की जमीनें, जंगल और जल हड़पने, उनके पहाड़ों मे छिपी सम्पदा को लूटने तथा उन्हें मार पीटकर उजाड़ने, भगाने और दरिद्र बनाने पर तुले हुए है।(1)

कई इलाकों में ऐसा है कि कंपनी की गाड़ियाँ कच्चा माल ले जाती है। जिसके कारण जनता के लिए बनी सड़क ध्वस्त होती पर कंपनियाँ सड़क भी नहीं बनवाती। क्योंकि वे जल्द से जल्द कच्चा माल ले जाना चाहते हैं। उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है। वेदांग कपंनी की गाड़ियाँ तो बाक्साइट की खान खोदने के पश्चात् बने गड्डों को वैसे ही छोड़कर सखुआपात के लोगों के सर्वांगीण रूप से पिछड़ेपन का कारण बनती है। कंपनी बाक्साइट की खदानों में स्थानीय लोगों को नौकरी ही नहीं देती। बल्कि फैलते प्रदूषण के कारण उत्पन्न अस्वस्थता रोकने के लिए स्वास्थ्य केन्द्रों को भी नहीं खोलती। ऐसी कंपनियों का यह कार्य तो कारोबार के पीछे छिपे लाभ उद्देश्य का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

2.7.1 आदिवासियों की सांप्रदायिकता

हमारा समाज विभिन्न धर्म, जाति, समुदाय के लोगों से मिल–जुलकर बना है। इस तरह यहाँ अलग–अलग पद्धतियाँ, आचार–विचार और व्यवहार के लोग दिखाई पड़ते है। भारत में अपनी परपंरा, रीति–रिवाजों को ही नहीं विदेशी परंपरा को भी ग्रहण कर विश्व के देशों में उच्चतम स्थान बना लिया है। साहित्यकार अपनी रचनाओं में बदलती हुई परंपरा को अक्षर रूप देने में सफल हुए। लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा *भारतीय आदिवासियों की सांस्कृतिक प्रकृति में* कहते हैः

> एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का ऐसा समूह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो, समान सांस्कृतिक विरासत हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक–दूसरे के साथ ओत–प्रोत हो, जनजाति कहलाता है।(11)

हमारे देश में विभिन्न भाषाएँ एवं विभिन्न आचार–संप्रदाय के लोग रहने के कारण वे एक जगह से दूसरी जगह पर जाकर बसते है। तो वहाँ की वेश–भूषा, सम्प्रदाय से उनकी मातृ संस्कृति और सभ्यता का मिश्रण होने के कारण एक अलग संप्रदाय का ही उद्भव होता है। *जंगल जहाँ से शुरू होता है* उपन्यास में स्पष्ट रूप से यह उदाहरण दिया गया है। ये एक लंबा इतिहास है ये थारूओं के इलाके में पैरासाइट बनकर आए। यह आगमन सिपाही विद्रोह से शुरू होता है। अंग्रेजों से देशी रजवाड़ों और सिपाहियों ने लड़ाई की और जान बचाने के लिए भागे। कुछ लोग जो इधर भागकर आए उन्हें नेपाल की तराई यानी थारूओं का यह अंचल सिर छुपाने के लिए ज्यादा मालूम लगा। एक समुदाय किसी दूसरे स्थान पर जाता है तो वह अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए एकता पूर्वक काम करने लगेगा। कृष्ण चन्द्र गुप्त *बोडा*

जाति का उपन्यासिक समाजशास्त्र में व्यंग्य करते लिखते है कि समाज, सरकार "अपनी निष्ठा के बल पर इस जंगली झुंड को 'आदमी' बनाने पर तुला हुआ है।"(8) भारत में अनेक प्राचीन जातियाँ तो कभी लुप्त हो गई। क्योंकि कालांतर में आते परिवर्तनों ने बहुत सारी जातियों का जीवन परिवर्तन कर दिया है। विविध रजवाड़ों पर हुए ब्रिटिश हमलों के कारण कई लोग विविध प्रदेशों में जा बसे है। वे लोग वहाँ के लोगों से मिल–जुलकर रहने के कारण विभिन्न प्रकार के संप्रदायों का उद्‌भव होता गया। सिपाही विद्रोह के समय बच निकले सिपाहियों में अधिकांश नेपाल भाग गये। नेपाल का तराई इलाका थारूओं का क्षेत्र माना जाता है। सिपाही लोग पहले तो उनसे अच्छी तरह व्यवहार करने लगे फिर वे थारूओं पर ही विशेष अधिकार ही जमाने लगे। भारत के रेता क्षेत्र से भागे हुए सिपाही नेपाली थारूओं से मिल–जुलकर रहे। जिस कारण एक अलग संप्रदाय का तो विकास हुआ लेकिन रेता के डाकू थारूओं पर हमेशा भारी पड़े। यहाँ नये रेताओं ने तो लूट, बलात्कार, रूपया, धन वसूली से अपना पेशा बना लिया। उन्होंने अब सेठ, साहूकारों लोगों के लिए काम करना शुरू किया। लेकिन कुछ वर्षों के बाद उन्होंने दूसरों के लिए नहीं बल्कि अपने लिए ही स्वतंत्र डकैती शुरू कर दी। विद्याभूषण *20 वी सदी के उतरार्द्ध में* लिखते है" 'कज्जा' और 'दिकू' यानी सभ्य सम्भ्रांत 'परदेसी' उनका इस्तेमाल करने वाले शोषक, उनके अपराधों से डरते हुए मगर अपराधी बनाये रखने के आग्रही।"(3)

समाज में अपनी पहचान बनाने के लिए हर एक जाति प्रयास करती है। एक जाति दूसरी जाति पर अपना अधिकार जमाने के लिए आतुर रहती है। ऐसी स्थिति में विविध जाति के बीच साम्प्रदायिक उत्पन्न होता है। जैसे कि कथाकार रणेन्द्र ने उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में बताया गया है कि "गोनू उर्फ गणेश्वर सिंह राजपूत था कि खेरवार, इस बात को लेकर भारी विवाद होता रहता। वह अपने को हमेशा राजपूत की कहता। उसने अपनी बेटियों को राजपूत घर में ब्याहा था। किन्तु बेटे–भतीजों को राजपूतों के यहाँ ब्याह नहीं हो सका।"(41) हमारा समाज जातियों पर आधारित होकर निर्मित होता है। हमारे देश की जनता भी अपनी–अपनी जातियों को ही दूसरी जातियों से श्रेष्ठ मानने लगती है। यह भी देखा जाता है कि छोटी जाति के लोग बड़ी जाति के लोगों से संबंध बनाने में दिलचस्पी दिखाते है, लेकिन बड़ी जाति के लोग ही नकारने लगता है। गोनू सिंह जाति का है इस विषय पर उसे कभी स्पष्ट रूप से नहीं कहा, क्योंकि वह धनाढ़य बनने के बाद राजपूत ही कहने लगा। क्योंकि गाँवों में मान्यता है कि आदमी बड़ी जाति का होने से उसे अधिक गौरव मिलेगा। मोनू सिंह राजपूत या खेरवाट जाति का था। यह तो विवादित विषय बन रहा है उसने तो अपनी बेटियों को राजपूत के घरों में ही विवाह संबंध बनाया। लेकिन अपने बेटों को राजपूत घरों की

लड़कियों से विवाह करवाने में असफल रहा। रमेश उपाध्याय ने *गायब होता देश* के बारे में लिखा है कि, "यह उपन्यास भूमण्डलीय यथार्थवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।"(2)

2.7.2 आदिवासी नारी की समस्या

संजीव के *जंगल जहाँ से शुरू होता है* उपन्यास में नारी वर्ग के शोषण को भी रेखांकित करे की कोशिश की गई है। उपन्यास में थारू जनजाति के लोगों का जमींदार और पुलिस अधीक्षक मिलकर शोषण करते है। डाकू इन लोगों का हथियार और सहयोग के रूप में इस्तेमाल करते हैं। उपन्यास में खोखाइन और जोगी औरतों को बेचने की दलाली करते हैं। सुखाइन जोगी को अपने घर के बंद कमरे में रखी हुई किशोरी को देखाती है। वह उसके पेट का चमड़ा दबाकर कहती है :

> हई रेख .... एकदम कागद के माफिक पतला चाम .... ये आँखे देखो नाक, कान, लिलार, गर्दन कोई दाग नहीं, एकदम निर्दोष .... दस हजार से कम के का होई है, माल लेकिन ई राँड रो–रो के जान अकच्छ कइले दिया पाँचो हजार मिल जाईतो निकाल देदूबा।(212)

कीर्ति चौधरी की *सीमा रेखा* कविता इसी तरह की है। आज की स्त्री उस लक्ष्मण रेखा को पार कर उस रावण से लोहा लेना व मुकाबला करना चाहती है। कवयित्री ने स्त्री की बन्धन मुक्ति की चाह की छटपटाहट को सशक्त रूप से रेखांकित किया है :

मृग तो नहीं था कहीं

बावले भरमते से इंगित कर चले गये।

तुम भी नहीं थे –

बस केवल यह रेखा थी।

जिस में बँध कर मैं ने दुःसह प्रतीक्षा की –

सम्भव है आओ तुम

अपने सँग अंजलि में भरने को

स्वर्ग दान लाओ ...(2)

रवि कुमार गौड *आदिवासी अस्तित्व पर मड़राता संकट* के शब्दों में "सभ्य समाज केवल अपने विकास के लिए इनका और इनके क्षेत्रों का प्रयोग करते हैं। इन आदिवासियों की उपेक्षा की

गयी है और इसी कारण उन्होंने एक ऐसा आंदोलन शुरू किया है जिससे समाज को देखने का नजरिया बदल गया है।"(3)

2.8 इक्कीसवीं सदीं के ग्रामीण हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम वर्ग का सामाजिक पक्ष

भारत एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक राज्य है। यह सभी जाति धर्मों के लोगों को एक समान रूप से देखा जाता है और सभी को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और न्यायविचार, विश्वास, उपासना, धर्म की स्वतंत्रता प्राप्त है। भारत की मुख्य विशेषता यह है कि सब मिल–जुलकर संस्कृति के विकास में सहायक होते हैं। डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव *इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक* में लिखते है, "लोकतांत्रिक ढ़ांचे का लोकविरोधी चेहरा और चरित्र, हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध, धार्मिक अतिवादों के घातक टकराव और हिंसक मुठभेड़, इस सदीं के मुख्य सरोकार एवं चिताएँ है।"(63) भारत में बहुसंख्यक जनता हिन्दुओं की है। इसके बाद मुसलमान का स्थान है। मुस्लिम लोगों के यहाँ सामाजिक जीवन धर्म के आधार पर होता है। धर्म के प्रति आस्था और उनकी वेशभूषा, आचार–विचार, संस्कृति कुछ अलग होती है। उनके जीवन में भी अंधविश्वास का प्रभाव, प्रचलित मान्यताओं का चित्रण किया गया है। ग्रामीण उपन्यासों में मुस्लिम समाज को भी आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आधार पर झूझता इक्कीसवीं सदी के ग्रामीण उपन्यासों में दिखाया गया है।

2.8.1 मुस्लिम धर्म और प्रचलित मान्यताएँ

भारत में अनेक धर्म, जाति के लोग रहते हैं। धर्म के आधार पर भगवान को मानते हैं, ये सभी अंधविश्वास है, इसका विवरण भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य *हंस विशेषांक पत्रिका* में इस तरह से दिया गया है :

> इस्लाम की ऐसी शिक्षा किसी भी मुसलमान को धर्मांध बना सकती है। लेकिन इससे यह तो पता चलता ही है कि पैंगबरों–इस्लाम को अपने समय में भौतिकवादी लोगों के तर्कों का सामना करना पड़ता था। उनके तर्क अकाट्य थे। संभवतः इसलिए उन्हें 'शैतान' की संज्ञा देकर उनसे मुसलमानों को दूर रहने की शिक्षा दी गई थी। इस्लाम का भविष्य अब चाहे जो भी हो, पर मुझे नहीं लगता कि आधुनिक शिक्षा के विकास के साथ मुसलमान हमेशा–हमेशा इस 'शैतान' से दूर रह सकेंगे।(67)

धर्म और संप्रदाय एक सिक्के के दो पहलू हैं। अगर इसको हम मान ले तो सिक्का भगवान होता है। क्योंकि धर्म–संप्रदाय किसी न किसी भगवान के नाम पर ही होता है। भगवान में विश्वास करने वाले को भी यह नहीं पता है कि भगवान कैसा है। आज तक कोई

धर्म–सम्प्रदाय के लोग भगवान को नहीं देखा है। लेकिन भगवान पर विश्वास रखते है। जिसको देखा नहीं, जिसको छुआ नही तो यह प्रतीत होता है कि वह है नहीं। जो नही है उस पर विश्वास करना अंधविश्वास ही होता है। भगवान है तो फिर भूत ही रहता है। लेकिन आज तक भूत को नहीं देखा, जिसने देखा उसने उसकी पूजा शुरू कर भगवान बना दिया। हर एक धरम के अनुसार स्वर्ग उपर एक अलग दुनिया में है। ऊपर तो चाँद सूरज और तारों तक विज्ञान घूम आया है कहीं स्वर्ग नही दिखा सिवाय आकाश गंगा, ब्राह्याण्ड के। पृथ्वी के लोग भी जाके वापस आ गये हैं। सूरज तक लैंका नामक कुत्ता भेजा गया और आसमान में कहाँ स्वर्ग है ? धर्म के नाम पर चल रहे कुछ एक संस्थाएं भगवान के नाम पर लोगों का अंधविश्वास पालकर समाज को पीछे ले जा रही है। एक घर का आजकल अपना एक देवता बन गया है। हिन्दू में भगवान का एक रूप, मुस्लिम में अल्ला का एक रूप, और रूपों को पूजते–पूजते असली भगवान को सारा जगत भूल ही गया जो सबके अंदर है सबने मार दिया है।

2.8.2 मुस्लिम धर्म में सामाजिक यथार्थ

भारतीय मुसलमानों के पिछड़ेपन के मूल में शिक्षा को माना जाता है। क्योंकि शिक्षा अन्य सभी कारणों को प्रभावित करती है जैसा कि उपन्यास *चाक* में मैत्रेयी पुष्पा ने लिखा है "शिक्षा से कुसंस्कार और अज्ञानता दूर होती है जैसे श्रीधर शिक्षा का अर्थ देते हैं मर्दों के कुसंस्कारों और अंह की अशिक्षा को मिटाना और निजी स्वार्थों से मुक्त होना है।"(245) भारतीय मुसलमान शिक्षा में देश के अन्य समूहों की अपेक्षा काफी पीछे है यह स्थापित सत्य है। इस स्थिति को मुसलमानों के पिछड़ेपन का एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया गया है। हालांकि यह भी विचारणीय है कि मुसलमानों का आर्थिक रूप से पिछड़ा होना भी अनेक शैक्षिक पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार है। यूँ शिक्षा में आगे नहीं होने के कारण वे आर्थिक व सामाजिक रूप से पीछे रह जाता है। अंबेडकर का कहना था कि इस्लाम धर्म के नाम पर जो राजनीति हो रही थी वो हिंदू धर्म के उच्च वर्गों की तरह की ही थी।

इस्लाम धर्म के अनुसार विवाह पुण्य कार्य है। अल्लाह के निगाह में औरत और मर्द के बीच कोई अंतर नहीं है दोनों समान हैं। मुस्लिम विवाह पद्धति में मेहर और मौतुक (दहेज)। इतना अल्प रखने की आज्ञा दी है। जिसका दोनों पक्ष सफलतापूर्वक पालन कर सकें। पति–पत्नी में अच्छे संबंधों पर जोर देता है। कुरान में स्थान–स्थान पर रिश्तेदारों से पड़ोसियों से सद्व्यवहार करने का आदेश दिया गया। इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद शिक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया। उनका कहना है कि तुमने अगर एक मर्द को पढ़ाया तो केवल एक को तालीन दी। लेकिन अगर एक औरत को पढ़ाया तो एक खानदान को शिक्षित किया। व्याभिचार से

बचाव, विधवाओं का उद्धार करने के लिए मुस्लिम समाज में चार शादियों की इज़ाजत है। लेकिन चार शादियाँ करना अनिवार्य नहीं है। अंबेडकर इस्लाम में महिलाओं की स्थिति को लेकर चिंतित थे वो बहु विवाह के खिलाफ थे। वो मानते थे कि इससे स्त्रियों को कष्ट होता है इस पथा में उनका शोषण और दमन होता है।

मुस्लिम समाज में पर्दा करने की व्यवस्था हैं। कुरान में कहा गया है, "हे नवो अपनी पत्नियों और बेटियों और ईमान वाली स्त्रियों से कह दो कि वे (बाहर निकलने पर) अपने ऊपर चादर के पल्ले लटका लें। इसके इस बात की अधिक संभावना है कि पहचान ली जाए और सतायी न जाए और अल्लाह बड़ा क्षमाशील व दयावान है" इस प्रथा का पालन करने वाली स्त्रियों के प्रतिनिधि प्रस्तुत अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में यासमीन है। हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज में भी जाति–पाति के भेद, छुआछुत की समस्या हैं। मुसलमानों में भी अपनी जाति पर रोब दिखाने वाले ज्यादा है :

> फिर जातिवाद और साम्प्रदायिकता .... यह तो समझिये एक जंगल है। जिसमें हर शिकारी का शिकार मौजूद है। अगर जंगल ही न रहेगा, तो शिकारी अपना शिकार कहाँ ढूँढ़ेगा ? और असल बात तो यह है कि अपनी फितरत में हर आदमी कहीं न कहीं जातिवादी और कम्यूनल है।(84)

रामधारी सिहँ दिनकर अपनी पुस्तक *संस्कृति के चार अध्याय* में लिखते है :

> हिंदुत्व के प्रबल समर्थक होने के बावजूद स्वामी विवेकानंद में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था उनके गुरू रामकृष्ण परमहंस ने तो छह महीनों तक विधिवत मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी ली थी। इसके चलते इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार था।(111)

मुसलमानों में भी नीच जातियाँ होती थीं। उनसे उच्च जाति के लोग नफरत करते हैं। सिद्दीकी, असार जैसे पात्र के माध्यम से इसका निरूपण किया जा रहा है :

> मुसलमानों की जितनी भी तथाकथित नीची जातियाँ होती थीं, उन सबसे उनको सख्त परहेज था। ..... जातिगत श्रेष्ठता पर उन्हें (अंसार साहब को) सिद्दी की साहब से भी ज्यादा आस्था थी। तथाकथित नीची जाति के मुसलमानों से वे नफरत करते थे।(64)

बदलती परिस्थितियों के अनुरूप मुस्लिम जन नारी की शिक्षा और नौकरी को प्रोत्साहन देते रहे है। यासमीन के भाई डॉ० सादिक अपने पिता से कहता है :

तो क्या हुआ, आजकल की लड़कियाँ न जाने कहाँ–कहाँ जाकर अपना कैरियर बना रही है। फिर यह तो सोचिये कि, इस शहर में रखा ही क्या हैं ? वह शहर तो मकर्जे–हिन्दुस्तान के बहुत करीब है और मकर्जे हिन्दुस्तान में क्या नहीं हैं? .... पूर्र मुल्क की सरकार वहाँ है।(18)

आजकल मुसलमानों मे ज्यादा लोग अपनी लड़कियों के प्रति भरोसा रखने वाले होते हैं। यासमीन के परिवार वाले इसके उदाहरण हैं। यासमीन कहती हैं :

दोपहर वाली बात कि, मैं तुम्हें साथ नहीं ले आई। डरते–डरते छोटे भईया ने बताया, तो सभी लोग गुस्सा होने लगे मुझ पर। कहने लगे, बेटी को कॉलेज में भेजा है, तो यकीन भी है, उस पर।(82)

द क्लेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी को पढ़ते समय मुझे एक बात याद आई। उसमें परदा और उसके पालन को लेकर कई जगह जिक्र हुआ है, मई 1947 में फतेहपुर में एक सभा में गाँधी जी ने कहा :

सच्चा परदा दिल का होना चाहिए। बाहरी बुर्के का क्या अर्थ है? मैं कहता हूँ कि कुरान शरीफ में भी बाहरी परदे का जिक्र नहीं हैं। हम, कितनी तेजी से आगे बढ़ रहे है ..., ऐसे समय में परदा जैसा बेमानी रिवाज जारी रखने का औचित्य क्या है ?(13)

आधुनिक सामाजिक जीवन में लोग अपनी सुविधा से ज्यादा अपने को प्रदर्शित करने की धुन में लगे हुए हैं। मुस्लिम जन भी इसके अपवाद नहीं है :

डिनर पार्टी का आयोजन लक्ष्मी विलास के लॉन में किया गया है। हाँलाकि गर्मी शुरू हो गई थी, मगर लोग वाकायदा सूट–टाई से सुसज्जित होकर आये थे। धोती अथवा कुर्ता–पजामा पहनकर आने वालों की संख्या कम थी।(84)

हिन्दी विभाग में मुसलमानों को नौकरी मिलना बहुत मुश्किल होता है। विश्वविद्यालय के बी.सी. स्वयं नकवी साहब से कहते हैं, "हिस्ट्री, इकोनॉमिक्स, कॉमर्स वगैरह डिपार्टमेंट्स में तो यह पौसीबल है। मगर हिन्दी ? हिन्दी में तो किसी मुसलमान का होना हमारे यहाँ बहुत मुश्किल है। ऐसा नहीं हो सकता। लोग ऐसा होने नहीं देंगे।"(84, 85) इसका कारण यह है कि भारत समाज में शिक्षा के विषय भी धर्म व जातिगत आधार पर बंटे है। जैसे हिन्दू द्वारा किसी भी विषय को पढ़ा जायेगा, पर उर्दू को नहीं क्योंकि उर्दू तो मुसलमानों से जुड़ी है। इसी तरह प्रत्येक धर्म के लोगों ने भाषा को भी अपना और पराया बना दिया है। मुसलमान इलाके के जन–जीवन का वर्णन उपन्यासकार ने इस प्रकार किया :

गली में ससती आईसक्रीम और चाट बेचने वालों की आवाजें गूँजने लगी थी। नंगे–अधनंगे बच्चे अपनी मिट्टियों में पैसे दबाये उनके इर्द–गिर्द चक्कर काट रहे थे। दरवाजों पर पड़े मैले–कुचैले पर्दो की आड़ से उनकी अम्माओं के चेहेरे झाँक रहे थे। मुहल्ले की दुकानों में बत्तियां जल गई थी। ..... सड़क के किनारे लगे एकमात्र नल पर नहाने वालों की भीड़ जुटने लगी।(14)

इकबाल अहमद अपनी बिगड़ी जीवन स्थिति का जिक्र करते हुए जमील को बताता है :

मैं यहाँ हिन्दू बनकर रहा हूँ। राय के फुसफसाते हुए कहा, कम्बख्त क्या मुसीबत है। इस शहर के मुहल्ले भी हिन्दू और मुसलमान हैं। मगर कोई भी मुसलमान मुझे मुसलमान मानने को तैयार नहीं। कहते है, राय भी कहीं मुसलमान होता है।(101, 102)

मुसलमान मुहल्ले के मकानों के बारे में प्रस्तुत उपन्यास में वर्णन यों मिलता है :

मुसलमान मुहल्लों में या तो किराये के घर मिलते ही नहीं थे या फिर इसी तरह के ऊटपटाँग कमरे मिलते हैं। जो मकान ठीक–ठीक होते थे, उनका किराया बहुत ज्यादा होता था। .... टॉयलेट बाहर था, कुएँ के पास। नल नहीं था। आस–पास के लोग भी उसी टॉयलेट का इस्तेमाल करते थे। दोनों कमरों में एक–एक बल्ब लगाया चालीस वॉट के। उन दोनों बल्बों के स्विच पीछे, मकान–मालिक के मकान में थे। शाम को अँधेरा होने के बाद वे औन कर दिये जाते थे और रात ग्यारह बजे के बाद ऑफ।(103)

उच्च पद प्राप्त करते ही गर्व होने लगता है हर एक व्यक्ति को। मुसलमान भी इसके अपवाद नहीं है। यासमीन के पात्र के द्वारा इसका निरूपण किया जा रहा है। यासमीन और जमील सहपाठी थे। एक–दूसरे को पहले–पहल चाहने वाले थे। यासमीन यूनिवर्सिटी में हिन्दी विभागाध्यक्ष होती है। जीमल उसके मिलने जाने पर अपने रोब का प्रदर्शन करती है, "मैं विभागाध्यक्ष हूँ। इसलिए यहाँ आप मुझे 'प्लीज' तुम मत कहिये। .... विश्व हिन्दी सम्मेलन ..... में भी आमंत्रित थी। खूब मजा आया। हिन्दी के बड़े–बड़े विदेशी विद्वानों से मुलाकात हुई। यासमीन की आवाज में गर्व था।"(126–129)

गाँव के मुसलमानों के सामाजिक जीवन का वर्णन जीमल से करवाते है। उपन्यासकार अब्दुल बिस्मिल्लाह मुस्लिम समाज का ग्रामीण पक्ष इस तरह से प्रस्तुत करते है *अपवित्र आख्यान* में :

आप गाँवों में जाकर देखिए, वहाँ के हिन्दु और मुसलमान कैसे हैं ? उनका जीवन एक जैसा है, उनकी समस्याएँ एक जैसी हैं। जो समस्या हिन्दू किसान की है वही समस्या

मुस्लिम किसान की भी है। अगर गरीब मुसलमान अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दे पाता तो गरीब हिन्दू भी नहीं दे पाता। यही नहीं तो भाषा हिन्दू बोलता है, वही भाषा मुसलमान भी बोलता है। और अगर आप यह सोचते हो कि हर मुसलमान उर्दू बोलता है तो यह आपकी गलतफहमी है। अधिकांश मुसलमान उर्दू का आलिक – वे नहीं जानते। गाँव में चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, वो अपनी बातचीत में एक जैसी बोलियों, एक जैसे मुहावरों का प्रयोग करते है।(133)

इस प्रकार सामाजिक संदर्भ में आदर्शमय मुस्लिम जीवन का प्रस्तुतीकरण जमील पात्र के द्वारा प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है।

2.8.3 मुस्लिम धर्म में सांस्कृतिक यथार्थ

संस्कृति शब्द का अर्थ है परिष्कृत या परिमार्जित करना। इस शब्द से परिमार्जित के साथ–साथ शिष्टता और सौजन्य के भावों का भी बोध होता है। अतः संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है, जिसका अर्थ संशोधन करना, उत्तम बनना, परिष्कार करना। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, प्राकृतिक शक्तियों और उसके परिष्कार का घोतक संस्कृति शब्द है। संस्कृति संस्कार की क्रिया है। संस्कृति से तात्पर्य है कि खान–पान, वेश–भूषा, रहन–सहन, साहित्य–कला, आचार–विचार, व्यवहार, राजनीति, दर्शन, नीति, रीति, रूचि, धर्म, अर्थ आदि समाज और जीवन से संबंधित सभी तत्व आते हैं। इन सभी के संस्कार, सुधार और विकास से इसका संबंध होता है।

किसी भी समाज में संस्कृति को जानने के लिए उस समाज में प्रचलित रूढ़ि परंपरा के अनुसार ही उसे हम जान सकते हैं। आज आधुनिकता के कारण व्यक्ति के सोच–समझ में परिवर्तन आ रहा है। मानवतावादी संस्कृति के विकास की संभावना ने जन्म लिया। संस्कृति के क्षेत्र में अध्ययन के स्थान पर भौतिकवाद को स्वीकृति दी गई। प्रायः सांस्कृतिक मूल्य धर्म दर्शन को आधार बनाकर मानव जीवन के अंतरिक तथ्य जीवन को सशक्त अभिव्यक्ति देते हैं। लेकिन आज संस्कृति विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित है। युगीन परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है।

इस्लाम धर्म में शादी, पुरूष और महिला के बीच एक धार्मिक समझौता है। संस्कृति युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इसका निरूपण *अपवित्र आख्यान* उपन्यास में कई स्थानों व संदर्भों में किया गया। उदाहरण के तौर पर पहले पहल दहेज प्रथा मुस्लिम संस्कृति में नहीं थी। लेकिन आज भी स्थिति श्यामू भैया के विवाह के संदर्भ में प्रस्तुत की गयी है।

"हम हिन्दूअन में यही न खराबी है। जमील बोला, तो लोग चौंके ..... मंगनी के नाम पर वहाँ भी यही सब होता है। ..... मुसलमानों के यहाँ भी अब दूल्हे बिकने लगे हैं। .... डिमांड से भी शादियाँ होती है। स्कूटर और कार से लेकर नकद रूपये तक वहाँ भी माँग की जाती है।"(150)

एक धर्म के त्यौहारों को दूसरे धर्मावलंबी न मानने पर भी उसकी संस्कृति का प्रभाव तो दूसरे धर्मालंबियों पर पड़ता है। दीपावली त्यौहार मुसलमान नहीं मानते है। लेकिन उस दिन हिन्दू लोग जहाँ–जहाँ दिया जलाते हैं, वहाँ–वहाँ मुसलमान लोग भी जलाते हैं। खासकर गाँवों में यह दिखाई देता है।

दिवाली के दिन मुसलमान औरतें भी चूल्हे के पास देहरी पर दिया जलाती है। ... दिवाली रात राबिया देवी ने .... देहरी पर और चूल्हे के पास दीया जलाया। त्यौहारों के दिनों में एक–एक त्यौहार में एक–एक तरह का खास पकवान या मिठाई बनाने की संस्कृति जीवन में है। मुस्लिम जीवन में भी यह संस्कृति दिखाई देती है। "दिवाली बीतने न बीतने शबे–बरात त्यौहार आ टपका। घर–घर हलवे बनाने की तैयारियाँ शुरू हो गई।"(104)

रहन–सहन, पहनावे ओढ़ावे में भी धर्म की अपनी–अपनी संस्कृति होती है। लेकिन इस आधुनिक युग में यह भी दूसरे धर्म व वातावरण से प्रभावित होती रहती है। प्रस्तुत उपन्यास में राबिया पात्र के माध्यम से इसका निरूपण किया गया। राबिया वेदी के वेश–भूषा हिन्दू स्त्री जैसी है। इसे देखकर इकबाल बहादुर राय जमील की पत्नी को हिन्दू समझने लगा तो जीमल कहता है, "मतलब यह कि, जैसे तुम नाम से तो हिन्दू लगते हो, मगर हो मुसलमान। उसी तरह यह देखने में तो हिन्दू लगती है, मगर है मुसलमान।"(206)

उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम होता है कि लोग देखने में हिन्दू, मुस्लिम, पारसी तो है, लेकिन सभ्यता व संस्कृति ही ऐसी हो गई है कि कोई यह नहीं कह सकता है, यह हिन्दू है या यह मुसलमान या यह फारसी। युगीन परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक मूल्य में परिवर्तन होता है। अतः सांस्कृतिक नेतृत्व देने वाले लोगों में भी आज परिवर्तन दिखाई देता है।

2.9 इक्कीसवीं सदीं में ग्रामीण समाज के अन्य जाति–वर्ग : परिवर्तित स्थिति

भारतीय गाँवों की सामाजिक प्रकृति को समझने के लिए गाँवो के आन्तरिक सम्बन्धो, समूहो, गाँवो को समुदाय के रूप में समझना होगा तथा ग्रामों की सामाजिक स्थायी इकाईयों का अध्ययन करना होगा। प्रत्येक गाँव को सम्पूर्ण भारतीय समुदाय के सन्दर्भ में भी देखा जाना चाहिये। क्योंकि एक गाँव अपनी अनेक स्थानीय आवश्यकताओं जैसे–धार्मिक, सामाजिक,

आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि की पूर्ति ग्राम स्तर पर पूरी करता है, वही वह अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सम्पूर्ण भारत पर भी निर्भर करता है।

प्रत्येक भारतीय गाँव का अपना एक इतिहास है, मूल्य और विचारों की एक व्यवस्था है। कई गाँव ऐसे है, जहाँ केवल एक ही जाति अथवा जनजाति निवास करती है। तो कई गाँवों में अनेक जातियाँ एवं जनजातियाँ साथ–साथ निवास करती है। प्रत्येक जाति, वर्ग का अपने जाति वर्ग के आधार पर भिन्न–भिन्न कार्यों के लिए कार्यरत है। जोकि उनके जाति, वर्ग की पहचान या पेशा है। जैसे ग्रामीण समाज में जो केश संवारने का कार्य करता है उसको 'नाई' कहा जाता है। जो बर्तन बनाने के कार्य में कुशल है उस वर्ग को 'ठठेरा' जाति के रूप में ग्रामीण समाज में पहचान मिली हुई है। जो मिट्टी के घड़ों का निर्माण करता है उसे 'कुम्हार' कहा जाता है। जो खेती–किसानी करता आया है वह 'जाट' कहलाया। जो चमड़े से वस्तु, जूते बनाने में कार्यरत था वह 'चमार' कहलाया। शादी, उत्सवों पर ढ़ोल बजाने वाली जाति 'डूम' कहलाई। पशुओं के माँस मीट बेचने वाला 'चूहड़' (वाल्मीकि) कहलाए। सोने का कार्य करने वाले वर्ग को 'सुनार' कहा गया। वही लोहे का कार्य करने वाला वर्ग 'लौहार' कहलाया। वही वृक्षों से निकले फर्नीचर का कार्य करने वाला वर्ग 'खाती' कहलाया। इसी तरह भिन्न–भिन्न जाति जैसे धानक, नायक, राजपूत, ओड़, शेंशी, बनिया, बुनकर, जुलाहा, मनियार, दर्जी आदि अपने विभिन्न कार्य के आधार पर विशेष जाति वर्ग से जुड़े हुए है। परन्तु आज इस जातिगत कार्यरत व्यवस्था ने गाँवों में अपना रूप परिवर्तित कर लिया है। भगवान दास मोरवाल ने अपने उपन्यास *रेत* में कंजर जातिवर्ग का दृश्य प्रस्तुत करते हुए लिखते है :

> माना गुरू और माँ नलिन्या की संतान कंजर और उसका जीवन। कंजर यानि काननचर अर्थात् जंगल में घूमने वाला। अपने लोक–विश्वासों के लोकाचारों की धुरी पर अपनी अस्मिता और अपने अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती एक विमुक्त जनजाति।(1)

जिस जनजाति का मुख्य काम हुआ करता था किसी की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए इनको रोने के लिए ले जाया जाता था। दूसरा पैसा औरतों से वैश्यावृत्ति करवाना। परन्तु अब ऐसा नहीं है।

आज ग्रामीण समाज में ये सभी जाति वर्ग पाए तो जाते है परन्तु इन जातियों का व्यवसाय अब जातिगत रूप से बदल चुका है। कहने का अभिप्रायः यह है कि आज गाँवों में ये सब जातियाँ विद्यमान तो है परन्तु जातिगत आधार पर जातियों द्वारा कार्य नहीं किए जा रहे है। जैसे आज बाल संवारने का कार्य नाई के साथ–साथ अन्य जाति के लोग नायक, ओड़, राजपूत, चमार इत्यादि सभी करने लगे है। 'सुनार' का कार्य 'सोने के आभूषणों' का ही हुआ

करता था परन्तु आज ग्रामीण समाज में 'सुनार' अन्य पेशों में भी कार्यरत है। 'जाट' का कार्य 'खेती किसानी' था। आज वह दुकान, मिस्त्री, ड्राईवरी, कंपनी में वर्कर आदि विभिन्न स्थानों पर कार्यरत है। इसी तरह चमार जाति अब गाँवों में चमड़े का कार्य न करके अच्छी नौकरी, खेती, खुद का व्यापार इत्यादि सभी तरह के कार्य कर रही है। तात्पर्यः यह है कि अब ग्रामीण समाज में जाति के आधार पर कार्य करने वाले लोग बहुत कम संख्या में रह गए है। आज ग्रामीण समाज में सभी जाति–वर्ग के लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व सुविधाजनक कार्य कर रही है। आज जाति के आधार पर न तो किसी व्यक्ति के कार्य को पहचाना जा सकता है ना कार्य को देखकर किसी की जाति निर्धारित की जा सकती है। इस पर डॉ. राधाकृष्णन अपनी पुस्तक *रिलिजन एंड कल्चर* में कहा था – "दुर्भाग्यवश वही जाति–प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।"(37)

अधिकतम ग्रामीण जनसंख्या के लिए कृषि जीविका का एकमात्र महत्वपूर्ण साधन है। लेकिन ग्रामीण सिर्फ कृषि ही नहीं है बहुत से ऐसे क्रियाकलाप हैं जो कृषि और ग्राम्य जीवन की मदद के लिए हैं और वे ग्रामीण भारत में लोगों के जीविका के स्त्रोत है। उदाहरण के लिए बहुत से ऐसे कारीगर या दस्तकार जैसे कुम्हार, खाती, जुलाहे, लुहार एवं सुनार भी ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक हिस्सा और खंड है। औपनिवेशिक काल से ही वे संख्या में धीरे–धीरे कम होते जा रहे है। मशीन से बने सामानों के आगमन ने शिल्पकारों के हाथ से बनी हुई वस्तुओं का स्थान ले लिया है।

बहुत से अन्य विशेषज्ञ एवं दस्तकार जैसे कहानी सुनाने वाले, ज्योतिषी, पुजारी, भिश्ती एवं तेली इत्यादि भी ग्रामीण जीवन में लोगों को सहारा देते है। ग्रामीण भारत में व्यवसायों की भिन्नता यहाँ की जाति व्यवस्था में प्रतिबिंबित होती है, जहाँ कि कुछ क्षेत्रों में विशेषज्ञ और अपनी सेवाएँ देने वाले धोबी, कुम्हार एवं सुनार इत्यादि सम्मिलित होते हैं। इनमें से कुछ पंरपरागत व्यवसाय आज टूट रहे हैं। लेकिन ग्रामीण नागरीय आर्थिकी के परस्पर अंतः संबंध से कई व्यवयायों गाँवों में आ रहे हैं। बहुत से लोग गाँवों में रहते हैं, नौकरी करते हैं या उनकी जीविका ग्रामीण अन्य क्रियाकलापों पर आधारित है। उदाहरण के लिए बहुत से गाँवों में रहने वाले लोग सरकारी नौकरी जैसे डाकखाने में, शिक्षा विभाग में, कारखाने में कामगार या सेना की नौकरी करते हैं, उनकी जीविका अन्य क्रियाकलापों से चलती है।

2.10 तुलनात्मक दृष्टि

21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का रवैया अपने आप में विभिन्न परिवर्तन धारण किए हुए है। समय के अनुसार जिस प्रकार से परिवार की स्थापना समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई रहा है। प्राचीन परिवार और आज वर्तमान समय के परिवार की तुलना अगर की जाए, तो इसका स्वरूप ही आज बदल चुका है। परिवार में सभी की जरूरते समय के अनुसार परिवर्तित हुई है। जिस कारण से आपसी पारिवारिक सदस्यों के विचारों का तालमेल बिगड़ गया है। प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। आप ग्रामीण समाज में प्रायः संयुक्त परिवार समाप्त ही हो चुके है। अगर कोई एक आध परिवार संयुक्त रूप में रहा भी है, तो इसका स्वरूप तनाव और उलझनों ने ले लिया है। ग्रामीण परिवारों से सबसे बड़ी इकाई बनती है समाज। परन्तु आज समाज संयुक्त परिवारों के मेल से न बनकर भिन्न रूप से तैयार होने लगा है। जब हम इस समाज में उतरते है, तो सबसे पहले समाज में जन्म होता है जातिवाद और धार्मिक भिन्नता का। जिसके कारण आज समाज में तरह–तरह के कलह–कलेश होते रहते है। जिसमे शिकार आज समाज में हर तरह के जाति, धर्म, नस्ल, भिन्न संस्कृति सभी तरह के ग्रामीण जनता रही है। हालांकि आज शहरों में सभी इन सब जातिगत विभिन्नता से शहरी लोग काफी हद तक आगे निकल चुके है। परंतु आज भी गाँव में ऐसा होता है। जो प्राचीन समय से चला आ रहा है।

समाज में प्राचीन समय की तुलना में काफी परिवर्तन भी आए है। जिस तरह 20 वीं सदी में नारी केवल गृहस्थ और पारिवारिक जन–जीवन को सम्भालने या भोग विलास की वस्तु ही थी। परन्तु आज ऐसा नहीं है। आज की स्त्री ने हर क्षेत्र में कंधे से कंधा मिलाकर पुरूषों के समान अपना लौहा मनवाया है। आज स्त्री अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द कर चुकी है। जिसका वर्णन 21 वीं सदी के उपन्यासकारों प्रदीप सौरभ ने अपने उपन्यास *मुन्नी मोबाईल,* सुधा अरोड़ा ने *यही कही था घर,* चित्रा मुदगल ने *एक जमीन अपनी* इत्यादि उपन्यासों में विस्तृत रूप से किया है। अगर हम वर्णन करे दलित समाज का तो आज दलित वर्ग भी अपने अधिकारों के लिए लड़कर अपना स्वाभिमान प्राप्त कर चुके है। प्राचीन समय में दलित वर्ग पूर्ण रूप से शोषण का शिकार था। तरह–तरह की यातनाएँ दलित वर्ग के लोगों ने सही है जिसका वर्णन ओम प्रकाश वाल्मीकि ने भी अपनी आत्मकथा *जूठन* में किया है। परन्तु आज दलित वर्ग राजनीति से लेकर देश के बड़े–बड़े अफसर पदों पर कार्यरत है। इन सबके पीछे का कारण शिक्षा को ही माना जा सकता है। वही दलित वर्ग आज बंधुआ मजदूरी, कम वेतन, अनपढ़,

अपने मत का अनुचित प्रयोग आदि कार्यों से निदान पा चुके है। जिसके बदलते स्वरूप का वर्णन अजय नावरिया ने अपने उपन्यास *उधर के लोग* में भी किया है।

20 वीं सदी से कुछ समय पहले तक आदिवासी उन्हें ही समझा जाता है। जो जंगलों में रहते है, शरीर पर वस्त्रों की जगह पत्ते बाँधते है, घर की जगह झुग्गी झोपड़ियों में रहते है। परन्तु आज 21 वीं सदी में ऐसा नहीं रहा है। प्राचीन समय से अगर इन आदिवासी समाज की तुलना की जाए तो आज इनके जन–जीवन में काफी परिवर्तन आया है। ये समाज भी आज समाज की मुख्यधारा में लौट आया है। अब तो ये भी आम जन–जीवन ही व्यतीत कर रहे है। आम समाज के लोगों की तरह ना सही परन्तु पहले की तुलना में आज काफी हद तक इनका जीवन सुधरा है। हाँ, आदिवासी भी कई तरह से समाज में देखने को मिलते है जहाँ इनमें व्यापक भिन्नता पाई जाती है। हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में जो आदिवासी है वे राजस्थान के है। वही महुआ माजी के उपन्यास *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* के आदिवासी भिन्न प्रकार के है।

वही अगर हम बात करे मुस्लिम समाज की तो प्राचीन समय की तुलना में आज इनके समाज में भी काफी परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन का वर्णन अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में भी देखने को मिलता है। आज मुस्लिम समाज में शिक्षा को बढ़ावा दिया जा रहा है। इस समाज की औरते बुरके को छोड़कर आम वस्त्र धारण करने लगी है। विवाह–शादी में मेकअप, ब्यूटी प्रोडक्टस का प्रयोग करने लगी है। घर की चार–दीवारी तक कैद मुस्लिम समाज की औरते, आज कैद नहीं रही है। वही पढ़े–लिखे होने के कारण शिक्षित मुस्लिम वर्ग के लोग बच्चे भी कम पैदा करने लगे है।

अगर हम बात करे ग्रामीण समाज के किसी भी जाति–वर्ग की तो पहले जैसा कुछ भी नहीं रहा है। शायद इन सब परिवर्तन के पीछे के कारण है मीडिया। मीडिया जगत ने आज ग्रामीण जगत को हर क्षेत्र से परिचित करवाया है। जो ग्रामीण समाज के बदलाव का मुख्य कारण है। इसके साथ–साथ शिक्षा भी शामिल है।

निष्कर्ष

हम कह सकते है कि भारतीय समाज की महत्वपूर्ण इकाई गाँव ही है। गाँव ने ही शहरों को जन्म दिया है। आज भी शहरों की तुलना में ग्रामीण समाज अपने आप में पूर्ण है। हो सकता है कि ये पूर्णता अपने आप में परिवर्तन धारण किए हो। आज ग्रामीण समाज शहरों से प्रभावित है आज का गाँव पहले की तरह अनपढ़, गँवार, असभ्य नहीं रहा है। हर वर्ग, जाति, नस्ल में परिवर्तन आया है। गाँवों में हर वर्ग मुस्लिम, दलित, साहूकार, जाट, बणिया, किसान,

लौहार, सुनार सभी गाँवों में बसता है। सदियों से गाँव ने अपना स्वरूप बदला है परन्तु रहा गाँवों का गाँवो ही, कभी शहर नहीं बन पाया।

भारत के भिन्न–भिन्न राज्यों के गाँव की अपनी एक अलग पहचान रही है। जिसका वर्णन ग्रामीण जन–जीवन से जुड़े उपन्यासकारों ने किया है। जहाँ इन उपन्यासकारों ने ग्रामीण जन–जीवन का सामाजिक पक्ष अपने उपन्यासों में उभारा है। फिर चाहे वह बात नारी, दलित, मुस्लिम, किसानी–खेती, समस्याएँ, कुप्रथाओं आदि से ही क्यों ना जुड़ी रही हो। इन उपन्यासों में ग्रामीण समाज व्यापक रूप से विस्तृत क्षेत्र पर फैला दिखाई पड़ता है।

सभी उपन्यासकारों ने अपने क्षेत्र विशेष की ग्रामीण समस्याओं से परिचित करवाया है। समस्या फिर चाहे जाति की हो, या फिर किसी वर्ग विशेष की। सब साहित्यकारों ने ग्राम्य जीवन का सुस्पष्ट वर्णन अपने उपन्यासों में किया है।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का आर्थिक पक्ष

भारत कृषि प्रधान देश है। भारत में प्राचीन काल से खेती की जा रही है। खेती पर देश की अर्थव्यवस्था और लोगों का जीवन निर्भर है। ग्रामों में रहने वाले लोगों का रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, आचार–विचार, बोली–भाषा, पर्व–त्यौहार, समारोह आदि नगरों में रहने वाले लोगों से भिन्न होते हैं। ये लोग गरीब, भोले–भाँले, अनपढ़, अज्ञानी होने से रूढ़ि एवं परम्पराओं को मानते हैं। उनमें धर्मांधता और अंधविश्वास अधिक रहता है। आपसी मतभेद, द्वेष–भावना, प्रतिष्ठा एवं ऊँच–नीच, जाति–पाति की भावना इसमें अधिक दिखाई देती है। ग्रामों में जमीदार, सेठ–साहूकार, पूँजीपति, ओझा–सोरवा, यांत्रिक–तांत्रिक, साधू–महाराज आदि से शोषण और अनेक अत्याचार सदियों से चलते आये हैं। इनके परस्पर संबंधों का और उससे निर्माण होने वाली समस्याओं का परिचय ग्रामों के परिवेश में मिलता है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज के जीवन चरित्रों का प्रतिबिंब साहित्य में होता है। हिन्दी उपन्यास में भारतीय ग्रामीण समाज का पूर्ण रूप से चित्रण मिलता है। ग्राम में मुख्यतः दो वर्ग होते है। एक साधारण श्रमिकजन का, दूसरा अमीरों का जिनका गरीब श्रमिक शिकार बनता है। 'ग्रामों' से सम्मिलित परिवार तथा जाति बिरादरी के अनुशासन का भार व्यक्ति के अधिकार पर प्रतिबंध आते है, पर वे कुछ नहीं बोलते और न ही अपना मत प्रकट करते हैं। जब–जब बिरादरी के शासन का कोई छुपकर विरोध करता है, तो वह नया मोड़ देने का प्रयास करता है। तब उच्च वर्ग और निम्न वर्ग में संघर्ष खड़ा होता है।

भारतीय संस्कृति मूलतः कृषि प्रधान संस्कृति है। जिस की पृष्ठ भूमि सनात्तन ग्राम जीवन है। इस संबंध में ग्राम संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति के रूप में परिभाषित करना असंगत नहीं होगा। स्वतंत्र्योत्तर भारतीय समाजव्यवस्था में गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, अफसरशाही, स्वार्थी राजनेता, धार्मिक अन्धश्रद्धा, रूढ़ि–परम्परा, ग्राम में किसानों की बढ़ती ऋण की समस्याएं एवं उससे बढ़ती आत्महत्याएँ, मौसमी मार अपने–अपने क्षेत्र में चरम सीमा पर पहुँच गयी है। ये समस्याएँ जिनका न तो कोई अन्त है न ग्रामों की कृषि व्यवस्था को छोड़कर किसान कोई अन्य रोजगार कर सकता है। इस तरह की समस्याओं, विषमताओं, कुरीतियों का वर्णन निम्न अध्याय में इस प्रकार से है।

3.1 ग्राम्य जीवन की आर्थिक दृष्टि

आर्थिक क्षमता जिसकी अच्छी होती है उसे ग्रामीण जीवन के उच्च परिवार वर्ग से जोड़ा जाता है। इस वर्ग के मुख्य लोगों में साहूकार, जमीदार, सूदखोर, सेठ, महाजन और कुछ उच्च जाति के प्रमुख व्यक्ति आते है। जिसकी आर्थिक स्थिति सिर्फ जीवन जीने योग्य या इससे भी कम है और आधुनिक सुख सुविधाओं से परे है, वे निम्न वर्ग में आते है। इस वर्ग के व्यक्तियों में किसान, मजदूर और छोटे शिल्पकार व कुछ निम्न जाति भी इसी वर्ग में शामिल है।

प्राचीन काल से ही मानव जीवन में आर्थिक परिस्थिति मुख्य भूमिका निभा रही है। इस नवीन युग में तो आर्थिक स्तर की प्रधानता बढ़ गयी है कि मानवीय मूल्यों का पतन होकर उसकी जगह आर्थिक मूल्यों की स्थापना हो रही है। वर्तमान युग को, आर्थिक आधार का युग भी कहा जाए तो कोई गलत नहीं माना जा सकता है। क्योंकि किसी के पास अगर धन का अभाव है या आर्थिक दृष्टि से हम अन्य लोगों से समानता भी नहीं कर सकते है तो दूसरे हमें पराया समझने लगते हैं।

यदि परिवार की इच्छाओं, सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करना हो, सुविधाजनक जीवन जीना हो या मानसिक आनंद प्राप्त करना हो, तो आर्थिक रूप में सुदृढ़ होना अत्यंत आवश्यकहो गया हैं।

मानव जीवन में अपनी–अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार जीवन निर्वाह करना अनिवार्य होता दिखाई पड़ता है। मनुष्य की इच्छाएं आर्थिक कार्यकलापों के विकास में प्रेरणादायी बनती है। इच्छाओं की पूर्ति भी व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों पर आधारित रहती है। अगर एक इच्छा की पूर्ति हम करते हैं तोएक अन्य इच्छा का उद्‌भव होता है।

संपदा और श्रेय, इन दोनों के बीच मजबूत संबंध होता है। साधारणतया किसी व्यक्ति की आर्थिक उन्नति ही उसके श्रेय की उन्नति कही जाती है। आर्थिक संपदा जनता के अस्तित्व को प्रभावित करने वाली महत्वपूर्ण वस्तु के रूप में जानी जाती है जो यथार्थ ही है।

संगीता यादव *ग्रामीण भारत की बदलती तस्वीर* में लिखती है – कुछ लोग राजनीतिक दृष्टिकोण से यह आरोप लगा सकते है कि भारत के गाँवों की दशा में अभी सुधार नहीं हुआ है। लेकिन भारत के गाँव बदल रहे है। यह सोचने वाली बात है कि जब पूरा देश एक बार खोखला हो चुका हो फिर उसे संभालने में समय लगेगा ही। पहले गाँवों में सड़कें नहीं थी। अब कोई गाँव ऐसा नहीं है, जहाँ सड़क नहीं पहुँची हो। सड़के बनने से सबसे ज्यादा फायदा

यह मिला कि रोजगार के साधन बढ़े। लोगों को काफी सहूलियत हुई। यूं ही नहीं विकास का मुख्य आधार सड़को को माना गया है।

मानव जीवन में प्रतिपल धन संपदा चर्चा का विषय बना हुआ है। अगर ऐसे बिंदु को नजर अंदाज किया जाए तो रचनाओं में रोचकता या परिपूर्ण संभव है ही नहीं। इसलिए इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों ने आर्थिक पक्ष को अपनी रचनाओं में विभिन्न रूपों में उभारा है।

3.1.1 आर्थिक मूल्य प्रवृत्तियाँ

समाज में धन के महत्व को बताना बहुत मुश्किल है क्योंकि जीवन की गतिविधियों को चलाने के लिए रूपयों की आवश्यकता होती है। कोई भी संस्था अपने कार्यों को कायम रखना चाहती है तो आर्थिक स्थिति ही उसकी वाहक होगी। सेवाओं का विस्तारण करके लोगों के जीवन में प्रवेश करने अत्याधुनिक तकनीकी प्राप्त करने के लिए आर्थिक पुष्टि की आवश्यकता होती है। रूपया नहींतो प्रवीणता भी नहीं, किसी दशा, किसी रूप में भयानक परिस्थितियों को देखने की संभावना होती है। इसलिए आर्थिक रूप में सशक्त होना किसी भी संस्था के लिए अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए उपन्यास *एक जमीन अपनी* में विज्ञापन एजेंसी चलाने के लिए रूपयों की आवश्यकता की चर्चा चित्रा मुदगल ने इस प्रकार से की है :

> कुछ बजट के विषय में चर्चा करना चाह रही थी न? जी, मैं चाहती हूँ कि आप एक वर्ष की अवधि के लिए अपने विज्ञापन बजट में बढ़ोतरी कर दें .... एजेंसी की हक में बहुत बड़ी मदद होगी। क्यों ..... ? हम तो इधर बजट कम करने की सोच रहे हैं। कृपया अभी ऐसा न करें। समस्या सुन ले पहले। 'फिल्म रस' में आपका चार लाख का खाता रहा है, वह ज्यों का त्यों हमें दे दीजिए एक लाख के खाते की हमें तत्काल आवश्यकता होंगी .... अगर आप अपना बजट पाँच कर देंगे ... हम अपनी एजेंसी के एक्रिडेशन हेतु दिल्ली 'आई.ई.एन.एस.' दौड़ लगा देंगे।(126)

कोई भी संस्था बाजार में टिकना चाहती है तो आर्थिक रूप में योजना बना लेती है। नहीं तो संस्था लुप्त होने का खतरा उठाती हैं। संस्था जितनी आकर्षणीय होगी, काम में निपुणता होगी, तो उसकी पहचान भी दूर–दूर तक होती है। इसलिए किसी भी संस्था का मुख्य आधार उसकी आर्थिक स्थिति ही होती है। संस्था को भविष्य की सेवाभाव की बुनियाद पर निर्माण कार्य करना है तो आर्थिक स्थिति ही उसका आधार है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था के कई पहलुओं पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की प्रो0 और जानी मानी अर्थशास्त्री जयंति घोष से बीबीसी की विशेष बातचीत *ग्रामीण अर्थव्यवस्था कैसे संभली रही* में बताती है – अभी भी 70 प्रतिशत श्रम ग्रामीण क्षेत्रों में ही है। इसकी एक अहम वजह यह भी है कि ग्रामीण क्षेत्र की अर्थव्यवस्था बहुत मजबूत तो नहीं है मगर दुनिया की हलचल से थोड़ी सी अलग है। पिछले 10–15 साल से ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सामने भी कई संकट पैदा हुए है। पैसा ग्रामीण क्षेत्रों में गया। किसानों के बैंकों से लिए गए ऋण माफ किए गए है और सबसे बड़ी बात यह है कि रोजगार गारंटी कानून जैसी चीज ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों को मिली है...

संजीव के उपन्यास *फाँस* में सरकार द्वारा वारफंड के रूप में आर्थिक सहायता देने का चित्र इस प्रकार से है :

> हरित क्रांति के लिए बाँध बन रहे थे। हमने विस्थापन के बाद पुनर्वासन के लिए पैसे माँगे, नौकरियाँ माँगी। जवाब में ठीक गाँधी जयन्ती के दिन पुलिस ने हमें पीटा। वह कमीज उठाकर पीठ दिखाने लगा, जिस पर लम्बे–लम्बे गोहटें उभरे हुए थे ... सरकारी कर्ज उतारने के लिए रोज–रोज मरते रहे। उनके और उसकी पत्नी, बाल बच्चों को सभी सुस्वादु भोजन, ढंग का कपड़ा और सुरक्षा नहीं मिली वह मौत कोई मौत नहीं?(107)

कहा जाता है कि दुनिया में प्राणों को छोड़कर रूपयों से कुछ भी खरीदा जा सकता है। रूपया आदमी में लोभ उत्पन्न करने वाली वस्तु है। भारत की गुलामी भी इसकी गवाह है कि यहाँ की आर्थिक स्थिति को देखकर ही अंग्रेज आकर्षित हुए और देश को आर्थिक रूप में ध्वस्त कर डाला। जब अंग्रेजों की द्वितीय विश्व युद्ध में आर्थिक स्थिति बुरी होने के कारण तड़प रहे थे तो वे भारत के सभी वर्गों में रूपया बटोर रहे थे, उन्होंने ऐसा कोई क्षेत्र नहीं छोड़ा जहाँ से रूपया न वसूला हो। उद्योगपति, कृषक को ही नहीं, अंग्रेजों ने आर्थिक रूप से सशक्त होने के लिए कलाकारों को भी नहीं छोड़ा।

मध्यवर्गीय परिवारों में आर्थिक स्थिति ऐसी होती है कि किसी भी काम के लिए कितना खर्च करना है पहले ही किया प्लान किया जाता है। मध्य वर्ग की स्थिति ऐसी होती है कि उन्हें कोई गरीब कहते हैं, तो वे इस बात को नहीं मानते है। लेकिन वे उच्च वर्ग के जैसे दिख नहीं सकते। दिन भर कमर तोड़ मेहनत करने पर भी महीने का खर्च मुश्किल से जमा कर पाते है तो उन रूपयों में ही कठिनाई भरा जीवन जीना पड़ता है। आर्थिक स्थिति अच्छी रहती तो ही

जीवन में खुशियों का आगमन होता है। आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं के कार्य करके आमदन पर विचार करते हुए मृणाल पाण्डेय *परिधि पर स्त्री* में लिखती है :

> आज स्त्रियों के काम तथा राष्ट्रीय उत्पाद में उनके कुल योगदान का बहुत बड़ा महत्व राष्ट्रीय तथा अर्न्तराष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर स्वीकार कर लिया गया है। यह भी मान लिया गया है कि एक पुरूष को साक्षर बनाने से एक व्यक्ति ही साक्षर होता है, जबकि एक स्त्री को शिक्षित बनाने में एक पूरा कूनबा शिक्षित होता है।(44)

3.1.2 आर्थिक शोषण

रूपया ही एक ऐसा शब्द है जिसे सुनकर पूरी दुनिया ही उसके कदमों में जा बैठती है। आर्थिक विचार इतने बढ़ गये हैं कि राष्ट्र की सीमा को लांघकर जहाँ भी पूँजीवादी लोगों के लिए स्थान हो वहाँ लोग अपने कदम जमा रहे हैं। प्राइवेट कंपनियाँ तो अपने सोद्देश्य के लिए सरकार से मिलकर किसी भी इलाके में जनता के विरूद्ध षडयंत्र करती है। क्योंकि उस प्रांत पर कब्जा करने से उसे विशेष लाभ होता है। इसका कारण हैं आर्थिक दृढ़ता। कथाकार रणेन्द्र ने इस प्रसंग को *ग्लोबल गाँव के देवता* में प्रस्तुत किया है :

> उस दिन सखुआपाट के बीफे (गुरूवार) बाजार में हवा कुछ बदली हुई थी। लालचन दा जब बुधनी दी वाले देशी कोटीन में आये तो बात खुली। वन विभाग में खतियान में दर्ज सैंतीस वन गाँवों में खाली करने को नोटिस दिया था। क्या तो भेड़िया सबको बचाने के लिए कोई योजना है। सैंतीस वन ग्राम में बाइस गाँव असुरों का है, बाकी उरावँ, खेतरवार और सदान लोगों का। सुनते ही सन्नाटा छा गया।(78)

संस्थाएँ अपनी आर्थिक योजनाओं को पूर्ण करने के लिए सामाजिक या कानूनी नियमों का उल्लघंन कर अपने अधिकारों का दुरूपयोग कर कर्मचारियों पर अत्याचार करते है। निजी कंपनिया धन संपदा के सृजन का माध्यम जहाँ होता है, वहाँ पर अपनी योजनाएँ अमल में लाने की सोचने लगती है। सदियों से वन प्रांतों में बसे लोगों के कुछ अधिकार होते हैं, जैसे कि वहाँ के जंगलों में आदिवासी समुदाय पूर्ण अधिकार से जीवन निर्वाह करने लगते हैं। क्योंकि जंगल को ही वे अपना जीवनाधार मानते है। देश में जंगल में प्राचीन समय से कई कुछ जनजाति, ग्रामीण कबीले, कस्बाई परिवार रहने के कारण वे आधुनिक जीवन से परे रह जाते है। वे प्राकृति संपदा का महत्व नहीं जानते पर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ उन्हें कुछ न कुछ लोभ दिखाकर या सरकार के बड़े अधिकारियों से परिचय के काराण कानून का प्रयोग कर वहाँ के स्थानीय लोगों को परेशान करते है। फिलहाल तो बड़ी कंपनियाँ अपनी नजर बाक्साइट जैसे बहुमूल्य खादानों पर रखती है। इनसे निपटने के लिए रोज वन में निवास करने वाले आदिवासी या

करीबी ग्रामीण क्षेत्र को अपने अधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। सखुआपाट के लोग भी जंगल से मिलने वाले खनिज पदार्थों पर अपना अधिकार छोड़ देते है। क्योंकि प्राइवेट कंपनियाँ बाक्साइट उनके हाथ नहीं लगने देती। कंपनियाँ जितनी जल्द चाहे उतनी जल्द बाक्साइट निकालकर आर्थिक रूप में सशक्त बनाने के लिए सरकार के द्वारा सखुआपाट के लोग भी जंगल से मिलने वाले खनिज पदार्थों पर अपना अधिकार छोड़ देते हैं। सखुआपाट के लोगों को नोटिस भेजती हैं।

सी.पी.जोशी रोजगार गांरटी कानून में बदलावों की बहस पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बारे में कहते हैं, पहली बात तो है कि किसानों की कर्ज माफी में आबादी को कुछ राहत दी। हालांकि सारे किसान न तो बैंकों से ऋण ले पाते है और न ही उन तक इसका लाभ पहुँचता है। पर कुछ, किसानों के कर्ज का बोझ घटा और उनको राहत मिली। दूसरा और सबसे बड़ा योगदान है रोजगार गारंटी कानून का, रोजगार कानून की वजह से लोगों को गाँव में एक तरह की गारंटी तो मिली कि 100 दिन का काम मिलेगा।

पूँजीवादी तो केवल रूपयों के लिए ही जीवन बिताते है। ऐसा लगता है कि पूंजीवादियों के शरीर में खून नहीं धन कमाने की दुराशा दौड़ रही है। पूंजीवादी तो आर्थिक रूप में सशक्त बनने के लिए गरीब लोगों से हड्डी से गुदा और रूह से जिंदगी खींच लेने में कोई संकोच नहीं करते। धन भी ऐसी चीज है कि जितना भी अर्जित करे मनुष्य को उसकी आशा बनी ही रहती।

आर्थिक रूप से सुदृढ़ होने के लिए मानव कुछ भी करता है, रूपये कमाने में लालयित पूँ1जीवाद तो गरीब मजदूरों का पारिश्रमिक हड़पने में आमादा है। गाँव में बेरोजगार गरीब लोग ही शहरों के सेठ–साहूकार लोगों के जाल में फँसकर उन्हें कम खर्चे में काम निपटाने में प्रत्यक्ष रूप से सहयोग दे रहे हैं। वे लोग गरीब लोगों को रोजगार देने के बहाने उनकी मजबूरी का लाभ उठाकर आर्थिक रूप में स्वयं को सशक्त बनाने में लग गये हैं।

समाज में साधारण रूप में देखा जाता है कि मेहनत कोई करता है, तो उसका फल दूसरा भोगने लगता है। मेहनत करने वाले को कुछ भी नहीं मिलता, किन्तु योजना सफल बनाने, आर्थिक वृद्धि में सहयोग देने संबंधित कार्य में निपुण होने पर भी मालिक परिश्रम करने वाले का शोषण करने की कूटनीति में परांगत हो जाता है। संजीव ने *फाँस* में इस प्रकार वर्णन किया गया है :

> ऐसे ही रातभर रस्साकशी चलती रही। सुबह तक पुलिस बल और खजाने के फौजी दल में इस बात पर समझौता हुआ कि जो भी खजाना या माल मिलेगा, उसका आधा

पुलिस को देना पड़ेगा। जान बची! राम–राम जपता फौजी दल वापिस जा रहा था कि पिछे से टोक दिया गया अबे सुन! यह क्या है? ये कौन पीछे–पीछे आ रहा है? हम आई! अब कौन सी दुर्गति होनी बाकी है? भागो, ऐ भागो नहीं, रूको, रूक जाता दल। पीछा कर राह सिपाही नाग जोशी से खुसर–फुसर करता है।(123)

आर्थिक सत्ता पर आधारित आधुनिक समाज में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा कि जहाँ व्यक्तियों की मेहनत का रूपया लूटा जाता हो। ठेकेदार के पास तो रूपया जुटाता है गिरोह के कई सदस्यों के मेहनत से लेकिन रूपया वितरण करते समय ठेकेदार सदस्यों की भलाई पर ध्यान देते। भिखारी ठाकुर तो नचनिया दल के कार्यक्रमों में अपनी प्रतिभा से अच्छी पहचान ही नहीं, दर्शकों को आकर्षित कर आर्थिक सुस्थिरता में प्रधान भूमिका भी निभाता है। अंग्रेज सरकार वारफंड के लिए दबाव डालने पर ठेकेदार अपने गिरोह को गाँव–गाँव घुमाकर रूपया इकट्ठा करता लेकिन वह अपने दल को कुछ न दे पाता। क्योंकि वह कलाकार का उपयोग कर आर्थिक रूप में सशक्त बनाना चाहता है। भिखारी अपने दल को लाभ पहुँचाने पर भी घर वालों का पालन–पोषण करता ही नहीं। साधारण चीज और कपड़े भी नहीं खरीद पाता है। प्रभाष जोशी *21 वीं सदी पहला दशक* में लिखते हैं :

21वीं सदी के आगमन के सत्ताधारी वर्ग ने सम्पन्नता के स्वप्न के रूप में प्रचारित किया था। लेकिन सच्चाई यह थी कि 21वीं सदी देश के बहुजन जीवन के लिए अभिशाप की तरह प्रकट हुई। आर्थिक उदारीकरण की नीति के दुष्परिणाम सामने आने लगे। आम लोगों का जीवन पहले की तुलना में ज्यादा मुश्किलों के घेरे में आ गया।(113)

इसी तरह आर्थिक स्थिति पर व्यंग्य करते हुए पुष्पपाल सिहँ *हिन्दी गद्य इधर की उपलब्धियाँ* में लिखते है ...."तथ्य और सत्य को जस का तस धर दिया है, अपनी पूरी संलग्नता और चिन्ता के साथ।"(27)

3.2 ग्राम्य जीवन के आदिवासी समाज का आर्थिक पक्ष

प्राचीन काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यंत सीमित थी, अतएव उसके लिए अर्थ की महत्ता विशेष महत्व नहीं रखती थी। परंतु आधुनिक युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित होती जा रही है। ऐसी स्थिति में आठम अर्थ की अर्थक्ता अत्यंत महत्वपूर्ण बन गई है। आर्थिक आधार पर समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। उच्चवर्ग, मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग। निम्नवर्ग अपने जीवन को जीने के लिए संघर्ष रहता है। इस वर्ग के अंतर्गत आदिवासी समाज आता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी आदिवासी समाज आर्थिक अभाव में जी रहा

है। उसे अन्न, वस्त्र और निवास इन मुलभूत आवश्यकताओं में से एक भी आवश्यकता पूर्ण नहीं हो पाती हैं।

आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या है – रोटी। भूख से बिलबिलाने वालों की संख्या चौकाने वाली है। विशेष रूप से झारखंड के पलामू क्षेत्र, बिहार के तैमूर, उड़ीसा के सुदंरगढ़ के आदिवासी भूखमरी के शिकार है। आदिवासियों की आर्थिक स्थिति के कारणों की मीमांसा करते हुए प्रभाष जोशी *21 वीं सदी पहला दशक* में लिखा है :

> सबसे पहले इन परिवारों को गरीबी के कारण खाने–पीने, विवाह–शादी इत्यादि के अवसर पर ऋण लेना पड़ता है। एक बार ऋण लेने पर उनकी जीविका के परम्परागत साधन छीन जाते है, जमीन गिरवी रखनी पड़ती है अथवा उच्च समाज के किसी सदस्य के यहाँ बँधक मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में वह अपने श्रम का मालिक नहीं रह जाता।(101)

मैत्रेयी पुष्पा ने आदिवासियों का चित्रण किया है। कबूतरा आर्थिक दृष्टि से अत्यंत दयनीय है। होली आदि त्यौहारों पर कुछ खाने को मिल जाता है। खेतों में फसल गमक रही थी, जगत तक महक गया था। तब वह आदिवासी रोटी का सपना देखते है। भूख का त्यौहार मनाते है। बहुत दिन हुए उन्होंने कोदों तक नहीं खाई। बीड़ियों के ढेरों पर दिन गुजारे है। इस आदिवासी समाज की विशेषता यह है कि इनका व्यवयाय शराब और चोरी करना है। समाज में विवाह योग्य लड़के के लिए चोरी करना, भैंसे आदि खोलकर ले जाना, कला से अवगत होना चाहिए। सगाई संबंध वाले भी ऐसी कलाकारी सुनकर रूपये देते हैं। इसके अतिरिक्त औरतें छोटे–छोटे काम भी करती है।

यह आदिवासी कबूतरा समाज अवैध धंधे करने के कारण पुलिसवाले भी इससे हफ्ते वसूल करते है। केहर सिहँ शराब बनाता है। इसलिए दरोगा जी को हफ्ते की रकम में 500 रूपये ज्यादा मिलाकर देता है ताकि वे खुश रहे। आर्थिक स्थिति संतोषजनक न होने के कारण बच्चे भी चोरी करना सीख जाते है। मंसाराम जब नौ वर्ष का था, तभी उसने एक साइकिल सवार की साइकिल के पहिए में डंडा डालकर और उसे कुल्हाड़ी दिखाकर सोने की अगूँठी उतरवाली थी।

भगवान दास मोरवाल ने *काला पहाड़* में मेवात के आर्थिक पिछड़ेपन का विवेचन इस प्रकार से किया है। जब प्रधानमंत्री मैं हूँ नामक गाँव में आते है तब अपनी आर्थिक स्थिति को व्यक्त करते हुए सरपंच उनसे निवेदन करते हैं कि :

माननीय प्रधानमंत्री जी जैसा कि आप जानते है हमारा यह इलाका बेहद गरीब और पिछड़ा हुआ है। यहां पिछले कई सालों से न के बराबर बारिश हो रही है। जिसके कारण सारे जोहड और तालाब सूख चुके हैं। मटर, जौ, चना जैसी फसलें पैदा होनी बंद हो गई है। इसलिए इलाके की ओर से चौबीसी की पहली माँग यह है कि मेवात में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ मुहैया कराई जाए और बरसों से मंजूर 'मेवात नहर' का निर्माण जल्दी से शुरू कराया जाए .... ।(118)

विडंबना यह है कि मेवात में कारखाने लगाये जायेंगे, रेल की पटरी बिछाई जायेगी, बेरोजगारों को रोजगार दिया जायेगा। यह आश्वासन कई वर्षों से आदिवासी सुन रहे है।

कथाकार संजीव के उपन्यास में बिसराम की तीन साल की बेटी को साँप ने डँसा और उसकी मृत्यु हो गयी। परंतु समस्या यह भी है कि शुद्धि की रस्में पूरी कैसे की जाए। तीसरा दिन था और घर में एक दाना भी नहीं था। खेत भी साहुबार के यहाँ बँधक पड़े हैं। फिर सोचा कि गाय बेच देंगे और इधर–उधर से कुछ रूपये उधार ले लेंगे। इस प्रकार थारू जनजाति इतनी आर्थिक अभाव में होती है कि शुद्धि की रस्म के लिए भी पैसा नहीं होता। थारू आदिवासी जंगल में अर्थार्जन के लिए कुछ करना चाहते है। लेकिन वहाँ भी परिस्थिति के कारण कुछ कर नहीं पाते। जैसा कि उपन्यासकार संजीव *जंगल जहाँ से शुरू होता है* ने लिखा है :

जंगलों में बेंत हैं, हाथ में हुनर है, झूँड़ी, खाँची तो बना ही सकता है वह। लेकिन उसे लाने कौन देगा? बेंत का एक ठेकेदार जल्लाद, दूसरे जल्लाद वन – विभाग वाले। कहाँ से ले आये रकम, घूस–पाति के लिए।(23)

इस कथन से ज्ञात होता है कि थारू आदिवासियों को अपने आर्थिक अभाव को दूर करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

पराग पाण्डेय भूखमरी से हो रही आत्महत्या पर एक मार्मिक कविता *सुसाइड बेल्ट का किसान* इस प्रकार से है :

मैं उस सुसाइड बेल्ट का किसान हूँ

जो नहीं सिद्ध कर पाएँ अपनी आत्महत्या करने के प्रमाण

शायद कुछ कमी रह गई उनकी आत्महत्या में

या समझ पाएँ कि कैसे और कब करनी होती है आत्महत्या

जहाँ धानों के खेत आज भी राह देख रहे है उन हाथों की बाट

जिन्होंने उन्हें रोपा

उन्होंने सींचा

अपने खून पसीने से

आज भी राह देख रहे है वे।(1)

भारत के अनेक वनवासी क्षेत्रों में आज भी क्रय शक्ति के अभाव में विनिमय प्रणाली चलती है। यहाँ के लोग 10–5 रूपये तक का सौदा नगद खरीदने की क्षमता रखते हैं। परंतु उसके ऊपर कीमत बढ़ जाती है तो उसकी नगदी क्रय शक्ति क्षीण होने लगती है। तब वे वस्तु विनिमय की आदिम बाजार व्यवस्था का व्यवहार करते है विनिमय की शक्ति मुद्रा से वस्तु में स्थानांतरित हो जाती है। एक गज कपड़े के लिए एक मुर्गी, छोटे कठोते पर अमाज के लिए एक बीसी याने बीस अंडे। आदिवासी जंगलों से शहर आया करते है। अतः गुड़ चीनी लेना हो तो बराबर माप में शहद चुकाना होता है। आदिवासी भोले–भाँले, निरक्षर होने के कारण उनका शोषण होता है। जैसा कि उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह *पठार पर कोहरा* ने लिखा है – "शहर, बाजार की समझ न होने के कारण आदिवासी शहरों में प्रायः ठगे भी जाते हैं। कभी निमोंछिए शहराती लौंड़ें भी धौंस–रोब दिखाकर सोने जैसी चीजे कौड़ियों के मोल उठा लेते हैं।"(18)

आदिवासी क्षेत्रों में कतिपतय ऐसे शक्तिशाली व्यापारी होते है जो अर्थ और शक्तिबल पर आदिवासी क्षेत्रों में शोषण किया करते है। आज भी भारत में ऐसे अनेक क्षेत्र है जहाँ जंगल से संबंधित ठेका किसी आदिवासी के नाम पर लिया जाता है। वे ऐसे किसी आदिवासी को चुनते हैं जो बेचू तिवारी का नमक खाता है और जंगल के नाते भयभीत हो। वैसे तो इस क्षेत्र के वनविभाग के सारे कर्मचारी, अफसर, थाना पुलिस जानती है कि ये ठेका बेचू तिवारी ने ही लिया है।

भारत जो कि विकासशील राष्ट्र है एवं सुनहरे भविष्य की ओर देख रहा है। ऐसे राष्ट्र में आर्थिक रूप से भ्रष्टाचार व्याप्त है। आश्चर्य तो यह है कि शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र में यह भ्रष्टाचार अधिक मात्रा में व्याप्त है। आदिवासी एवं दूर–दराज के क्षेत्रों में शिक्षक अनुपस्थित रहते है और स्कूल में पढ़ाना न पड़े इसलिए अफसर, अधिकारियों को वे खुश करते है :

> प्रायः अनुपस्थित रहने वाले शिक्षकों की पहुँच जिला शिक्षा अधीक्षक या किसी अन्य पदाधिकारी के आवास पर देखे जा सकते थे। विद्यालयों में कई प्रकार के खर्चे और

खरीदारियाँ होती है। प्रधानाध्यापकों को खरीदों पर अच्छी कमीशन मिलती है, यह तो एक नंगा सच है, मगर घर–बैठे वेतन उठाने वाले शिक्षक अपनी अनुपस्थिति, सुविधा हेतु कुछ सुविधा–शुल्क जिला शिक्षा अधीक्षक को अदा करते है, यह जानकर हतप्रभ रह गये थे संजीव..... ।(51)

लेखक की व्यथा यह है कि सरकारी कर्मचारी सरकारी खजाने का ही अंधाधुंध दोहन कर रहे है। सरकारी खरीद के आदेश ऐसे ठेकेदारों को दिए जाते हैं जो सत्ता पर बैठे लोगों को कमीशन दे। संजीव अनुभव करता है कि शिक्षा विभाग में कुछ प्रबंधन, घोटाले, गबन और गलत तथ्यों की दलदल व्याप्त है। तल से चोटी तक हरी–भरी भ्रष्टाचार की बेल फैली हुई है और आश्चर्य की बात यह है कि कुछ वर्षों पूर्व तक भ्रष्टाचारी व्यक्ति अपने आपको अपराधी मानता था। परंतु अब वह किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं करता है। उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह के शब्दों में :

अभी दस–पद्रंह वर्ष पूर्व तक भ्रष्टाचार में संलिप्त किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी पर उसकी भद्द पिट जाती थी। वह समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रह जाता था। लोग उसे अपराधी मान लेते थे और छुत रोग की भाँति उससे कतराते थे। भ्रष्टाचार के मुद्दे पर जो जनशक्ति एक सत्ताधारी सरकार का तख्ता पलट सकती थी, उसी जनता की मानसिकता और सोच में कैसी गिरावट आ चुकी है, यह देख मर्माहत थे संजीव.... (52)

भारत में स्पीड़ अर्थात् 'स्टेट प्रोग्राम फॉर ऐलेमेन्ट्री एज्युकेशन' के अंतर्गत जापान, स्वीडन, आस्ट्रेलिया से करोड़ो रूपये प्राप्त होते है जो बिहार और झारखंड के लोगों को शिक्षित बनाने के लिए दिये जाते है। परंतु यह धन बिचौलिए ही हड़प कर लेते है। शिक्षा क्षेत्र में आर्थिक भ्रष्टाचार भयंकर रूप से व्याप्त है। संजीव जानता है कि अधिकांश संस्था इसी प्रकार किसी माफिया या किसी जीवित या दिवंगत छोटे–बड़े राजनेता की छत्रछाया में अटके है। ऐसे महाविद्यालयों में छात्रों और शिक्षकों से धन इकट्ठा किया जाता है। संजीव जब द्वितीय सत्र की फाईल देख रहे थे। तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि फाइल में खरीद का बिल है न भुगतान की पक्की रसीद विद्यालय की मरम्मत के लिए 5000 रूपये की रकम निकाली गई। जिसके भुगतान का प्रपत्र भी हड़बड़ी में तैयार किया हुआ था। वह भी कच्चा प्रपत्र था। कारीगर मजदूरों में से किसी के हस्ताक्षर भुगतान पत्र पर नहीं थे और अँगूठे के निशान थे। इस प्रकार स्कूल में आर्थिक भ्रष्टाचार चल रहा था।

सामान्य रूप से आदिवासियों का एक व्यवसाय होता है, बीड़ी के पत्तों को एकत्रित करना। जिन्हें तेंदु के पत्ते भी कहते है। परंतु इसका लाभ मुनाफाखोर उठाते है। भगवान दास मोरवाल *रेत* में लिखते है :

> खूब मेहनत से लू–छाम से सहेजा जायेगा एक–एक पत्ता। सौ–पचास की गड्डी बनाएँगे, फिर इन गड्डियों को औने–पौने भाव में खरीद लेंगे बीड़ी के ठेकेदार और भर–भर बोरे पत्ते खूब मुनाफे वाले भाव पर बेचेंगे।(147)

सम्प्रति आदिवासी समाज कुछ अंशों में जागृत हो रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में स्थापित हो रही, 'कोप्रेटिव सोसायटियाँ, आदिवासियों के आर्थिक कल्याण के लिए प्रयास कर रही है। यह एक शुभ और आशादायक स्थिति है। आदिवासी हरमू को कोआप्रेटिव सोसायटी से 1000 रूपये का कर्ज मिला है। जिससे संजीव ने उसके लिए गाँव में किरयाणे की दुकान खुलवायी है।

लेखिका शरद सिंह ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक *पिछले पन्ने की औरतें* में आदिवासी समाज की आर्थिक स्थिति को अभिव्यक्त किया है। लेखिका ने यह प्रश्न किया कि अगर वह जो वेश्यावृत्ति का धंधा करती है उसे छोड़ क्यों नहीं देती है ? तब उसका उत्तर विचारणीय बन जाता है – 'छोड़ दूंगी'? जो खाँऊगी कहां से? अपना, बच्चों का अपने परिवार का पेट पालने के लिए कुछ तो करना ही होगा और जिस धंधे में पैसा मिलेगा वहीं तो करना होगा। ये स्त्रियाँ चोरी करती है, चोरी करना इनका पेशा है। इसलिए बिलोटी ने चोरी धन के रूप में लायी हुई सोने की मुंदड़ी अपनी माँ के हाथ में रखी तो माँ ने उसकी लाख–लाख बलाईयाँ ली थी। "जब माँ भीड़ से घिरी हुई ठुमके लेकर नाच रही थी उसी समय बिलौटी ने भीड़ में घुसकर किसी आदमी की उंगली से मुंदड़ी सरका ली थी।"(41)

तेजिन्दर के उपन्यास *काला पादरी* में आदिवासियों का चित्रण हुआ है। जिसमें उनकी घोर दरिद्रता को व्यक्त किया गया है। अकाल पड़ने के कारण इन आदिवासियों की स्थिति और भी बहतर हो गई। थाने में रिपोर्ट दर्ज थी कि बिजापुर गाँव में एक आदिवासी स्त्री तथा उसके दो बच्चे जिनमें एक अभी चार वर्ष का था और दूसरा अभी माँ की छाती में दूध तलाश रहा था उसकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार अंबिकापुर के अस्पताल में भर्ती एक बूढ़े व्यक्ति ने बताया कि उसकी बहु की मृत्यु भूख से हुई है और बेटे की मृत्यु भी कुछ दिन पहले भूख से ही हुई थी। रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि :

इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर उनका माँस खा रहे है।(21)

उपन्यास के नायक आदित्य पाल को जब यह ज्ञात हुआ कि वहाँ के आदिवासी ईश्वर से प्रार्थना करते है, कि इस वर्ष उनके गाँव में हाथी भेज दे ताकि वे उनके झोपड़े तहस–नहस कर दे। इस प्रार्थना को सुनकर नायक को हँसी आई। परंतु इस प्रार्थना के पीछे उद्देश्य यही था कि जिन लोगों के झोपड़े हाथी तोड़ देते है। उन्हें सरकार की ओर से मुआवजा मिलता है। और झोंपड़ा दुबारा बनाने के लिए लकड़ियों की बल्लियां और खपरैल आदि भी मिलता है। कुछ पैसा भी मिलता है। जिनसे कम से कम छह महीने का अनाज खरीद सकते हैं। वास्तव में यह एक भयानक सच है। 21वीं शती के आरम्भ का दिल दहलाने वाला सच है। जिसे आदित्य साक्षात् सामने देख रहा है। उपन्यासकार तेजिन्दर ने इस क्षेत्र की सबसे प्रमुख समस्या भूख के संबंध में लिखा है कि :

एक आदमी भूखा है और भूख की वजह से बीमार है। भूख एक, भूख दो, भूख तीन, भूख चार, भूख पाँच और भूख छह। उसने भूख छह तक का एक रिकार्ड बनाया है। एक ऐसा रिकार्ड जिसे दस्तावेजों में दर्ज करने वाला कोई नहीं। कोई गिनीज़ बुक आफ वर्ल्ड रिकार्ड नहीं, कोई लिम्का नहीं, कोई थम्स अप नहीं। इस तरह जब वह भूख छह तक पहुँच जाता है। तो उसे लगता है कि बस अब उसके बाद और कुछ नहीं। लेकिन वह अपने आसपास बहुत सारे लोगों से घिरा हैं। वे उसे गाँव की चौपाल पर लिटा देते है।(71)

वास्तव में उसे अन्न की आवश्यकता है परंतु आदिवासी अज्ञान के कारण यह मानते है कि उसकी बीमारी का कारण भूत–प्रेत है। इन आदिवासियों के भूख का एक ही विकल्प है कि उन्हें चावल मिले। परंतु 'चावल' न उसके पास है, न गाँव वालों के पास है, वे उन्हें देने के लिए तैयार नहीं है। एक व्यक्ति जिसका नाम बिरई लड़का था तथा जिसके भाग्य में राजयोग लिखा था या नहीं! परंतु वह भूख से मर गया। उसके सींगी देवता भी उन्हें बचा नहीं पाये।

युवा पत्रकार प्रयाग देश पाँडे एक रिपोर्ट पेश की है *आज तक* : मैं भण्डारा जिले की हकीकत बता रहा हूँ – जिस सरकार से आपने आत्महत्या करने का प्रमीशन मांगा है, उसी की अधिकारी हवाई जहाज से ऊपर ही मुआयना कर नाप गए है कितना पानी बाढ़ से खड़ा है। 300 रूपये अनुदान मिले है मकान बनाने को, खुद के टॉयलेट तक के लिए लाखों और

शेतकरी को पूरे मकान के लिए 300! चूहे की बिल भी ना बने! वाह रे तुम्हारा शेतकरी प्रेम! कितनी मेहरबान है सरकार! भर दिया दामन वादों से! वादे! वादे! वादे!

आदिवासी गाँव के पास लखामपुर गाँव में गोयल सेठ का गोदाम था। जो चावल के बोरों से भरा पड़ा था। उसका एक नौकर था कुजुर। जिसकी उम्र 34–35 वर्ष की थी। कुजूर जब 10 वर्ष का था तभी उसके बाप ने 2000 रूपये कर्ज के बदले में उसे गोयल सेठ के पास गिरवी रखा था। इसके बदले में उसे हर वर्ष दो बोरी चावल पहुँचा दिया जाता था। जब कुजूर अपने गाँव आया तो उसने देखा कि उसके हम उम्र के दोस्त भूख के कारण सूखकर तीली हो गये है। कुछ तो शहर की ओर भाग गये है। धान की सूखी बालियाँ तक कहीं दिखाई नहीं दे रही है। 7–8 साल उम्र तक के बच्चे चलते–फिरते भूत–प्रेत नजर आ रहे है। इस दृश्य को देखकर उसका मन बैचेन हुआ। उसने अपने गाँव के मित्रों को सेठ गोयल के गोदाम के बारे में बताया और इस प्रकार कुजूर और उसके मित्रों ने एक रात गोदाम लूट लिया। अंततः न्यायधीश ने क्रांतिकारी फैसला सुनाया। कथाकार तेजिन्दर के शब्दों में :

> चूंकि कुजूर और उसके साथियों पर इससे पहले लूट और डकैती का कोई भी जुर्म दर्ज नहीं है और उन्होंने ईमानदारी से इस आरोप को स्वीकार भी किया है तथा इसके साथ ही हालत ऐसे है कि जिले के कई गाँवों में लोग चावल के एक एक दाने को मोहताज है। ऐसे में किसी भी एक व्यक्ति को चाहे वह कितना ही ताकतवर क्यों न हो, यह हक नहीं बनता कि वह सैकड़ों बोरी चावल अपने गोदाम में भर कर रखे। इसलिए इन सब हालात को नजर में रखते हुए यह अदालत अल कुजूर और उसके सभी साथियों को इस ताकीद के साथ सिर्फ एक दिन के सादे कारावास की सजा देती है। कि इसके बाद वे कभी कानून के दायरे से बाहर जा कर कोई काम नही करेंगे, जिला प्रशासन को भी यह हिदायत दी जाती है कि गोयल सेठ जैसे ही दूसरे अपराधियों की खोज की जाये और उन पर जमाखोरी के जुर्म में कानूनी कार्रवाई की जाये।(107–108)

वास्तव में यह फैसला उपन्यासकार का मनगंढ़त न होकर रायपुर के एक जिला एवं सत्र न्यायधीश जस्टीस ए.ए.आबेदी के फैसले पर आधारित है। जेम्स खाखा ने कहा कि यह एक क्रांतिकारी किस्सा है। वास्तव में न्यायधीश के फैसले में आर्थिक विषमता और जमाखोरी की ओर संकेत किया गया है।

रेत कंजर समाज पर केन्द्रित उपन्यास है। इस समाज में लड़की वाले को दहेज दिया जाता है। यह रकम भी कम नहीं होती है। उपन्यास में अंगूरी रंभा के प्रेमी ड्राइवर को बुलाकर

स्पष्ट शब्दों में कहती है कि अगर वह अपनी पोती को भाभी बनाता है तो उसे कम से कम दो लाख रूपये ंदहेज मे मिल सकते है। इस समाज में जो वेश्या होती है उसे भाभी कहते है। रंभा जब यह प्रश्न करती है कि उसके प्रेमी की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है। अतः वह इतना धन कहाँ से ला सकता है और फिर मैंने अभी तक इतना कमाकर दिया है उसका क्या ? अब अंगूरी यही कहती है कि रंभा अपना घर बसाकर उसका आर्थिक नुकसान ही कर रही है।

कंजर समाज में भी विवाह के अवसर पर आर्थिक समस्या बनी रहती है। वेश्याएँ पुलिसवालों के लिए आर्थिक कमाई का एक महत्वपूर्ण साधन होता है। वेश्याओं को पुलिस को रिश्वत देनी पड़ती है। रूक्मिणी वैध जी से यही कहती है कि इन पुलिसवालों को उनसे संबंध बनाकर रखना पड़ता है क्योंकि इनकी कमाई वेश्याओं से होती है। भगवान दास मोरवाल *रेत* की नारी पात्र रूक्मिणी के शब्दों में :

> हमारा शरीर और इस पुलिस का तो जूँ और घाघरी जैसा नाता है। न जूँ से घाघरी छोड़ते बनती है, न घाघरी से जूँ। वैसे भी हम पुलिस से बनाकर ना रखे तो हमें कौन जीने दे। पता है धरमपुरा कोतवाली में आने के लिए पुलिस महकमें में मोटी रकम चढ़ाई जाती है।(147)

पुलिस व्यवहार में सबसे अधिक भ्रष्टाचार है। जैसे धरमपुरा कोतवाली की असली कमाई है। गाजूकी, पठेपुर, कलगाँव, अल्लाहपुर आदि गाँवों के चढ़ावे से होती है और फिर पुलिसवाले आदिवासी कंजरों और इस समाज की वेश्याओं से धन वसूल करते है।

राकेश कुमार सिंह का *पठार पर कोहरा* में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति का यथार्थ चित्रण है। स्वयं राकेश कुमार सिंह ने लिखा है "आर्थिक तानाशाही ने झारखंड के आदि निवासियों के रहन–सहन, संस्कार, सोच और परम्पराओं को ही निरूपित नहीं किया वरन् पूरे जनजातीय समाज के स्नायुतन्त्र को ही तोड़–फोड़ डाला है।"(8)

आदिवासी क्षेत्र में आर्थिक लूट मची हुई है। तूपकाहीड़ रेलवे स्टेशन के पास हाट लगता है। इन दो दिनों के अलावा यदि खरीददारी करनी हो तो बनिये की दो दुकानें है परंतु वे भोथरी छुरी से गला काटते है। हर चीज 10–20 पैसे मँहगी। वैसे आदिवासियों की आर्थिक आवश्यकताओं को रेखांकित करते हुए उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह ने लिखा है :

> जैसे बनवासियों की जरूरते है भी कितनी ? अनाज, किरासन तेल, नमक, सस्ते, कपड़े, लोहे–लकड़ी के समान, घी–गुड़–शक्कर ..... आदिवासियों द्वारा जंगल से इकट्ठी की गयी चीजें, मसलन शहद, पत्तल दाने, लकड़ी के लट्ठे गट्ठर, चीटे, भोज्य पक्षी,

मछलियाँ और हँडिया (चावल की मदिरा) शुक्रवारी या मंगलवारी हाट में ही सब कुछ मिल जाता है।(22)

आदिवासी निरक्षर और सरल स्वभाव के होने के कारण साहुकारों, जमींदारों, ठेकेदारों के द्वारा आर्थिक रूप से शोषित हैं, आदिवासी स्त्रियाँ छोटी–छोटी वस्तुएँ तैयार करती है। जैसे– टोकरियाँ सूप, पंखे बनाना। इससे उनका और उनके परिवार का पेट भरता नहीं है। इसी प्रकार कुछ आदिवासी समाज अपराधी वृत्ति से जुड़े हैं, जैसे कबूतरा समाजचोरी, डकैती और शराब बनाना व्यवसाय अपनाये हुए है। *काला पहाड़* उपन्यास में आदिवासी मेवात अपने आर्थिक कष्ट को प्रधानमंत्री तक पहुँचाते है। *जहाँ बाँस फूलते है* का जोबा को भरपेट चावल तो नहीं मिला। इस उपन्यास का द्वद्ध भूख को जानता है क्योंकि वह खुद तीन दिन से भूखा है। *जंगल जहाँ शुरू होता है* में आदिवासी स्त्रियां जंगलों में होने वाले बेंत वस्तुएँ बना सकती है, परंतु बेंत का ठेकेदार जल्लाद है। वह उन्हें बेंत लेने नहीं देता। राकेश कुमार सिंह का *पठार का कोहरा* में उपन्यासकार ने स्पष्ट लिखा है कि निमोछिए बाजार की समझ न होने के कारण आदिवास प्रायः ठगे जाते है। कभी–कभी बिचौलिए अपना रोब दिखाकर सोने जैसी चीजें कौड़ियों के मोल खरीद लेते है।

आर्थिक स्थिति की भयावहता के कारण हैरान–परेशान आदिवासी स्त्रियाँ देह व्यापार करती है। *रेत* में यही सच्चाई ब्यान की गई है। वेश्या व्यवसाय के साथ कातिपय स्त्रियाँ दुकानों में जाकर छोटी–छोटी मोटी चीजें उठा लेती है। *काला पादरी* उपन्यास में आदिवासियों की घोर दरिद्रता वर्णित है। जहां एक बच्चे की मौत भूख से हो जाती है। इसी उपन्यास में भूख की समस्या का निरूपण करते हुए लिखा है कि भूख से मरने वालों का कोई रिकार्ड नहीं है। *ग्लोबल गाँव के देवता* अर्थात् वैदान्त जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और टाटा कंपनी करती है। जो लोहे की वस्तुएँ असुर बनाते थे, उन्हें टाटा की फैक्ट्रियों में बनाने के कारण असुर भूख करने पर विवश हो गये है।

संक्षेप में सभी आदिवासी केंद्रित उपन्यासों में आदिवासियों के घोर आर्थिक संकट को उकेरा गया है। ये आदिवासी अपनी अत्यंत मूलभूत आवश्यकता अन्न के लिए खानाबदोश होने पर विवश है। संवेदनशील उपन्यासकारों ने आदिवासियों की मूल समस्या को प्रस्तुत करते हुए किसी निशचित समाधान की अपेक्षा की है।

3.2.1 जमीदारों द्वारा आदिवासी भूमिधिकृत

मानव जीवन की आवश्यकताएँ धन के द्वारा ही परिपूर्ण होती हैं। सभ्य और आदिम समाज के लोग विभिन्न रूपों से अर्थोपार्जन करते हैं। प्राचीन समय में भारत के विभिन्न प्रान्तों

में रहने वाले ग्राम्य जीवन की आवश्यकताएँ जंगलों द्वारा ही पूर्ण होती थी। समय परिवर्तन के साथ–साथ जंगलों के आस–पास बसे ग्राम्य समुदाय ने अपनी आजीविका और अर्थोपार्जन के अन्य साधनों का प्रयोग किया जैसे खेती करना, मजदूरी करना, मछली पकड़ना, खेल तमाशे दिखाना, कपड़ा बुनना आदि।

सरगुजा गाँव से गुजरेंगे तो कोयला बीनने वाले बच्चों का चित्र स्वाभाविक हैं। हैधरी, महाजन, बैनर्जी इन तीनों लोगों का काम बैंक में अपनी जमीन को ऋण में रखकर पैसा लेने के लिए आनेवाले किसानों और सरगुजा के लोगों का शोषण करना है। ये लोग इन किसानों के नाम बड़ी रकम ऋण लेकर आधा हिस्सा तीनों बाँटकर लेते हैं। यह सब करते हुए इन्हें किसी तरह का अपराध बोध नही था। अखबार में रोज खबर आ रही थी कि सरगुजा के एक मुहल्ले बीजाकुर में लोग भूख से मर रहे थे। रिपोर्ट में लिखा गया था कि इस क्षेत्र में ग्रामवासी पिछले कई दिनों से जंगलों में जहरीली बूटियां, बिल्लियों और बंदरों के मास खा रहे थे, खाने के लिए इन सबके अलावा बीजाकुर के लोगों के पास कुछ नहीं है। लेकिन कलक्टर का कहना है कि ये लोग भूख से नहीं बल्कि विष कन्द मूल खाने के कारण ही मर जाते है। *काला पादरी* उपन्यास की कथावस्तु के अनुसार "भूख से कोई व्यक्ति मर सकता है, यह कल्पना दुनिया भी भयानक कल्पना थी।"(23)

विशद कुमार फारवर्ड प्रैस पत्रिका में *आदिवासियों को जमीन बेचने का अधिकार* अगस्त 2018 में कानून पर लिखते है :

> जब से झारखंड में रघुवर सरकार आई है, राज्य के जमीनों पर सरकार कुछ ज्यादा ही संवेदनशील हो गई है। पत्थलगढ़ी समर्थकों को राष्ट द्रोही साबित करने का मामला हो या एसपीटी एक्ट व सीएनटी एक्ट में बदलाव पर जमीन हथियाने का लचीलापन कानून बनाने की कवायद, इन सभी मामलों में सरकार की सक्रियता काफी तेजी से बढ़ी है।(11)

ईसाई मिशनरी के लोग उरांवों के बीच आकर इनके गरीबी का शोषण करके इन्हें ईसाई बनाया। उन्हें खाना, कपड़ा, दूध सब दिया। उरांवों को ईसा का पुत्र कहकर बपार्त्समा किया। मिशनरी के लोग उरांवों के आर्थिक स्थिति को मोहरा बनाकर अपने धर्म में सबको मिलाया, जेम्स खाखा पूछते है कि 'क्या यह सच नहीं कि हमारी इमेज़ में पहाड थे, नदियाँ थी, पेड़ थे, शेर थे, चीते थे, और रजा ने हमें बधुआ बना दिया। फिज़िकली और इकनॉमिकली एक्सप्लाईट किया, लेकिन आपने क्या किया? यू रादर टेम्ड अस, आपने हमें पालतू बना दिया। हमारे लिए फंडमेंडलिस्टों और आप में अब कोई खास फर्क नहीं है। हमारी सारी इमेज़ छीन

ली आप लोगों ने। इस बात पर जोर डालते हुए डा० विनोद विश्वकर्मा *हिन्दी उपन्यास : संघर्ष, सपने और चुनौतियाँ और 21 वीं सदी* में लिखते है :

> आधुनिक सुविधाओं के नाम पर उसकी अस्मिता और अस्तित्व छीना जाने लगा, अध्ययनों से यह तो पता चला कि पटवारी, रनेज अफसर, ठेकेदार, स्थानीय नेता इनके परोपकार बने और छोटे–छोटे सुख के लिए इन्हें अपनी अस्मिता दाँव पर लगा देनी पड़ी।(62)

उरावं जाति का शोषण सिर्फ सरगुजा, अंबिकापुर गाँव में ही नहीं बल्कि 'हस्तक्षेप' में चित्रित सतपुड़ा, बुन्देलखंण्ड, बघेलखंड, एवं महादेव की पहाड़ियों के पास बसे गाँवों की स्थिति भी जैसी की तैसी है। पहले गगनाँचल के अधिकांश जमीनों पर इन ग्रामवासियों का ही अधिकार था। जब से बाहरी लोगों का आना बढ़ गया हैं उनकी आबादी भी तेजी से बढ़ने लग गई है। आदिवासी लोगों को गरीबी और उनकी आर्थिक स्थिति को सामने रखकर उनकी जमीनों को हड़पना शुरू कर दिया गया। इनको सौ, दो सौ रूपयों देकर बाहरी लोगों ने बड़ी से बड़ी जमीन को अपने नाम लिखवा दिया। ग्रामवासियों की सबसे बड़ी दुर्बलता शराब है, यह जानकर शोषक लोग इन्हें ढ़ेर सारे शराब या हंडिया भी देकर उनसे सारी ज़मीन छीन लेते हैं। अधिकांश ग्रामवासी आज भी पहले की तरह निश्चल और सीधे–सादे है। जब तक उन्हें कोई बहकाता नहीं, ये किसी काम के लिए प्रेरित नहीं करते, वे स्वयं अपनी इच्छा से कोई कदम नहीं उठाते। ग्रामवासी द्वारा ग्रामवासियों के शोषण का अच्छा उदाहरण है विधायक जी। तेजिन्दर *काला पादरी* ने चित्रित किया है :

> जागो अपने ससुर के क्रिया कर्म के लिए दो मन अनाज और साठ रूपये राय साहब से लिया था। उसी दिन से मालिक के पास उनकी गुलामी शुरू हो गयी। मालिक अपने बैल को आराम के लिए समय देते हैं, लेकिन जागो जैसे अन्य सेवकियों को नहीं। आज के जमा़ने में भी गुलामी का बदला रूप हम जागों में देख सकते हैं। अगर उसके घर में बछड़ा, मुर्गी के बच्चे आदि होते तो मालिक उसे ले जाता था। खेतों में अनाज होता तो उसका भी दो तिहाई मालिक के आदमी बाँटकर ले जाते थे। राय साहब के चीते की देखभाल भी जागो का काम है। बढ़ती हुई उम्र के कारण जब जागो राय साहब के पास काम करने के लिए तैयार नहीं होता है। तब राय साहब ने जागो का हाथ पैर बाँधकर भूखे जीते के सामने फेंक दिया।(149)

सेवकिया बनने के कारण ही उन्हें यह सब कष्ट सहना पड़ा। जागो सेवकिया बनने के कारण भी उन्हें यह सब कष्ट सहना पड़ा। जागो सेवकिया बनने के कारण ही उन्हें यह सब

कष्ट सहना पड़ा। जागो सेवकिया जैसे मेहनतकश अपने खेत, घर गाँव से बेदखल होकर जड़विहीनता का अभिशाप झेलते हैं। जंगल, पहाड़ सब कुछ सरकार का हो गया है। जो खेत अपने पास भी वह भी किसी राम साहब और बनिया के हो गये। लेरना जैसे बड़े गाँव में भी आदमी खोजने से नही मिलेगा। सब ईंट भट्ठा में मजूरी करने गये। छोटे–छोटे बच्चे ईंट ढ़ोते–ढ़ोते मर जाते है। अपना गाँव छोड़कर सब को जंगल जाना पड़ रहा है। अपने ही खेत में चोरी की फसल काटकर भय से दिन गुजारना पड़ रहा है। यही है सोनाहातू, लुपुगां आदि गाँवों के उरांवों की स्थिति।

3.2.2 ठेकेदारों द्वारा वेतन उपेक्षा

किसान साल भर ना खाए, लेकिन अगले साल की प्रतीक्षा में बीज बचाकर रखता है। लकड़ी काटकर जीवन बिताने वाले मजदूरों का शोषण ठेकेदार तुच्छ वेतन देकर करते हैं। कथाकार संजीव के उपन्यास *फाँस* में नारी पात्र मैना कहती है कि :

> हम को याद आता जब हम बच्चा था खेती से चार छः महीने का काम चल जाता, आज एक दिन कभी नई, खेत–खतार, पेड़ रूप कुआँ, तालाब हम और हमारा बाल बच्चा तक आज तेजाब में गल रहा है, भूख में जल रहा है पहले हम चोरी का चीज नहीं जानता था, भीख कभी नई मांगा, चुगली–दलाली कभी नई किया, इज्जत कभी नई बेचा, आज हम सब करता, आदत पड़ गया है, बल्कि हमें इसके बिना गुजारा नई।(56)

इन वाक्यों से बांसगड़ा की ही नहीं बल्कि पूरे संथालों की आर्थिक दशा सामने आती है।

एक भोले–भाँले ग्रामीण से एक दुर्दान्त डाकू के रूप में उसके बदलने की प्रक्रिया संजीव ने पूरे विस्तार और बारीकियों के साथ दिखाया है। डाकू के रूप में उसके बदलने की प्रक्रिया का पहला उत्तरदायित्व उनकी आर्थिक स्थिति को है। क्योंकि काली को मालूम नहीं वह कैसे अपने भैया और भाभी को तसल्ली दे ! क्योंकि महीने भर नहर पर काम करके पैसा मांगने पर ठेकेदार टरकाया जाता है, जिद कर बैठा तो हाथ ही छेड़ दिया। अपनी कमाई मांगने पर ठेकेदार के पास पैसा नहीं, लेकिन दुराचारी लुटेरे परशुराम के लिए उनके पास पैसा है *जंगल जहाँ से शुरू होता है* उपन्यास कथा के अनुसार "ऐसे अन्याय पर उसे क्या करना चाहिए, यह बताने वाला कोई नहीं, न कोई देवी देवता, न कोई साधू फकीर, न कोई लीड़र अफसर हर तरफ अंधेरा है, हर तरफ घुटन।"(93) मिनि चंबल के क्षेत्र की थारू जनजाति को जंगल में मजबूरन संघर्षमय और शोषित जीवन बिताना पड़ता है। वे एक ओर सेठ साहूकारों के शोषण से प्रताड़ित करता है तो दूसरी ओर डाकुओं की कुरीतियों से। बिसराव की खेती को

जमीदार ने हड़प ली है और मालिकार ने भैंस को पकड़ रखा है। थारू संस्कृति पर हस्तक्षेप करने वाले सेठ–साहूकारों का पर्दाफाश इस उपन्यास में काफी विस्तार से संजीव ने चित्रित कर उसका नंगा स्वरूप पेश किया है। एम. फिरोज अहमद *आदिवासी विशेषांक* के विचार यहाँ महत्वपूर्ण है :

> सभ्यता न वेशभूषा न पोशाक। संस्कृति पाउडर, टीका, सरकारी चाकरी, वेतन नहीं है दोपहर के भोजन में गुड़ और दलिया तथा उबली दाल के लिए कतार बांध स्कूल आना शिक्षा नहीं। खाद, बीज, भैसा, मुर्गी पालना प्रगति नहीं है। आदमी सभ्यता बनाता है या संभ्यता आदमी को बनाती है।(18)

3.2.3 पूँजीपति वर्ग द्वारा आदिवासी मजदूरों से अवैध कार्य करवाना

पूँजीपति वर्ग या धनी वर्ग के लोग मजदूरों से कोयल खनन, अवैध शराब, दैहिक व्यापार जैसे अवैध कार्य सिर्फ अपनी आर्थिक स्थिति को बढ़ावा देने हेतू किए जाते है जहाँ कानून की नजरों में मुजरिम ये मजदूर और निम्न वर्ग के हालात से मारे मजदूर बनते है। कोई अमीर फँसता भी है तो पैसे देकर छूट जाता है। परन्तु गरीब मजदूर नहीं छूट पाता है।

जाति का आर्थिक मार्ग का जरिया शराब बनाना और चोरी करना अथवा लूटपाट करना है। पुरूष वर्ग चोरी करता है तो स्त्रियाँ डेरों पर महुए और गुड़ की शराब डालती हैं। इन लोगों की आर्थिक विषमता के पीछे इसकी अशिक्षा है। कज्जा समाज अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए भी इस जाति का विकास नहीं चाहता। यह भी नहीं यह जाति अपने मूल से विस्थापित है। सभ्य समाज नहीं चाहता कि ये लोग शिक्षा प्राप्त कर उनकी बराबरी में खड़े हो। इसके लिए वे उन्हें बरगलाने में लगे रहते है तथा भावात्मक शोषण करने का भी पूरा प्रयास करते है। केहर सिहँ और मंसाराम शराब का ठेका खोलता है और अपने षड़यन्त्र से कबूतराओं से शराब बनवाते है उन्हें सरकारी दरों पर बेचते हैं। कबूतराओं की आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता, बल्कि वे अब कहर और मंसा की कृपा पर जी रहे हैं। यह कज्जा समाज की एक सोची समझी रणनीति है। जिससे कोई निम्न जाति या मजदूर परिश्रम के बल पर उनके साथ बैठकर काम न कर सके। कोयला क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों की कथा संजीव ने सहानुभूति और सहदृयता के साथ कही है। बांसगड़ा इलाके में कोयला देखकर बस्ती में एक–एक आने लगे। पंडित जी वह जगह कोयलौरी – ठो नेशनलाइज़ हो जाने की घोषणा की। पंडित जी महेन्द्र बाबू के साथ मिलकर सारा कोयला हड़प लेना चाहते थे। इसलिए संजीव *फाँस* की नारी पात्र मैना कहती है :

बांसगड़ा में गोध की नजर लग गयी है। पहले इस जंगल में सियार, बनबिलाव, चूहों, खरगोशों, सांपो का बसेरा था, कुत्ते यदा–कदा पहुँचकर इनको परेशान करते थे। यह सारा कुछ अब भी है, सिर्फ जन्तुओं ने आदकी की शक्ल अख्तियार कर ली हैं। कोयले के दलाल, मजदूर उनके बच्चे, कोल माफिया और यदा–कदा पुलिस(99)

शर्मा मजाक में कहते है कि इस कोयले खज़ाने पर अमेरिका की तरह पंडित सीताराम काबिज है और लैटिन अमेरिका के एक छोटे राष्ट्र की तरह मैना।

खांसगड़ा गांव प्रायः उजाड़ हो चला था। अभी ज्यादातर अवैध कोयला खनन गड्ढ़ों में पानी भर जाने से बंद था। बांसगड़ा के स्त्री पुरूष रात भर अवैध कोयला खनन के बाद दिन में सोते रहते है। चोरी से कोयला काटकर बेचते हैं इससे भी गुजारा न होने के कारण दूर–दूर के ठेकेदार इन्हें सस्ती मजदूरी पर काम के लिए ढोर डाँगरों की तरह हाँक ले जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि धान के खेत, इतनी कोलयरियाँ और छोटे से लेकर चितरंजन और केबुलस के बड़े कारखाने होते हुए भी इनकी जिन्दगी में कोई सुरक्षा नहीं है। और अब तो आदिवासियों के *पारंपरिक हथियारों पर लगा प्रतिबंध* सलमान रावी संवाददाता बीबीसी न्यूज के अगस्त 2017 शब्दों में – छतीसगढ़ के नारायणगढ़ जिले में आदिवासियों के पारम्परिक हथियार रखने पर भी पाबंदी लगा दी है। इन हथियारों में कुल्हाड़ी, टंगिया, तीर–धनुष, भाला, खुदाल, दरात आदि शामिल है।

पादरी आदिवासी युवक से कहता है – तुम्हारा धर्म कैसा है तुम्हारे लोग कैसे हैं। यदि इसाई धर्म में तू आ जाए तो जिंदगी भर आराम से खाएगा। जहां तेरा पसीना बहेगा, हम अपना खून बहा देंगे। लेखक का एक अन्य उद्देश्य आदिवासी स्त्रियों की दयनीय स्थिति और दुखात्मक स्थिति को बड़ी यथार्थता के साथ दिखाते हुए आर्थिक पक्ष का वर्णन किया है। आरंभ में तो कोई ईसाइ युवक भोली–भाँली आदिवासी युवती को बहलाकर उनकी अस्मिता को तार–तार कर देते है। फिर किसी दूसरे इसाई युवक से उसका विवाह करवाकर धर्म परिवर्तन करा देते है। अंत में शहर में ले जाकर बेच देते है। बंजारी का विवाह गाँव के गोंड जाति के युवक 'जोसेफ' से हो जाता है। गरीबी और भूखमरी के कारण जाति के गोंड इस युवक ने लालच में आकर धर्म परिवर्तन कर इसाई धर्म अपना लिया था कि उसे चर्च में नौकरी लगावा देगे। जरपन भोरी से बदलकर नाम जोसेफ हो गया और विवाह कर अब बंजारी 'मिसेज बेंजो जोसेफ' बन चुकी है। किंतु बाद में पैसे के लालच में जोसेफ अपनी विवाहित पत्नी बंजारी को होटल मालिक 'मि० कपूर' के हाथ 500/- रूपये में बेच देता है। कपूर बंजारी को वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर कर देता है। बंजारी को अपने इस नारकीय जीवन से घृणा हो जाती है तभी वह वहाँ से भाग जाती है। वह गाँव आकर देखना चाहती है कि अब किसी बंजारी के निर्वासित

होकर मिसेज बेंजो जोसेफ न बनना पड़े। इस तरह की घटनाक्रम इनके जीवन का एक हिस्सा बन चुका है। जहाँ आर्थिक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन होता जा रहा है।

3.2.4 आर्थिक मूल्य हेतू भ्रष्ट आदिवासी शिक्षा व्यवस्था

शिक्षा मनुष्य के जीवन में घटित होने वाली वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह अपने समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त करने योग्य बनता है। शिक्षा किसी भी समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन का संवाहक है। प्रश्न यह उठता है कि भारतीय लोकतंत्र में जहां सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक शिक्षा की व्यवस्था है वहां पर आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर आजादी के छः दशकों के बाद भी निम्न क्यों है ? विभिन्न राजकीय, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, सरकारी एवं गैर–सरकारी शिक्षा नीतियों, योजनाओं का लाभ उन तक क्यों नहीं पहुँच पा रहा है ? ऐसे कौन से बाधक तत्व है जो उनके शैक्षिक विकास को प्रभावित कर रहे हैं। उनके शिक्षा से बचने के लिए जिम्मेदार कौन है। उनकी क्या समस्याएँ है जो उनके शैक्षिक विकास में बाधाँ उत्पन्न कर रही है ? इन प्रश्नों से मुखातिब होते हुए हिन्दी उपन्यास विशेषकर राकेश कुमार सिंह का *पठार पर कोहरा* तथा रणेन्द्र का *ग्लोबल गाँव का देवता* आजादी के बाद आदिवासी शिक्षा की जमीनी हकीकत एवं उनकी समस्याओं को बयान करते है। इन उपन्यासों के केन्द्र में तो कुछ ही गाँव है किन्तु यह समस्या आदिवासी क्षेत्र के लगभग अधिकांश गाँवों की है। इन उपन्यासों के केंद्र में अशिक्षा की समस्या है।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास *पठार पर कोहरा* भारत की शिक्षा व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। जिसमें शिक्षा जैसे विभाग में भ्रष्टाचार को बखूबी उकेरा गया है। इस बात को उपन्यास में पूरी ईमानदारी से उजागर किया गया है। सरकारी कर्मचारी के लिए गाँव की अपेक्षा शहर वरीयता में रहता है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था का आदिवासी क्षेत्रों में असफलता के कारण में एक मुख्य कारण शिक्षक का गाँव में न ठहरना ही है। शिक्षक बहुत शिक्षित है और बहुत बेरोजगारी दूर करने के लिए आया है। आजादी के छः दशको के बाद भी जंगल के अंदर के गाँवों में आवश्यक शिक्षा का ढांचा ही विकसित नहीं हो सका। शिक्षा के स्तर को बढ़ाने के लिए 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड' स्पीड आदि के नाम पर जो करोड़ों रूपये आते है। वह सरकारी लूट–खसोट की बलि चढ़ जाता है।

> सरकार में बैठे वरिष्ठ लोग, अधिकारी, जिला शिक्षा पदाधिकारी एवं अधीक्षक जैसे मध्यम स्तर के अधिकारी और माध्यम स्तर के बाबू लोग मिल–जुलकर सरकारी खजाने का दोहन कर रहे है।(34)

जिसका खुलासा उपन्यास का पात्र संजीव करता है। संजीव को स्पीड़ अर्थात् 'स्टेट प्रोग्राम फॉर एलीमेंट्री एजुकेशन डेवलपमेंट' परियोजना में शिक्षा के प्रसार के लिए नियुक्त किया गया है। क्योंकि स्पीड़ की मुख्य चिंता सुदूर देहात ही है जहां शिक्षा दुर्लभ एवं अनुपलब्ध होती है। शिक्षा विभाग शिक्षकों को सबक सिखाने के लिए इस परियोजना में लगा देता था। ऐसे ही परियोजना के अंतर्गत 'गजलीठोरी' गाँव में स्कूल का निर्माण हुआ है जिसे संजीव ढूँढ़ता है :

> बात को ऐसे समझो कि यहाँ स्कूल चलता है। कागज पर ..... जमीन पर उसका कोई अस्तित्व नहीं है। गाँव की सकूल चलती है पंसारी के दुकान में। इस गाँव में स्कूल और किराना की दुकान एक दूसरे के पयार्य बनकर रह गए है। तुम्हारा स्कूल भी हमारी दुकान में ही है मास्टर जी।(82)

संजीव उपन्यास का ऐसा पात्र है जो शिक्षा जगत की खामियों को लोगों के सामने लाता है। इतना ही नहीं लेखक ने संजीव के माध्यम से एक ऐसे शिक्षक को चुना है जो शिक्षा का प्रचार–प्रसार ही नहीं करता। अपितु अपनी जान को हथेली पर रखकर गाँव के शोषकों से लड़ता है। वह गाँव के वय–वयस्कों को भी उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूक करता है।

ग्लोबल गाँव का देवता उपन्यास में युवा शिक्षक 'मुन्ना' उपन्यास का नायक शुरू से अंत तक बना रहता है। उपन्यास के प्रारंभ में ही 'नियुक्ति पत्र' देखकर खुश होऊँ कि उदास होऊँ .... से ही स्पष्ट हो जाता है कि अपनी बेरोजगारी दूर हो जाने से तो खुश होने बदले व माथा पीटता है तथा उसे बदलवाने का भरपूर प्रयास करता है, किन्तु बेरोजगारी के दबाव में वह वहाँ जाता है। यह भारतीय शिक्षा व्यवस्था के लिए एक विडम्बना ही हैं। जिसमें शिक्षक सिर्फ अपने जीविकोपार्जन के लिए शिक्षक बनता है और हमेशा कस्बाई क्षेत्रों में ही सेवा देना चाहता है। मुन्ना न चाहते हुए भी यहाँ आता है। किन्तु बाद में वह आदिवासियों की समस्याओं से जुड़ता हैं तथा संघर्ष करता है। जहाँ *पठार पर कोहरा* का नामक स्कूल के ढ़ाचाँ से लेकर गाँव के आत्मविश्वास को ही खड़ा करता है, वहाँ मुन्ना को बना बनाया ढाँचा मिलता है। उसे चलता हुआ स्कूल मिलता है जहाँ पहले से कुछ शिक्षक काम कर रहे थे किन्तु कोई वहाँ रहता नहीं था। हैडमिनिस्ट्रेस और अध्यापक शहर से आती–जाती थी। 'मुन्ना' धीरे–धीरे यहाँ के लोगों से जुड़ता है। उपन्यास में एक पात्र 'रूमझूम' है जो शिक्षित है। वह आदिवासी क्षेत्र में शिक्षा के विकास के लिए कुद करना चाहता है। वह हमेशा अपेक्षा का शिकार होता है। 'भौरापार' गाँव में असुर जनजाति का बाहुल्य था। असुर काफी पिछड़े थे फिर भी वे अधिक शिक्षित हैं। *पठार पर कोहरा* के मुंडा जाति की तुलना में वे ज्यादा जागरूक भी है।

मीना कोटवाल *द वायर* आदिवासी विशेषांक में लिखती है "आज भी लाखों करोड़ो लोग है जो दलित, आदिवासी, पिछड़ी जाति के कारण पढ़ना तो दूर अपनी बात भी कथित सवर्णों के आगे नहीं रख पाते। उन्हें नहीं पता आरक्षण और शिक्षा उनका मूलभूत अधिकार है।"(9) ऐसा नहीं है कि आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के विकास के लिए सरकार प्रयास नहीं करती है। किन्तु वह वास्तविक लाभार्थी तक पहुँच नहीं पाती। कथाकार रणेन्द्र के *ग्लोबल गाँव के देवता* में पुरूष पात्र रूमझूम के इन पक्तियों में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है – "असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर बना था। यह स्कूल ..... पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो।"(19) 'भौरापाट' स्कूल आदिम जाति के परिवारों की बच्चियों के लिए खोला गया था। किन्तु उसमें असुर जाति की बच्चियों की संख्या दस प्रतिशत से ज्यादा नहीं थी। ऐसे में मुन्ना का उद्देश्य सिर्फ स्कूल व्यवस्था को सुधारना ही नहीं अपितु अधिक से अधिक आदिवासी बच्चियों को प्रवेश दिलाकर शिक्षित करना भी था "जिसके लिए सुबह–शाम, टोला–टोला घूमना हम लोगों की ड्यूटी हो गई।"(21) वे शिक्षा के लिए व्यापक प्रचार–प्रसार कर 'असुर', 'विरीजिया', और 'कोरवा' जनजाति के बच्चियों को प्रवेश दिलाते हैं। किंतु पढ़ाई की समस्या अभी भी है।

आदिवासी क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या अशिक्षा ही है क्योंकि शिक्षा ऐसा माध्यम है जिस माध्यम से बहुत सी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। शिक्षा के अभाव के कारण ही व्यापारी, व्यवसायी, खनन माफिया, पूँजीपति, शोषित वर्ग आदि उनका शोषण करते हैं। शिक्षा के अभाव के कारण ही ये लोग आसानी से इन लोगों के झाँसे में आ जाते हैं। सोमा के बाबा ने एक–एकड़ खेत मात्र पाँच–हजार रूपए में एक खदान के दलाल को दे दिया था। शिक्षा के अभाव के कारण ही ये लोग सरकारी एवं कल्याणकारी योजनाओं के लाभ से वंचित रह जाते हैं। जागरूकता की कमी की मुख्य वजह अशिक्षित होना ही है। रमेश चन्द्र मीणा *आदिवासी विमर्श* के अनुसार :

> 'पठार पर कोहरा' उपन्यास का संजीव और 'ग्लोबल गाँव का देवता' उपन्यास का मुन्ना इन दोनों पात्रों में समानता यह है कि जहां संजीव अधिकारियों के नाराज होने पर 'गजलीठोरी' जैसे स्कूल में भेजा जाता है वहीं मुन्ना बेरोजगारी के दबाव में 'भोरापाट' आता है। ये दोनों बाद में आदिवासियों से जुड़ते हैं, उनकी समस्याओं में रूबरू होते हैं। उनके प्रति संवेदनशील होते हैं और उनके लिए संघर्ष करते है। दोनों उपन्यासों के केंद्र में स्कूल है। दोनों ने सिर्फ वहाँ की शिक्षा व्यवस्था को ही सुश्क नहीं किया बल्कि उन्होंने गाँव के लोगों को जागरूक किया तथा अपने अस्मिता, अस्तित्व एवं अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा भी प्रदान की।(113)

वंदना *आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन* के शब्दों में :

> आदिवासी आज भी शिक्षा से काफी दूर है। शिक्षा के क्षेत्रों में चलने वाली विभिन्न योजनाएँ जंगल में पहुँचने में असफल हैं। 'पठार पर कोहरा' और 'ग्लोबल गाँव का देवता' उपन्यास बड़ी सरलता एवं सच्चाई के साथ इस सच को उजागर करने में सफल रहे हैं। लेखकों ने इन उपन्यासों में सिर्फ शिक्षा व्यवस्था की कमी को ही उजागर नहीं किया है बल्कि उन कमियों के साथ संघर्ष करते हुए उसका हल भी प्रस्तुत किया है। पठार पर अशिक्षित का जो घना कोहरा फैला हुआ है उसे दूर करने के लिए संजीव और मुन्ना जैसे कई शिक्षा के देवताओं को ग्लोबल स्तर पर प्रयास करना होगा साथ में भारतीय शिक्षा व्यवस्था के सामने यह प्रश्न अब भी विद्यमान है कि इन प्रयासों मे संजीव और मुन्ना जैसे युवाओं को और बहुत बलिदान देना होगा।(17)

3.2.5 आर्थिक विकास के नाम पर आर्थिक शोषण

गरीब आदिवासी धोखे का शिकार होता है। आर्थिक विकास के नाम पर आर्थिक शोषण होता है। जनजातियों की गरीबी, शोषण से जर्जर जीवन गाथा समसामयिक समस्याओं में एक प्रमुख समस्या आज जन–जातियों के विस्थापन और पुर्नवास से जुड़ी हुई है। जिसकी वजह है इन क्षेत्रों में बड़े–बड़े बाँघों का निर्माण। इन बड़े –बड़े बाँधों के निर्माण और उससे उपजे आदिवासी जीवन की तबाही ही नहीं, विस्थापित किये जाने की अमानवीय कोशिकों, पर्यावरणीय दिक्कतों आदि जैसे प्रश्नों पर गंभीरता से सोचने के लिए लेखक ने इस उपन्यास *पठार पर कोहरा* के माध्यम से, हमे बाध्य किया है। *पठार पर कोहरा* के माध्यम से हमे बाध्य किया है। उपन्यास में आदिवासियों के संघर्ष और चुनौतियों की कल्पना नहीं हैं, बल्कि वर्तमान का सच विद्यमान है। हिरनई जैसे बड़े बाँधों का निर्माण, जंगलों की अंधा–धुध कटाई, राजनेता और पुलिस द्वारा शोषण, नगरों और राजधानियों में कलाओं का प्रदर्शन और आदिवासियों की उन्मुक्ता को बाँधना आदि समस्याओं का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

सरगुजा के आदिवासी क्षेत्रों को उपजाऊ बनाने और सिंचाई की सुविधा देने के लिए हिरनई बाँध परियोजना की रूपरेखा तय की जाती है। उपन्यास के केन्द्र में इस बाँध के विरोध की कथा है। आदिवासी समाज मानता है कि जल, जंगल और जमीन पर उसका प्राकृतिक अधिकार है और यह सही भी है। कि आदिवासी जनसमुदाय अपनी जमीन, अपना जंगल और जल स्त्रोतों के लिए न केवल समर्पित रहा है। बल्कि वह इसका संरक्षक भी रहा है। लाखों वर्षों से जिन जंगलों में आदिवासी निवास करता रहा वे जंगल कभी नष्ट नहीं हुए। ऐसा इसलिए कि आदिवासीजन अपने जंगलों को अपने प्राणों से भी प्यारा माना। आदिवासी को

इन्हीं जंगलों से अलग किया जा रहा है। उनकी जमीन छीनी जा रही हैं, उनके जल स्त्रोतों पर अधिकार किया जा रहा है। उनके जीवन विकास के नाम पर जो योजनाएँ लायी जा रही है। वे योजनाएँ उनके साथ किया जाने वाला छल साबित हो रही हैं। बड़े–बड़े बाँधों के नाम पर उनकी बसाहटों को विस्थापित किया जा रहा है। श्याम सुन्दर दुबे अपनी पुस्तक *लोक : परम्परा, पहचान एवं प्रवाह* में लिखते हैः

> बस्तियों को क्रेन अपनी हथेलियों में ले लेती हैं और मसलकर उन्हें धूल में मिला देती है। पेड़ झाड़ झंखाड़ सब टूटकर गिर रहे हैं। खेतों की छाती से गुजरने बुलडोजरों ने खेतों की नींद तोड़ दी है। उनकी छाती धकर–धकर हो रही है। भूमि पलट चल रहा है। समूची वसीकत पलायत कर चुकी है। बड़ा तांडव हुआ है पिछले दिनों। पुलिस ने जो रगड़ा मारा तो खेतों के बिलों में छिपे चूहा भी बदहवास होकर भाग गये है। भांय–भांय सा हो रहा है इस अंचल में। पेड़ों और झरनों के बीच मशीनें आ गई हैं। बड़े–बड़े राकस जैसी मशीनें। दई चिक्कर मशीनें। इनके सामने पहाड़ आ जाये तो वे उसे कच्चा चबा जायें। नाला आ जाये तो वे सीधा अपनी नसिका से सुड़क लें। मशीनों का एक नया जंगल अंश रहा है।(73)

उनके जीवन मूल्य बदलते जा रहे हैं। संपूर्ण उपन्यास में आदिवासियों का प्रतिरोध इन्हीं आधारों पर प्रकट होता है। वे कहते हैं कि वे अपना जंगल नहीं छोड़ना चाहते, वे अपनी जमीन का त्याग नहीं करना चाहते, वे अपने जल स्त्रोतों को यथावत रखना चाहते हैं। उनका एक नारा हैः

> जंगल जमीन पानी – यही हमारी जिंदगानी। हजारों–हजारों वर्षों से यही तीनों तो हैं– आदमी की पहचान को आदमी के अस्तित्व को बचाने वाले आदमी को निरंतर ऊर्ध्वमुखी करने वाले। आदमी को आदमी और देवता बनाने वाले। इन्हीं से फूटी हैं – आदमी की हजारों–हजारों वर्ष पुरानी वानस्पतिक गाथायें। अरण्यामानी की काव्य चित्रावलियाँ और प्रकृति बांसुरी की दिशांतर चारी अनुगूंपे। ये हजारों आदिवासी इसी कथा, इसी कविता और इसी संगीतिकी की रक्षा के लिये कटिबद्ध हैं।(60)

रैवन्यू इंस्पेक्टर ने सखालू का अँगूठा पकड़ा। पैड़ की स्याही में भिगोया और एक कागज पर अपने हाथ की ताकत से अँगूठा लगा दिया। अक्सर यही होता है। अँगूठा किसी का होता है, पीछे की ताकत किसी और की होती है। वंशदुलारी इस छल को समझ लेती है और वे आदिवासियों के संगठित विरोध की केन्द्रीय धुरी बन जाती है। वे अनशन करने लगती है। उनके अनशन से एक बार तो प्रदेश की राजधानी में भूचाल सा आ जाता है :

> वंशदुलारी देवी ! अपनी सफेद सेना के साथ सफेद लुगड़ा पहने स्त्री और मरद ! इन्हें लीलने या भगाने में मशीने असमर्थ हैं। पुलिस असमर्थ है। वंशदुलारी देवी को यहाँ बैठे एक महीना गुजर गया है। राजधानी में हडकंप है। मंत्री परेशान हैं। संत्री परेशान हैं। वंशदुलारी देवी अडिग है। वे जन्मभूमि नहीं छोड़ेगी। बांध नहीं बनने देंगी।(78–79)

ऐसी ही एक आदिवासी युवती का वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने भी अपने उपन्यास *गोदान* में लिखा थाः

> युवती का रंग था तो काला और वह भी गहरा, कपड़े बहुत ही मैले और फूहड़, आभूषण के नाम पर केवल हाथों में दो–दो मोटी चूड़ियाँ, सिर के बाल उलझे अलग–अलग। मुख–मंडल का कोई भाग ऐसा नहीं, जिसे सुंदर या सुधड़ कहा जा सके .....। किन्तु आंतरिक सौंदर्य की वह बहुत धनी है। मैहता सोचते हैं कि "मैं अपने किसी घनिष्ठ मित्र के लिए भी इस धूप और लू में उस ऊँची पहाड़ पर नहीं जाता। और हम केवल कड़ी–भर के मेहमान है, वह यह जानती है। वह किसी गरीब औरत के लिए भी इसी तत्परता से दौड़ जायेगी। मैं विश्व–बंधुत्व और विश्व–प्रेम पर केवल लेख लिख सकता हूँ, केवल भाषण दे सकता हूँ, वह उस प्रेम और त्याग का व्यवहार कर सकती है।(73)

प्रसंगवश आये हुए इस कथन में यद्यपि कोई गंभीर चिंतन तो नहीं है पर फिर भी आदिवासी समाज का वैशिष्य–दृष्टव्य होता है।

फणीश्वर नाथ रेणु कृत *मैला आँचल* के शब्दो में :

> वह कभी भी अपनी जिंदगी से अलग नहीं कर सकते, उनकी यादें उनको कुदेरती हैं। समाज में इन आदिवासियों की स्थिति मझधार में है। इस स्थिति की पीड़ा उपन्यास की नायिका कथरीना के शब्दों में साकार हो उठती है। वह कहती हैं, सर हम लोग तो है आदिवासी, भले ही क्रिश्चियन बन गए हैं। हमारी पूजा–अर्चना की पद्धति बदल गई हैं किंतु जंगल, जमीन, पशु–पक्षी, हवा, गंध, उपास–पानी सब तो हमारी नस–नस में यही का भरा हुआ हैं। यहाँ के लोकगीत मुझे भीतर तक झुलसा देते हैं। पाँव अपने आप करमा नृत्य की लय में गतिशील होने लगते हैं। मैं कथरीना जरूर हूँ, किंतु कभी–कभी मेरे भीतर से एक आदिवासी युवती झाँकने लगती हैं।(100)

छल कपट से दूर इन आदिवासियों को ऐसे दलदल में फँसा दिया जाता है। जहाँ से यह कभी नहीं निकल पाते। जो आदिवासी जंगल रूपी भूमि को देवता और वहाँ की वनस्पति को

पूज्यनीय सामग्री के रूप में संजोए है, उन्हीं के साथ उनके घर से निकालने की बात की जा रही है। बल्कि आदिवासी तो प्राचीन काल से ही एक अलग प्रकृति की दुनिया के वासी है। इसका वर्णन रेणु ने भी इस प्रकार से किया है रेणु जी के संथाल जाति के ग्रामीण का उल्लेख है "चारों ओर स्वस्थ, सुडौल, स्वच्छ और सरल इंसानों की भीड़। श्याम मुखड़ों पर सफेद मुसकुराहट, मानो काले बादलों में तीज के चाँद के सैकड़ों टुकड़े।"(101) वही इनके अभावों और शोषण पर भी रेणु टिप्पणी करते हैं :

> सोने के अनाज से भरे हुए, धरती के गुप्त भंडार का उद्घाटन करने वाले पर धरती माता का कोप होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि आज जमीन के मालिकों ने, जमीन के व्यवस्थापकों ने और धरती के न्याय ने धरती पर इनका किसी किस्म का हक नहीं जमने दिया।(103)

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* एक अलग तेवर लिये हुए है जिसमें ईस्ट इंडिया कंपनी के शोषण और दमन के खिलाफ झारखंड के आदिवासी संताल बहादुरों के मुक्ति–संग्राम और विद्रोही संताल युवक और उराँव युवती के नैसर्गिक प्रेम की गाथा है। अंतिम अंश में हारिल मुरमू का प्रलाप आदिवासियों के साथ हुए अनवरत अन्याय के प्रतिकार का उद्घोष हैं। "बाकी तू बता रे गोमके जो कंपनी गुरमेण्ट हमसे हमारा जंगल छीने सो कौन? बता रे ? ..... रे गोमका ..... खचड़ा है तू! तेहार गोरमिण्टिया कागज खचड़ा।"(23) यह भी एक विसंगति कहीं जाएगी कि इस उपन्यास में जो समय लिया गया है, तब से आज तक इन प्रकृति पुत्रों की दशा में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हो सका। वे तब भी अपने खेत, अपने जंगल और अपनी जमीन से अंग्रेजों और जमीदारों द्वारा बेदखल थे और आज भी कमोबेश वही स्थिति हैं *अहा! जिंदगी पत्रिका* :

> 2014 में प्रकाशित रणेंद्र के एक और उपन्यास 'गायब होता देश' में प्रकृति और समाज में 'साधारण में असाधारण' की उपस्थिति का एक कलात्मक दस्तावेज है। देश तो हर कहीं गायब हो रहे हैं, परंतु आदिवासी इलाकों में देश के विलुप्त हो जाने की प्रक्रिया बहुत मीठे जहर जैसी है, इसे यह उपन्यास बखूबी चित्रित करता है।(6)

3.3 ग्राम्य आदिवासी समाज के आर्थिक पक्ष में पिछड़ेपन के अन्य कारण

आज हम जिन्हें आदिवासी कहते हैं। वे प्राचीन भारतीय सभ्यता की नींव खड़ी करने वाली आदिम समुदायों में से एक हैं। प्राचीनकाल से लेकर स्वतंत्रता के पूर्व तक या उससे पहले मुगलों के आगमन तक इनका जीवन अत्यंत संतोषजनक रहा, क्योंकि स्थानीय राज्यों का प्रभाव इन पर नहीं था। कोई शोषण या यातनाएँ नहीं थी। वे पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर होकर

जीते रहे, उनका जीवन पारिवारिक होते हुए भी सामूहिक था। प्राकृतिक आपदाओं तथा अन्य कारणों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान सामूहिक रूप से दूर करते रहे उनकी जीवन पद्धति पर किसी का हस्तक्षेप नहीं था। संपत्ति के रूप में थोड़ा बहुत जमीन, पशु–पक्षी ही थे। उनमें मुद्रा का प्रचलन था ही नहीं। अपनी आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुविनिमय पद्धति को अपनाते रहे। हिन्दी उपन्यास साहित्य में आदिवासी जीवन पर भले ही आजादी से पहले लिखा गया हो, किन्तु हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में ही उसे मान्यता मिली और आज अनेक उपन्यास आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे जा रहे। आदिवासियों द्वारा सामना किये जा रही विभिन्न समस्याओं के बावजूद सभी समस्याओं का स्त्रोत बाह्य जगत से संपर्क से छिपा इन उपन्यासों में चर्चा का विषय रहा हैं। इन उपन्यासों में निम्न कारकों को जनजातियों की समस्याओं के लिए उत्तरदायी माना जा सकता हैं।

1. जनजातीय क्षेत्रों तथा आसपास के इलाके में पाए जाने वाले खनिज संपदाओं ने बाहरी लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। जिसके परिणामस्वरूप वे अपने क्षेत्र से विस्थापित हुए।

2. प्रशासकों तथा मिशनरी कार्यकर्ताओं के प्रवेश ने आदिवासी समाज में आर्थिक मूल्य हेतू परिवर्तन की गति को काफी तेज कर दिया। साथ ही विशेषकर मध्य भारत में जनजातियों की जमीन हड़प ली गई तथा उन्हें बंधुआ मजदूर बनने पर मजबूर किया गया।

3. अधिकांश आदिवासियों में कृषि की प्रचलित पद्धति झूम खेती थी। जिसे प्रशासकों ने जंगलों के नष्ट होने के एक प्रमुख कारक के रूप में देखा। इसके परिणामस्वरूप ऐसी आदिवासी जो झूम खेती में संलग्न थी, उन्हें अपने पंरपरागत क्षेत्र से विस्थापित कर दिया गया। इन आदिवासियों को उनके पंरपरागत निवास स्थान से हटाकर नए क्षेत्र में वास कराया। जिसके परिणामस्वरूप वे नए वातावरण तथा आसपास नए क्षेत्र के नये रोगों के शोषण के शिकार हुए। साथ ही इसके फलस्वरूप उन्हें सांस्कृतिक आघात लगना स्वाभाविक था।

4. सरकार द्वारा स्थानीय शराब के निर्माण पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इससे जनजातियों के लिए समस्या उत्पन्न हो गई। क्योंकि शराब आदिवासी सामाजिक संरचना का एक मूलभूत अवयव है। एक बार जब मद्य निषेध की नीति लागू हो गई तो न सिर्फ अवैध शराब निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो गई बल्कि साथ ही साथ आदिवासियों की बाहरी लोगों पर निर्भरता भी बढ़ गई।

5. सरकार ने आदिवासियों के कुछ रीति–रिवाज को असामाजिक माना तथा इसका उल्लंघन करने वालों को सजा दी। जैसे–हरण विवाह। आदिवासियों की दृष्टि में यह एक सामान्य

विवाह की प्रथा थी। किन्तु सरकार ने इसे अपहरण माना तथा कानून के अन्तर्गत इसे दंडनीय करार दिया गया। इसी प्रकार स्थानीय कानून द्वारा जमीन आदि से संबंधित झगड़ों को निपटाने के लिए स्थापित संस्थाएं जैसे आदिवासी पंचायत आदि को असवैधानिक घोषित किया।

6. मिशनरी कार्यकर्त्ताओं को आदिवासियों के क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति दी गई। निशचित रूप से उन्होंने आदिवासियों के विकास के लिए प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने संस्कृतिकरण, आधुनिकीकरण जैसी सामाजिक, आर्थिक प्रक्रियाओं में उनकी सहायता की है। उत्तर–पूर्व भारत में मिशनरी क्रिया–कलापों के कारण काफी परिवर्तन आये तथा ईसाइयत ने इस क्षेत्र में सकारात्मक प्रभाव छोड़ा है। परंतु मध्य भारत में जहाँ धार्मिक विविधता पहले से ही विद्यमान थी तथा जहाँ पहले से ही आदिवासी दृढ़त परंपरा क्रियाशील थी। वहाँ मिशनरी क्रियाकलापों ने नकारात्मक प्रभाव तथा इसे संदेह की दृष्टि से देखा गया। साथ ही मिशनरी द्वारा लागू नई शिक्षा पद्धति आदिवासियों के पंरपरागत जीवन पद्धति के अनुरूप नहीं थी।

संपर्क स्थिति से उत्पन्न आदिवासी समस्याएँ स्वतंत्र भारत में ही विद्यमान है। हालांकि कई कानूनों द्वारा इसके निदान का प्रयास किया जा रहा है। यह भी प्रयास किया जा रहा है कि वे वृहत् परंपरा तथा देश की मुख्य धारा में सम्मिलित हो जाएँ। वास्तव में आदिवासी समस्याओं को विभिन्न आयामों से देखने और समझने की आवश्यकता है। तभी हम उसके निदान का समुचित उपाय कर सकते हैं। अब हम 21वीं सदीं के ग्रामीण, जनजातीय उपन्यासों में चित्रित आदिवासियों के पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डालेंगे।

आदिवासी समाज को आज अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इस समाज के लोगों को एक ही समय पर इतनी सारी समस्याओं ने घेर लिया है कि यह लोग दीर्घायु नहीं जी पाते हैं। गरीबी की मार को सहते–सहते इन लोगों को जवानी में ही बुढ़ापा आ जाता है अर्थात् जवानी में बूढ़े दिखने लग पड़ते है। पुलिस, सरकार, ठेकेदार, साहूकार या विदेशी कम्पनियाँ ही ले लीजिए हर कोई इनका जमकर शोषण कर रहा है। आज की विड़म्बना यह है! कि उनका शोषण करने को हर कोई तैयार है। लेकिन उनकी दुख–तकलीफों को समझने वाला कोई नहीं है। कई उपन्यासकारों ने आदिवासी ग्रामीण समाज व जनजीवन की समस्याओं को कलमबद्ध करने का प्रयास किया है। काफी हद तक उन्हें इस काम में सफलता मिली है। इनके उपन्यासों में आदिवासी ग्रामीण समाज की शिक्षा, अकाल, भूख, गरीबी,

नशाखोरी, शोषण, दमन का खुलकर चित्रण हुआ है। जिससे हमें उस समाज की दुःख तकलीफों को समझने का मौका मिला है।

3.3.1 ऋणग्रस्तता

आदिवासी ग्रामीण लोग ऋण की समस्या से ग्रस्त है। आदिवासियों ने जिन गैर–आदिवासी का आदर सत्कार किया उन्हीं ने छोटी–मोटी रकम देकर कर्जदार बना दिया है। आज आदिवासी भोले–भाले ग्रामीण महाजनों, साहुकारों, जमीदारों के शोषण में पिस रहे है। हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में ऋण की समस्या की वास्तविक स्थिति का चित्रण हुआ है पात्र गोविंद गुरू के शब्दों में :

> साहूकारों से हमें अनेक कारण के लिए करज़ा लेना पड़ जाता है। कौन सा हिसाब किताब है कि कई बार चुकाने के बाद भी करजा माथे पर चढ़ा रहता है। बनिये की बेईमानी हमारी समझ में ही नहीं आती। इन सब बातों को समझना पड़ेगा जब जाकर बात बनेगी।(45)

इस प्रकार साहुकार लोग अपने छल कपट के सहारे आदिवासियों को कभी कर्जमुक्त होने ही नहीं देते है।

मधुकर सिँह के उपन्यास *बाजत अनहद ढ़ोल* में भी महाजनों द्वारा आदिवासियों को कर्ज देकर बंधुआ बना लेने का चित्रण है। आदिवासी ग्रामीण लोगों के पास भले ही कुछ न हो लेकिन धार्मिक कर्मकाण्ड या विवाह मरण आदि के मौके पर कर्ज लेने से पीछे नहीं रूकते हैं। इनके पास शारीरिक श्रम के अलावा कुछ नहीं होता है और अपने–आपको महाजनों के हवाले कर देते है। वीर सिंह माझी संतालों के ऋण लेने के इस रास्ते पर व्यंग्य करते हुए आदिवासियों को समझाते हैं कि आप लोग झूठे आडम्बरों और पूर्वजों को खुश करने के लिए ऋण मत लो :

> मरने के लिए तो बेचारा भूखा मर गया, मगर बोगा पूर्वजों की तृप्ति के लिए भोज चाहिए। झख मारकर महाजन के गलिआरे की ओर दौड़ पड़ता और गुलामी के लिए अपने आपको सौंप देता। महाजन भी जानता है यह मूरख कर्ज लौटाएगा नहीं। चाहकर भी अलग से कमाई करने का अवकाश कहां जो महाजन का कर्ज चुकता कर सके। गुलामी करते–करते मर जाता है और कर्ज की विरासत अपने बच्चों के लिए छोड़ जाता है।(18)

आदिवासियों को ऋण देकर उनकी जमीनों को हड़पनें जैसी साजिशें रची जा रही हैं। ऋण शोधन के रूप में उनकी सारी जमीन को साहुकार लोग नाम करवा रहे हैं। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *जो इतिहास में नहीं हैं* में नागंला द्वारा कर्ज लेने की विवशता को और उसे सिंगबोंगा की इच्छा समझ कर खुशी से स्वीकार करने को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

> बड़े से बड़ा दुख हो या बड़े से बड़ा सुख। सर्वशक्तिमान ईश्वर का प्रसाद मानकर हर दुख–सुख के पार उतरते रहे हैं वनवासी भले ही यथार्थ कुछ और हो। नांगला मुण्डा ने गाँव के महाजन से कर्ज लिया था। सूद के अजगर ने नांगला को निगल लिया था, यह था सच परन्तु आदिवासी मन के लिए यही थी सिंगबोंगा की इच्छा।(37)

उपन्यास में अपनी दो कट्ठे जमीन बन्धक रखकर नांगला मुण्डा महाजन से कर्ज लेता है। कर्ज न चुका पाने की वजह से महाजन उसके द्वारा तैयार की गई सारी की सारी फसल के लिए तैयार नहीं होता है। इस पर अनिता अपनी पुस्तक *आदिवासी ब्लैक वूमेन राइट* में लिखती है :

> आदिवासियों के आदिवासियत की न तो आप वर्गीकृत कर सकते हैं न ही किसी मानक से नाप सकते हैं क्योंकि यह तो विरासत में मिला हुआ वह गुण है जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और न ही इसे कोई खारिज कर सकता है। किसी व्यक्ति की आदिवासियत को आप इस बात से भी नहीं तय कर सकते हैं कि उसमें आदिवासी खून कितना है।(51)

कर्ज लेने की वजह से एक पिता अपने बेटे को भी गिरवी रखने पर विवश है। आदिवासियों को लूटने के लिए अपने रास्ते से हटाया जा रहा है। तेजिन्दर के उपन्यास *काला पादरी*में बाप द्वारा अपने बेटे को ऋण के लिए गोयल सेठ के यहाँ गिरवी रखने का चित्रण मिलता है :

> कुंजूर जब दस साल का था तो उसका बाप उसे गोयल सेठ के पास गिरवी रखा था। सेठ ने लड़के को घर पर रख लिया। इसके बदले साल के साल दो बौरी चावल उसके बा पके पास पहुँच जाते। इस तरह दो बोरी चावल। चावल के बदले उसकी उम्र एक–एक साल बढ़ती चली गयी। इस दौरान दो हजार रूपये का हिसाब सेठ के बही–खातों में धब्बा–धब्बा फैल कर कुछ ऐसा आकार लेता गया कि अल कुंजूर की जिन्दगी से बड़ा हो गया।(106)

कुंजूर अपना सारा जीवन देकर भी उस दो हजार के कर्ज से मुक्त नहीं हो पाता है। जिसे उसके बाप ने महाजन से लिया था। *सहराना* उपन्यास में पुन्नी सिंह ने ऋण देकर सहरियों को गुलाम बनाने का वर्णन किया है। उपन्यास में जब अकाल की स्थिति आती है। तब लोगों को ऋण लेना पड़ता है। इस हालत में उनके साथ सेठ मनमानी करता है।

अतः कर्ज की भार से आदिवासी आज छटपटा रहे हैं हर कोई उसके भोलेपन का फायदा उठाता ही नजर आ रहा है। आदिवासी ऋण मुक्ति का कोई भी रास्ता नहीं ढूँढ़ पा रहे है।

3.3.2 कमिऔती, बेगार प्रथा और बंधुआ मजदूरी

बेगार प्रथा तथा बंधुआ मजदूरी गम्भीर समस्याएं है। कमऔती यानि कम मजदूरी दे कर ज्यादा कमरतोड़ काम करवाना। बंधुआ मजदूरी का अर्थ है किसी व्यक्ति को हमेशा के लिए अपने घर बंधक बना कर रखना और उसे मात्र भोजन दें कर आजीवन काम लेना। बेगार प्रथा वह है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति ऋण न चुका पाने के कारण ऋण दाता की आजीवन बिना पैसा लिए मजदूरी करता है। उसे ऋणदाता की सभी शर्तों का पालन करना पड़ता है। इसमें कर्जदार को ऋण लेने वाले व्यक्ति को निःशुल्क सेवाएं देनी पड़ती है। कमिऔती, बेगारी तथा बंधुआ मजदूर बीमार होने के बावजूद भी अपने मालिक को काम कर के देने के लिए बाध्य होते हैं नहीं तो, उनके साथ बूरा शलूक किया जाता है। आज सैकड़ो आदिवासी स्त्री, पुरूष और बच्चे इस कमिऔती, बेगार प्रथा और बंधुआ मजदूरी को ढ़ो रहे हैं।

ये आर्थिक विपन्नता के चलते ऋण लेकर बंधुआ मजदूर बनकर भी ऋण मुक्त नहीं हो पाते हैं। पुन्नी सिंह द्वारा रचित उपन्यास *सहराना* में चुन्नी सेठ बीस साल पहले के जमाने को याद करता है कि :

> तब के सहरिया कुछ और ही थे। उनके मुँह में तब जबान तक नहीं थी। सहरिया चाहे जैसा भी दमखमवाला हो, वह किसी गैर सहरिया के सामने पड़ते ही काँपने लगता था। किसी की आँख से आँख मिलाने में वह घबराता था। तब वह एक सेर बाजरा के बदले में पूरे दिन काम करता था। अगर शादी ब्याह के समय पचास सौ रूपया लेता तो लम्बे समय के लिए बंधुआ हो जाता था। तब कोई–कोई तो सौ रूपये की ब्याज में पूरी जिंदगी काम करने को राजी हो जाता था।(132–133)

बेगारी खटने वाले व्यक्ति को अपनी बीमारी की परवाह किये बिना मालिक के यहाँ मजदूरी करनी पड़ती है। क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता हैं तो उसे मालिक की यातनाओं का

शिकार होना पड़ता हैं। हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में बेगार प्रथा का चित्रण किया गया है। सोदाना को जब ठंड लगती है। तो वह अपने बेगारी साथी रामा से ठंड से निजात पाने के लिए शराब का आग्रह करता है। क्योंकि वह जानता था कि बीमार होने पर यदि काम नहीं कर पाएगा तो ठाकुर उसकी बुरी हालत करेगा इसलिए सोदाना रामा से कहता है :

> ठंड लग रही है। थोड़ी सी दारू पिला दे भाई रामा, नहीं तो सर्दी से बीमार हो जाऊँगा और ठाकुर की बेगार पर नहीं जा पाऊँगा और ऐसा हुआ तो कोड़ो की मार पड़ेगी या दो दिन ज्यादा बेगार करनी पड़ेगी वह अलग सजा।(41)

परिवार के किसी बड़े–बुजुर्ग ने कर्ज लिया है तो उसकी कई पीढ़ियों द्वारा निःशुल्क सेवाएं देनी पड़ती है। उसके श्रम के बदले उसे कोई वेतन नहीं दिया जाता है। जिसके कारण उसकी आर्थिक स्थिति में कभी भी सुधार नहीं आता है। राकेश कुमार सिंह ने भी अपने उपन्यास *जो इतिहास में नहीं हैं* में आदिवासियों द्वारा निःशुल्क सेवा देने की परम्परा का चित्रण किया है। उपन्यास में जादिक मुरमू को इस परम्परा का वाहन करना पड़ता है। लेखक के शब्दों में :

> बाघामुण्ड़ी गाँव के हर घर का एक आदिवासी राजा गोमके की हवेली में बैठ–बैगारी करता था। बेमोल चाकरी। बरसों–बरस से स्थापित वन्य परम्परा थी जिसका पालन जादिक मुरमू को भी करना ही था। अपने घर का एकमात्र पुरूष जबकि मुरमू बचपन से ही राजा गोमके के खानदान को निःशुल्क सेवाएँ देने वाला रैयत था।(37)

इस प्रकार हमें पता चलता है कि पिता के बाद बेटे को बेगार प्रथा का निर्वाह करना पड़ता है। लेखक ने इस बेगार प्रथा के पीछे मुख्य कारण ऋण की ही माना है। आदिवासी अनावृष्टि और अल्पवृष्टि के शिकार होते हैं। सरकारी कर चुकाने के लिए प्रायः महाजनों का कर्ज उतारने के लिए उनके पास धन नहीं होता है और कर्ज शोधन अनाज के रूप में करते है। लेकिन ऋण का सूद ही चुका पाते हैं मूल पैसा का वैसा ही बना रहता है। इसलिए अपने आपको ही महाजन को सौंप देते है। अपनी पूरी फसल ब्याज में चुका देने के बाद आदिवासी महाजन के घर में 'कमिऔती' करता था। कमिऔती–'महाजन के घर दास का काम करके ऋण चुकाने की छली प्रथा'।

जनवरी 2021 को प्रकाशित होने वाली पत्रिका अमर उजाला में एक लेख छपा था। बेगार *आंदोलन के सौ साल* जिसमें शेखर पाठक लिखते हैं :

पटवारी और प्रधम इसके स्थानीय व्यवस्थापक थे, जो चुली–कुली (हर चुल्हे यानी परिवार से एक कुली) नियम के अनुसार हर परिवार से कुली माँगते थे। जमीनी बंदोबस्तों में मनमानी धाराएं डालकर बेकार को नियमबद्ध बना दिया गया था। जब पत्रों और कांउसिलों में बेगार की अति पर सवाल उठे, तो एक लाट ने यहाँ तक कहा था कि कुमाऊँ से बेगार उठाने की माँग करना गोया चाँद माँगना होगा।(14)

पठार पर कोहरा उपन्यास में यहाँ महाजनों का ऋण न उतार पाने के कारण आजीवन दास बना रहने का वर्णन किया गया है। तो वहीं महाजन द्वारा कमिऔती को दूसरे महाजन को बेच डालने का भी उल्लेख मिलता है। कथावाचक राकेश कुमार सिंह के शब्दों में :

कमिऔती महाजन के घर दास का काम करके ऋण चुकाने की छली प्रथा। इतने पर भी बस होता तो भी वनवासियों को स्वीकार्य था परन्तु एक महाजन इच्छा होने पर अपने घर 'कमिऔती' खटने वाले बनवासी कर्जदार को किसी दूसरे महाजन के हाथों बेच भी देता था। श्रम के साथ–साथ श्रमिक भी आजीवन दास बना हस्तान्तरित किया जा सकता था।(126–127)

इस तरह एक जीते जागते व्यक्ति को गुलाम बना दिया जाता है। महाजन जैसा कहता है कर्जदार व्यक्ति को वैसा ही करना पड़ता है। अमर उजाला पत्रिका में जनवरी 2014 को *कुली बेगार उन्मूलन* का माध्यम बना उत्तरायणी मेला में बद्रीदत पाण्डेय ने कहा था "पवित्र सरयू का जल लेकर बागनाथ मंदिर को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करो कि आज से कुली उतार, कुली बेगार, बरदासिय नहीं देंगे।"(13)

सच में बैठ बैगारी खटने वाले व्यक्ति की जिंदगी पशुओं से भी बद्तर होती है। अतः यहा कहा जा सकता है कि इस प्रथा के चलते आदिवासी ग्राम्य लोग कभी भी विकास नहीं कर पायेंगे। इसलिए सरकार को आदिवासियों को इस प्रथा से निजात दिलवाने के लिए उचित कदम उठाने चाहिए।

3.3.3 अवैध खनन

आदिवासी क्षेत्रों में अवैध–खनन आर्थिक पिछड़ेपन का एक कारण है। अधिक से अधिक पैसे कमाने के लालच में खनन अधिकारी गैर कानूनी ढंग से आदिवासियों की जमीनों पर कब्जा कर रहे है और सरकार भी इसके विरोध में कोई कार्रवाई नहीं कर रही है। बल्कि इसे बढ़ावा देने के लिए खनन अधिकारियों से रिश्वत ले रही है। ऐसा नहीं है कि पहले आदिवासी क्षेत्रों में खनन नहीं होता था। यह समस्या अंग्रेजों के समय से चली आ रही है। मध्यप्रदेश के

जबलपुर पर नई दुनिया पत्रिका में जुलाई 2014 को एक लेख छपा था। आदिवासियों की भूमि खरीदने में खनन माफिया आगे में लिखा था :

> जिले का कुडम इलाका सिंचाई के मामले में ज्यादा बेहतर नहीं है। इस इलाके में अधिकांश पत्थर वाली जमीन है, जो मिट्टी बनाने के लिए अच्छी मानी जाती है। क्रैशर और पत्थर निकालने वाली वैध और अवैध खदानें इस इलाके में चल रही हैं। जिनमें से अधिकतर जमीन मालिक आदिवासी ही है, लेकिन कुछ जमीन बेच दी और कुछ जमीन की रकम लेकर वहाँ से चले गए। इसलिए न तो प्रशासन को अब खनन करने वाले का पता लग रहा है और न ही जमीन मालिक जुर्माना चुकाने के लिए मिल रहे है।(11)

राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में भी अंग्रेजों द्वारा आदिवासियों की भूमि के गर्भ में दबी खनिज सम्पदा के दोहन का संकेत मिलता है। हारिल मुरमू की अभ्रक वाली जमीन पर राजा गोमके नजर गढ़ाये रखता है। और उसके खेतों को उजाड़कर उसकी जमीन से अभ्रक निकालकर बड़े–बड़े कुएं निकाल दिए जाते है। लेखक के शब्दों में – "अब हारिम मुरमू के खेतों पर बड़े–बड़े मुंह वाले कई राक्षसी कुएं खुदे पड़े थे। जिनसे निकलती थी अभ्रक की चट्टाने"(71) और उस अभ्रक को बोरों में भरकर बैलगाडियों से रामगढ़ या लेस्लीगंज पहुँचाया जाता था और बनिए लोग खरीदकर अभ्रक को कलकत्ता ले जाते थे। इससे यह पता चलता है कि आदिवासियों की भूमि का अवैध दोहन आज से नहीं बल्कि हजारों वर्षों से हो रहा है। सरकार भी अंग्रेजों की तरह उन जमीनों को उजाड़ रही है।

सभी खनन अधिकारी खुलेआम अवैध खनन की प्रक्रिया को अंजाम दे रहे हैं जो बहुत शर्मनाक है। रणेन्द्र कृत उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में अवैध खनन की समस्या का चित्रण है सरकार भी इन कंपनियों से मिली हुई है। उपन्यास में भौरापाट क्षेत्र में बॉक्साइट काफी मात्रा में है। खदान मालिकों को सरकार द्वारा बॉक्साइट निकालने के लिए लीज़ पर जमीन दी जाती है। आदिवासी ग्रामीणों को इस बात की खबर होती है। लेकिन लीज़धारक अधिक भूमि हड़पने के लोभ में जानबूझकर गैर–लीज़धारी भूमि से बॉक्साइट निकालते है। लालचन असुर लेखक से कंपनी के गलत कार्य का वर्णन करता हुआ कहता है "छोटे–बड़े सभी खदान–मालिकों का एक ही रवैया। लीज़ की भूमि पर कम, वन विभाग, गैर मजरूआ जमीन, असुर रैयत की ज़मीन से ज्यादा खनन किया करते है।"(27) सिर्फ इतना ही नहीं आदिवासियों की मजबूरी का फायदा उठाकर खदान मालिक उनकी ज्यादा से ज्यादा ज़मीन अपने कब्जे में करने की फिराक में रहते हैं। उपन्यास में सोना की मृत्यु हो जाने पर उसका पिता उसकी लाश लाने के लिए अपनी जमीन सस्ते दामों में बेच देता है। क्योंकि लालचन के अनुसार –

"बेटी की लाश तो हर हाल में वहाँ से लानी थी, सो बूढ़े के पास कोई चारा नहीं था।"(29) अवैध खनन कई वर्षों से खुले में चला आ रहा है। आदिवासी ग्रामीण लोगों के खेतों को उजाड़कर बंपर बना दिया जा रहा है। कथावाचक आदिवासी क्षेत्र की पीड़ा को इस प्रकार अपने शब्दों में पीरोकर व्यंगित करते है – "बीच–बीच में बॉक्साइट की खुली खदानें। जहाँ से बॉक्साइट निकाले जा चुके थे, वे गड्ढे भी मुँह बाये पड़े थे। मानों धरती माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े–बड़े धब्बे हों।"(141) अवैध खनन के लिए हर रोज पांच–दस असुरों को फुसलाना यह आम बात हो गयी है। खनन अधिकारी उनकी जमीनों को हथियाने के लिए हर सम्भव उपाय अपनाते हैं।

उनकी जमीनों पर अवैध खनन करने वालों को उनके स्वास्थ्य की जरा भी चिन्ता नहीं है। महुआ माजी के उपन्यास *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ* में अवैध खनन की समस्या को उजागर किया गया है। खनन के दौरान लोगों की जमीन तो छीनी ही जाती है। साथ ही में उनके स्वास्थ्य के साथ भी खिलवाड़ किया जाता है। तभी तो उपन्यास का पात्र सगेन बोलता है :

> क्यों खनन कार्य के लिए मिल या टैलिंग डैम के लिए उनकी जमीन लेते वक्त उन्हें यह नहीं बताया गया कि उनसे न सिर्फ उनकी जमीन ली जा रही है! उनका जंगल लिया जा रहा है! बल्कि उनका स्वास्थ्य उनका खुशहाल जीवन भी छीना जा रहा है।(163)

आदिवासी ग्रामीण मजदूरों को धँसी हुई खदानों में खनिज निकालने के लिए उतारा जाता है उसके लिए उन्हें मजदूरी भी बहुत कम दी जाती है। राकेश कुमार सिंह कृत *पठार पर कोहरा*उपन्यास में बताया गया है कि कैसे पहले सरकार तथा उसके बाद में अन्य लोग रतनगर्भा धरती का दोहन करते हैं :

> दीवारों से रिसते पानी के कारण उस भूमिगत सुरंग में टखने–घुटने भर पानी के कारण दीवारें सीली रहती थी। छपर–छपर पानी में जोंक, साँप और जहरीले कठ बिच्छुओं के उसी बसेरे में रोज सैकड़ों अवैध कोयला काटने वाले 'मलकट्टों' को उतारता था ठेकेदार बनवारी का मुन्शी दामोदर।(160)

अपने स्वार्थ सिद्ध हेतू खनन ठेकेदार किसी को भी मौत के मुँह में धकेल देते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी ग्रामीण मजदूरों के भोलेपन का फायदा उठाकर उनकी जमीनों को हथियाकर उन पर अवैध खनन किया जा रहा है। सरकार भी इस

कार्य में पूरा सहयोग दे रही है। सरकार को यह चाहिए कि इस अवैध खनन के कार्य को रोकने के लिए उचित प्रावधान बनाए ताकि आदिवासियों की हालत में कुछ सुधार हो जाए।

रामविलास शर्मा ने *प्रेमचन्द्र और उनका युग* में प्रेमचंद के उपन्यास गोदान के लिए लिखा था :

> भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्‌गम बना दी गई है। व्यापार श्रेणियों को यह सुविधा विदेशी व्यापार को फलता–फूलता रखने के लिए दिया गया था। जिससे उनकी दशा उन्नत होती आयी और भूमि से संबंध रखने वाले सब वर्गों की क्या जमीदार, क्या किसान, क्या मजदूर गिरती गयी।(116)

3.3.4 वन कानून

आदिवासी जनजाति व ग्रामीण लोगों का जीवन वनों पर ही आधारित है। वे अपनी जरूरत की वस्तुएं वनों से ही प्राप्त करते हैं। लेकिन सरकार द्वारा जंगलों पर पाबंदी लगने से उन्हें बहुत सारी समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। आदिवासी लोग प्रकृति के पुजारी है। वे लोग वनों से उतना ही लेते है, जितनी उन्हें आवश्यकता होती है। लेकिन अपने–आप को सभ्य कहने वाला समाज वनों का अंधाधुंध दोहन कर रहा है। जिससे न केवल आदिवासियों को नुकसान पहुँच रहा है, बल्कि पर्यावरण में भी असंतुलन फैल रहा है। वन और आदिवासी को एक–दूसरे का पूरक मानकर भगवती प्रसाद द्विवेदी *भारतीय जनजातियाँ* में लिखते हैं – "दोनों का एक–दूसरे से सहजीवी का रिश्ता होता है ये वनों की सुरक्षा करते है और वन इन्हें जीवन के सारे संसाधन व जीवन शक्ति प्रदान करते है।"(71) वनों में उनके सरना स्थल है, पुजनीय पेड़ जिनके प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है। लेकिन वन कानून लागू होने की वजह से कई मुसीबतें उनके समक्ष खड़ी हो गई है। जंगलों के राष्ट्रीयकरण से आदिवासियों का जो नुकसान हुआ है उसका उल्लेख कई उपन्यासों में हुआ है। सरकार इनको जंगलों से इसलिए खदेड़ना चाहती है। क्योंकि वह इनके जंगलों को कारपोरेट जगत को सौंपना चाहती है। इसलिए वनों पर रोक लगा दी गई है ताकि आदिवासी जंगलों को छोड़ने पर मजबूर हो जाएँ। जब से जंगलों का व्यवसायीकरण शुरू हुआ, तब से वन अधिकारियों तथा ठेकेदारों ने जंगलों को मनचाहे ढंग से उजाड़ा है।

राकेश कुमार सिंह द्वारा कृत *पठार पर कोहरा* उपन्यास में सरकार द्वारा जंगलों का राष्ट्रीयकरण करने से इन आदिवासी ग्रामीण को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है उसका चित्रण पूर्ण रूप में किया है। वनों में शिकार करने पर रोक लगने से आदिवासियों की शिकार खेलने वाली परम्परा लुप्त होने के कगार पर खड़ी हो गई है और भोजन के लिए उन्हें काफी भटकना पड़ रहा है। सरकार की इस योजना पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने लिखा है :

"शिकार के लिए भटकने वाले वे दिन नहीं रहे अब। छोटे तीतर–खरगोश जैसे शिकार मारने से वनपुत्रों को तृप्ति नहीं मिलती और बड़े शिकार पर रोक लगा दी है गोरमेंट ने।"(201) सिर्फ इतना ही नहीं लेखक ने सरकार द्वारा जानवरों के प्रति हमदर्दी और आदिवासियों के प्रति बरती जाने वाली लापरवाही पर भी करारी चोट की है। हमारी सरकार को जंगल में रहने वाले बाघों की बहुत चिन्ता है उन्हें बचाने के लिए कानून तैयार किए गए हैं। लेकिन जंगल में रहने वाले मनुष्य के लिए सरकार क्यों नहीं कोई कानून बना रही है।

आदिवासी ग्रामीण की ऐसी स्थिति रणेन्द्र ने भी अपने उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में बताई है। आदिवासी ग्रामीण लोगों को पशुओं से भी निम्न श्रेणी में रखा है। इसलिए वन विभाग को जंगल में रहने वाले इन्सानों से ज्यादा जंगली जानवरों की फिक्र होती है। उपन्यास में डॉक्टर, साहब बताते है कि :

> वन विभाग ने बहुत पहले रिपोर्ट भेजी थी कि लगभग चौसठ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पहले भेड़ियों की संख्या सात सौ अट्ठासी हुआ करती थी। वह घटती–घटती एक सौ छिहत्तर रह गयी है। तैतीस पेज तो खाली भेड़ियों की इस खास नस्ल पर ही लिखा गया है। तब यह बताया गया है कि इनका बचाया जाना कितना जरूरी है। वन विभाग असुरों और आदिवासी ग्रामीण लोगों को अपने क्षेत्र में घुसपैठिया मानता है। वह यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि वन गांवों में लोग सैकड़ों वर्षों से रहते आये हैं। वन विभाग ही बाद में आया है।(79)

रमेश उपाध्याय नया ज्ञानोदय में लिखते है :

> इस अध्याय में वर्तमान व्यवस्था विकास के नाम आदिवासियों की इन उन्नत, सुन्दर और टिकाऊ सभ्यता संस्कृति को समूल नष्ट करने पर तुली है। देशी, विदेशी, कारपोरेट, बिल्डर, भू–माफिया, मीडिया खद्‌ान कम्पनियाँ और केन्द्र तथा राज्य सरकार सभी आदिवासियों की जमीनें, जंगल और जल हड़पने, उनके पहाड़ों में छिपी सम्पदा को लूटने तथा उन्हें मार–पीटकर उजाड़ने और दरिद्र बनाने पर तुले हुए हैं।(10)

सरकार को भेड़ियों की नस्ल खत्म होने का डर लग रहा हैं। लेकिन आदिवासियों की कई नस्ले तबाह हो रही हैं। इनके बारे में सोचने वाला कोई नहीं है। वनस्पतियों और जीवों की तरह आदिवासी ग्रामीण व जनजाति भी जंगल के स्वाभाविक वाशिंदे है। उनका भी जंगल पर उतना ही अधिकार है जितना जंगल में रहने वाले दूसरे प्राणियों का है। सरकार अपनी धन लिप्सा के कारण जंगलों को बर्बरतापूर्वक उजाड़ रही है।

जंगल उन्हें पानी देता है, रोजगार देता हैं, लेकिन सरकान ने जंगलों को मुनाफे की वस्तु समझ लिया है और अपने लाभ के लिए उनको परंपरागत वन अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में जंगलात की वजह से पैदा होने वाली समस्याओं को उपन्यास में व्यक्त करते हैं जब एक लड़की बन्दर के बच्चे को जंगल से पकड़ कर लाती है। तो महाजन उसे जंगलबाबू की धमकी देता है। क्योंकि वन कानून लागू होने से आदिवासी क्षेत्रों के ग्रामीणों पर जंगल से कोई भी जानवर पकड़ने तथा कोई भी वस्तु लेने पर पाबंदियाँ लगा दी जाती है। इस कानून को तोड़ने के अपराध में उस लडकी को पकड़ लिया जाता है। महाजन उसे पकड़ कर जंगल बाबू के हवाले कर देता है – "तूने जंगल में घुसकर बानर काहे पकड़ा ?" महाजन कह रहा था, "गोरमेण्ट का हुकुम उठाती है तो डण्ड़ कौन भरेगा ?" अब नहीं पकड़ेगे बानर, "लडकी घिघियां रही है, "अबकी भर जान बकस दे ताऊ।" "हम कैसे बकस दें ? माफी देने का हक राजा गोमके को है ..... फिर जंगल बाबू को हैं।"(46) और फिर उस लड़की का दैहिक शोषण होता है।

आदिवासियों के लिए जंगल ही उनका सब कुछ है। जंगलों से वे अपना पेट भरते हैं और जंगलों से ही उनकी परपंराएं जुड़ी हुई हैं। लेकिन जब उन्हें जंगलों से दूर किया जाता है तो उनके मन को काफी पीड़ा पहुँचती है। हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में वनों पर रोक लगाने का चित्रण हुआ है। जब अंग्रेज वनों पर पाबंदी लगा देते हैं। तो गोविंदपुर उनका विरोध करते हुए कहते है कि जंगल पर हमारा हक है और इस पर रोक लगाना नाजायज है :

> जंगलात की उपज को हम काम में लेते रहे थे। उस पर नित नई पाबन्दी लगाई जा रही है .... हमारे जंगलों–पहाड़ों में जो पैदा होता है, उससे पेट भरते रहे हैं। इन पर हमारा पुश्तैनी हक है।(82)

अतः सरकार द्वार जंगलों का राष्ट्रीयकरण करने से ये लोग अपने पर्व त्यौहारों को अच्छी तरह से नहीं मना पाते हैं। क्योंकि कुछ पर्व उनके शिकार बगैरह से जुड़े हुए होते हैं तथा उन पर शिकार करने की भी रोक लगाई गई है। इतना ही नहीं वन अधिकारी जंगल में लकड़ी आदि इकट्ठा करने के लिए आई औरतों का दैहिक शोषण भी करते हैं। जंगलों को काटकर आज वहां सफेदे और सागवान के पेड़ लगाए जा रहे हैं। सफेदे के पेड़ पानी को सोख लेते हैं जिसकी वजह से पानी की समस्या उभर रही है। सखूए के पेड़ काटकर सागवान जैसे पेड़ रोपे जा रहे हैं। जबकि सखुए के बीज उन्हें अकाल के समय भी काम आते हैं। आदिवासियों की रक्षा का मुद्दा भी जानवरों की रक्षा के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इसलिए आदिवासी ग्रामीण व जनजातियों को जंगलों में उचित अधिकार मिलना चाहिए।

3.3.5 नशा खोरी

आदिवासी ग्राम्य लोग चावलों की बनी शराब को बहुत चाव से पीते हैं। हड़िया शराब उनकी संस्कृति है लेकिन उनकी इस संस्कृति ने विसंगति का रूप धारण कर लिया है। जिसके कारण वे नशे में डूबे रहते है। रणेन्द्र ने उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में नशाखोरी की तरफ बढ़ते आकर्षण को पाठकों के सामने उजागर किया है। लेखक सखुआपाट–हाट के बारे में संकेत देते है कि वह साप्ताहिक हाटों में सबसे बड़ा हाट होता है। उनमें हड़िया शराब की बिक्री होती है लेकिन इस नशाखोरी की लत के कारण बर्बाद होते घरों को पीड़ा का वर्णन उपन्यासकार ने किया है :

> हालांकि मुर्गा लड़ाई में लड़को की इधर रूचि घट गयी थी। किन्तु हडिया–दारू का आकर्षण बरकरार था। रूमझुम जैसे दर्जनों थे जो हाट में केवल इसी काम के लिए आते। महीनों की दबी हुई मन की खुमारी चढ़ते ही निकलने लगती।(85)

बेरोजगारी के कारण रूमझुम नशा करने लगता है।

रोहिणी अग्रवाल अपनी आलोचना समकालीन हिंदी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन में नशाखोरी पर लिखती है :

> मादक द्रव्यों (सलप, हड़िया) के नशे में धुत आदिवासी ने अपने वर्तमान को लेकर चिंतित है, न भावी पीढ़ी के भविष्य निर्माण को लेकर सजग गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास और वैचारित जड़ता ने उन्हें पशुओं से भी बदतर बना दिया है जहाँ न 'हाइजीन' की समझ है, न डॉक्टरी सुविधाएँ लेने की चेतना। हर रोग–शोक की एक ही रामबाण औषधि है – बलि या टोना–टोटका।(2–3)

आदिवासी क्षेत्रीय ग्रामीण के लोग जिस तरह से आज नशे के रास्ते पर जा रहे हैं उससे उनके भोजन में और ज्यादा बढ़ोतरी हो रही है। क्योंकि नशे की हालत में उन्हें कुछ याद नहीं रहता है और लोग मनमाने ढ़ंग से उन्हें लूटते है। मधुकर सिंह के उपन्यास *बाजत अनहद ढ़ोल* में नशाखोरी की वजह से उनके होने वाले शोषण का उजागर किया है। आदिवासियों को नशे की लत की वजह से कर्ज में ली गई रकम तक याद नहीं रहती और उसकी नशाखोरी का महाजन लोग फायदा उठा लेते है :

> वे मादक पदार्थों के आदी हो जाते। संताली सदा के लिए कर्जखोर बन जाते। ..... कचहरियों में चालाक महाजन बही–खाते पेश कर देते और सीधे–सादे संताली

बही–खाते की रकम को स्वीकार कर लेते। उन्हें तो कर्ज की रकम याद तक नहीं रहती।(92)

आदिवासी क्षेत्रीय ग्रामीण समाज के लोग अपनी दुख तकलीफों को भूलाने के लिए भी शराब का सहारा लेते हैं और बाद में उस नशे के आदी होकर अपना सब कुछ तबाह कर लेते हैं। हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में जब कुरिया के बाप को नशे की हालत में देखता है। तो इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि नशा आदमी को बेकार बना देता है :

> जवानी की देहरी पर कदम रखने तक गोविंदा ने ऐसे कई वाकिये देखे और सुने थे जब कोई आदिवासी ग्रामीण खुशी मे, कोई गमी में, कोई भौतिक अभावों के दुःख को भुलाने की गफलत में व कोई राज का सताया गुस्से में दारू पीने की आदत बना चुका था और अंत में घर परिवार की बर्बादी का कारण बनता था।(30)

भौतिक अभावों के चलते गाँव के लोग शराब जैसी गलत लत को अपना लेते हैं। लेकिन उन्हें इस बात की समझ नहीं है कि शराब पीने से कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती है। उल्टा हम अपना और अपने परिवार वालों को नुकसान ही पहुँचाते हैं।

ग्रामीण लोग पहले तो हाथ की बनी शराब का सेवन करते थे लेकिन आज के युग में अंग्रेजी की शराब की तरफ आकर्षित हो रहे हैं जिससे न केवल धन का अपव्यय होता है बल्कि स्वास्थ्य को भी नुकसान पहुँचता है। पुन्नी सिंह के उपन्यास *सहराना* में बल्ला जब नशे की हालत में होता है तो महुए की शराब से श्रेष्ठ भिसकी को मानता है और सोमा को भी पीने के लिए उतेजित्त करता है :

> अये, तू आँखे फाड़–फाड़ के का देख रओ हैं ? तोय भरोसों नई है रओ है का ? जा में दारू है और कछु नई है। तैने महुआ की तो रोजई पी है ? आज असली अँगरेजी पी।" उपन्यास में घर की बनाई गई शराब का सेवन करने का उल्लेख मिलता है। जब फोदालिया शराब ज्यादा पीने लगता है तो उसकी पत्नी अंजनी काकी अपनी बहू चम्पा को शराब बनाने से मना कर देती है – "अंजनी काकी ने चंपा से साफ मना कर दिया कि वह घर में दारू न बनाये। दारू के मटके – छेलिया, हड़िया सब उलटे करके आँगन के एक कोने में रख दिये गये।"(78)

इस प्रकार युवा वर्ग भी नशे की गिरफत की तरह बढ़ रहा है।

आदिवासी ग्रामीण समाज में नशाखोरी भी गम्भीर समस्या के रूप में उभर कर आ रही है। जिसके कारण उनका जीवन दिन ब दिन बदतर होता चला जा रहा है। ग्रामीण लोग

अपनी जमीन खोने के गम में शराब की लत लगवाई जाती रही है। नशा खोरी की वजह से आदिवासियों का जमीन दरिद्रता से भर गया है वह कर्जे में डूबा रहता हैं। जो ग्रामीण विकास में बाधक है।

3.3.6 बेरोजगारी की समस्या

औद्योगिकरण की वजह से आदिवासी क्षेत्रीय समाज के जल, जंगल, जमीन छिन जाने के कारण उनके व्यवसाय और खेती–बाड़ी नष्ट हो गये है। जो उनके क्षेत्रों में उद्योग तथा कारखाने खुल रहे हैं उनमें भी बाहरी लोगों को नौकरियाँ दी जा रही है। अब स्थिति यह बन गई है कि उनके पास आजीविका का कोई साधन बचा ही नहीं है। आदिवासी समाज में बेरोजगारी की रफ्तार दिन प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही है।

आदिवासी गाँव के लोग आज भारी संख्या में बेरोजगारी की स्थिति से गुजर रहे हैं। महुआ माजी ने उपन्यास में बेरोजगारी की समस्या पर प्रकाश डाला है। *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* उपन्यास में बताया गया है कि जब आदिवासियों को कोई रोजगार प्राप्त नहीं हो रहा था। तो सगेन कुछ युवकों के साथ मिलकर एक 'मरंग गोड़ा आदिवासी विस्थापित बेरोजगार संघ' की स्थापना करता है। इस संगठन के तहत वह विस्थापित बेरोजगारों को कंपनी में मुआवजा तथा नौकरी दिलवाने के लिए प्रयास करता है।" मरंग गोडा के कुछ युवकों को लेकर आरंभ किए गये संगठन का नाम रखा गया – मरंग गोड़ा आदिवासी विस्थापित बेरोजगार संघ।"(164) आदिवासी ग्रामीण लोगों की जमीनों पर उद्योग धंधे शुरू किए जाते हैं। लेकिन वहाँ पर रोजगार गैर ग्रामीणों को ही दिए जाते है और ग्रामीण आदिवासी बेरोजगारी के कारण दिन–रात परेशान रहते हैं।

बेडिया समुदाय के पुरूष बेरोजगारी भरा जीवन जी रहे है। इसलिए अपनी स्त्रियों से देह व्यापार करवाने में भी संकोच नहीं करते हैं। क्योंकि यदि संकोच करेंगे जो उनके परिवार का पेट कैसे भरेगा। शरद सिंह ने *पिछले पन्ने की औरते* में कहाँ है कि बेड़िया समुदाय के पुरूष ज्यादातर बेरोजगार है। अपनी बेरोजगारी के चलते वे अपने परिवार की स्त्रियों को देह व्यापार की अग्नि में झोंक देते है :

> बेडिया समुदाय के पुरूष भी अपनी अकर्मण्यता के चलते अपने परिवार की औरतों को अनेक 'कमाऊ रूप' में ही देखना चाहते है। यदि उनकी औरतें देह–व्यापार नहीं करेगी तो उनका और उनके परिवार का गुजारा कैसे चलेगा।(201)

इस प्रकार बेड़िया समुदाय के लोग रोजगार न मिलने के कारण देह व्यापार को ही व्यवसाय के रूप में चुनते है।

प्रतिभाराय अपनी पुस्तक *आदिभूमि* में लिखती है :

> सभ्यता व वेशभूषा है, न पोशाक। संस्कृति पाउडर, टीका, सरकारी चाकरी, वेतन नहीं है। दोपहर के भोजन में गुड़ और दलिया तथा उबली दाल के लिए कतार बाँध इसकूल आना शिक्षा नहीं। खाद, बीज, भैंसा, मुर्गी पालना प्रगति नहीं है। आदमी सभ्यता बनाता है या सभ्यता आदमी को बनाती है।(294)

ग्रामीण आदिवासी समाज के लोग को बड़ी नौकरी प्राप्त नहीं होती है इसलिए यदि छोटी नौकरी भी मिल जाए तो वे खुशी से स्वीकार कर लेते हैं। 'सहराना' में पुन्नी सिंह ने बेरोजगारी की समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उपन्यास में बल्ला जोकि अस्थायी नौकरी कर रहा था उसे एस.डी.ओ. स्वरूप सिंह निकाल देना चाहता है और उसकी जगह वह सोमा को नौकरी पर रखना चाहता है। लेकिन सोमा इस नौकरी के लिए मना कर देता है तो एस.डी.ओ. उसे बेरोजगारी की समस्या से अवगत करवाता हुआ कहता है :

> तेरी राजी हो तो नौकरी कर नहीं राजी हो तो मत कर, बल्ला को फिर नौकरी पर नहीं रखा जायेगा। सुबह से शाम तक इसी नौकरी के लिए दस लोग चक्कर काटते है और तू नखरे दिखा रहा है। आजकल नौकरी मिलना इतनी आसान बात नहीं है, वैसे भी घाटी में अकाल की स्थिति बनी हुई है। ढूँढ़े से रोजगार नहीं मिलता है। अंजनी काकी यह सब देख सोमा को अस्थायी नौकरी के लिए राजी कर लेती है।(158)

क्योंकि उसे डर था कि सहरिया लोगों के पास वैसे भी कोई रोज़गार नहीं है। कही यह अवसर भी हाथ से निकल गया तो उन्हें बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ सकता है।

जब ग्रामीणों को रोजगार के अवसर नहीं मिलते हैं तो वे मजदूरी से ही अपना तथा अपने परिवार का पेट भरने की कोशिश करते है। रणेन्द्र के उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में बताया गया है कि यहाँ पर ज्यादातर लोग बेरोजगार है। अगर उन्हें रोजगार प्राप्त भी होता है तो वह भी मजदूरी का ही प्राप्त होता है। बेरोजगारों को अपना पेट पालने के लिए जंगलों का ही सहारा लेना पड़ता है। जिस घर में मजूरी खटने वाले हाथ रहते वे तो खान–खदान में खटकर पेट पाल लेते, किन्तु जिन घरों में खटने लायक समाँग नहीं होता उस घर का पेट तो जंगल ही पालता है। इस प्रकार बेरोजगारी ने ग्रामीणों को तोड़कर रख दिया है।

3.3.7 अकाल की समस्या

आदिवासी गाँव के लोगों को सूखा तथा अकाल की समस्या से जूझना पड़ता है। अल्पवृष्टि या बिल्कुल बारिश न होने की वजह से ग्राम्य लोगों के पास खाने के लिए कुछ नहीं उगा पाते और ऐसे समय में उन्हें भूख या अधपेट रहने के लिए विवश होना पड़ता है। इस संकट की घड़ी में वह सामान्य लोगों की तरह पलायन नहीं करते हैं। बल्कि एक जुट होकर साथ में रहते है इसका चित्रण तेजिन्दर के उपन्यास *काला पादरी* में किया गया है। उपन्यास में आदिवासियों को अकाल की समस्या से जूझते हुए दिखाया गया है। लोग अकाल के कारण भूखे मरना शुरू हो जाते हैं। उस समय जेम्स खाखा को विशपस्वामी पादरी बनने के लिए रोम भेजना चाहते है। लेकिन जेम्स खाखा लोगों को ऐसी हालात में छोड़कर जाना नहीं चाहता है वह सोचता हैः

> रोम का अर्थ है – यूरोप यानी की आधुनिक सभ्यता का सर्वाधिक भव्य रूप, मैं जेम्स शाखा एक ऐसे स्थान का निवासी जहाँ आज भी भूख के कारण लोग मृत्यु का शिकार हो रहे है। जहाँ आज भी अकाल है। क्या एक ऐसे समय में जब उसके गांव के लोग भूख से मर रहे है। अपना गाँव छोड़कर ईश्वर की प्रार्थना सीखने के लिए रोम तक जाना एक तरह का पलायन नहीं है।(120)
>
> अतः वह रोम जाने का ख्याल त्याग देता है।

उदय सिंह योजना अगस्त 2018 में अकाल समस्या पर लिखते है :

> मध्यप्रदेश की 20.3 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी समुदाय की है जो अनेक समस्याओं का सामना करते हुए अभावपूर्ण जीवन जी रही है। रोटी के अभाव में भूखे पेट सोना, इलाज के अभाव के अकाल ही काल की गोद में समा जाना आदिवासी क्षेत्रों की कड़वी सच्चाई है। अपनी पारम्परिक अर्थव्यवस्था जो कि पूर्णतः वनों पर आधारित थी, के छिन्न–भिन्न हो जाने से वे दर–दर की ठोकरें खाने को विवश है। घने जंगल एवं वन्य प्राणी जिनसे वे मनोवैज्ञानिक रूप से जुड़े थे और जो उनके जीवन यापन के आधार थे, अब नष्ट हो गए हैं।(2)

पुन्नी सिंह कृत *सहराना* में अकाल की समस्या उभर कर आई है। जब भोजली का त्यौहार होता है तो बुधा डोकरा सोमा को ढोल बजाने के लिए कहता है। तो सोमा मना कर देता है लेकिन जब अंजनी काकी भी आग्रह करती है। तो सोमा कहता है कि इस अकाल के

समय में उसकी ढ़ोल बजाने की जरा भी इच्छा नहीं हो रही है। सोमा माँ को अकाल के कारण हुई घाटी की हालत से अवगत कराता है :

> जे बब्बा तो बावरो भओ है ! जाकी तो मति मारी गई है। सागरी घाटी सूखी पड़ी है। फसल सूख रई है, कूनों में पानी की बूंद नई, अब पथरन की नदी रह गई है और बब्बा लहँगी नाचनो चाहत है। सोमा ने सूखा की याद दिलाई तो अंजनी काकी को भी धक्का जैसा लगा। सही में घाटी पर अकाल के बादल मँडरा रहे है। ऊपर को निहारते–निहारते लोगों की आँखें पथराने लगी है।(82–83)

यहाँ पर पता चलता है कि अकाल की वजह से आदिवासी गाँव अन्दर ही अन्दर टूट गये है। और अपने त्यौहारों को भी खुशी से मना नहीं पा रहे हैं।

एक तरफ यहाँ गाँवों के लोग अकाल की वजह से परेशान है तो वही कुछ ऐसे भी है जो इस दुःख बेला में भी अपनी हिम्मत को बाँधे हुए है। हरिराम मीणा कृत *धूणी तपे तीर*में भी अकाल की त्रासदी का चित्रण हुआ है। अकाल के समय आदमियों के लिए अन्न तक का जुगाड़ करना बड़ा मुश्किल हो जाता है तो बेचारे मवेशियों के लिए चारा पैदा कहाँ से करते, जिसके कारण ग्रामीण और मवेशियों की मौत हो जाती है :

> अंचल में भीषण अकाल। अनावृष्टि का ऐसा प्रकोप पहले कभी न देखा था। .... अध–भूखे, अंधनगे लोग, ठट्ठर बनी मवेशिया, यहां वहां उनके कंकाल या सड़ती हुई लाशें। सूखी धरती और प्यासा जीवन। इन सबके चलते–आशाभरी बात यह कि विपरित परिस्थितियों में भी जीवन आगे बढ़ता है हारा–थका आधा–अधूरा, कटा–फटा मर मर कर भी जीने की जिद करता हुआ।(132–133)

ग्रामीण लोगों की जीजिविषा इतनी मजबूत है कि अकाल के समय भी वे जीने की हिम्मत नहीं छोड़ते हैं। इस पर विश्व विख्यात अर्थशास्त्री प्रो0 अर्मत्य सेन की पुस्तक *मिल के पत्र* का एक अंश उल्लेखनीय है –

> क्या मौसम के इस तंवर से तुम्हारा दिल दहल नहीं जाता ? इस बार जरूर फसल बहुत खराब होगी ... और किमतें आसमान छू रही होंगी इनके साथ ही एक अपूर्द कमी होगी रोजगार की, जिसकी कल्पना से ही लगता है कि शरीर का मांस कंकाल से अलग होकर गिरने लगेगा – एक तिहाई आबादी मर–खप जाएगी बेहतर होता कि इन लोगों को गलियों, सड़कों पर निकाल कर इनकी गर्दन ही काट देते, ठीक उसी तरह जैसा कि हम पालतू सूअरों के साथ करते है।(1)

कहीं अकाल के समय अंचल के लोग सखुए की छाल उबालकर पेट भरने की कोशिश में लगे रहते हैं। तो कहीं इस मुसीबत की घड़ी में कुल्थी उपजाकर गुजारा करने जैसे तथ्य भी उपन्यासों में उभरकर आए है। पंकज सुबीर कृत *अकाल में उत्सव* में भी अकाल की स्थिति का वर्णन किया गया है। उपन्यास में अकाल के समय पर आदिवासियों द्वारा कुल्थी उपजाकर खाने का उल्लेख मिलता है लेकिन ये कुल्थी भी इस अकाल में लड़ने के लिए कुछ समय तक साथ दे पाती है – "पहाड़िया अकाल से लड़ रहे थे। जाड़े के मौसम में पथरीली माटी में कुल्थी छींट दी थीं। जिस माटी में कोई अन्न नहीं उपजता, उस जमीन पर, भी ओस पीकर जी लेती है कुल्थी, पर कुल्थी भी कितने दिन साथ देती ?(47) इतना ही नहीं आदमियों के साथ–साथ जानवरों की स्थिति भी बहुत खराब थी। अकाल में वह भी अधपेट रह जाते थे और देर साँझ तक चारा खंखोरते रहते थे।

अतः हम कह सकते है कि हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में अकाल की समस्या को लेखकों ने बड़ी बारीकी के साथ पाठक के सामने रखा है।

3.3.8 विस्थापन

आदिवासी ग्रामीण क्षेत्रों में बांध, कारखानों, उद्योगों की स्थापना होने के कारण उन्हें अपने जंगलों और जमीनो से खदेड़ा जा रहा है। सरकार के सहयोग से बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इन क्षेत्रों में अपने पाँव जमाना चाहती है। बाँध बगैरह बनाने से भी कई गाँवों को उजाड़ा गया है जिसके कारण लोगों को विस्थापित होना पड़ा है।

आदिवासी ग्राम्य अँचल के लोग शिकार की खोज में तथा अपने जानवरों की खोज में कई बार विस्थापन करते रहे हैं। लेकिन आज उनका विस्थापन जोर जबरदस्ती से करवाया जा रहा है। विस्थापन की वजह से इनकी संस्कृति नष्ट हो रही है वह आर्थिक स्थिति को भी आघात लग रहा है। सरकार विस्थापन के एवज पर आदिवासियों को मुआवजा तो दे देती है लेकिन उस थोड़ी सी रकम से वे दोबारा अपना घर नहीं बना सकते हैं। उस मुआवजे से उनके घर के साथ जुड़े, जुड़ाव, संस्कृति, उनकी परम्पराओं को वापिस नहीं किया जा सकता है। *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* महुआ माजी द्वारा रचित उपन्यास में विस्थापित लोगों की पीड़ा दर्ज हुई है। लोग विस्थापन के एवज में मुआवजा लेने से इंकार कर देते है क्योंकि मुआवजे में मिले पैसे तो खत्म हो जाते हैं। लेकिन उन्हें विस्थापन की वजह से जो इतना नुकसान उठाना पड़ता है। उसकी भरपाई उन चंद पैसों से नही हो पाती है। इसलिए खदान कंपनी के माहतों द्वारा मुआवजा देने के प्रस्ताव को ठुकरा देते है। महुआ माजी के शब्दों में :

हमें नहीं चाहिए मुआवजा। किस–किस चीज का मुआवजा देंगे आप ? मुआवजा लेकर जो लोग विस्थापित हुए, चंद दिनों में उनके सारे पैसे खत्म हो गये। संबंधियों से बिछुड़ गये। मागे पोरोब में बहनों को भाईयों ने न्योता नहीं दिया। हम कोई बनिया नहीं कि एक–एक पैसा बचाकर खर्च करें। हमें खाने–पीने और मौज–मस्ती करके हाथ आए सारे पैसों को उड़ा देने की आदत है। हमारे खेत बचे रहेंगे तो हमारे बच्चों के, बच्चों के बच्चों के काम आएंगे मगर उतने दिनों तक मुआवजा के पैसे उनके लिए बचाकर रख पाएंगे क्या ?(167)

विश्व विख्यात अर्थशास्त्री प्रो0 अमर्त्य सेन अपनी पुस्तक मील का पत्थर में विस्थापन पर लिखते हैं : यदि हम छतीसगढ़ के श्रमिकों के पलायन के चरित्र को गौर से देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि एक बड़ी संख्या में इस क्षेत्र के श्रमिक सामान्य वर्षा के सालों में भी पलायन के लिए बाध्य है जो उत्तरी और पश्चिमी भारत के ईट भट्ठों या निर्माण कार्यों पर कमाने जाते है इसका कारण है –

1. स्थानीय किसानों का तेजी से सीमांत कृषकों या भूमिहीन हो जाना।
2. सिंचाई सुविधाओं का अभाव जो उन्हें 2/3 साल बेकार बना देता है।
3. वनों की कटाई से अनियमित वर्षा होना तथा आदिवासी क्षेत्रों में वनीकरण के काम पर स्थानीय लोगों को काम पर न लगाया जाना।
4. सरकारी अधिनियिमों का स्थानीय जनता के प्रति हेयभाव होना।
5. पंचायती राज के नाम पर भ्रष्ट नेताओं द्वारा अपने ही क्षेत्र के लोगों के प्रति बढ़ती हुई उपेक्षा का भाव।

जहाँ उद्योगों की स्थापना के लिए ग्राम्य लोग विस्थापित हो रहे हैं तो वही रेल मार्ग के निर्माण के लिए भी विस्थापित होने वालों की संख्या कम नहीं है। पुन्नी सिंह कृत *सहराना* में जब चंपा अपने पति को लेकर अपने मां–बाप से मिलने जाती है तो वह हैरान रह जाती है। उसे वहाँ पर कोई घर दिखाई नहीं देता है। रेलवे मार्ग बनने की वजह से रेलवे वाले उनके घरों से विस्थापित कर देते हैं – "कुछ देकर इधर–उधर भटकने के बाद पता लगा कि उन लोगों के घर रेलवे वालों ने उजाड़ दिये हैं। वे लोग आजकल कारखाने के पिछले गेट के पास गन्ना इकट्ठा करने वाले शेड़ में घर बसाकर रह रहे हैं।"(142)

खनिज सम्पदा के दोहन के लिए सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आदिवासियों की जमीन दिलवाने के लिए अक्रामक भूमिका अदाकर रही है। लेकिन विस्थपितों के दर्द को कोई

समझने की कोशिश नहीं करता है। रणेन्द्र कृत *ग्लोबल गाँव के देवता* उपन्यास में विस्थापन की पीड़ा को उकेरा गया है। उपन्यास का पात्र कहता है कि आदिवासियों से सौतेलों जैसा व्यवहार आखिर क्यों किया जाता है। खनिज सम्पदा के लिए आदिवासी क्षेत्रों को ही क्यों रौंदा जाता है। क्या आदिवासी इस देश के निवासी नहीं है तो विस्थापन की मार उन्हें ही क्यों दी जाती है। इन तमाम प्रश्नों के लिए वे कहते हैं :

> अगर लुटियन दिल्ली के नीचे कोयला निकल आए, इलाहाबाद सिविल लाइन के नीचे बॉक्साइट, यूरेनियम, चंडीगढ़ के नीचे आयरन ओर लखनऊ, चेन्नई, बंगलूरू के नीचे तो क्या उजाड़ेगा लोग उसे ? होगा वहां विस्थापन ? नहीं कभी नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा। क्योंकि वहां रहने वाले एलीट सम्मानीय नागरिक हैं। भारत माता के अपने खास बेटे। फिर हम क्या हैं ? केवल लाभुक, कोई टार्जेट ग्रुप या फिर किसी शोध के लिए एक ठोस केस भर। क्या हैं हम ? क्या मुआवजा के एक रजिस्टर के बस एक नंबर, या कि कल्याण विभाग के फाइल की फटी हुई झोली, फादर हॉफमैन, वरियर एल्विन जैसों की किताबों को ब्लैक एंड व्हाइट तस्वीरें। क्या हैं हम ? सच बात है कि उनकी नजर में हम है ही नहीं। फिर यह हमारी सांस लेती हुई जिंदगी क्या हैं ? ..... क्या हम आपके सौतेले बेटे है भारत माता ?(263)

ये जो प्रश्न दादा ने किए हैं ये उनके सवाल नहीं बल्कि तमाम आदिवासियों के दिमाग में कई बार कौंधते हैं। लेकिन अफसोस यह है कि सरकार को उनकी कोई परवाह नहीं हैं।

अतः विस्थापन जैसी आर्थिक समस्या के कारण आदिवासी अपने घरों से बेघर हो गए है और उन्हें दर–दर की ठोकरें खानी पड़ रही है। बिजली के कारखाने, बाँध, औद्योगिक संस्थान के निर्माण के कारण आदिवासियों को मजबूरन विस्थापित होना पड़ रहा है बाक्साइट, लौहा अयस्क का दोहन करने के लिए सरकार आदिवासियों के गाँव उजाड़ने पर तूली हुई है। जिसके परिणाम ठीक नहीं निकल रहे है। काफी लोगों के आक्रोश सरकार के प्रति भर गया है।

3.3.9 भ्रष्टाचार

भ्रष्टाचार के आज समाज को अपनी जड़ों में इस प्रकार जकड़ लिया है कि कोई भी व्यक्ति उसकी गरिफत से अपने आपको बचा नहीं पा रहा है। रिश्वत, धोखाधड़ी, स्वार्थ सिद्धि आदि सब भ्रष्टाचार पर आज फल–फूल रहे हैं। भ्रष्टाचार ने समाज को इस तरह खोखला कर डाला है कि ईमानदार व्यक्ति के लिए साँस भी ले पाना कठिन साबित हो रहा है। भोले–भाँले आदिवासी भी इसी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहे हैं।

राकेश कुमार सिंह कृत उपन्यास *पठार पर कोहरा* में आदिवासी के लिए कई कल्याणकारी योजनाएं बनती है। लेकिन इनका लाभ उन लोगों तक नहीं पहुँच पाता, क्योंकि गाँव के नाम पर फर्जी तैयार किये जाते हैं। जाली आंकड़ों पर उन तक लाभ कैसे पहुँच सकता है। उपन्यास में संजीव जब जिला मुख्यालय के जनगणना कार्यालय पहुँचते है। तो उनको पता चलता है कि गाँव का नाम तक सही नहीं है। करोड़ों रूपये भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहे हैं। ये देखकर संजीव का मन चिन्ता से भर उठता है :

> कितनी अकर्मण्य और भ्रष्ट हो चुकी है यह व्यवस्था.... । उन्होंने यहां भी एक लिखित प्रतिवेदन देकर गजलीठोरी गांव के गलत नाम और आंकड़ों की विसंगतियों की ओर प्रशासन का ध्यानाकर्षण करना चाहा था तो सम्बन्धित लिपिक और फिर पदाधिकारियों ने भी बिदककर उन्हें सबक पढ़ाया था, मास्टर है न जी आप, तो मास्टरी कीजिए न। काहे को साफ–सुथरे तैयार कागजात में काटकूट करवाने को परेशान है।(136)

रोहिणी अग्रवाल अपनी आलोचना समकालीन हिंदी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन में लिखती है :

> वक्त से कटे इस समाज को अपने लिए एक मसीहा की जरूरत है अँचल एक दिन जाग उठेगा और अपने पैरों चल कर अपने हक की लड़ाई लड़ेगा। पूरब की लाली बन कर यह विश्वास लगभग हर उपन्यास के क्षितिज पर जगमगा रहा है। लेकिन क्या यह अपने इर्द–गिर्द बुनी तल्ख सच्चाइयों और स्वार्थपूर्ण क्षुद्रताओं की ओर से आँख मूदने की शतुरमुर्गी कोशिश नहीं क्योंकि विकास की चाहना करने वाले आदिवासी समाजों तक विकास की कुरीतियों और विद्रूपताओं को पहुँचाने वाला सभ्य समाज उन्हें जी–जान से पिछड़ा और आदिम बनाए रख कर ही अपना वर्चस्व और समृद्धि बढ़ाते रहना चाहता है।(3)

कुछ जनजातियाँ जो ग्रामीण क्षेत्र की जरायम पेशा होती हैं। लेकिन उनके इस पेशे को रोकने की जगह पुलिस पैसे लेकर इस धंधे को बढ़ावा दे रही है। भगवान दास मोरवाल कृत उपन्यास *रेत* में कंजरों को वेश्यावृत्ति करने के लिए पुलिस द्वारा बढ़ावा देने का चित्रण हुआ है। पुलिस उनसे पैसे लेकर उन्हें देह व्यापार करने देती है। वैद्य जी को मंगल से पता चलता है कि इज्जतदार लोग कंजरों को यहाँ बसने नहीं दे रहे हैं। उनका कहना है कि उनके कारण उनकी बहु–बेटियों पर बुरा असर पड़ रहा है। इसलिए खोखे हरा दिए जाते हैं। लेकिन पुलिस जब चली जाती है, तो खोखे फिर से लग जाते हैं। सच्चाई यह है कि पुलिस खुद भी कंजरों

के साथ मिली हुई है और सिर्फ दिखावे के लिए उन पर थोड़ी सख्ती करती है। वैद्य जी हैरान हो जाते है, इस पर रूकमिणी वैद्य जी को वास्तविकता से अवगत करवाती हुई कहती है :

> "कि वैद्य जी हमारा और इस पुलिस का जूँ और घाघरी जैसा नाता है। न जूँ से घाघरी छोड़ते बनती है, न घाघरी से जूँ। वैसे भी हम पुलिस से बनाकर न रखें तो कौन जीने दे हमें। पता है धरमपुरा कोतवाली में आने के लिए पुलिस महकमें में मोटी रकम चढ़ाई जाती है।(147)

भोले–भाँले आदिवासियों को बहला–फुसला कर उनसे पेड़ काटकर लाखों पैसे दलाल लोग हथिया रहे हैं। महुआ माजी के उपन्यास *मरंग गोडा नीलकंठ हुआ* में भ्रष्ट नेताओं द्वारा आदिवासियों ग्राम्य क्षेत्रों में लगे हुए वृक्ष काटकर लाखों का मुनाफा कमाने के तथ्य उभरकर सामने आए हैं :

> ग्रामीणों को उकसाकर कटवाई गई हजारों एकड़ ज़मीन पर लगे कीमती पेड़ों को ठेकेदारों और टिंबर व्यवसायियों के हाथों बेचकर कुछ छुटभैया नेता और दलाल लाखों रूपये कमा रहे हैं, पिछले दो वर्षों में इलाके के करीब चालीस हजार एकड़ में लगे वृक्ष कट चुके हैं।(127)

डॉ0 रामदयाल मुण्डा की आलोचना *दृष्टि और आदि धरम* आदिवासी दुनिया पत्रिका में लिखते है :

> आदिवासी की दिशा को ही देश की दिशा कह सकते है आप लाख विकास कर ले। अगर हम उस विकास में आदिवासी को हाशिये पर खिकाते जाएंगे तो निश्चित ही उन्हें नष्ट करेंगे और यदि वे नष्ट होंगे तब आने वाली पीढ़ी पर्यावरण के बिगड़ने से स्वयं बच नहीं सकेगी, इसलिए हमें अपना विकास इस तरह करना चाहिए जिससे आदिवासियों के लिए जगह बची रह सके।(19)

जब भी गाँव के लोगों की फसल अच्छी होती है। तो हर किसी की यही चाह होती है कि उनकी फसल को कैसे हथियाया जाए। पुन्नी सिंह कृत उपन्यास *सहराना* में भ्रष्टाचार को एक पटवारी के द्वारा पाठकों के सामने रखा गया है। सहरियों की फसल जब भी अच्छी होती है, तो उनकी जमीन के साथ हेर–फेर लिया जाता है। और बेचारे भोले–भाँले ग्रामीण ठगे जाते है। पटवारी सहारियों से कहता है :

> सहराने में जब भी अच्छी होती थी सहरिया जाति यह जानती थी कि हमारे साथ छल किया जाएगा इसलिए अपनी अच्छी फसल को देखकर खुश होने की बजाय चिन्तित

रहते है – "सहराने के आसपास की जमीन में सरसों फूली थी। गेहूँ और चना फसल भी उठान पर थीं, यहां का बच्चा–बच्चा जानता है कि ऐसी फसल देखकर किसी भी अधिकारी के मुँह में पानी भर जायेगा। फिर उसकी कलम उल्टी–सीधी, कैसी भी चल सकती हैं।(189)

सरकार सदियों से ग्राम्य आदिवासियों को सदियों से ठगती चली आ रही है। उनकी जमीनों पर कभी बड़े–बड़े बाँध बना दिए जाते हैं तो कभी वहां से खनिज सम्पदा निकालने के लिए उनके खेतों को उजाड़ दिया जाता है। रणेन्द्र के उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में लेखक ने कुछ भ्रष्ट लोगों की नीतियों को उजागर किया है। आदिवासियों के लिए योजनाएं नहीं बनाई जाती है वास्तव में सरकार अपने फायदे को देखकर योजनाएं बनाती और बदलती रहती है :

कल तक जिस इलाके में सिंचाई के लिए, उसे धान का कटोरा बनाने के लिए आप दुलमी नदी बांध परियोजना लाते हो, दसे साल के बाद उसी सिंचित खेत, धान के कटोरा, धनहर इलाके में कहते हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाएंगे। काहे भाई ? दसे साल में सीन कैसे बदल गया रे, भइवा ? अभी तो ढंग से नहर में पानी आना शुरू हुआ है। अभी तो धान के बाद दु–चार बरस से गेहूँ आलू की खेतिए शुरू हुई है। अभी तो किसान के शरीर पर थोड़ी चमक आई है कि एकाएक सपना आया कि जनहित में विशेष आर्थिक क्षेत्र ही जरूरी हो गया है।(226)

आदिवासी ग्रामीण बेचारे पेट भरने के लिए जंगल से कुछ नहीं ले सकते हैं लेकिन वन अधिकारी तथा ठेकेदार कई वृक्षों को अवैध कटवाकर अपनी तिजोरिया भर रहे हैं। राकेश कुमार सिंह कृत उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में जंगल से अवैध कटाई तथा उनसे लाखों रूपये कमाने का चित्रण उपन्यासकार ने किया है :

यों कहने को बिना वन विभाग के आदर्शपत्र के कोई भी आदिवासी जंगल के वृक्ष नहीं काट सकता था हरे वृक्षों के लिए तो परमिट ही नहीं मिल सकता था। परन्तु चंडीदास बनर्जी को किसी परमिट या आदेशपत्र की क्या आवश्यकता थी ? हर वर्ष लाखों लाख रूपये के मूल्यवान हरे वृक्षों की अवैध कतई बेरोक–टोक होती थी बरवाडीह – मुहुआटॉड – बेतला – हुटाप के महाअरण्य में।(56)

अतः आदिवासी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार दिन ब दिन बढ़ता चला जा रहा है। '*पठार पर कोहरा*', *जो इतिहास में नहीं है,सहराना, काला पादरी,मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, ग्लोबल गांव के देवता* आदि उपन्यासों में इसका खुलासा, सविस्तार किया गया है। सरकार को चाहिए कि वे

ईमानदारी से अपना काम करे और निचले तबके के लोगों की जरूरतों को भी समझने की कोशिश करे।

3.4. ग्राम्य जीवन के दलित समाज का आर्थिक पक्ष

दलित समाज की आर्थिक और भौतिक स्थिति में सुधार से ही उनकी दशा में सुधार हो सकता है। अर्थव्यवस्था को पुनर्गठित किया जाए। जमीन का मालिकाना हक केवल उन्हें दिया जाए तो खुद खेती करते है। क्योंकि सम्पूर्ण दलित समाज का लगभग 8.5% आबादी गाँव में निवास करती है। उनमें से भी केवल 17% के पास आजीविका के साधन के रूप में नाममात्र की कृषि भूमि है। बाकि 12% जो मजदूरी करके जीवन यापन करते है लेकिन 65% ऐसे दलित है, जिनके पास जीविकोपार्जन के लिए कोई साधन नहीं है। इनके लिए समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने अपने स्तर पर प्रयास करना होगा। विरेन्द्र सिंह यादव *नई आर्थिक नीति और दलितों के समक्ष चुनौतियाँ* के अनुसार :

> 'नई आर्थिक नीति व ग्लोबलाइजेशन ने दलितों के समक्ष नयी चुनौतियाँ पैदा की है। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया में भारतीय समाज के भीतर परिवर्तन की लहर पैदा कर दिया है। निजीकरण उदारीकरण व भूमण्डलीकरण का असर सम्पूर्ण भारत में शुरू हो चुका है। किन्तु इसकी चाबी सवर्ण पूँजीपतियों के हाथ में है। इस नीति को दलितों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो इसके परिणाम काफी निराशाजनक है। इस आर्थिक नीति में कई प्रश्न अनुत्तरित हैं क्योंकि स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार जैसी महत्वाकांक्षी योजनाओं का जो शिगूफा, दलित वर्ग के लिए छोड़ा गया है। उससे वास्तविक लाभ जिसको है ? या किसको मिलेगा। या मिला। इसके साथ ही निवेश नीति, आर्थिक सुरक्षा के अन्य उपाय, भ्रष्टाचार और भारतीय आर्थिक नीति से दलितों के आर्थिक सामाजिक उत्थान में क्या प्रगति हुई है ? क्या दलितों के लिए ये संरक्षण वादी उपाय पर्याप्त है। इसके और प्रयासों की आवश्यकता है।(166)
>
> दलितों के समक्ष दूसरी सबसे बड़ी समस्या निजीकरण की है। इसके माध्यम से सार्वजनिक संस्थाओं को आंशिक या पूर्णतः प्राइवेटाइजेशन कर दिया जायेगा साथ ही इनमें गुणवता, कुशलता, प्रतिस्पर्धात्मक, उत्पादकता आदि की आड़ में सार्वजनिक संस्थाओं सेवाओं, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोटी–कपड़ा और मकान, यातायात, दूरसंचार, ऊर्जा पर विशेष वर्ग का कब्जा हो जायेगा और दलित समाज की इन मूलभूत सुविधाओं से वंचित हो जायेगा।(167)

हरिनारायण ठाकुर *दलित साहित्य का समाजशास्त्र* के अनुसार – "जो आशा की किरण नजर आती है, 35% सरकारी और गैर सरकारी नौकरियाँ में जो है उनसे। यही एक चैनल होगा जिसके माध्यम से दलितों की तरक्की होगी। जातिगत पेशा भी बुरी तरह टूट रहा है। कुछ ही दलित है, जो अपने इस व्यवसाय में है।(29–30)

साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक रचनाकारों ने दलितों के आर्थिक पक्ष को समाज के सामने रखने का प्रयास किया है। मगर हरिनारायण ठाकुर का मानना है कि :

> दलितों की आर्थिक पक्ष पर लगता है साहित्यकारों ने मौन धारण कर लिया है। उन्होंने दलितों की सामाजिक, सांस्कृतिक–दार्शनिक और राजनीतिक पहलुओं को तो कलमबद्ध किया। किन्तु दलितों की भीषण गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी को छुआ ही नहीं। फिर भी दलित साहित्यकारों की रचनाओं में दलितों के आर्थिक पक्ष की चर्चा की गई है।(34)

जूठन में ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखते है :

> भाभी के पास गहनों के नाम पर चाँदी की एक पाजेब थी जिसे वह हमेशा अपनी शादी के कपड़ों मे ंसहेजकर रखती थी। भाभी ने अपना टीन का बक्शा खोला और वह पाजेब लाकर माँ के हाथ में रख दी ..... इसे बेचकर लल्ला जी का दाखिला करा दो।(24)

कमलाकान्त आई.ए.एस. *प्रियदर्शी* उपन्यास में कमलाकान्त के मामा जी कमलाकान्त को समझाते हुए कहते है कि – "बेटा, ताकतवर बनो । दुनिया में तीन ताकतें है – धन, बल और कुर्सी, जो ताकत हो वह तुम्हारी होनी चाहिए, मेरी तरह माँगी हुई नहीं। बिना ताकत तुम हर जगह दुत्कारे जाओगे।"(96) स्पष्ट होता है कि आर्थिक कमजोरी की वजह से कोई भी व्यक्ति इस भ्रष्ट समाज की प्रशासनिक व्यवस्था में अपने हक से वंचित हो जायेगा। इसलिए प्रियदर्शी ने कमलाकन्त के मामा के माध्यम से दलित समाज को सम्बोधित करते हुए कह रहे है।

रघुवीर सिंह के *आक्रोश* उपन्यास में पात्र हरबीर द्वारा ग्राम प्रधान को अपनी जमीन गिरवी रखकर पैसा लेने पर गाँव का पंच कहता है – "हरबीर पैसा तो प्रधान जी के पास बहुत है जितना चाहो उतना ले लो पर भाई अपने घर की भी कुछ आब–इज्जत रखो। तुम्हें बीस बीघा जमीन प्रधान को आड़ नहीं रखनी चाहिए थी। आखिर यार, दोस्त, रिश्तेदार, संगे संबंधी कम काम आयेंगे।"(51) पंच ने हरबीर को सम्बोधित करते हुए आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाये रखने के लिए जो उपाय बताये है। वह दलित समाज का आर्थिक दृष्टिकोण व्यक्त करता है,

साथ ही उसमें आर्थिक चेतना पैदा करने का प्रयास भी। जियालाल आर्य *सफेद चादर* उपन्यास मेंने दलितों में आर्थिक चेतना को बहुत ही अच्छी तरह से व्यक्त किया है। श्मशान घाट पर समारू राम जी पाठक से कम मजदूरी देने के विरोध में कहता है :

> मालिक जो कह दे मान लेंगे परन्तु पन्द्रह रूपये में काम नहीं होगा।" इसी तरह समारू आगे कहता है कि – "मालिक, पेट में लात न मारो। हमारे बाल बच्चों की रोटी का यही तो एक जरिया है। सात रूपये में पेट नहीं भरेगा।(15)

ओम प्रकाश वाल्मीकि ने *दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र* में लिखा है – "दलितों का जीवन जहाँ सामाजिक उत्पीड़न, शोषण, दमन से भरा हुआ है वहीं व्यवस्था के नाम पर लादी गई मर्यादाएँ, बन्धन दलित जीवन की विपन्नताएँ बनकर रहे है। आर्थिक विवशताओं और विंसगतिपूर्ण स्थितियों ने दलित जीवन को नरक बनाया है।"(76) दलित साहित्य में दलितों की आर्थिक समस्याओं को प्रमुखता से अभिव्यक्ति मिली है। रजतरानी मीनू ने *21 वें दशक की हिन्दी कविता* में लिखती है :

> आर्थिक विपन्नताओं से पग–पग पर घायल होने वाले दलित कवि का संवदेनशील हृदय अर्थाभाव के काले अभिशाप से घिरे हुए समूचे वर्ग को देखकर उद्धेलित हो उठता है। जन जीवन में जुड़े तमाम प्रश्नों की रोशनी में अपने सुंदर सपनो को यथार्थ में साकार होते नहीं देख पाते है।(77)

जयप्रकाश कर्दम के उपन्यास *छप्पर* का नायक चन्दन एक मजदूर किसान है, जो शिक्षा के द्वारा दलितों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन लाना चाहता है। वह सामाजिक जीवन को प्रगतिशील बनाने में नियोजित आर्थिम प्रगति देश तथा समाज की सामाजिक व्यवस्था की चेतना को गति प्रदान करता है चन्दन दलितों को कठोर परिश्रम के महत्व को समझाते हुए कहता है :

> जिनकी आमदनी कम होगी, वे लोग और ज्यादा मेहनत करके ओवर टाईम आदि लगाकर अपनी आमदनी बढ़ा सकते है। चन्दन से प्रभावित होकर चंदन का मित्र रामहेता कहता है कि – "मैं बिजनेस करूँगा और अधिक से अधिक पैसा कमाऊँगा।" उपन्यास में चंदन ने अगला सवाल किया – तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी जो आज दीन–हीन हालात है, तुम जो रोजी रोटी के लिए दूसरों के मोहताज हो और तुमको नीच, अछूत या हेय मानकर दूसरे लोग जिस प्रकार घृणा और अपेक्षा का व्यवहार करते है, तुम जो शोषण, अपमान और अत्याचार के शिकार हो इस सबका कारण ईश्वर है वहीं तुम्हारी दुर्दशा कर रहा है।(42–43)

3.5 ग्राम्य जीवन में किसान और आर्थिक तंगी

भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि और किसान है। किसानों की उन्नति से ही देश की उन्नति संभव है। किसान पूरे देश का अन्नदाता है। वैश्वीकरण के दौर में उसकी भी स्थिति में सुधार होना ऐसा लगा था। लेकिन आज के बाजारवादी दौर में वह हाशिए पर चला गया है। उसकी फसल का उचित मूल्य नहीं मिल रहा है। कर्ज की समस्या से घिरा हुआ है। खाद, बिजली और पानी की समस्याएँ उसे परेशान कर रही है। उसका कई आयामों पर शोषण हो रहा है। आजादी के पहले शोषकों को किसान समझ सकता था। लेकिन आज शोषण चालाकी से किया जा रहा है। कि शोषकों को पहचानना भी मुश्किल है।

आजादी के इतने साल बीत जाने पर भी किसानों को न्याय नहीं मिल पा रहा है। वह समस्याओं के मकड जाल में घिरा हुआ है। कभी प्राकृतिक आपदाएँ तो कभी सरकारी नीतियों से वह परेशान हो रहा है। उसकी फसल को उचित मूल्य न मिलना भी आज एक गंभीर आर्थिक समस्या हो चुकी है। बीजों की उपलब्धता और वितरण की असमानता की समस्या ने भी किसानों का जीना मुश्किल किया है। किसानों के लिए सारे हालात ऐसे हैं कि "जिंदा कैसे रहा जाएं ?" इस स्थिति मे ंवह फाँसी के फँदे को अपनाकर आत्महत्या कर रहा है। 'भारत एक कृषि प्रधान देश है' यह उक्ति इतनी ज्यादा चलन में आ गई कि खेती, किसान और उससे जुड़े लोग सरकार की नीतियों में कही जगह नहीं पा सके। किसानों के संबंध में सरकार की घोषणाएँ या तो फाइलों में बंद हो जाती हैं या बिचौलियों तक ही सिमट कर रह जाती है। किसानों के संबंध में सरकार की योजनाएं वैसे भी कारगर नहीं रही हैं फिर भी जो योजनाएँ बनाई गई उसका क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप खेती की नई–नई विधियों की जानकारी के अभाव में एवं दिन–प्रतिदिन खाद एवं बिजली के मूल्यों में बढ़ोतरी होने के कारण किसान खेती से लागत का मूल्य भी नहीं निकाल पाता है। आज किसानों के समक्ष अशिक्षा, गरीबी, भूखमरी एवं आत्महत्या जैसी अनेक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं। देश की लगभग आधी फीसदी से ज्यादा आबादी सरकार और समाज दोनों के यहाँ हाशिएँ पर है। अगर साहित्य की बात करें तो स्वतंत्रता के बाद किसान जीवन की समस्याओं को लेकर उस लेखन के कलेवर का अभाव है जो समकालीन कथाकार काशीनाथ के उपन्यास *रेहन पर रग्घू* संजीव का *फाँस* तथा हरिराम मीणा का उपन्यास *धूणी तपे तीर* उल्लेखनीय है।

काशीनाथ सिंह का *रेहन पर रग्घू* किसान जीवन पर केन्द्रित उपन्यास है जो प्रेमचंद की ही एक परंपरा की कड़ी दिखती है। *रेहन पर रग्घू* उपन्यास का कथानक परस्पर उलझी हुई किसान जीवन की अनेक समस्याओं व आर्थिक तंगी का जँजाल हैं। कथानक का आधार

पूर्वी उत्तर प्रदेश का ग्रामांचल है। इसका नायक रघुनाथ एक किसान है। उसके सामने विरासत में मिली तथा नयी विकास नीतियों के कारण निर्मित अनेक समस्याएँ है। वह अपनी सायानी बेटी के लिए दो साल से वर खोज रहा है, बेटे की इंजीनियरिंग की फीस का जुगाड़ नहीं हो रहा है। तीन साल से गन्ने का बकाया नहीं मिल रहा है, सोसायटी से खाद के लिए लिया गया कर्ज चुकता नहीं हुआ है। हर दूसरे महीने में टयूबवेल के बिल की तलवार सिर पर लटक जाती है। ऐसी कई समस्याओं को रघुनाथ किसान के माध्यम से कथाकार ने अपने उपन्यास में उठाया है। काशीनाथ सिंह ग्रामीण रचनाकार हैं। उन्होंने किसानों की समस्याओं को समझा तथा उनकी समस्याओं को महसूस किया है। रघुनाथ महसूस करता है कि जैसे नहर के पेट भीतर सिल्ट भर जाती है उसी तरह किसान की तकदीर में भी साल दर साल सिल्ट भरती जा रही है। अपनी किसान जीवन की समस्याओं से तंग आकर वह इस व्यवस्था से प्रश्न करता है कि सारे हालत तो मर जाने के हैं। जिंदा कैसे रहा जाए ?

जमीदार के ज़माने में किसानों का शोषण किया जाता था, उसको जेठ की धूप में मुर्गा बनाया जाता था, कोड़े से पिटवाया जाता था। वह जमींदारों का जमाना था। किन्तु आज इतने दिन बाद भी किसान की जिंदगी में बहुत कुछ नहीं बदला। उसका शोषण हो रहा है। पैसे वसूलने के लिए कानून किसानों, मजदूरों के लिए इस्तेमाल हो रहा है। किसानों के नरम सिरे से होने वाले शोषण को अब तो पहचानना भी मुश्किल हो रहा है। इन परिस्थितियों के कारण किसानों के मन से घिरा अँधेरा बाहर के अंधेरे से भी ज्यादा जमा हो रहा है। इससे तंग आकर किसान रघुनाथ कहता है कि किसान के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा। इन्हीं परिस्थितियों में जिंदगी की नाव खेना है।

किसानों की समस्याओं को अभिव्यक्त करते हुए काशीनाथ सिंह ने इतिहास और वर्तमान को सामने रखा है। उपन्यास मुख्य रूप से किसान जीवन की पेचीदगियों के प्रति सजग करता है। इसमें किसान जीवन से जुडें सांस्कृतिक धार्मिक संदर्भ भी मिलते हैं। इसका आकार भले ही लघु हो, लेकिन यह उपन्यास किसान जीवन की समस्याओं को व्यापकता के साथ प्रस्तुत करता है। यह केवल उत्तरप्रदेश की धरती पर ही नहीं बल्कि समूचे भारत में चेतना लाना चाहता है।

कथाकार संजीव ने अपने उपन्यास *फाँस* में किसान जीवन की विभिन्न समस्याओं को उकेरा है। उन्होंने किसानों की मूलभूत समस्या खाद, पानी, बीज, बिजली की समस्या, प्राकृतिक समस्या, फसल का उचित मूल्य न मिलने की समस्या, कर्ज की समस्या तथा आत्महत्या के

कारणों को बड़े ही बेबाकी के साथ अपने उपन्यास में दिखाया हैं। प्रेमपाल शर्मा ने *फाँस : एक सच्चा बहुजन उपन्यास* के अनुसार कर्ज की समस्या को उपन्यास में इस तरह व्यक्त किया है–

> अगले महीने बैंक का 14 हजार का कर्ज अदा करना है। आज गुढ़ी पाडवा है – मराठी नववर्ष। .... "फर्स्ट क्लास डिनर है आई।" .... "में जो भात है न आई, इसमें स्टार्च है, इसका माड न फेंको तो चावल की सारी ताकत बची रहती है, फिर मावा। मेवा है मेवा। ताकत ही ताकत। मजबूती ही मजबूती।" ..... "इसके सामने नासिक का किसमिश केल, रत्नगिरी का हापुस फेल और कलमी के साग में आयरन ही आयरन। और स्वाद ? ..... शुभा सामने आकर खड़ी हो गयीं तो झेप गया पूरा परिवार। शुभा ने तरस खाती जुबान से कहा – "आज नववर्ष है। आज तो कुछ कायदे की चीज बना लेती। चलो मैं देती पूरण पोली !" नहीं वाहिणी कोई तो दिन आएगा, हम भी पूरण पोली और ढेर सारा पकवान बनाएँगे। आज रहने दो।"
>
> "मगर क्यों ?"
>
> 'वो सुनील काका ने कहा है न कि जब तक कर्ज न उतार लो .....।
>
> "समझी। अरे तुम मीयां–बीबी। तुम्हें तपस्या करनी हो, शौक से करो, मगर मुलगियों को तो बख्श दो।"(4)

भारत का किसान जीवन भर ब्याज भरता रहता है तथा अपना कर्ज पुत्र को विरासत में दे देता है। किसानों का दोहन अनवरत जारी रहे इस हेतु अंग्रेजों ने मालगुजारी जैसे तमाम अधिनियमों को कानूनी तौर पर वैधता प्रदान की। सरकार की आर्थिक नीतियाँ, भू–राजस्व की नई प्रणाली और प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने किसानों की कमर तोड़ दी। प्रेमचंद के यहाँ जो कर्ज की समस्या थी प्रायः वही समस्या आज भी मौजूद है। लेकिन उसका स्वरूप बदल गया है। पहले जमींदार, साहूकारों के माध्यम से उनका शोषण होता था आज सरकारी दफ्तरों और बैंकों के माध्यम से। सबका पेट भरने और ढ़कने वाले देश के लाखों किसानों और उनके परिवारों को जिनकी हत्या या आत्महत्या को रोक नहीं पा सके। 'फाँस' संजीव द्वारा किसान आत्महत्या पर केन्द्रित अनेक वर्षों के शोध का परिणाम है। फाँस खतरे की चिंगारी भी है और आत्महत्या के विरूद्ध दृढ़ आत्मबल प्रदान करने वाली चेतना थी।

किसान जीवन को ही केंद्र में रखकर पंकज सुबीर ने *अकाल में उत्सक*उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन और विशेषतः किसानों की जिंदगी पर बहुत करीब से रोशनी डाली गई है। किसान की सारी आर्थिक गतिविधियाँ कैसे उसकी छोटी जोत की

फसल के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं और किन उम्मीदों के सहारे वे अपने आप को जीवित रखते हैं, यह उपन्यास का कथानक है। 'रामप्रसाद' के माध्यम से पंकज सुबीर बताते हैं कि आम किसान आज भी मौसम की मेहरबानी पर किस हद तक निर्भर है। मौसम के उतार–चढ़ाव के साथ ही किसानों की उम्मीदों का ग्राफ भी ऊपर–नीचे होता रहता है। किसान इन उतार–चढ़ाव के बीच अपने आप को कोसता रहता है। मैंने नहीं जाना जेठ की लू कैसी होती है और माघ की वर्षा कैसी होती है। इस देह को चीर कर देखो, इसमें कितना प्राण रह गया है, कितना जख्मों से चूर, कितना ठोकरों से कुचला हुआ। उससे पूछो, कभी तूने विश्राम के दर्शन किये, कभी तू छांह में बैठा। उस पर यह अपमान और वह अब भी जीता है, कायर, लोभी, अधम। उसका सारा विश्वास जो अगाध होकर स्थूल और अँधा हो गया था, मानो टूक–टूक उड़ गया है। *अकाल में उत्सव* उपन्यास को समझने के लिए रामप्रसाद की देह को चिर कर देखना होगा कि उसकी लालसाएं क्या है? कि उसके संघर्ष क्या हैं? कि वह अपनी जीवन–यात्रा के आखिरी पड़ाव पर किन–अनुभवों और विश्वासों के साथ उनका हो जाता है। रामप्रसाद एक छोटा आदमी है, किसान है, उसकी लालसा भी छोटी है।

अकाल में उत्सव : किसान जीवन की त्रासदी में किसान जीवन की छोटी–छोटी समस्याओं को ही कथाकार ने जगह दी है। किसानों की मूलभूत समस्या किसान क्रेडिट कार्ड समस्या, प्राकृतिक समस्या तथा सरकारी मुआवजा जैसी समस्याओं को कथाकार ने बड़े ही गहराई के साथ चित्रित किया है। किसानों की फसल नष्ट होने पर मुआवजा न मिलने की समस्या को सुबीर ने अपने उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है :

> लेकिन सर किसान तो सरकार के ही भरोसे हैं न ? अगर सरकार उसको ममद नहीं करेगी तो कौन करेगा? खेतों में खड़ी फसल अगर बरबाद हो गई, तो किसान क्या करे, क्या मर जाए?" आगे सरकारी अफसरों के माध्यम से किसानों के प्रति सरकार का घिनौना चेहरा भी इस उपन्यास में प्रस्तुत होता दिखाई देता है" तो मर जाए ? सरकार के भरोसे बैठा है क्या ? दुनिया में सब अपने–अपने भरोसे बैठे हैं। आपको किसने कहा है खेती करो ? मत करो अगर नुकसान का इतना ही डर है तो। जब कहा ही जाता है कि खेती तो मौसम के भरोसे खेला जाने वाला जुआ है, तो क्यों खेलते हो इस जुए को ? किसी ने कहा है क्या आपसे ? मत करो खेती कोई दूसरा काम करो।(2)

अकाल में उत्सव में निरतंर समृद्धशील सुविधासंपन्न, अत्याधुनिक हो रहे सभ्य मानवीय समाज में पशुओं से बहतर हताशा से भरा जीवन जीने को विवश किसान और मजदूरों के लिए बार–बार उठने वाले सवाल को प्रखरता से उठाया गया है। वह हमें हमारे बदबूदार गिरेबानों में

झांकने को विवश करता है। यही रचना की ताकत है कि जब हम मूल मुद्दों से आँख मूद लेते हैं तो वह अपने शंखनाद द्वारा हमें सजग कराती है।

फाँस : एक सच्चा बहुजन उपन्यास किसान संघर्ष की गाथा को ये उपन्यास किसान के जीवन की विभिन्न समस्याओं को रेखांकित करते नजर आते हैं। वर्तमान में उनकी सबसे बड़ी समस्या आत्महत्या की समस्या है जिसे उपन्यास में बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से दिखाया गया है बिज्जू की आत्महत्या को फाँस में इस प्रकार व्यक्त किया गया है "आत्महत्या का कारण ..... ?" "जन्म ने और मरने के अलग–अलग कारण नहीं हुआ करते। वही फसल का नष्ट होना, वही ऋण, वही भावुकता ..... ।"(5)

3.5.1 किसान जीवन के संघर्ष

साहित्य समाज को देखने का एक अच्छा जरिया है। जिस समय प्रेमचंद 'गोदान' और 'प्रेमाश्रम' उपन्यास लिख रहे थे उस समय भारत में स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। किसान सामन्ती और जमीदारी तथा महाजनी जैसी कुव्यवस्थाओं से जूझ रहा था। समाज में घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव लेखक पर पड़ना स्वाभाविक था। आम तौर पर प्रेमचंद को किसानों का कथाकार कहा जाता है और गोदान भारतीय किसानों के जीवन का महाकाव्य। हिंदी साहित्य में औपन्यासिक क्षेत्र में पहली बार ऐसा हुआ था। जब प्रेमचंद ने किसी किसान को नायक बनाकर उपन्यास लिखा तथा किसानों की दयनीय स्थिति को हू–ब–हू अभिव्यक्त किया है।

आज का भारत प्रेमचंद के भारत से काफी बदला है। मनुष्य अब उतना और वैसा सामाजिक नहीं रहा जैसा पहले था। समाज में आए इन परिवर्तनों का असर उपन्यासकारों के लेखन में भी दिखाई देता है। नब्बे दशक में भारत सरकार द्वारा लागू की गई 'नई आर्थिक नीति' (1991) अर्थशास्त्रियों के अनुसार भारतीय समाज के निम्न तबके से उच्च तबकों तक एक परिवर्तन दिखाई दिया और किसानों के जीवन शैली में भी कुछ बदलाव दिखाई दिया। एक वैश्विक ग्राम या बाजारवाद का प्रभाव समाज में दिखाई दे रहा है। इसी समय उदारवाद और नव–उदारवाद का दौर आरम्भ होता है और किस तरह साहित्य लेखन में भी एक नई शैली पनपती है। कार्पोरेट कंपनियों का लगातार विस्तार हो रहा है। किसानों के उपजाऊ जमीनों को पूँजीपतियों द्वारा अपार्टमेन्ट में बदला जा रहा है।

सामाजिक व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति के संबर्धन और विकास के लिए अर्थ (रूपया) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत कृषि प्रधान देश माना जाता है। आज भी सत्तर फीसदी लोग जीवन यापन के लिए कृषि को आधार बनाया है। समय की माँग के अनुसार कृषि के

उत्पादन में परिवर्तन होना लाजमी है। इग्लैंड़ से भारत तक का औद्योगिक क्रांति का सफर और भारत में हरित क्रांति होने से कृषि उत्पादन में काफी बदलाव आया है। परन्तु किसान किसी न किसी रूप से शोषित और प्रताड़ित रहा है। जिसकी अभिव्यक्ति उपन्यासकारों ने की है।

फाँस सजीव कृत उपन्यास जो महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ क्षेत्र में निवास करने वाले किसानों के जीवन तथा उनके जीवन में आने वाली तमाम विनाशकारी समस्याओं पर आधारित है। यह उपन्यास सबका पेट भरने वाले और तन ढ़कने वाले देश के लाखों किसानों द्वारा किए जा रहे आत्महत्या पर केन्द्रित है। यह कहा जाता रहा है कि भारत किसानों का देश है और भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। यहाँ आधे से अधिक जनता कृषि पर निर्भर रहती है। विगत कुछ दशकों से इस देश में किसान आत्महत्या तेजी से हो रही है।

उपन्यास की कथावस्तु के शुरूआत महाराष्ट्र के 'यवतमाल' जिले से होती है जो आधा वन है आधा गाँव, एक ओर देखो तो जंगल दिखाई देता है दूसरी ओर पठार। वनगाँव का चित्र संजीव इस तरह खीचते हैं :

> भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूरबी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा वन होगा, आधा गाँव, आधा गीला होगा, आधा सूखा। स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियाँ भी, जुए में भैंस के साथ बैल भी। जो भी होगा आधा–आधा।(6)

संजीव के इस उपन्यास में एक किसान की बुनियादी समस्याओं जैसे – बीज बोने से लेकर खाद–पानी तथा घर परिवार की आर्थिक समस्या या फिर उत्पादित की गई फसलों को बेचने की जैसी समस्याओं को देखते हुए सहज ही प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान' के केन्द्रीय पात्र 'होरी' की आ जाती है। संजीव प्रेमचंद की लेखन परम्परा को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। जिस प्रकार गोदान में प्रेमचंद ने होरी के माध्यम से भारतीय किसानों की दयनीय स्थिति को दिखाया है। उसी तरह 'फाँस' उपन्यास में संजीव ने 'शिबू' के माध्यम से किसानों की बदहाली को दिखाया है। फर्क इतना है कि होरी खेतों में काम करते–करते अपना प्राण त्याग देता है अर्थात् प्रेमचंद के यहाँ संघर्ष दिखाई देता है। वास्तव में प्रेमचंद ने होरी का संघर्ष करते हुए प्राण त्यागते हुए दिखाते हैं पर सच्चाई कुछ और ही है। वह यह कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था का शिकार होकर होरी आत्महत्या करता है। 'फांस' में किसान आर्थिक समस्याओं का सामना करते–करते अंत में हताश और निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। संजीव का यह उपन्यास सामाजिक संरचना के तमाम जटिलताओं के बीच खेती किसानी की त्रासदी के हकीकतों को परत–दर–परत भेदते हुए समस्या और विकास के नाम पर जारी

उपक्रमों की समीक्षा करता है। यह किसान जो कभी 'भारत की आत्मा' के नाम से जाना जाता रहा है वही आज अपनी गरीबी भरी जिंदगी से टूटकर आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है। यह आत्महत्या एक किसान की आत्महत्या नहीं है बल्कि यह किसानी संस्कृति की हत्या है।

उपन्यास में एक पात्र 'शिबू' जब समस्याओं का सामना नहीं कर पाता और आत्महत्या कर लेता है। तब उसके आत्महत्या को पात्र ठहराने के लिए घरवालों को काफी मशक्कत करनी पड़ती है। यदि सरकारी कर्मचारी, बिचौलियों, दलालों को कुछ नहीं मिलता तो आत्महत्या, आत्महत्या नहीं ठहराते। अंत में घरवालों को मुआवजा भी नहीं मिलता है। कर्ज के जाल में फंस कर किसान आत्महत्या कर रहे हैं। बहुचर्चित उपन्यास फाँस को पढ़ते हुए ऐसा लग रहा है कि यह व्यवस्था किसानों के साथ छल कर रही है। बड़े जमींदारों, काश्तकारों तथा साधारण किसान और माध्यम वर्ग के किसानों का यही हाल है। महँगाई आकाश चूम रही है। पहले किसान फसल बोने के लिए अपने घर में ही रखे बीज का प्रयोग करते थे। उत्पादन की वृद्धि के लिए नए–नए बीजों का प्रयोग तथा उर्वर शक्ति बढ़ाने के लिए नई–नई खादों जैसी सामग्री का प्रयोग किया जाने लगा जिससे खेतों की उर्वर शक्ति धीरे–धीरे समाप्त होती गई। परिस्थिति से मजबूर किसान कर्ज के लिए बैंकों या ग्रामीण स्तर के सूदखोरों की मदद लेने लगा। फसल अच्छी न होने से सूखा, बाढ़ से किसान इन कर्ज को चुका नहीं पाता था। दिन प्रतिदिन कर्ज बढ़ता जाता इन्हीं समस्याओं की मकड़जाल में फँसकर किसान आत्महत्या कर रहा है।

विदेशी बीजों के प्रयोग से कर्ज तो बढ़ता ही था साथ ही साथ जमीन की उर्वर शक्ति भी नष्ट होती रही। बी.टी. कॉटन और सोयाबीन की खेती करने वाले किसानों ने सबसे ज्यादा इस त्रासदी के शिकार हुए। कपास की खेती से परेशान होकर किसान इस प्रकार फसलों को बदलने की बात करते है :

> कापूस में क्या है ? आत्महत्या ! हमने तो ताई कापूस छोड़कर ऊस (ईख) की शेती (खेती) करने का निर्णय ले लिया है। आप बताओ सबको, सबका भला हो जाए। सिर्फ बताया ही नहीं, उत्साह में उसे सरपंच के घर तक लाकर ही दम लिया। सरपंच के यहाँ तीन धातोधारी, दो पैंट वाले चाय–पानी कर रहे थे। बीस–एक शेतकरी पहले से हाजिर थे।(7)

यह माना जाता है कि चीन दुनिया का सबसे ज्यादा कपास उत्पादन करने वाला देश है। पूरे विश्व में होने वाले कपास उत्पादन का एक चौथाई भाग भारत के हिस्से में आता है। विश्व पटल पर खासकर चीन की तुलना में कपास उत्पादन और किसानों की बदहाली से

संबंधित भारतीय आंकड़े चिंतनीय है। आखिर क्या कारण है कि इसी कपास खेती करने वाला चीन लगातार समृद्ध होता जाता है और भारतीय किसान लगातार आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है। कथाकार संजीव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस उपन्यास में कहीं बिखराब नहीं दिखाई देता है। ये सिर्फ किसान समस्या या उसकी विडम्बना की ही बात नहीं करते बल्कि उसके समाधान का विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं।

उपन्यासों में किसान जीवन की अभिव्यक्ति की अगली कड़ी में पंकज सुबीर का *अकाल में उत्सव* उपन्यास है जो गाँव और किसानी संस्कृति का एक बहुत ही बेहतरीन उपन्यास है। किस प्रकार किसान महाजनी, सामंती व्यवस्था, सूदखोरी और कर्ज के दलदल में फँसकर आत्महत्या करने पर विवश हो रहा है। पंकज सुबीर के इस उपन्यास को पढ़ते समय प्रेमचंद के उपन्यास गोदान और गबन की याद दिलाती है। दरअसल प्रेमचंद के समय में किसान के समक्ष जो समस्याएँ थी चाहे वह ऋण संबंधी समस्याएँ हो या किसानों की बदहाली संबंधी अन्य समस्याएँ हो उसी कड़ी या परम्परा को उपन्यास जगत में आगे बढ़ाने का काम पंकज सुबीर ने किया है। *अकाल में उत्सव* उपन्यास में एक तरफ सरकारी फंड को सही समय में उपयोग करने के लिए सरकारी प्यादों द्वारा उत्सव मनाया जा रहा है और वहीं दूसरी तरफ 'सूखापानी' नामक गाँव के किसान आत्महत्या कर रहा है। इस उपन्यास में चित्रित गाँव 'सूखापानी' का एक अजीब नाम है। यानी किसान की फसल को अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों ही स्थिति में नुकसान है। किसान जीवन संबंधी समस्याओं का केन्द्रीय बिंदु बनाकर यद्यपि कई उपन्यास लिखे गए। किसी उपन्यास में जमीन बेदखली की समस्या तो किसी में कास्तकारों द्वारा किया जा रहा बेरहमी से शोषण। लेकिन कर्ज जैसी समस्याओं के बेसुमार मार से आत्महत्या करते किसान पर मेरे संज्ञान में अभी तक दो ही उपन्यास हैं एक है कथाकार संजीव का उपन्यास 'फाँस' और दूसरा पंकज सुबीर का 'अकाल में उत्सव'। इन दोनों उपन्यासों में कर्ज जैसी समस्या को किसान परिवार में पीढ़ी–दर–पीढ़ी ट्रांसफर होता दिखाया गया है।

अकाल में उत्सव : किसान जीवन की त्रासदी उपन्यास की कथावस्तु 'सूखापानी' नामक गाँव से प्रारम्भ होती है जो मध्य प्रदेश का एक आदिवासी गाँव है। इसकी कहानी दो एकड़ जमीन के जोत वाले छोटे किसान रामप्रसाद के इर्द–गिर्द घूमती है। किसान खेतों में रात दिन जी तोड़ मेहनत करता है, तभी तो फसलें भी अच्छी होती हैं। परन्तु महाजन खलिहान पर ही फसल को उठवा लेता है। अंत में राम प्रसाद बैंक द्वारा लिया गया कर्ज के फर्जीवाड़े का शिकार होता है। ऊपर से प्रकृति की मार से उसकी सारी फसल बर्बाद हो जाती है। बैंक के कर्जे को सुनकर उसे ऐसा सदमा लगता है कि वह आत्महत्या कर लेता है और अंत में भ्रष्ट

शासन तंत्र के चलते उसे पागल सिद्ध कर दिया जाता था। पंकज सुबीर छोटे–छोट वाक्यों में पूरा दृश्य खड़ा कर देते हैं, "कमला की तोड़ी बिक गई, बिकनी ही थी, छोटे जोत किसान की पत्नी के शरीर पर के जेवन क्रमशः घटने के लिए ही होते हैं। और घटाव का एक भौतिक अंत शून्य से होता है, घटाव की प्रक्रिया शून्य होने तक जारी रहती है।"(3) इस अपार दुःख में दाम्पत्य का विरल प्रसंग भी है जो बेहत मर्मस्पर्शी है। संवेदना और विचार में संतुलन *अकाल में उत्सव* की बहुत बड़ी उपलब्धि है। उपन्यास में प्रशासन की कथित चालाकियों को बेपर्दा किया गया है। शासन तंत्र इतना भ्रष्ट है कि किसानों के हित में सरकार द्वारा चलाई गई योजना जिसके अंतर्गत किसान अपना 'क्रेडिट कार्ड' दिखाकर कृषिकार्य हेतु बैंक से लोन के रूप में रूपया ले सकता है। समाज में फर्जीवाड़ा इतना हो रहा है कि बैंक अधिकारी और दलाल की मिलीभगत से गरीब और भोले–भाले किसानों के नाम पर लोन लिया करते हैं। *अकाल में उत्सव* उपन्यास की कथावस्तु दो खण्डों में चलती है। एक तरफ मुख्यमंत्री के आदेशानुसार भव्य उत्सव के आयोजचन की चर्चा हो रही है तो दूसरी तरफ वर्षा, तूफान और ओले पड़ने से किसानों के नष्ट हुई फसल का दृश्य दिखाई दे रहा है। प्रशासनिक अधिकारियों को मंच की सजावट की चिंता ज्यादा रहती है। भारत का अन्नदाता किसान की कोई चिंता नहीं रहती है। वास्तव में यह उपन्यास किसानों के शोषण का रेशे–रेशे को उधेड़ने वाला उपन्यास है जो यह जाहिर करता है कि किसानों की आत्महत्या के पीछे केवल ओलावृष्टि, सूखा और प्रशासनिक निष्ठुरता ही जवाबदार है। इसके पीछे और भी कई कारण हैं जो साफ–साफ दिखाई नहीं देते है।

भारतीय किसानों का हृदय इतना सरल और निष्कपट होता है कि वह मनुष्य तथा मानवेतर प्राणियों से भी भावात्मक लगाव रखता है। 'तोड़ी' नामक आभूषण जिसे स्त्रियां पैरों में पहनती है को आधार बनाकर लेखक ने किसानों का जो गहनों के प्रति परंपरागत लगाव होता है उसे बड़े ही दृश्याविदारक लहजे में अभिव्यक्त किया है। रामप्रसाद जब तोड़ी बेचने महाजन के पास जाता है वहाँ का दृश्य उसे अपने पुरखों की बनी बनाई ईमारत को ढहते दिखाई देता हैं। तोड़ी पिघल रही है ऐसा लग रहा है कि कोई पदार्थ नहीं बल्कि रामप्रसाद का हदृय पिघल रहा है। *अकाल में उत्सव* उपन्यास का ताना–बाना मुहावरों और कहावतों से बुना गया है। इस उपन्यास को आलोचकों ने अपने–अपने तरीके से व्याख्यायित किया है। पुष्पपाल सिंह ने *21 वीं सदी का हिन्दी उपन्यास* में इसे "प्रेमचंद का गाँव एक नई भाषा शैली में फिर से जिंदा हो उठा' कहा है।"(357) भारतीय किसान के "जीवन का शोकगीत, कंपकंपाती लौ और थरथराते धुएँ की दुःख भरी कहानी, किसानों के दुःख दर्द का बैचेन करने वाला किस्सा आज के किसान की जिंदगी का सच्चा दस्तावेज"(358) आदि संज्ञाएँ दी है। मेरे हिसाब से यह उपन्यास 'किसान

की बदकिस्मती का जीता जागता आईना' है। ऐसा आईना जिसमें किसानों की दयनीयता को देखा जा सकता है। एक बार फिर से पंकज सुबीर ने गंवाई शैली और किसान आत्महत्या जैसे विषय को कथा साहित्य में पाठकों, आलोचकों और समीक्षकों को सोचने पर मजबूर करता है।

3.5.2 भूमंडलीकरण और किसान स्थिति

भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद ने महानगरों एवं शहरों को तो प्रभावित किया ही है, गाँव भी उससे अछूते नहीं रहे हैं। गाँव के भौगोलिक वातावरण एवं पारिवारिक और सामाजिक संबंधों के बीच परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जिसका प्रामाणिक एवं संजीव चित्रण 'रेहन पर रग्घू' में किया गया है। नामवर सिंह *बदलते यथार्थ की कहानी* के शब्दों में :

> रेहन पर रग्घू सच पूछिए तो एक गाँव की कहानी नहीं है बल्कि पहाड़पुर से लेकर बनारस तथा कैलिफोर्निया तक, यानी भारत के एक गाँव से अमेरिका तक फेली हुई कहानी है, इसके जरिये, इस बीच में जो बदलाव आया है उसका जायजा लिया गया है। जिसको हम भूमंडलीकरण या बाजारवाद कहते है, उसके चलते गाँव में रहने वालों की जिन्दगी पर क्या प्रभाव पड़ा है। रिश्ते बदले है, इन्सान बदला है।(27)

बदलाव जनमन में जनचेतना जगा रहा है। यह उपन्यास पारम्परिक गाँव में आये बदलाव की पड़ताल करता है। ऋषिकेश राय *भूमण्डलीकरण के दौर में गाँव घर* के अनुसार :

> रघुनाथ किसान होने के साथ–साथ पड़ोस के कस्बे के कॉलेज में अध्यापक हैं। रघुनाथ जो इस उपन्यास के नायक हैं, किसान संस्कृति के प्रतिनिधि चरित्र हैं। पहाड़पुर में हो रहे तीव्र परिवर्तनों के मध्य वे किसान संस्कृति के अवसान के महाख्यान के साक्षी बनते हैं। पहाड़पुर का इतिहास भूगोल भी बदल रहा है, और बदल रहे है मानव मूल्य भी। (156)

रघुनाथ के परिवार में पत्नी शीला, बेटी सरला तथा दो बेटे – संजय और धनंजय हैं। बेटी पढ़–लिखकर मिर्जापुर में नौकरी करती है। बड़ा बेटा संजय कंप्यूटर इंजिनियर है जो सोनल से शादी करके अमेरिका चला जाता है तथा छोटा–बेटा धनंजय नौएडा से एम.बी.ए. कर रहा है। गाँव में एक और ऐसे किसान हैं, जो स्वयं खेतों में काम नहीं करते, मजदूरों से काम कराते हैं। उनके बच्चे भी शहरों में पढ़ रहे है या नौकरी कर रहे हैं। रघुनाथ व अन्य ठाकुर इसी प्रकार के किसान हैं। दूसरी ओर ऐसे किसान हैं, जो बड़े किसानों की खेती आँध–बंटाई या अधिया के आधार पर करते हैं। इस प्रणाली में फसल का आधा हिस्सा भू–स्वामी को, आधा हिस्सा खेती करने वाले को मिलता है। रघुनाथ की खेती पहले गनपत हलवाहा करता था।

मंजुल शर्मा *रेहन पर रग्घू में ग्रामीण परिवेश* के अनुसार "रिटायरमेंट के बाद लोगों की देखा–देखी रघुनाथ ने भी अपनी खेती–बारी की दूसरी व्यवस्था की। उन्होंने अपने खेत स्नेही को अधिया पर दे दिए। स्नेही उनके कालेज का चपरासी था .....।"(1) डॉ० एन. मोहन *समकालीन हिन्दी उपन्यास* के शब्दों में, "समय के सच को तटस्थता के साथ परखने की क्षमता किसी को समकालीन बनाती है।"(20)

खेती श्रम आधारित कार्य है। किसान एवं उसका परिवार मिलकर करते हैं। जो बड़े एवं साधन संपन्न किसान हैं वे अपना काम हलवाहे एवं खेतिहार मजदूरों से कराते है। इन ग्रामीण मजदूरों को न तो पूरे वर्ष काम मिलता है और न ही उचित मजदूरी। वे काम की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। अधिकांश मजदूर दलित या पिछड़े वर्ग के हैं "कुछ हलवाहे तो शहर चले गए – रिक्शा खींचने के इरादे से या देहाड़ी पर काम करने के इरादे से ...." (79) इसलिए खेती में ट्रैक्टर थ्रैशर के साथ। गेंदें की मालाएं पहने। जसवंत ने "सबके खेत जोते भाड़े पर। एक दिन भी उसका ट्रैक्टर बैठा नहीं रहा। सबके जुआठ धरे रह गए। उसने सबको अहसास करा दिया कि बैल सिरदर्द और बोझ हैं, फालते हैं, दुआर गंदा करते हैं, उन्हें हटाओ। उनके गोबर भी किस काम के ? उनसे उपजाऊ तो यूरिया है।"(79) यह खेती करने के संसाधनों में बदलाव को दर्शाता है। इससे किसान की सोच में भी परिवर्तन हो रहा है। खेती में नई तकनीक के साथ–साथ रासायनिक खादों का प्रयोग भी बढ़ा है।

ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों की एक बड़ी समस्या उनकी ऋण–ग्रस्तता हैं। जिसके कारण आये दिन समाचार पत्रों में किसानों की आत्महत्या की खबरें प्रकाशित होती रहती हैं। प्राकृतिक आपदाओं के कारण फसलों का खराब हो जाना एवं उपज का सही दाम न मिलने के कारण समय पर कर्ज की अदायगी न कर पाने के कारण निराश होकर किसान आत्म हत्या कर लेते हैं। रघुनाथ जो कि किसान होने के साथ–साथ नौकरी भी करते हैं, उनको भी अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए अपने खेत रेहन (गिरवी) रखने पड़े थे। सीमांत किसान व भूमिहीन ग्रामीणों को आय की कमी होने के कारण साहूकारों से ब्याज पर कर्ज लेना ही पड़ता है, चाहे साहूकार बनिये हों या ठाकुर या अहीर। पहाड़पुर के जो हलवाहे मजदूरी करने शहर चले गए उनकी औरते "राशन पानी के गरज से अनाज के लिए उन्होंने ठकुरान में जाना बंद कर दिया था और सूद पर जसवंत से या अहिरान से रूपये लेने लगी।"(80) कर्ज के कारण किसान की मृत्यु प्रेमचंद के गोदान से आज तक चली आ रही है। गोदान का होरी मृत्युपर्यांत कर्जदार बना रहा। *रेहन पर रग्घू* का रघुनाथ उससे कुछ बेहतर है क्योंकि वह किसान के साथ–साथ अध्यापक भी है। जिन लोगों का कृषि के अलावा आय का कोई अन्य स्त्रोत नहीं है, उनकी

स्थिति आज भी सोचनीय है। वर्तमान समय में पहाड़पुर व अन्य गाँवों में भौगोलिक स्तर पर भी बहुत अधिक परिवर्तनशील हो रहे हैं। बिजली, पंखे, टी.वी., मोबाइल आदि अब गाँव की जिन्दगी का हिस्सा बनते जा रहे हैं :

> आम्बेडकर गाँव हो जाने के बाद पहाड़पुर तेजी से बदल रहा था। गाँव में बिजली आ गई थी, केबल की लाइनें बिछ गई थीं, अखबार लेकर हाकर आने लगे थे। छौरे पर खंडजा बिछा दिया गया था। खपरैलों के कुछ ही मकान रह गए थे, बाकी सब पक्के थे। जो पक्के नहीं थे। उनके आगे ईंटें गिरी नजर आती थी।(61)

अख़बार, टी.वी. एवं संचार के नए माध्यमों ने ग्रामीण लोगों में नई चेतना का संचार किया है लेकिन आज भी अनेक गाँवों में बिजली, पीने के पानी, सड़क, स्कूल, चिकित्सा जैसी बुनियादी सुविधाओं की भारी कमी है। आर्थिक संसाधनों के अभाव में गरीब किसान अपने बच्चों को शहर भेजकर पढ़ाने में असमर्थ है।

बदलते हुए सामाजिक परिवेश में नैतिक मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ है। रघुनाथ के भतीजे न केवल जमीन हड़पने का प्रयास करते हैं, बल्कि उनके साथ गाली–गलौच तथा मारपीट भी करते हैं। बाद में वे रघुनाथ से उनकी जमीन से सम्बन्धित कागजों पर जबरदस्ती हस्ताक्षर करवाने के लिए दो बदमाश भी भेजते हैं। यह घटना नैतिक मूल्यों में आयी गिरावट का प्रतीक है। चौथीराम यादव *रग्घू या इक्कसवीं सदी का गाँव घर* के अनुसार :

> सामंतवादी और पूंजीवादी संस्कृतियों की टकराहट में किसान संस्कृति पिस रही है। प्रेमचंद के किसान आज लाखों की संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं। आधुनिकीकरण के चलते गांवों में होने वाले बदलाव को लेखक ने पहाड़पुर के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया है। (31)

भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद के चलते गाँव तेजी से बदल रहे हैं। यह परिवर्तन भौगोलिक स्तर पर तो है ही, सामाजिक एवं जीवन–मूल्य भी बदल रहे हैं।

3.5.3 किसान जीवन और समकालीन परिदृश्य

मानव सभ्यता के विकास में कृषि की अमूल्य भूमिका रही है। मानव का अस्तित्व ही कृषि और शिकार पर टिका रहा। इसका वशिष्ठ अनूप ने *अच्छा लगता है* इस प्रकार से वर्णन किया है :

> कृषि से ही संस्कृति का जन्म होता है। कृषि ने ही हमें संस्कारित बनाया। प्रारम्भिक खेती, पशुपालन व शिकार की प्रक्रिया प्रकृति द्वारा नियंत्रित होती रही, जिसमें संघर्ष

था, मानवीयता थी और त्याग की भावना थी। प्रकृति के विरूद्ध उसमें कुछ भी नहीं था। जैसे–जैसे मानव के अंदर संग्रह की प्रवृत्ति ने जगह बनाई मानव अधिक लालची, द्वेष और दम्भी बनने लगा। सुखभोग की अपार लालसाएं अपने स्वाभाविक विकास की सीमा को पार कर कुलांचे मारने लगीं। विज्ञान और सभ्यता के विकास ने मनुष्य के अंदर श्रम के प्रति घृणा का भाव कर दिया। तमाम बुराइयों से भरे सभ्य और सुसंस्कृत दिखने वाले लोग अपने ही साथी सहयोगी किसान, मजदूर व अन्य को हेय दृष्टि से देखने लगे। लोगों ने ऐसी सामाजिक संरचना बनाई जिसमें अधिक मेहनत करने वाले वर्ग का अपने ही उत्पादों पर कोई अधिकार नहीं। इस प्रकार उत्पादक वर्ग का अपने ही उत्पादों पर कोई अधिकार नहीं। (32)

इस प्रकार उत्पादक वर्ग की आर्थिक स्थिति दिन प्रतिदिन गिरती गयी और संचालक वर्ग की आर्थिक स्थिति दिन दुनी रात चौगुनी होती गयी। इस तरह से बढ़ी अमीरी–गरीबी की खायीं का दसं हमारा समाज आज भी झेल रहा है, जो घटने का नाम ही नहीं ले रहा है।

उत्पादक वर्ग शोषण, अत्याचार व गुलामी का शिकार हुआ तथा संचालक वर्ग के सुख का साधन बना। मगर समय और परिस्थितियाँ हमेशा एक जैसी नहीं होती, समय–समय पर वह करवटें बदला करती है। कोई भी समाज हो उसमें अच्छे–बुरे लोग व अच्छे–बुरे कार्य हमेशा होते रहते हैं। जरूरत है अच्छाई को बढ़ावा देने की और बुराई की निंदा करने की जिसे हम संचालक वर्ग कहते है। जो हमारे लिए अँधकार का प्रतीक बन चुका है, समय–समय पर उसी में से रोशनी की किरण भी फूटती है। वशिष्ठ अनूप ने ठीक ही कहा है कि :

"कड़ी चट्टान के सीने से ही निर्झर निकलता है

घनी रातों के पीछे भोर का मंजर निकलता है।"(9)

इस प्रकार समकालीन परिदृश्य को समझने के लिए हमें फ्लैश बैक का भी सहारा लेना पड़ता है। जब तक हम सहजानंद सरस्वती व प्रेमचंद के समय के किसान आंदोलन को नहीं समझेगे तब तक हम समकालीन किसान जीवन की चुनौतियों से लडने की ताकत नहीं ग्रहण कर सकते। किसान हमेशा से अभावग्रस्त रहा है, समस्याओं से जूझता रहा है लेकिन इसके बावजूद भी वह अपनी मेहनत और कर्त्तव्य के प्रति ईमानदार रहा है। कभी भी दिल से किसानों की समस्याओं को समाप्त करने का संकल्प कोई नहीं लेता है। गिरीश मिश्र अपनी पुस्तक *किसान और दूसरे संघर्षशील जन की आर्थिक दशा–दिशा* में लिखते है :

> 1960–70 के दशक में हरित क्रांति आयी, जिसमें खेती के क्षेत्र में रोजगार के अवसर बढ़े। पंचवर्षीय योजनाओं के तहत कई कृषि नीति को बढ़ावा मिला। कृषि के उत्पादों में वृद्धि हुई। इसका फायदा कमोवेश हर क्षेणी का प्राप्त हुआ। वर्ष 1969 में इंदिरा गाँधी द्वारा बड़े बैंकों, बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण से गांवों में ऋण आसान शर्तों पर उपलब्ध होने लगा। नाबार्ड ने वाणिज्यिक बैंकों की सहायता से ग्रामीण बैंकों की देशव्यापी श्रृंखला सीोपित की। मृत प्राय दस्तकारियों को जिन्दा किया गया। अनाज, उर्वरक, बिजली आदि पर सरकारी सब्सिड़ी तथा जवाहर रोजगार योजना से काम के अवसर पैदा हुए। इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत दलितों तथा अन्य कमजोर श्रेणियों को सस्ते मकान उपलब्ध कराए गये।(18)

यह समय किसानों के लिए शुभ संकेत रहा। किसान खुशहाली की ओर बढ़े, शहरों की ओर किसानों का पलायन रूका। किसान मजदूर न बनकर अपने मर्यादा की ओर लौटा। किसान की इच्छाएं सीमित होती हैं। वह प्रकृति के साथ ताल–मेल बैठाकर चलता है। वह प्रकृति के मार को झेलने के लिए तैयार भी रहता है। मगर कब? जब वह अपने स्वाभाविक विकास की गति से अपनी क्षमता के अनुसार चलता है। मुनाफा की होड़ में इतना दम लगाकर नहीं दौड़ता है कि मर जाये। वह गुण पूँजीपतियों का है, जो बड़े किसानों के साथ–साथ छोटे किसानों के अंदर इस जीन को बायो टेक्नोलॉजी के माध्यम से भर रहे हैं। यही वह कारण है जो उनके जीवन में चुनौती बनकर सामने आ रहा है।

विदर्भ के किसान इसी मुनाफा संस्कृति के शिकार हो आत्महत्या कर रहे हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी को 1908 में ही इस समस्या का भान हो गया था, तभी तो वे *सम्पति शास्त्र* में लिखते है कि :

> जहाँ तक जमीन की उर्वरा या उत्पादक शक्ति की सीमा का अतिक्रमण नहीं होता वहीं वह अधिक खर्च करने से लाभ हो सकता है आगे नहीं। उत्पादकता की सीमा पर पहुँच जाने पर खर्च बढ़ाने से लाभ के बदले उल्टा हानि होती है। .... अंततः फल यह होगा कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश में, अधिक पूँजी लगाने और अधिक मेहनत करने पर भी, आदमी हिस्सा कम पड़ेगा। धीरे–धीरे यह हिस्सा और कम होता जायेगा। यहाँ तक कि दो–चार वर्ष पैदावार की अपेक्षा खर्च बढ़ जायेगा और उन पन्द्रह आदमियों का गुजारा मुश्किल से होगा। उन्हें जमीन छोड़कर भागना पड़ेगा।(47)

देविंदर शर्मा *वालमार्ट खुद एक बड़ा विचौलिया है* के अनुसार :

हमारी सरकार का मानना है कि रिटेल में एफ डी आई के आने से कृषि व्यवस्था व कृषक जीवन में सुधार होगा। किसानों की आमदनी पढ़ेगी, बिचौलिए खत्म होंगे, उपभोक्ताओं को कम कीमत में सामान मिलेगा। साथ ही कृषि उपज की आपूर्ति में होने वाली बर्बादी पर अंकुश लगेगा।(51)

देश के जिम्मेदारों को देखकर तो लगता है कि सब अवसरवादी हैं। सबको अपनी–अपनी पड़ी है। बहुत कम ही लोग बचे हैं, जिन्हें देश और जहान की चिंता है। यह छोटी सी संख्या हैं जो मशाल जलाये हुए है जिससे कुछ उम्मीद जगती हैं। निराला की *राम की शक्ति पूजा* में ये पंक्तियाँ तब भी प्रांसगिक थी और आज भी उतनी ही प्रांसगिक हैं :

है अमा निशा उगलता गगन घन अँधकार।

खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन चार।

अप्रतिध्ज गरज रहा पीछे अम्बुधि बिशाल।

भूधर जो ध्यानमग्न केवल जलती मशाल।(1)

आज आजादी के सत्तर साल बाद भी जहाँ रोशनी नहीं पहुंची। मुझे उम्मीद है कि 'मशाल से मशाल जलाये जा रोशनी फेलाये जा' सिद्धातों पर हर घर रोशनी पहुँचेगी।

अशोक कुमार पाण्डेय *शोषण के अभ्यारण* में लिखते है :

1757 में प्लासी का युद्ध जितने के बाद ईस्ट–इण्डिया कम्पनी की गिद्ध दृष्टि भी सबसे पहले पारम्परिक ग्रम समाजों की सामूहिक सम्पति और किसानों की जमीनों पर ही पड़ी थी। तब भी कृषि का पूरा ढ़ांचा और उत्पादन चक्र ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के हितों के अनुरूप बदलने का प्रयास किया गया था। विड़म्बना यह कि वही सब कुछ लगभग दो शताब्दी बाद एक बार फिर दोहराया जा रहा है।(23)

देश के कई राज्यों में किसान घाटे की खेती के कारण आत्महत्या करने को बाध्य हो रहे हैं। महाराष्ट्र, पंजाब, गुजरात जैसे राज्यों से किसानों के आत्महत्या की खबरें लगातार आ रही है। संजीव पाण्डेय *अन्न की बर्बादी और भूखी आबादी* के अनुसार – संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के मुताबिक :

पूरी दुनिया में कुल खाद्यान उत्पादन का एक तिहाई हिस्सा बर्बाद होता है, जो समूची विश्व अर्थव्यवस्था का 750 अरब अमेरिकी डालर (लगभग सैंतालिस लाख करोड़ रूपये)

है। रिपोर्ट में भारत और चीन पर विशेष रूप से अंगुली उठाई गयी है। दुनिया में सबसे ज्यादा भुखमरी से ग्रस्त आबादी अफ्रीका तथा भारत में ही है।(13)

अभी कल ही की खबर है कि बंगाल में आदिवासी किसानों का संघर्ष कुछ रंग लाया है। बुद्धदेव भट्टाचार्य की दाम मोर्चा सरकार द्वारा 2006 में टाटा की नैनो कार परियोजना के लिए सिंगुर में किये गये हजार एकड़ के जमीन के अधिग्रहण को सुप्रीम कोर्ट द्वारा खारिज कर दिया गया है। गाँव के लोगों से बिना परामर्श किये (सिंगुर की ही तरह) झारखण्ड की भाजपा सरकार ने 227 एकड़ की जमीन को केन्द्रीय विश्वविद्यालय, भारतीय प्रबंध संस्थान और सूचना प्रौद्योगिकी के कई केन्द्र सीापित करने के लिए अधिग्रहित कर लिया। आदिवासी महिला नेता दयामनी बरला के नेतृत्व में आन्दोलन चला, जिसमें अगली कतारों में आदिवासी औरतें और बच्चे थे। उनकी माँग थी नगड़ी रैयतों की जमीन वापस करो। *भूमी लौट के दौर में* किसान के अनुसार :

> झारखंड के आदिवासियों के मध्य काम करने वाली मलयाली महिला सिस्टर वालसा का मर्डर व मध्यप्रदेश के गोंड़ आदिवासियों के बीच काम करने वाली दयाबाई की लड़ाई हमारी सरकार व कम्पनियों के दोगले चरित्र का पर्दाफास करती है। छतीसगढ़ के बस्तर से हाल ही में बढ़ते स्थानीय विरोध के कारण टाटा स्टील का अपने संयंत्र को वापस लेना बेशक तमाम आंदोलनकारी ताकतों को सुकून देने वाला है।

2016 में प्रकाशित पंकज सुबीर के उपन्यास *अकाल में उत्सव* के माध्यम से मध्यप्रदेश के किसानों की समस्या भी सामने आई है। यह उपन्यास सरकार व उसकी व्यवस्था तथा मीडिया के काले कारनामों की पोल खोलने के सक्षम जान पड़ता है पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह व राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी की *गाँव और किसानों की बदहाली पर राष्ट्रपति की चिन्ता* आलोचनात्मक टिप्पणियाँ उचित ही जान पड़ती है .... "लम्बी अवधि में अगर नोटबंदी अच्छी भी निकलती है तो वक्त तो हम मर चुके होंगे। "राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी राष्ट्रपति का यह कहना एकदम सही है कि गरीबी उन्मूलन को बेहतर व स्थाई तौर पर विकास व रोजगार की उपलब्धता से सम्बोधित किया जा सकता है। अभी हाल ही में जनवरी 2017 में छपी *द हिन्दू* की खबरों के तेलगांना के अदिलाबाद तथा महाराष्ट्र के यवतमाल जिलों में शोधार्थी द्वारा किसानों से लिए गए साक्षात्कार में किसानों ने यह कहा कि – "सरकार हमारे साथ छल कर रही है, सरकार अगर हमें पानी की समुचित व्यवस्था कर दे तो हमें सरकार से किसी भी प्रकार की भीख की आवश्यकता नहीं है।"(11) भौगोलिक विषमता के कारण इन क्षेत्रों की आबादी को कोई भी काम करने के लिए दूर–दूर सफर करना पड़ता है। जिसके कारण किसान के समय व

धन की बर्बादी होती है तथा बिचौलियों को बढ़ावा मिलता है और किसान लूट का शिकार बन जाता है। किसानों के हित में मेरे सुझाव निम्न हैं :

- किसानों की बदहाली को ठीक करने के लिए सरकार को फिजूलखर्ची और भ्रष्टाचार रोकना होगा। इस तरह से बचाई गयी धनराशि किसानों के कल्याण पर खर्च की जा सकती है।

- देश की बदहाली बुलेट ट्रेन और एक्सप्रेस–वे से दूर नहीं होगी। देश की बदहाली कृषि क्षेत्र का विकास ही दूर करेगा। जिसके ऊपर देश की पचास प्रतिशत आबादी निर्भर करती है।

- महाराष्ट्र सरकार के पास किसानों का कर्ज माफ़ करने के लिए पैसे नहीं है वहीं राज्य में 36 सौ करोड़ रूपये खर्च करके शिवाजी मैमोरियल बनाया जा रहा है।

- समय रहते अगर किसानों ने अपनी उत्पादन प्रणाली नहीं बदली तो स्थिति शायद ही बदले। इसलिए किसानों को समय के साथ फलों की खेती, सब्जी की खेती तथा दुग्ध उत्पादन को बढ़ाना होगा।

- किसानों की हालत सुधारने के लिए सरकार को विशेष प्रयास करना होगा। किसानों की कर्जमाफी को लेकर पूरे देश में कदम उठाने का वक्त आ गया है। अगर किसान बर्बाद हुए तो देश के चमकाते महानगर भी बर्बाद हो जायेंगे।

इस प्रकार इन तमाम सुझावों और विचार–विमर्शों के माध्यम से किसान के बदहाल जीवन को खुशहाल बनाया जा सकता है।

3.6 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम समाज का आर्थिक यथार्थ

मुस्लिम जीवन आर्थिक संदर्भ में किस प्रकार रहता है, जानने के पहले इस्लाम को समझा जाए। इस्लामी जीवन व्यवस्था की बुनियाद यह है कि दुनिया में जितने भी लोग हैं वे समान हैं। हर मनुष्य को अपनी जिंदगी गुजारने के लिए रोजी–रोटी और कपड़े की न्यूनतम जरूरत पड़ती है। इसलिए इस्लाम ने दौलत को एक जगह इकट्ठा होने पर रोक लगायी है। बाबा साहेब रसूल शेख *मुस्लिम समाज का जीवन* के अनुसार इस्लाम में कहा गया है कि :

> जहाँ भी और जब भी दौलत एक जगह इकट्ठी होती है, उसके नतीजे में गरीबी बढ़ती है। अतः इस्लाम धर्म धन का बँटवारा पर जोर देता है। इस धर्म का नियम है कि जो मनुष्य उसके मांगने वालों की साल–भर में खाने–पीने की जरूरतों को पूरा करने के

बाद, जो दौलत बच्ची है, उसी बची हुई दौलत में उसे 2.5 प्रतिशत का एक हिस्सा देना पड़ेगा। इसे जकात कहते हैं। जकात देना मुसलमानों की मर्जी पर नहीं हैं बल्कि यह एक अनिवार्य कर है।(161)

संपूर्ण अवैध तथा निषिद्ध पद्धति से दौलत कमाना हराम है।

आज के आधुनिक दौर में बहुत सा संघर्ष अर्थ (धन) को लेकर ही हो रहा है। आज मुस्लिम आर्थिक स्थिति को देखकर ही पता चलता है कि बहुताँश मुस्लिम लोगों को भर पेट भोजन नहीं मिलता है। जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति धन के पीछे अँधाधुँध दौड़ रहा है। अर्थ का व्यापक प्रभाव हर क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। स्वतंत्रता के बाद भारत में आर्थिक विकास अवश्य हुआ है। किन्तु इस आर्थिक विकास का लाभ मुस्लिम समाज में उन धनवानों को अधिक प्राप्त हुआ, जो पहले से ही धनवान थे। यहाँ अमीर, अमीर होता गया और गरीब और गरीब होता जा रहा है। इस प्रकार अन्य समाज की भाँति आर्थिक असमानता आजादी के बाद भी मुस्लिम समाज में बढ़ गया। करोड़ो मुसलमान केवल दो समय की रोटी के लिए जूझते हुए नजर आते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में मुस्लिम जीवन आर्थिक संदर्भ में किस प्रकार रहा है। इसका सजीव वर्णन देखने को मिलता है। जीविका के लिए अपने धर्म को छिपाकर हिन्दू के रूप में काम करने की मजबूरी इकबाल अहमद में दिखाई देती है :

> मगर मैं इकबाल बहादुर राय के नाम से भाग्य विधाता में काम करता हूँ, क्योंकि कोई और चारा नहीं है। .....क्योंकि ये साले ..... देखिये जमीन दार साहब आप है साधारण इनसान। मगर इतना याद रखिये कि, हम लोगों का दर्द एक है। इसलिए इस बात को यही दफन करते हैं। मैं इकबाल बहादुर राय हूँ .... आप जमील अहमद बस। .... कल तो मुझे फिर भाग्यविधाता के हल में जुतना।(35)

इस उद्धरण से हमको यह पता चलता है कि अपनी नौकरी से मिली तनख्वाह से घर का खर्च न चलने से, आपके दूसरे माँगों को ढूँढ़ने पड़ते हैं। अर्थशास्त्र से प्रवक्ता फरूरखा साहब, अंग्रेजी प्रवक्ता इलियास अहमद जैसे पात्रों के माध्यम से इसका निरूपण करने का प्रयतन प्रस्तुत उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में किया गया है।

> फारूखी साहब के बच्चे हुए थे दो। एक लड़की एक लड़का तनख्वाह से घर का खर्च नहीं चलता था, इसलिए ट्यूशन करते थे। मगर किसी के घर जाकर नहीं। पढ़ने वाले उन्हीं के घर आते थे, बैठक में बकायदा ब्लैक बोर्ड टाँग रखा था उन्होंने।(36)

महात्मा गाँधी इंटर कॉलेज में, अंग्रेजी में एम.ए. करने वाले, इलियास साहब सी.टी. ग्रेड अध्यापक थे। सामाजिक विज्ञान पढ़ते थे। ..... पाँवों में अक्सर हवाई चप्पले होती थी। चूँकि तनख्वाह बहुत कम थी। इसलिए उन्होंने घर में अपना एक साइड बिजनेस भी खोल रखा था। नगर के थोक विक्रेताओं के यहाँ से वे बिनियान, मोजे, रूमाल और मफलर वगैरह लाकर रख लेते थे, जिन्हें मुहल्ले वालों के हाथों बेचा करते थे।(66)

जितनी आमदनी है, उसी में गुजरते हैं कुछ लोग। जीमल अहमद, राबिया देवी, अपवित्र आख्यान उपन्यास में इस कोटि में आने वाले पात्र हैं। जीमल पढ़ाई के दिनों में पंद्रह रूपये महीने एक कमरा किराये पर लेकर स्वयं खाना पकाकर कम खर्च में जीविका चलाते हैं। दूसरे शहर जाने पर खर्च कैसे कम करते है देखें – "इस दरम्यान बाजार में जाकर कुछ खाया जा सकता था। स्टेशन के बाहर वाले होटल तो मँहगे थे। जीमल में इतनी हैसियत नहीं थी कि वह चार रूपये देकर अकेले ही रिक्शे से बाजार तक जाए।"(92)

जमील की पत्नी राबिया किफायती औरत है। एक बार 'शबे–बारात' के त्यौहार के संदर्भ में घर पर चम्मचों की आवश्यकता पड़ी। घर पर चम्मचें भी नहीं थी। बात सुनकर जमील का दिल बैठ गया। उसकी हालत देखकर रूबिया कहती है, "आप ये जो जनम घूँटी लाते हैं न, इसके साथ एक छोटी सी चम्मच भी होती है। ऐसी पाँच छः चम्मचें हो गई हैं। इन्हीं से काम चल जाएगा।"(104)

कुछ लोग रहने वाली नौकरी से या मिलने वाली आमदनी से संतुष्ट नहीं होते हैं। अपनी तरक्की के लिए अनैतिक काम करने के लिए तैयार होते हैं। प्रस्तुत 'अपवित्र आख्यान' उपन्यास की यासमीन इस कोटि में आती है। वह यूँ तो व्यवहार में नमाज–रोजे वाली है, लेकिन विश्वविद्यालय में नौकरी पाने के लिए मुस्लिम नेता, केन्द्र सरकार के मंत्री नकवी साहब से, 'हम बिस्तरी' करने में उसे कोई हिचक भी नहीं होती है।

मुसलमान की बाबरी मस्जिद संगठन 1992 में हुए। इस संगठन के बारे में 'समकालीन जनमत' पत्रिका में इस विषय को प्रस्तुत किया गया। 1992 में बाबरी मस्जिद के तोड़ने से गुजरात के गोधरा कांण्ड तक जो भी दंगे हुए है, जिसके पीछे आर्थिक कारण ही है। इनके साथ खास बात यह है कि भूमंडलीकरण और बाजारोन्मुख आँधी के कारण लोग सामूहिकता से अलग थलग हो गये हैं। प्रगतिशील आंदोलन से दूर हो गये हैं। व्यक्ति यह सोचने लगा कि अकेले में ही हित है। इनके भीतर की कुंठा और गुस्सा को साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपने फायदे के लिए इस्तेमाल की या इसको बाजार का रूप दे दिया गया। इन उक्त समस्याओं को और स्पष्ट यह उद्धरण कर देता है। सुनील यादव *समकालीन जनपद* के अनुसार :

1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वसं तक, इन पहलुओं की एक लंबी श्रृंखला है जो एक तरफ कांग्रेस द्वारा भाजपा से उसका हिन्दू कार्ड छीनने की विफलता की कहानी कहती है। तो दूसरी ओर भूमंडलीकरण की बाजारोन्मुख आंधी के अनर्थों तक भी जारी है! जिसके तहत धर्म का बाजार भी खासा बढ़ा। गौर की बात यह है कि यह बाजार जैसे–जैसे खुला और उदार हुआ, मनुष्य की सामूहिक मुक्ति की भावनाएँ कमजोर पड़ती गई और नए प्रगतिशील व लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों की चिंता के बजाय, खास जोर मनुष्य को अलग–थलग व अकेला कर उसकी नाराज भीड़े खड़ी करने व उसकी कुंठाओं व भयों को भुलाकर लाभ उठाने पर हो गया। कट्टरता और साम्प्रदायिकता इस बाजार का अभिन्न अंग बन गई है।(6)

उक्त प्रकार धर्म, भगवान, साम्प्रदायिकता के नाम पर अपना धंधा, व्यापार करते है और हिंदू मुसलमानों को लड़ाते हैं। एक तरफ दोनों महजब को लड़ा के धन कमा रहे हैं तो दूसरी ओर दंगे फसाद करके किस तरह धन–दौलत लूटते हैं, हम देखते हैं।

यदि कहीं साम्प्रदायिकता पनपी तो वहाँ दँगे, फसाद ही तो होते है। ये वहाँ होते है जहाँ अल्पसँख्यक अधिक सँख्या में निवास करते हैं। दँगे होते समय दँगाई केवल मार–काट ही नहीं करते है। उनके कत्ल के साथ–साथ उनके घरों को भी लूटते हैं। घर में जो भी मिला उसे उठा ले जाते है। दुकानें बाजार लूटते है। ऐसा बदतर हालात कर देते है कि दँगे के बाद उस परिवार, दुकानों, बाजारों में कोई जिंदा रहने की सोच ही नहीं सकता अगर कोई जिंदा हो तो उनकी प्रथम आवश्यकताएँ रोटी, कपड़ा, मकान से भी वंचित हो जाएँ। अर्थात् वह जिंदा बचे हुए भी मुर्दा के बराबर हो जाते है। इसके दौरान उनकी महिलाओं पर अत्याचार करते हैं। मासूम लड़कियों के साथ बलात्कार होते हैं। इस दौरान यह भी करते है कि जिस दँगे के स्थान के आस–पास सरकारी ऑफिस या दफ्तर हो तो उसे भी लूट लेते हैं और उसको तोड़–फोड़ देते हैं। आखिर ये कौन लोग हैं, जो लूट–पाट एवं दंगें में शामिल है? इस बात पर गौर करने से यह पता चलता है कि ये लोग मध्य वर्ग के खाए–पीए अघाए घराने के लोग हैं। जाहिर सी बात है कि मध्यम वर्ग के आदमी उच्च वर्ग में जाने के सपने देखता रहता है। बल्कि उच्च वर्ग में तब्दील होना उतना आसान नहीं है। इसके मन में एक तरह की कुँठा या असंतोष घर कर लेता है। जिसको साम्प्रदायिक शक्तियाँ पकड़ लेती हैं। ये उनसे कहते हैं कि तुम्हारे सपने साकार न होने की वजह है मुसलमान, आरक्षण न मिलना और यही सब कुछ मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ सुनने को मिलती है। अतः इनके खिलाफ संघर्ष करो कहकर, मुसलमानों और अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों के खिलाफ उकसाते है। दँगे एवं लूट

के समय में, लूटे गये सामान को लाने के लिए अपना परिवार भी कारें एवं अन्य साधनों के साथ वहाँ पहुँचते हैं। यह समस्याएँ दिये गये *पहल पत्रिका* उद्धकरण से अधिक समझ में आता है :

> वैसे इन दंगों के बारे में ऐसे तथ्य भी हैं जो ज्यादा चिंताजनक है। गुजरात में इस बार मध्यम वर्ग के लोगों ने या उनके परिवार के नौजवानों ने न केवल दंगों में हिस्सा लिया बल्कि दंगों में हुई लूटपाट में भी अपना हाथ साफ किया। बड़े–बड़े डिपार्टमेंटल स्टोरों के तोड़े जाने या उनके लूट जाने की खबरें उन्होंने एक दूसरे को तत्परता से पहुँचायी तथा देखते ही देखते लूटे जा रहे स्थानों पर कारों तथा अन्य वाहनों के साथ लोग सपरिवार पहुँचे। यह भी रपट सामने आयी है कि इनमें से कई सारे दण्ड का भागी बनने से बचने के लिए लूटा गया सामान लौटा भी रहे हैं।(8)

उक्त प्रकार लूट–पाट, अत्याचार करके एक वर्ग को गरीब बनाते हैं और लुटेरे अमीर या धनी बनते हैं और कई तरह के आर्थिक शोषण करते रहते हैं। यह शोषण इन गरीब और शोषित लोगों को पता न लग जाए, इसलिए इनको धर्म और मजहब के नाम पर हमेशा गोल बंद लिया जाता रहता है।

3.6.1 कृषि और मुस्लिम समाज

जिस तरह से पिछले वर्षों में मुसलमानों को चिन्हित कर उनको गौ रक्षा के नाम पर प्रताड़ित किया जा रहा है, उससे मुस्लिम किसान तथा देश भर के पशु व्यापारियों में डर व्याप्त हो गया है। उनकी प्रताड़ना का कारण मुसलमान होने के अलावा कोई दूसरी वजह नज़र नहीं आती। वर्षों से बाप–दादों के ज़माने से वह खेती–किसानी करते आ रहे हैं। वह खेती किसानी के साथ–साथ किसी भी आम हिन्दू किसान और पशु व्यापारी की तरह पशुओं की खरीद–फरोख्त करते रहे है, बिना किसी भेदभाव का सामना किये। कभी ऐसे हालात नहीं बने। लेकिन पिछले वर्षों में जिस तरह से राजनीतिक हालात बने हैं, उससे न सिर्फ मुस्लिम समाज बल्कि पशु व्यापार से जुड़े गरीब दलित–पिछड़े आदिवासी समाज के लोग भी खुद को असुरक्षित महसूस करने लगे हैं। इसके लिए मौजूदा सरकार तथा लाचार कानून व्यवस्था जिम्मेदार है। सरकार के नेताओं की बोली–वाणी, व्यवहार से ऐसा लगता है कि सत्ता का उन्मादियासें को परोक्ष, अपरोक्ष रूप इसे संरक्षण प्राप्त है। नहीं क्या कारण है कि तथाकथित गौ रक्षकों पर कानूनी कार्रवाई की बजाय हिंसा के शिकार लोगों को दोषी ठहराने का एक भी अवसर सत्तासीन नेता चूक नहीं रहे?

क्या अब वे मुसलमान किसान नहीं रहे ? क्या अब वे किसानी के साथ पशुओं का व्यापार छोड़ देंगे? अगर ऐसा होगा तो उनका जीवन यापन कठिन से कठिनतर हो जायेगा। मँहगाई और प्रकृति की मार ने वैसे भी किसानों की कमर तोड़ रखी है। ऐसे में उनका इस तरह घर बैठना ठाले का धंधा भी छीन जाता है। यही वह कारण है जो बार–बार बेंध रहा है, कहाँ से कहाँ पहुँच गये हम .....। मौसमी तथा प्रछन्न बेरोजगारी के समय में ग्रामीण किसान–मजदूर, सभी जाति–धर्म के लोग पशु मैलों में जानवरों की खरीद–फरोख्त कर कुछ अर्थोपार्जन का जुगाड़ करते हैं। लेकिन नवउदारवाद और तकनीकी विकास ने इस कार्य व्यापार को चौपट कर दिया। जगह–जगह लगने वाले पशु मेले एक–एक कर बंद होते चले गये, जिससे गाँव में किसान–मजदूरों की न सिर्फ हालात खराब होती चली गयी, अपितु बेरोजगारी में भी बड़ी मात्रा में इजाफा हुआ। एक अनुमान के मुताबिक ऐसे रोजगार विहीन दौर में बीसवी शताब्दी के अंतिम दशक में और इक्कीसवीं से के प्रथा दशक में गाँवों से किसान, मजदूरों का रोजगार की लताश में शहरों की तरफ सबसे ज्यादा पलायन हुआ। वैसे भी किसान पशु व्यापारियों पर पुलिस के बेत की मार कम न पड़ी थी कि कथिक गौ रक्षक दल भी सक्रिय हो गया। प्राण लेने की हद तक।

विगत कुछ वर्षों से मुसलमानों को मीड़िया और एक खास पार्टी विचारधारा से जुड़े नेताओं द्वारा ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है जैसे वह हर रोज मांस ही खाता है, भारत एक कृषि प्रधान देश है। सभी धर्म, जाति समुदाय का बहुत बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में गुजर–बसर करता है, उसका जीवन कृषि कार्य पर आधारित है। आमतौर पर कृषि फार्म को सिर्फ खेती–बाड़ी तक ही सीमित करके देखा जाता है। किसान पशुओं का भी सबसे बड़ा पालक ओर कारोबारी है, इस तरह बहुत कम ही ध्यान जाता है। कहना न होगा कि कोई भी देश कृषि प्रधान एक धर्म, जाति, समुदाय विशेष के योगदान से नहीं बनता। मुसलमानों की आम जनता से लेकर 'खास जनता' तक में स्वावलंबी कारोबारी की छवि रूद्र हो चुकी है। लेकिन मुसलमानों की बहुत बड़ी आबादी कृषि प्रधान देश में खेती–बाड़ी के साथ पशुपालन और उसका कारोबार कर अपना जीवन यापन करती है – किसी भी आम हिन्दू कृषक की तरह। यह दुर्भाग्य है कि कमी भी इस क्षेत्र में कार्यरत बहुत बड़ी मुस्लिम आबादी की कोई बात नहीं होती, कभी किसी पत्रकार द्वारा खोज–खबर नहीं ली जाती। प्रेमचंद के समय में भी गाय एक मुख्य मुद्दा था। उस समय भी गाय के नाम पर मुसलमानों को प्रताड़ित किया जा रहा था। तब प्रेमचंद ने कहानी लिखी थी *मुक्तिधन*। प्रेमचंद ने कहानी में यह दिखाया कि एक मुसलमान किसान कसाई द्वारा अधिक मूल्य देने पर भी वह अपनी गाय कसाई को नहीं बेचता। वह कम दाम में भी दाऊ दयाल को गाय बेच देता है। रहमान का मानना है कि :

हुजूर, आप हिंदू हैं इसे लेकर आप पालेंगे, इसकी सेवा करेंगे। ये सब कसाई हैं, इनके हाथ मै 50 रू0 को भी कभी न बेचता। आप बड़े मौके से आ गये, नहीं तो ये सब जबरदस्ती से गऊ को छीन ले जाते। बड़ी विपत में पड़ गया हूँ सरकार, तब यह गाय बेचेने निकला हूँ। नहीं तो इस घर की लक्ष्मी को कभी न बेचता। इसे अपने हाथों से पाला–पोसा है। कसाइयों के हाथ कैसे बेच देता? सरकार, इसे जितनी ही खली देंगे, उतना ही यह दूध देगी। भैंस का दूध भी इतना मीठा और गाढ़ा नहीं होता। हुजूर से एक अरज और है, अपने चरवाहे को डाँट दीजियेगा कि इसे मारे–पीटे नहीं।(2)

दाऊदयाल ने चकित हो कर रहमान की ओर देखा। भगवान! इस श्रेणी के मनुष्य में भी इतना सौजन्य, इतनी सहृदयता है। यहाँ तो बड़े–बड़े तिलक त्रिपुंडधारी महात्मा कसाइयों के हाथ गउएँ बेच जाते हैं, एक पैसे का घाटा भी नहीं उठाना चाहते। और यह गरीब 5 रू0 का घाटा सहकर इसलिए मेरे हाथ गऊ बेच रहा है कि यह किसी कसाई के हाथ न पड़ जाय। गरीबों में भी इतनी समझ हो सकती है।(3)

मुक्तिधन मौजूदा वक्त में प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों की प्राँसगिकता बढ़ जाती है।

'षडयंत्रकारी राजनीति और बिकाऊ मीड़िया' के दुष्प्रचार से मुस्लिम समुदाय की छवि जनसामान्य में गौ भक्षक की बनती जा रही है। यही वजह है कि जन सामान्य (विशेषकर मध्यवर्ग) के मानस से यह बात घर कर गयी है कि मुस्लिम सिर्फ 'गौ–भक्षक' हो सकता है। गौ पालक नहीं। जबकि ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में जीवन यापन कर रहे सभी मुसलमान कृषक के साथ जीविकोपार्सन का बड़ा माध्यम खेती–बाड़ी के साथ–साथ गाय, भैंस और बकरी पालन है। पहलू खान एक ऐसा ही किसान था जिसे अलवर ने सिर्फ इसलिए कुछ हिन्दू 'गोरक्षकों' ने पीट कर मार डाला क्योंकि वह मुसलमान था। मुसलमान गाय खाता है, इसलिए वह सिर्फ गौ भक्षक हो सकता है लेकिन गौ पालक या किसान नहीं ? हिंदुत्व द्वारा दुष्प्रचारित मुसलमानों की इस छवि को बदलने की आवश्यकता है। इसके लिए हिन्दुओं को आगे आना चाहिए।

दरअसल गाय को लेकर पिछले वर्षों में जो उग्र हिंसा, उपद्रव देखने को मिला है उसकी सबसे बड़ी वजह है गाय की भावनात्मक और धार्मिक राजनीति करने वालों का सत्ता पर काबिज़ होना। कथित गौ रक्षको और उपद्रवियों पर सरकार द्वारा कारवाई न किया जाना।

3.6.2 खेती–किसानी और तकनीकी

आर्थिक नवउदारवाद तथा तकनीकी विकास का प्रभाव खेती–किसानी पर बहुत व्यापक पड़ा है। पारंपरिक खेती दिन–प्रतिदिन समाप्ति के कगार पर पहुँच रही है। जहाँ खेत की

जुताई बैलों से होती थी अब उसकी जगह ट्रेक्टर ने ले ली है। भड़ाई का कार्य भी चंद घरों में बड़े–बड़े थ्रैसरों से निपट जाता है। अब ऐसे समय में 'बाजार में रामधन' के रामधन की भावुकता, लगाव, मोह तथा किसान का अपने जानवर के प्रति संवेदनात्मक लगाव आज के समय में मुर्खता ही कहाएगा। अब सभी क्षेत्रों में नफा–नुकसान मुख्य हो गया है। किसानों ने भी मजबूर होकर बाछे को माँ छुट्टा साँड छोड़ना उचित समझा या कसाईयों के हवाले करना उचित समाधान समझते हैं। अब गाय से बाछे की आकाँक्षा कोई किसान भूलवंश भी नहीं करता। हाँ, इधर डेयरी उद्योग ने विकास किया है तो किसानों ने दूध की आकाँक्षा जरूर बदलती हुई है। इस आकाँक्षा ने किसानों को गाय की नस्ल भी बदलने को मजबूर किया। अब देसी गाय की जगह किसान जर्सी नस्ल (शंकर नस्ल) को प्राथमिकता प्रदान कर रहा है, जिसके बाछे किसी कार्य के नहीं होते। आजकल गाँव में जर्सी नस्ल के साँडों की संख्या। जिस मात्र में बढ़ रही है, और वह फसलों को जितना नुकसान पहुँचा रहे हैं। उसको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि बिहार में जिस प्रकार से नील गायों को गोली मारने के आदेश पर सरकार विचार कर रही है, कुछ उसी प्रकार आने वाले भविष्य में साँड़ों को भी मारने पर विचार हमारी सरकारों को करना पड़ेगा तो कोई अंचभा की बात न होगी। क्योंकि, गाय–बैल पालना एक बात है, उसकी राजनीति करना दूसरी। हमारी गौ शालाओं की स्थिति किसी से छिपी नहीं है। अगर वह बहुत अच्छी स्थिति में भी हो जाएँ तो भी देश में इतने निकम्मे बैल या साँड हो जायेंगे कि उनको बैठाकर खिलाना किसी सरकार के औकात की बात नहीं। आर्थिक रूप से बैल अब किसानों पर आर्थिक बोझ–भार बनने के अलावा कुछ नहीं। ऐसे में उनका समाधान सरकार को करना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत का मुसलमान उतना ही बड़ा गौ पालक या रक्षक है जितना कोई भी किसान हो सकता है। पशु का महत्व चाहे वह गाय हो, बैल हो या भैंस या अन्य पशु– एक किसान से ज्यादा कोई दूसरा नहीं जान और समझ सकता। यह पूरे देशवासियों को समझना होगा। अगर हमारे तथा कथित गौ रक्षक संगठनों तथा सरकार को इतनी ही पशुओं की चिंता है तो उन्हें लोगों को पीटने के बजाय गाय को लेकर विभिन्न योजनाओं की शुरूआत करनी चाहिए। जैसे– उत्तर प्रदेश में सरकार ने सफल 'कामधेनू योजना' चलायी। उन्होंने गाय पालन के लिए किसानों को ब्याजमुक्त कर्ज़ दिया। डेयरी उद्योग का सुदूर ग्रामीण अँचलों तक विकास किया। जिससे सभी तरह की जनता को फायदा मिला। नहीं तो पशु तस्करी और गौ रक्षा के नाम पर जो संवैधानिक तथा गैर–संवैधानिक तरीका मौजूदा केंद्र और राज्य सरकार तथा सरकारेतर संगठनों द्वारा अपनाया जा रहा है। वह बिल्कुल स्वीकार्य नहीं होगा। इसके पीछे की राजनीति मंशा बहुत स्पष्ट है। हिंसात्मक चक्की में सिर्फ

और सिर्फ आम गरीब जनता, किसान–मजदूर पिस रहा है। खेती–किसानी अब घाटे का सौदा बनती जा रही है। तकनीकी विकास ने खेती–किसानी को बहुत प्रभावित किया है। ऐसे में कुछ पशुओं की उपयोगिता पर सरकार को पुनः विचार करने की जरूरत है।

3.7 ग्राम्य जीवन मं अन्य जातिवर्ग का आर्थिक पक्ष

ग्रामीण समाज में कृषि योग्य भूमि ही जीविका का एकमात्र महत्वपूर्ण साधन और संपति का आधार है। लेकिन किसी विशिष्ट गाँव या किसी क्षेत्र में रहने वालों के बीच इसका उचित विभाजन नहीं है। न ही सभी के पास भूमि होती है। वास्तव में भूमि का बटँवारा घरों में सदस्यों के बीच बहुत असमान रूप से होता है। भारत के कुछ जाति वर्ग में अधिकांश लोगों के पास कुछ न कुछ भूमि होती है। कुछ जातिवर्गों में जमीन का बहुत छोटा टुकड़ा होता है। कुछ अन्य जाति वर्ग जैसे नायक, धानक, चमार, डूम, शेंशी, हीर, बावरी, भेड़कूट, छिम्पा, कुम्हार, चूहड़, भाट, तेली, कांकड़ी, कंजर, नाई, धोबी, बनिया, ब्राह्मण इत्यादि में 40 से 50 प्रतिशत परिवारों के पास कोई भूमि नहीं होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी जीविका या तो कृषि मजदूरी से या अन्य प्रकार के कार्यों से चलती है। इसका सहज अर्थ यह हुआ कि कुछ थोड़े परिवार बहुत अच्छी अवस्था में है। बड़ी संख्या में लोग गरीबी की रेखा के नीचे होते है।

उत्तराधिकार के नियमों और पितृवंशीय नातेदारी व्यवस्था के कारण भारत के अधिकांश गाँवों में महिलाएँ जमीन की मालिक नहीं होती है। कानून, महिलाओं को पारिवारिक संपति में बराबर की हिस्सेदारी दिलाने के पक्ष में है। वास्तव में गाँवों में आज भी स्त्री के पास बहुत सीमित अधिकार होते हैं। परिवार का हिस्सा होने के नाते स्त्री का भूमि पर अधिकार होता है। परिवार का मुखिया एक बुजुर्ग सदस्य होता है।

मध्यम और बड़ी जमीनों के मालिक जिसमें प्रायः जाट, जमीदार, साहू व कुछ अन्य उच्च वर्ग के लोग साधारणतः कृषि से पर्याप्त अर्जन ही नहीं बल्कि अच्छी आमदनी भी कर लेते हैं। हालांकि यह फसलों के मूल्य पर निर्भर करता है जोकि बहुत अधिक घटता–बढ़ता रहता है, साथ ही अन्य कारणों जैसे मानसून पर भी निर्भर करता है। लेकिन कुछ निम्न जातियाँ जो कृषिहार मजदूर है उन्हें अकसर निम्नतम निर्धारित मूल्य से कम दिया जाता है और वे बहुत कम कमा पाते है। उनकी आमदनी निम्नतम होती है। उनका रोजगार असुरक्षित होता है। अधिकांश कृषि मजदूर रोज़ाना दिहाड़ी कमाने वाले होते है। संजीव कृत उपन्यास *फाँस* की पृष्ठभूमि देशभर में लगभग पिछले दो दशको से बढ़ रही किसानों की आत्महत्याएँ है। उपन्यास में महाराष्ट्र के मवतमाल जिले के गाँव के बनगाँव का चित्रण किया गया है, लेकिन इसमें

आंध्रप्रदेश व कर्नाटक के किसानों सहित भारत के उन सभी किसानों की कहानियाँ शामिल हैं। संजीव अपने उपन्यास *फाँस* में लिखते है :

> इस देश के अधिकांश नागरिक, मजदूर, किसान, मोची, रिक्शाचालक, पहेरेदार, मछुआरे, मिस्त्री, गाँव की सभी छोटी वर्ग ..... यानि वे सब जो शारीरिक श्रम पर जीते हैं और जिनकी हालत आजादी के इतने वर्षों बाद और ढ़ेर सारी घोषणाओं के बावजूद लगातार पतली होती जा रही है। ..... पहले जीएम बीजों का इस्तेमाल करने के लिए फुसलाया गया और फिर कर्जा दिया गया। (47)

वर्ष में बहुत से दिन उनके पास कोई काम नहीं होता है। इसे बेरोजगारी कहते हैं। समान रूप से काश्तकार या पट्टेधारी (कृषक जो भूस्वामी से जमीन पट्टे पर लेता है) की आमदनी मालिक–कृषकों से कम होती है क्योंकि वह जमीन के मालिक को यथेष्ट किराया चुकाता है। साधारण फसल से होने वाली आमदनी का 50 से 75 प्रतिशत। प्रत्येक क्षेत्र में प्रबल जाति समूह काफी शक्तिशाली होता है आर्थिक और राजनीतिक रूप से वह स्थानीय लोगों पर प्रभुत्व बनाए रखता हैं। उत्तरप्रदेश के जाट, गुर्जर और राजपूत, कर्नाटक बोक्कालिगास और लिंगायत, आंध्र प्रदेश के कम्मास और रेड्डी, हरियाणा के जाट, पंजाब के जाट सिख, राजस्थान के राजपूत, ठाकुर प्रबल भूस्वामी के समूहों के उदाहरण हैं।

गाँव के जमींदार या भूस्वामी के यहाँ निम्न जाति समूह के सदस्य वर्ष में कुछ निश्चित दिनों तक मजदूरी करते हैं। इसी तरह, संसाधनों की कमी और भूस्वामियों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सहायता लेने के लिए बहुत से ग्रामीण गरीब कामगार पीढ़ियों से उनके यहाँ बंधुआ मजदूर की तरह काम कर रहे हैं। हाँलाकि कानूनन इस तरह की व्यवस्थाएँ समाप्त हो गई हैं, लेकिन वे कई क्षेत्रों में अभी भी चल रही है। उत्तरी बिहार के एक गाँव में अधिकतर भू–स्वामी 'भूमिहार' हैं, यह भी एक प्रबल जाति है।

3.8 तुलनात्मक दृष्टि

किसी भी देश या समाज के लोगों के जीवन व्यापन में आर्थिक स्थिति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिसके पास जिस तरह की सुख–सुविधाएं है वे उसके आर्थिक स्थिति के बारे में परिचय देती है। अर्थात् अगर किसी के पास खाने–पीने तक की तंगी रहती है तो वह उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने की तरफ इशारा करती है। अगर कोई ऐशो आराम की जिंदगी व्यतीत कर रहा है तो उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का अंदाजा इस बात से भलीभाँति लगाया जा सकता है। इसी प्रकार ग्रामीण समाज में भी आर्थिक स्थिति का महत्वपूर्ण योगदान है। आज प्रत्येक गाँव की स्थिति में परिवर्तन आया है। वही देखा–देखी की परवर्ती ने

आर्थिक तालमेल को बिगाड कर रख दिया है। प्राचीन समय में गाँव में वस्तु विनिमय की प्रथा का आर्विभाव था। जिस व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता होती वह उसे अपने ग्रामीण वासियों को उसके बदले कोई अन्य वस्तु देकर अपनी जरूरत की वस्तु ले लेता था। परन्तु इस समय में मुद्रा का आर्विभाव होने के कारण यह सब प्रथा अब पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी है। इस तरह की प्रथा का वर्णन संजीव ने अपने उपन्यास *फाँस* में किया है। वही राकेश कुमार सिहँ ने भी *जो इतिहास में नहीं, पठार पर कोहरा* आदि उपन्यासों में इसका परिचय दिया है।

वर्तमान समय में ग्रामीण समाज में विभिन्न वर्ग, जाति के लोग रहते है जो अपनी जातिगत व्यवस्था के आधार पर कार्य करते है जैसे मिट्टी का कार्य कुम्हार, लोहे का कार्य लौहार, सोने का कार्य सुनार, बाल संवारने का कार्य नाई, गाँव के पहेरेदारी का कार्य चौकीदार इत्यादि। परन्तु अब ये वर्ण व्यवस्था से कार्य करने की परम्परा ग्रामीण समाज में पहले की तरह नहीं रही है। इसका कारण सामाजिक बदलाव के कारण जरूरतों का बढ़ना व आय का जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ रहना। जिस कारण से विभिन्न कार्य अब जातिगत न रहकर आर्थिक पूर्ति हेतु हो गए है। इसका अन्य कारण कुछ कार्यों का बंद होना भी है। इसका कारण मशीने और टेक्नोलॉजी है। उदाहरण के लिए पहले पानी पीने के लिए हर ग्रामीण घरों में मटके हुआ करते थे परन्तु आज इन मटको का स्थान मशीनो से बने कैंपर ने ले लिया है। जिसके कारण मिट्टी बर्तन बनाने वाले कारीगरों ने अपना पेशा बदल लिया है। इस तरह का परिचय भगवान दास मोरवाल ने भी अपने उपन्यास *रेत* में दिया है। कंजर जाति, विवाह व दुख जैसे ग्रामीण क्रिया कलापों में लोगों के मनोरंजन व दुख के समय मृत के पीछे रोने का कार्य किया करते थे। परन्तु आज सामाजिक स्थिति के ढ़ाचे में बदलाव आने के कारण इनका ये कार्य अब बंद हो चुका है। जिसमे कारण अब ये वर्ग जिस्म फिरोशी का धंधा करने पर मजबूर हो चुका है। पहले समय को देखा जाए तो ग्रामीण व्यवस्था अपने–आप में सम्पूर्ण थी जहाँ सभी की जरूरते गाँव में ही प्रायः पूरी हो जाया करती थी, परन्तु अब ऐसा नहीं रहा। अब तो ग्रामीण समाज की जरूरते गाँवों या शहर तक भी सीमित नहीं रही। बल्कि देश के बाहर तक जाकर खड़ी हो गई है।

आज गाँव में किसानों व अन्य जातिवर्ग के बच्चे पढ़–लिख चुके है। अब ये शिक्षित युवा वर्ग गाँवों के परम्परागत कार्य करने में असमर्थ है। इनकी शिक्षा के अनुसार इनको कार्य न मिलने के कारण गाँव के युवा वर्ग प्रगतिशील देशों में पलायन करने लगे है। जिसके कारण घर वालो को आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है और बच्चे विदेशों से वापिस लौटकर यहाँ रहना ही नहीं चाहते है। इस तरह का उदाहरण काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास *रेहन पर*

रग्घू में भी वैसा का वैसा चित्रण प्रस्तुत किया है। इसी आर्थिक लालसा ने बच्चों को अपने परिवारों से दूर कर दिया है। अगर ऐसा ही चलता रहा तो गाँवो तो होगे पर उसमें रहने वाले उम्र दराज व्यक्ति ही रहेगे। महानगरों की चकाचौंध में रहने वाले युवा गाँवों से स्वतन्त्र रूप से पलायन कर चुके होगे। यह स्थिति गाँवों में रहने वाले किसी एक वर्ग विशेष या समुदाय की नहीं है बल्कि सभी ग्रामीण जन–जीवन की गाथा है। 21 वीं सदी से पहले ये सब गाँवों की समस्या नहीं थी। परन्तु आज बेरोजगारी भी युवा वर्ग की सबसे गंभीर समस्या बन चुकी है। जो ग्रामीण समाज के लिए खतरे का प्रतीक है।

निष्कर्ष

हम कह सकते है कि हर गाँव की आर्थिक स्थिति में प्रायः बदलाव तो हुआ हैं, परन्तु इतना नहीं, जितनी ग्रामीण समाज के शारीरिक परिश्रम को देखकर अपेक्षा की जा रही थी। आज आजादी के लगभग 75 वर्षों के बीत जाने पर भी गाँवों में समस्या, कुप्रथाएं, बेरोजगारी, कमिऔती, सुख–सुविधाएं कोई विशेष बदलाव नहीं आया है। हाँ, शहरो व महानगरों के लगते गाँवो में तो तरक्की है। परन्तु इस तरक्की के कारण ग्रामीण जनता को अपनी जायदाद शहरों को देकर पलायन करना पड़ा है। जहाँ वे न तो गाँव के रहे और न ही शहरी बन पाए है। ग्रामीण कृषकों के लिए खेती भी अब घाटे का सौदा बन कर रह गई है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एकमात्र स्त्रोत खेती किसानी ही थी, परन्तु अब किसानी धीरे–धीरे कम होती जा रही है। कारण मौसम की मार, महँगे खाद–बीज, कीटनाशक, फसलों का भाव न मिलना, कृषि उपकरणों की महँगाई, तेल का दाम बढ़ना इत्यादि। आर्थिक पूर्ति हेतु आदिवासी समाज भी अब अपनी जरूरतों को जंगलों से पूरा नहीं कर पाता है। क्योंकि सरकार के वन कानूनो ने इनकी जरूरतों में हस्तक्षेप किया है। जिस कारण ये बाहरी लोगों के सम्पर्क में आए और इनका आवागमन बाहरी लोगों के साथ होने से जिनके भी ये सम्पर्क में आए सभी ने इनका शोषण किया है। दलित व मुस्लिम समाज की आर्थिक स्थिति भी कुछ बेहतर नहीं है। दलित के पास भी भूमि प्रायः कम ही होती है ये वर्ग इतना पढ़ा–लिखा भी नहीं है। जिसके चलते ये कोई अन्य कार्य कर सके। इसी तरह मुस्लिम समाज भी आज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए असमर्थ सिद्ध हो रहा है। सभी धर्मों, वर्गों, जातियों में नशाखोरी भी आज ग्रामीण समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई बन चुका है। जिसमें चलते निराशा के इलाव हाथ भी कुछ नहीं लगना है।

सरकार को इस अर्थव्यवस्था सुधारने के लिए आज एक ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। पूँजीपति वर्ग का शिकार जब तक ग्रामीण जन रहेगा, तब तक उसकी आर्थिक

स्थिति नहीं सुधरने वाली है। भ्रष्टाचार भी, आज एक समाज की दीमक है जो सब बुनियादी ढ़ांचे खत्म कर चुका है। जिसके पास है पता नहीं कितना के है। जिसके पास नहीं है उसको रोजी रोटी के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है। जो कुछ भी प्रायः पास में है उसे बेचने के लिए मजबूर है।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का राजनीतिक पक्ष

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में राजनीति शब्द का निर्माण संस्कृत के 'राज' और 'नीति' इन शब्दों के योग से हुआ है। राज का अर्थ 'राजा' और 'नीति' का अर्थ है कानून अर्थात् राजा का अपने राज्य पर शासन हेतु बनाए गए कानून है, राजनीति का अर्थ राज्य के सम्यक संचालन से ही समझा जाता था, किंतु राजनीति वस्तुतः अंग्रेजी शब्द 'पोलिटिक्स' का हिन्दी अनुवाद है। यह 'पोलिटिक्स' शब्द भी यूनानी के 'पोलिस' शब्द से उत्पन्न है। जिसका त्रुटिपूर्ण अनुवाद नगर–राज्य है। वस्तुतः इसका सही अनुवाद नगर समुदाय है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों और क्षेत्रों में प्रयोग किया जाता है। परिवार मुहल्ले से लेकर कार्यालय, शिक्षालय, विधानसभा, चुनाव और विश्व के युद्धों तक को राजनीति की संज्ञा दी जाती है। राजनीति शब्द का बहु अर्थ प्रयोग के कारण राजनीति शब्द आज भी सर्वव्यापक हो गया है।

राजनीति शब्द के सम्यक रूप में पारिभाषित करना जटिल कार्य है। विभिन्न विचारों को एकरूपता न होने के कारण इस शब्द की व्याख्या एक अर्थ में नहीं की जा सकती। डॉ० श्यामलाल वर्मा *आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त* में लिखते हैं कि :

> राजनीति विशिष्ट प्रकार के अंत संबंधों का नाम है। ऊपरी तौर पर वह विशिष्ट मनुष्यों और समुदायों या समूहों द्वारा संचालित होती है, पर वास्तव में वह सर्वत्र विद्यमान है। कहीं स्वतंत्र परिवर्त्य के रूप में, कही आश्रित या मध्यवर्ती रूप में ये परिवर्त्य एक 'सेट' के रूप अवस्थित होते हैं। अब धारणात्मक दृष्टि से ऐसे 'सेट' को विचार चित्र कहा जा सकता है। राजनीति विशिष्ट परिवर्त्यों का विचार चित्र है, जिसे हम विश्लेषण के लिए सामाजिक अंतः संबंधों की बहुलता में से छाँटते हैं। जब हम राजनीति की परिभाषा या व्याख्या करते हैं तो हमारा मुख्य कार्य उस विचार चित्र के परिवर्त्यों की विशिष्टताओं का स्पष्टीकरण एवं सीमा निर्धारण होता है।(86)

आज के जीवन में राजनीति का महत्व बहुत अधिक हो गया है। आज राजा और प्रजा का समय नहीं रहा। जबकि राजा की इच्छा ही कानून होती थी और प्रजा का राज्य शासन में

कोई अधिकार नहीं होता था। आज तो प्रजातंत्र का समय है। आज शासन जनता का जनता के द्वारा, जनता के लिए है। इसलिए आज के जीवन में राजनीति प्रमुख प्रेरणा और विषय बन गई है। इस विषय वस्तु को लेकर स्वतंत्रता के बाद अनेक उपन्यासों की रचना हुई । यूँ भी आज के जीवन को लेकर लिखे गये हर उपन्यास में राजनीति प्रसंग होंगे ही। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी राजनीति प्रसंग आते हैं।

उपन्यासों के ये भेद विषय वस्तु के अनुसार अलग–अलग विशेषता बताने के लिए किये गये हैं। जीवन संपूर्ण होता है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि अनेक पक्षों के मिलन से किंतु ये पक्ष एक दूसरे से इतने अलग नहीं होते कि एक को दूसरे से काटकर अलग कर दिया जाए। इसलिए सामाजिक उपन्यास होगा तो उसमें राजनीतिक प्रसंग होंगे ही, पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण होगा ही। इसी रूप में इन भेदों को रखा जाना चाहिए।

वस्तुतः राजनीतिक का प्रत्यक्ष संबंध शासन या सरकार अथवा शक्ति से भी है। इसी तथ्य को आधार मानकर 'स्मिथ' ने *द डर्टेज विलेज* में इसे निम्न शब्दों में परिभाषित किया है :

> राजनैतिक उस समस्त शक्तियों से संबंधित है जो राज्य के शासन, उसकी नीतियों तथा कार्यों को संगठित करती एवं गढ़ती है। इस तरह राजनीति किसी भी समाज में उन सभी शक्तियों, आस्थाओं तथा संगठनात्मक प्रकारों से संबंधित होती है। जो किसी समाज से सुव्यवस्था के साधारण और स्थापना, उसके सदस्यों की सहभागिता प्रयोजनों को कार्यान्वित तथा उनके मतभेदों का समाधान करने के लिए उस समाज में सर्वाधिक अंतर्भावी तथा अंतिम सत्ता माने जाते हैं। राजनीति का विश्लेषण यही है।(87)

4.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियाँ

इक्कीसवीं सदी में राजनीति का एक ऐसा दौर देखने को मिला, जिसका संकेत तो पिछली सदी में ही मिलने लगा था। किन्तु उसके प्रभावों का पूरा–पूरा अनुमान नहीं था। दुनिया के स्तर पर एक सर्वग्रामी सत्ता उभरी। उत्पल कुमार ने अपनी पुस्तक *भारत में असमानता, गरीबी और विकास* में लिखते है :

> वामपंथी अर्थशास्त्रियों तथा आर्थिक चिन्तकों की आवाजें तो बिल्कुल ही नहीं सुनी गयी, बल्कि दबा दी गयीं। जिनसे यह विचार सामने आ रहा था कि यह–मात्र अर्थव्यवस्था का वित्तीकरण नहीं है, बल्कि पूंजीवादी वित्तीकरण है। जो पूंजीवादी संचय की प्रक्रिया को बांधित करके पूंजीवाद को तो संकट में डालता ही है। सबसे ज्यादा संकट में

डालता है, समाज के उत्पादक वर्गों को, जो वित्तीकरण की प्रक्रिया में उतरोत्तर गरीबी, बेरोजगारी और बदहाली के शिकार होते जाते है।(83)

आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया का राजनीतिक स्थितियों से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। आज के दौर में राजनीतिक रूप से ताकतवर हुए बिना कोई व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अपनी आर्थिक व्यवस्था का विकास नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए हम अमरीका और इराक युद्ध को ले सकते हैं। सारी दुनिया जानती है कि यह युद्ध तानाशाही और लोकतंत्र के नाम पर नहीं लड़ा गया, इसके पीछे मूल कारण था तेल। तेल की राजनीति ने इतने बड़े नरसंहार को अंजाम दिया। ध्यान देने की बात यह है कि इस युद्ध के पहले अमरीका ने राजनीतिक रूप से अपनी गोटियाँ अत्यन्त चालाकी से बिछायी और उस चालाकी में जाने–अनजाने दुनिया के सारे देश फँसते चले गये। सभी यह जानते थे कि यह युद्ध क्यों हो रहा है, पर राजनीतिक रूप से अमरीका की काट किसी के पास नहीं थी। राजनीति आज का मुख्य नियंता स्वर है, जिसका अर्थ ही मुख्य सहारा है। पहले भी राजनीति का खेल देखा जा चुका है, पर इस सदी की राजनीति के खेल की प्रकृति भिन्न हैं। यह भी गौरतलब है कि जिन लोगों ने इस राजनीति का विरोध किया, उन पर गलत समय में गलत राजनीति दिशा अपनाने का आरोप लगाकर उन्हें किनारे कर दिया गया। मार्क्सवादियों और अपने देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर आर्थिक योजनाओं की बात करने वालों को राजनीति के हथियार से ही काटा गया।

यह समाज वर्ग–विभक्त है। कोई भी व्यवस्था जब तक वर्गविहीन नहीं हो जाती, तब तक वह समाज को न्याय के आधार पर नहीं चला सकती। उत्पल कुमार ने *भारत में असमानता, गरीबी और विकास* में लिखते है :

> पूँजीवाद अपनी व्यवस्था को संकटग्रस्त होने से नहीं बचा सकता, उसी प्रकार वह वर्ग–विभक्त समाज को वर्ग–संघर्ष से दूर नहीं रख सकता। वह इसके लिए राज्य की शक्ति से वर्गीय दमन कर सकता है। लेकिन वर्ग–चेतना और वर्ग–संघर्ष को समाप्त नहीं कर सकता। उसने शिक्षा, शोध और प्रचार–प्रसार की गतिविधियों पर अपने नियंत्रण के चलते आर्थिक जीवन की अवधारणा को सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि सभी आयामों से काट कर एक अत्यंत सीमित, संकुचित व्यक्तिवादी अवधारणा में बदल दिया ....।(84)

इक्कीसवीं सदी की राजनीतिक व्यवस्था के कई आयाम हैं, जिनका विवेचन एक कठिन और संश्लिष्ट प्रक्रिया है। अब ऐसा नहीं हो सकता कि राजनीति को अलग से देखा जाये और अन्य परिस्थितियों को अलग से। सच तो यह है कि बिना राजनीतिक परिस्थितियों के विश्लेषण

के आज के दौर के किसी भी अनुशासन को विश्लेषित नहीं किया जा सकता। निःसन्देह इस सदी में राजनीति ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में जीवन के कोने–अंतरों में प्रवेश किया है। फिर भी कुछ लोग हैं कि विचलन और विपथन के बावजूद कहीं न कहीं उसकी सकारात्मक भूमिका को भी स्वीकार करते हैं। भारत में गठबन्धन सरकारों का युग पिछली सदीं में शुरू हो गया था। जब अटल बिहारी वाजपेयी जी ने कई दलों को मिलाकर सरकार बनायी, पर इस सदी की विशेषता यह रही कि कांग्रेस का हमेशा से विरोध करती आ रही वामपंथी पार्टियों ने उसे साम्प्रदायिक शक्तियों को सत्ता में आने से रोकने के लिए अपना समर्थन दिया। इतना ही नहीं, कांग्रेस के हर कदम का वे संसद में समर्थन करती रहीं और संसद के बाहर उसका विरोध। भारतीय राजनीति का यह चेहरा पहली बार देखा गया, यद्यपि वामपंथ के एक धड़े ने कांग्रेस का पहले भी समर्थन किया था। इस राजनीति का दिलचस्प पहलू यह है कि लम्बे समय से पश्चिम बंगाल में अपना राजनीतिक वर्चस्व भी उन्हें कांग्रेस के समर्थन देने के कारण ही खोना पड़ा और उनका जनाधार निरन्तर सिमटता गया।

जिस समय इस सदी की शुरूआत हुई, उस समय भारत में कांग्रेस का शासन था और भाजपा पहले दशक के बाद सत्ता में आई। देश में धर्मनिरपेक्षता का सवाल उठाया जा रहा था। कुछ लोगों को लगता था कि फासीवाद आ रहा है। डॉ० अनिल कुमार श्रीवास्तव अपनी पुस्तक *21 वीं सदी के राजनीतिक आयाम* में लिखते है :

> भाजपा के शासनकाल में कोई ऐसी घटना नहीं घटी, जिसके आधार पर यह कहा जाये कि फासीवाद आ रहा है। भाजपा को जनता ने सबसे बड़ी पार्टी के रूप में प्रस्तुत किया था। उसके समर्थक दलों में कई ऐसे थे, जिनकी छवि कांग्रेस से भी अधिक धर्मनिरपेक्ष थी क्योंकि अयोध्या में विवादित ढ़ांचा गिराये जाने की घटना से वह अपने को कैसे मुक्त मान सकती है।(121)

इक्कीसवीं सदी का राजनीतिक परिदृश्य कई अर्थों में अन्तर्विरोधी है। इसका कारण वे वैश्विक परिस्थितियाँ हैं, जिनका मुकाबला करने में भारत जैसे देश नाकाम रहे हैं। सहमति और असहमति का नाटक इस काल में खूब देखने को मिला है। राजनीतिक अवसरवाद का ऐसा हाहाकारी दृश्य पहले देखने को नहीं मिला था। यदि 1967 में जनसंघ और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी एक साथ सरकार में शामिल थी तो उसके पीछे डॉ० लोहिया की बहुप्रचारित नीति थी, जिसे गैर कांग्रेसवाद का नाम दिया गया था। हिन्दी के उपन्यासकारों ने इस अवसरवाद को सही ढ़ंग से पकड़ा और अभिव्यक्त किया है। असगर वजाहत ने कहा हैं, शब्दों पर राजनीति या कहिए अवसरवादी, छ्दम राजनीति की काली छाया पड़ने लगे तो लेखक को बड़ी बैचेनी

होती है और वह शब्दों को बचाने के लिए बेचैन हो जाता है। वह जनता है शब्द ही न रहेंगे, यानी अर्थवान शब्द ही न रहेंगे तो मनुष्य ही न रहेगा, समाज ही न रहेगा। इसलिए लेखक लिखता है, शब्दों को अर्थ देने या अर्थवान बनाये रखने के लिए। हिन्दी उपन्यासों में यह अर्थवक्ता बची हुई है तो इसलिए कि लेखकों को अपने समय की राजनीति का सही–सही ज्ञान है। जहां विचलन है, वहां औपन्यासिक विजन टूटता है और उपन्यास अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ पाता। असगर वजाहत के उपन्यास *कैसी आग लगाई* के विवेचन के माध्यम से इस तथ्य को अधिक स्पष्ट ढंग से समझा जा सकता है। यह उपन्यास इस दौर की भारतीय राजनीति को कई कोणों से अभिव्यक्त करता है और कुछ जरूरी प्रश्नों की ओर हमारा ध्यान खींचता है।

कैसी आग लगाई में भारतीय जनतंत्र की पड़ताल 'इनसाइडर' की तरह की गयी है। जैसे लेखक स्वयं एक पात्र हो। फिर एक तटस्थता का निदर्शन भी उसमें होता है। इस उपन्यास के सन्दर्भ में डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव अपनी पुस्तक *आधुनिक भारतीय साहित्य : राष्ट्रीय चेतना और नवजागरण* में लिखते है :

> कैसी आग लगाई में चुनावों का समीकरण वैसा ही है, जैसा आज अधिक विकृत और हिंसक रूप में दिखाई दे रहा है। ठाकुर वोट, बाह्मण वोट, अहीर वोट जैसे जाति–वर्ण भेद। सल्लो इन्हीं सरगर्म दिनों में अहेरी खेड़ा में शाहिद मियां के हाथ आती है। समलैंगिक और 'चालू', 'अचालू' जैसी कोटयां है। अल्पसंख्यकों में कई–कई बीबियां साथ रखने का चलन है। रग्लेक्शन है, वोटरलिस्टें हैं, पर्चिया–पोस्टर हैं, नूर मियां जैसे चुनाव लड़ने वाले एक्सपर्ट हैं।(33)

इस उपन्यास की कालकथा रचना के काल के पहले की है, किन्तु इससे यह पता चलता है कि इक्कीसवीं सदी की राजनीतिक परिस्थितियाँ स्वतः स्फूर्त नहीं हैं, बल्कि इनकी भूमिका बहुत पहले से बनने लगी थी। इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि कैसे राजनीतिक परिस्थितियाँ सामाजिक स्थितियों को प्रभावित करती है। जब कोई राजनीतिक संगठन राजनीति को अपने निहित स्वार्थों के लिए साम्प्रदायिक बनाता है, तब गोधरा जैसी घटनाएं घटती है। इस सदी की यह सबसे शर्मनाक घटना है, जिसका आधार राजनीतिक रहा है। अभी हाल में न्यायालय के जो फैसले आये हैं, उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इसमें राजनीतिक तत्वों की क्या भूमिका थी। यह भी देखने में आया कि देश के सभी शान्तिप्रिय लोगों और संगठनों ने इस घटना का विरोध किया, पर राजनीति के शिखर पर बैठे लोगों ने उसकी अनदेखी की। उस समय प्रधानममंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी गुजरात के मुख्यमंत्री को राजधर्म के पालन के लिए कहा था। अर्थात् एक मुख्यमंत्री को अपने कर्तव्यों के पालन का

निर्देश दिया था। लोकतांत्रिक व्यवस्था में राज्य का कर्त्तव्य होता है, सबके साथ समान व्यवहार करना। विडम्बना यह है कि इस सदी में लगातार लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर करने का प्रयास किया गया है और यह कार्य सभी दलों के जिम्मेदार लोगों ने किया है।

इस सदीं में जातिवाद का जितना विरोध हुआ है, उससे अधिक जातिवाद को संरक्षण देने का कार्य हुआ हैं। इससे लोकतंत्र तो कमजोर हुआ ही है, सामाजिक टकराव में भी वृद्धि हुई है। डॉ० अनिल कुमार श्रीवास्तव अपनी पुस्तक *इक्कीसवीं सदी के राजनीतिक आयाम* में लिखते है :

> जाति–उन्मूलन और जाति–वर्चस्व के प्रयास इस सदी में साथ–साथ दिखायी देते हैं। यह एक समाजशास्त्रीय समस्या हैं, जिसका निराकरण राजनीतिक स्तर पर करने की कोशिश की जा रही है। जिस जाति को इसका सर्वाधिक दंश सहना पड़ा है, वह जातिय स्वाभिमान शैलियाँ कर रही है। ब्राह्मणवाद से लड़ने के नाम पर नये ब्राह्मणवाद को उभारा जा रहा है। ऐसे जातीय गंठजोड़ सामने आये है, जिनकी कल्पना नहीं की गयी थी। राजनीतिक असरवाद के अनेक उदाहरण इस सदी में देखने को मिले, पर कुछ ऐसे उदाहरण सामने आये जिनसे लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर ही प्रश्न खड़ा हो गया।(227)

परमाणु समझौते के प्रसंग में भारतीय संसद में जो कुछ हुआ, वह अब इतिहास बन चुका है। सांसदों की खरीद–फरोख्त का यह सबसे विचित्र और मारक उदाहरण बन गया। सरकार बचाने के लिए बिचौलियों की मदद ली गयी और सरेआम रूपये लहराये गये। दिलचस्प तथ्य यह हैं कि इतनी बड़ी घटना को देश की जनता, मीडिया और न्यायपालिका ने सामान्य ढंग से लिया। जो इस बात का सबूत है कि राजनीति में कितनी गिरावट आयी है। जब भी कोई राजनीतिक परिवर्तन होता है, देश की महान जनता के गुण गाये जाते हैं, पर यह नहीं देखा जाता कि परिवर्तन की दिशा नकारात्मक है या सकारात्मक। इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि हर राजनीतिक दल चुनावी जीत के हथकड़े अपनाते हुए नये–नये मानक स्थापित करने में अपनी शान समझते हैं। असली परिवर्तनकारी शक्तियों का परिदृश्य से गायब होना, इस सदी की बड़ी राजनीतिक घटना है। जिसका प्रभाव प्रतिरोधी चेतना पर गहरे तक दिखायी देता है। प्रजातंत्र के लम्बे और ठोस अनुभव के बावजूद इस तरह की स्थितियाँ राजनीतिक विखण्डन को जन्म देने में कारगर भूमिका निभाती हैं। भारतीय राजनीति में फलता को मूल्य तो पहले भी माना जाता रहा है, पर इस सदी में वह महामूल्य के रूप में बदल गयी

है और यह जैसे सर्वस्वीकार्य वस्तु बन गयी है। फिर भी अभी कुछ लोग हैं, जो आस लगाये बैठे हैं कि परिवर्तन होगा ही।

इस सदी में राजनीतिक मूल्यों ही नहीं प्रतीकों के अर्थ भी बदल गये हैं। अब सदाचार उतना जरूरी नहीं हैं, जितना सत्ता पर येन–केन–प्रकारेण कब्जा करना। हरबंस मुखिया अपनी पुस्तक *भारतीय इतिहास, राजनीति और समाज के मुद्दे* में लिखते है :

> भारत एक प्रजातांत्रिक देश है। यहां की जनता को प्रजातंत्र का लम्बा और सुदृढ़ अनुभव रहा है। प्रजातंत्र अपने आप में एक बड़ी ताकत है। यह सत्ता पक्ष को बार–बार इस बात का अहसास कराती है कि वास्तविक शक्ति हमारे यानी जनता के पास है और वह साम्प्रदायिक या फांसीवादी ताकतों को सत्ता से हटा सकती है। यद्यपि बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद ये ताकतें तेजी से उभरी थी, पर जनता ने उन्हें इस बात का अहसास करा दिया है कि धर्म अथवा सम्प्रदाय के नाम पर किसी राष्ट्र का गठन नहीं हो सकता।(68)

पहली बात तो यह कि लोकतंत्र के लम्बे अनुभव के बावजूद भारतीय जनता उसके वास्तविक मर्म से पूरी तरह परिचित हो चुकी है – यह विश्वासपूर्वक कह पाना कठिन है। लोकतंत्र में कैसे राजतंत्र की प्रवृत्तियाँ घुस जाती है, इसे जानने के लिए मंत्रियों और अधिकारियों के क्रिया–कलापों को देख सकते हैं। यह बात किसी एक दल की सरकार पर लागू नहीं होती, यह आम प्रवृत्ति बन चुकी है। इस सदी में राजनीति ने जातियों के भीतर के अन्तविरोध को उधार दिया है। अब वर्ग की अवधारणा लगभग बदल चुकी है। उसकी विशेषताओं को रेखांकित करना भी अब आसान नहीं है। राज्य की ताकत अदेखे ही बढ़ रही है। आज का राजनीतिक वातावरण किसी परम्परा की याद नहीं दिलाता, बल्कि उसमें सभी परम्पराओं का लगता है, जैसे लोप हो गया हो। यह राजनीति सामाजिक जिम्मेदारी से लगभग मुक्त है और व्यक्ति को एक नकारात्मक सोच की ओर प्रेरित करने वाली है। केन्द्र में इस बीच भाजपा और कांग्रेस का शासन रहा और अब भी है। ये दोनों ही पार्टियां अपने सहयोगियों पर निर्भर है, किन्तु जनता के सवाल पर इनका कोई संयुक्त एजेण्डा नहीं है। सबका प्रबन्धन प्रा० लि० कम्पनी जैसा है। शक्ति के मुख्य केन्द्र कहीं ओर है, जिनका संबंध राजनीति से कम, अर्थ से अधिक है। भारतीय राजनीति के लिए यह अच्छा लक्षण नहीं है। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि इन स्थितियों के विरोध में छिटपुट प्रतिवादी स्वर भी फूटते रहे हैं। दिल को बहलाने के लिए इतना भी कहां कम है।

इस सदी में राजनीति एक उद्योग के रूप में उभरी है। क्या वह लोकतंत्र की विफलता नहीं है। पंचायती व्यवस्था लागू करके सत्ता के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की कोशिश कितनी सफल हुई यह भी विचारणीय है। पूरन चन्द्र जोशी अपनी पुस्तक *आजादी की आधी सदी : स्वप्न और यथार्थ* में लिखते है :

> यह देश की सबसे बड़ी त्रासदी है कि देश के सेकुलर और प्रगतिशील कहलाने वाले बुद्धिजीवियों ने और सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता के साथ विकास के कार्यक्रम से प्रतिबद्ध राजनीतिक दलों ने तो आज के संदर्भ में संस्कृति की महत भूमिका और महत्व को न समझा है और न वे सांस्कृतिक अभियान और मंच की प्रांसागिकता और अनिवार्यता के प्रति सचेत है।(31)

जिस समय श्री जोशी ने यह बात कहीं थी, उस समय पिछली सदी अवसान पर थी तथा इक्कीसवीं सदी के स्वागत की तैयारियां हो रही थीं। तब से अब तक बहुत कुछ बदला है। भारत में लोकतांत्रिक संस्कृति का विकास ही कहाँ हो पाया। इसके कारण अनेक है, पर मुख्य कारण यह है कि जब हमें आजादी मिली, तब हमारे समक्ष मौका था कि राजनीतिक व्यवस्था के साथ हम लोकतांत्रिक संस्कृति का भी विकास करते, पर हुआ उलटा। प्रश्न स्वाभाविक है कि राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तनों के बाद मानव–चेतना विद्रोही, परिवर्तन प्रेरक न होकर यथास्थितिवादी कैसे बन गयी? इक्कीसवीं सदी के राजनीतिक परिदृश्य में यह सवाल कहीं अधिक जरूरी होकर उभर रहा है और उत्तर की मांग कर रहा है। जहाँ तक इलैक्ट्रोनिक क्रांति के प्रति प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और राजनीतिक दलों के रूख का सवाल है, यह निर्विवाद है कि उन्होंने इलैक्ट्रानिक युग में प्रवेश ही नहीं किया है, न उन्हें आज के संदर्भ में इलैक्ट्रानिक्स की संस्कृति का बोध है।

यह एक प्रमाणिक तथ्य है कि भारत में उदारीकरण से सामाजिक विषमता में वृद्धि हुई है। इस विषमता को और बढ़ने से तभी रोका जा सकता है, जब देश में कोई ऐसी राजनीति चल रही हो, जो समता और न्याय का पक्ष लेती हो। इधर वास्तविकता यह है कि मौजूदा नीतिहीन राजनीति का कोई विकल्प नजर नहीं आ रहा है। राजकिशोर अपनी पुस्तक *दलित राजनीति की समस्याएँ* में लिखते है :

> पूरा देश छोटी–छोटी तानाशाहियों में बंटा हुआ है। यहां तक कि दलितों और अन्य जातियों के संगठन भी, जिन्हें लोकतंत्र के सभी रूपों का मुखर समर्थक होना चाहिए, कम तानाशाह नहीं है। इसलिए आम आदमी को फासीवाद से कोई परेशानी नहीं है। ... जो समाज का इतिहास का निर्माण नहीं कर रहा होता, वह अपने इतिहास की जुगाली

करने में लगा होता है। इसलिए फासीवाद को अभी भी समाज की ऐतिहासिक स्मृतियों से मदद मिलती है।(27)

यह बात लेखक ने तब कही थी, जब यह माना जाने लगा था कि केन्द्र में भाजपा की सरकार है और अब देश में फासीवाद आ जायेगा। भाजपा ने अपना कार्यकाल पूरा किया और फांसीवाद नहीं आया। सारी आशा आकाँक्षा निर्मूल हुई और उसके 'फीलगुड' के बावजूद जनता ने उसे वापस भेज दिया। यहाँ ठहर कर यह विचार कर लेना आवश्यक है कि भाजपा सत्ता में कैसी आयी। इस सवाल का इस सदी की राजनीतिक परिस्थितियों से गहरा संबंध है। मण्डल कमीशन लागू होने के साथ आडवाणी ने रथयात्रा निकाली। सभी पिछड़े एक हुए, फिर भाजपा को इतना वोट क्यों और किसका मिला ? दरअसल कांग्रेस द्वारा लागू की गयी उदारीकरण की प्रक्रिया ने अचानक सामान्य जन की जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति में ऐसी बाधा उत्पन्न की, जिससे पार पाना तत्काल सम्भव न था। भाजपा ने इस स्थिति का फायदा उठाया और मण्डल तो मुफ्त में मिल गया था। असलियत यह है कि परिवर्तन का भय और परिवर्तन के प्रति आत्मरक्षात्मक प्रतिक्रिया की जड़े हमारी राष्ट्रीय मानसिकता में इतनी गहरी थीं कि उनसे कोई भी विचारधारा और राजनीतिक संगठन मुक्त नहीं थे। जब इस प्रतिक्रिया ने उग्र हिन्दू राष्ट्रवाद और पुनरूत्थानवाद का रूप लिया तो इसके परिवर्तन विरोधी और प्रगति–विरोधी पक्ष को पहचानना आसान था, किन्तु जब इसने अपने को बदल देने की घोषणा की, तब इसके रूप को पहचान पाना कठिन हो गया। इक्कीसवीं सदी की राजनीति की यह एक और विड़म्बना है।

इस सदीं में भारत के सबसे बड़े प्रदेश पहली बार पूर्ण बहुमत के साथ बहुजन समाज पार्टी की सरकार बनी और बहुत से लोगों को लगने लगा कि इस बार दलित एजेण्डा पूरी तरह लागू होगा, पर यह भ्रम शीघ्र ही टूट गया। दलित लेखक कँवल भारती अपनी पुस्तक *मायावाती और दलित चेतना* में लिखते है :

> दलित वर्गों में हर कोई अम्बेडकर नहीं हो सकता, जो लुटेरों की व्यवस्था में रहकर भी बेदाग बने रहे और उस व्यवस्था को बदलने की लड़ाई लड़ते रहे। उन्होंने अपने समय में इस दलित युवकों को उच्च शिक्षा के लिए विदेश भिजवाया था। उनका उद्देश्य था उच्च शिक्षा प्राप्त करके वे भारत में दलित वर्गों के हित में काम करेंगे। पर वे सभी विदेश की चकाचौंध में खो गये और उसी व्यवस्था में रम गये, जिसके खिलाफ उन्हें लड़ना था। मायावती भी एक उदाहरण है, जो आयी थी दलित वर्गों के उत्थान के लिए पर पूंजीवादी व्यवस्था की चमक–दमक में उन्हें अपना और अपने रिश्तेदारों का उत्थान ज्यादा जरूरी लगा।(11)

डॉ० अम्बेडकर के समय से मायावती का समय अलग है। इसलिए दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। दलित चेतना और दलित राजनीति का यदि कोई संबंध बनता है तो मायावती के कार्यों के आधार पर दलित राजनीति की मीमांसा के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता फिलहाल नहीं है। इससे भविष्य में भी दलित राजनीति को लेकर आशंका खड़ी होती है। पूंजीवादी लोकतंत्र में इस के भ्रष्टाचार की गुजांइश बराबर नही रहती है। इससे अपने को मुक्त रख पाना वैचारिक प्रतिबद्धता और त्याग भावना के बिना सम्भव नहीं है। आश्चर्य यह है जो कार्य दूसरे राजनेताओं ने धीरे–धीरे किया, वही कार्य मायावती ने एक झटके में कर डाला तथा इस पर न उनको कोई पछतावा है, न किसी प्रकार की सफाई देने की जरूरत। उनके पास इसका एक जवाब पहले से मौजूद है। दूसरे लोगों ने क्या किया, इसे वह अपने बचाव के लिए ढ़ाल की तरह इस्तेमाल करती हैं और परिवर्तन की आकांक्षा रखने वालों को यही बात हैरत में डाल देती है। इस तरह के कृत्यों से किसी तरह के परिवर्तन से जनता का विश्वास टूटता है और इक्कीसवीं सदी की राजनीति की यह एक बड़ी त्रासदी है।

4.2 राजनीतिक मूल्य प्रवृत्तियाँ

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में राजनीति की विचारधारा महत्त्वपूर्ण बिंदु बन चुकी है। साधारण जनता में भी राजनीतिक जागरूकता आ चुकी है। वे महत्वूपर्ण बिंदुओं पर सूक्ष्म परिशीलन कर रहे हैं। भारत की राजनीति में अस्थायी लक्षण अधिक रूप में नजर आने लगे। रणेंद्र ने उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में वर्तमान समय के बाबाओं की राजनीतिक शक्ति का उदाहरण देते हुए कहा कि "आगामी चुनावों में बाबाजी ने पार्टी के टिकट वितरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाबा जी के खास भगतों को अच्छी संख्या में टिकट मिले। ऐसे भगतों में से एक लोकसभा, तीन विधानसभा में पहुँच गये।"(61) आधुनिक राजनीति में आश्चर्य में डालने वाले कारनामे नजर आ रहे हैं।

भारत की राजनीति में बाबाओं की शक्ति बढ़ती जा रही है, वे देश को दिशा–निर्देश करने में सक्रिय हो रहे हैं। भारत की राजनीति विशाल लोकतंत्र की छत्रछाया में पल रही हैं। इस कारण कोई भी नेता संसद में पहुंचकर अपनी वाणी सुना सकता है। आधुनिक समय की राजनीति को आम–आदमी प्रत्यक्ष रूप से देखने लगा है। आज समाज का हर क्षेत्र राजनीति से प्रभावित है। आध्यात्मिक बाबाओं ने तो राजनीति पर हमला ही बोल दिया। क्योंकि वे चाहते हैं कि देश का स्वदेशीकरण हो, देश की संपदा देश की जनता को ही मिले। इसके लिए एक तरफ मर मिटने वाले हैं तो दूसरी तरफ राजनीतिक दलों से प्रायोजित भ्रष्टाचार की आड़ में रखकर अवसरवादी बाबा अपनी संपति अपना वर्चस्व बढ़ाने में लगे रहते है "अब बाबा जी और

विधायक जी के शेयर की सौदेबाजी होनी थी।"(89) राजनीति का अंदरूनी समझौता ही देश को खोखला बना रहा है। सत्ताधारी दल भ्रष्टाचार करता है तो विपक्षी दल देखता रह जाता है क्योंकि विपक्षी यदि सत्ताधारी होंगे तो उन्हें भ्रष्टाचार करने में कोई अड़चन न हो।

इक्कीसवीं सदीं में अपनी विशेष रचनाओं से पाठकों के सामने आने वाले संजीव कृत *जंगल जहाँ से शुरू होता है* उपन्यास में राजनीति और जातिवाद के मतों की सटीक ढंग से चर्चा की है :

> बाकी एक ठोस बात बता दें कि दुबे जी काम नहीं आवेंगे, मनिस्टरी ई बेर हमरा बन रहा है। अरे हमरो पार्टी में ऊपर कास्ट वाला सब है, पूछ लीजिए कइसा टरीट करते है। जी मेरे हाथ में तो .....? आपके हाथ में क्या हैं, क्या नहीं है, हम सब जानते है।(149)

भारत में सत्ता का खेल बहुत ही रोचक बन गया है। यहाँ उच्च वर्ग के लागों ने हमेशा अधिकार को अपने हाथ में ही लेना चाहते हैं क्योंकि वे अपने ऊपर दूसरे वर्ग का वर्चस्व सहन नहीं करते हैं। भारत की राजनीति व्यवस्था ही विभिन्न जाति, धर्म की दया पर आधारित होती है।

असगहर वजाहत द्वारा रचित *कैसी आग लगाई* उपन्यास भी विश्वविद्यालय में उभरते हुए, उमंग भरे युवा राजनेताओं की जीवन शैली, उनके युवा परिवार के बारे में विशेष चर्चा प्रस्तुत करता है। विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच स्थित तनावपूर्ण स्थिति को प्रस्तुत करता हैः

> आखिरकार मार्क्सवाद क्या है ? नाम की एक बुकलेट मिली थी जिस मैं पढ़ गया था। कहीं–कहीं समझ में न आई थी। लेकिन जो समझ पाया था ठीक लगा था। मैं यह मानता था कि गरीबों और अमीरों के बीच जो खाई है उसे कम होना चाहिए। यह भी मानने लगा था कि दुनिया की भलाई मार्क्सवाद को अपनाने में है। रजी मुझे सोवियत यूनियन और चीन के समाज के बारे में ऐसे तथ्य बताता था कि मैं आश्चर्य में पड़ जाता था और लगता था वैसा समाज अपने देश में बनना चाहिए।(126)

राजनीति के द्वारा देश का हाल पूरी तरह बदला जा सकता है। राजनीति ही देश के उत्थान–पतन का कारण बनती है। राजनीतिक दल अपने–अपने सिद्धातों के आधार पर राष्ट्र निर्माण करता है कोई राष्ट्र को सांप्रदायिक देश बनना चाहता है। तो कोई देश को लौकिकता के सूत्र में बाँधना चाहता है। वैसे ही मार्क्सवादी भी देश की संपदा को समान रूप में बांटना

चाहते है। जनता भी अपने विचारानुसार किसी को भी चुनने का अधिकार प्राप्त कर लोकतंत्र को और भी पुष्टि देती है।

एक ही देश में भिन्न–भिन्न संप्रदाय होने के कारण उन्हें सहयोग या प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दल हो तो उस देश की राजनीति हमेशा सर चढ़कर बोलने लगती है। याहिया के द्वारा पूर्वी पाकिस्तान को आश्वासन दिया जाना और उसे खारिज कर देना बांग्ला मुसलमानों में तीव्र राजनीतिक चेतना का कारण हुई। आधुनिक युग में हर देश अपने स्वाभिमान के साथ विश्व मंच पर खड़ा है। मैं बौरिशाइल्ला में बाग्लादेश (पूर्वी पाकिस्तान) के मुक्त संग्राम के समय पश्चिमी पाकिस्तान के जनरल कियानी का दमन कांड और शेख मुजी बुर्रइमान का महा राजनीतिज्ञ के रूप में उभरना, इदिरा गाँधी द्वारा की गई सहायता है और भुट्टो की कूटनीतिक आदि राजनीतिक के विषयों को उजागर किया गया है।

4.2.1 इक्कीसवीं सदीं के हिंदी उपन्यासों में राजनीतिक परिवेश

सत्ता को हासिल करना ही वर्तमान राजनीतिक का एकमात्र लक्ष्य बन गया है। राजनीतिक नेता जनता की सेवा करने के बजाय जनता में जातिवाद फूट डालकर उससे फायदा उठाना चाहते है। कोई भी राजनीतिक दल चुनाव में जीतना चाहता है, तो विभिन्न जाति के समुदायों को लुभाने की आवश्यकता होती है। असगर वजाहत के उपन्यास *कैसी आग लगाइ*में अलग–अलग राजनीतिक दल के नेता लोगों की जाति का फायदा उठाकर मतदान में सफलता प्राप्त करने का वर्णन किया गया है :

> जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष शुक्ल जी मतदान के समय अपनी पार्टी के कार्यकर्त्ताओं से बात करते हैं कि तो जनबा ..... बाहर हजार कुर्सी वोट है, अटठारह के करीब अहीर हैं, पासी छह हजार है .... केवटों के दो गाँव पड़ते है.... ठाकुर वोट। जानी मिया ने पूछा। ठाकुर वोट पांच हजार है .... नब्बू मियाँ ने रजिस्टर में देखकर बताया।(239)

विभिन्न जातीय समाज होने के कारण राजनेताओं को यह चिंता सताने लगती है कि किसी जाति के वोट छूटते तो हार होगी। इसलिए वे सभी प्रकार की जातियों को खुश करने की योजनाएँ बनाते रहते है। जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष शुक्ल जी समझते हैं कि जातिगत वोटों पर ही पार्टी की जाति आधारित है। तो पार्टी के कार्यकर्ताओं से हुई मुलाकात में जातिगत वोटों की संख्या उन्हें आकर्षित करती है। वे जानते हैं कि कुर्सी वोट बारह हजार, अठारह हजार अहीर वोट, छह हजार पासी वोट, चमार वोट, केवटों के तो गाँव साथ–साथ ठाकुरों के पाँच हजार वोट चुनावों में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। राजनीतिक विचारधाराएँ अपने स्वार्थ के

कारण बदलती जा रही है। आज तो राजनेता जिस जाति के अधिक वोट होंगे उनकी भलाई के लिए बहुत सारी योजनाएँ बनाने का वादा कर डालते हैं। क्योंकि चुनाव में जीत पक्की हो।

वर्तमान समय में राजनीति के क्षेत्र में लोगों का विचार इस तरह है कि हर किसी को अपनी मिट्टी में ही रखना चाहिए। अगर वह अपने विरूद्ध कुछ काम करता है तो अपनी सत्ता के सहारे उसे तकलीफ पहुँचाना या उसके कामों में अड़चन डालना आदि काम किये जाते हैं। असगर वजाहत के उपन्यास से एक उदाहरण इस तरह है :

> बताया जाता है कि जब आजादी मिली और अंग्रेज चले गये तो सभी राष्ट्रीय समाचार पत्र जो सेठों, साहूकारों के थे नेहरू के समाजवाद के विरोधी हो गये। नेहरू के विश्वास पात्र मंत्री ने जब यह देखा कि अखबार सेठों, साहूकारों की मुट्ठी में है तो उन्होंने कुछ युवा पत्रकारों को आगे बढ़ाकर 'होराइजन ग्रुप ऑफ न्यूज पेपर्स' की बुनियाद डाली।(357)

राजनीति में कदम जमाकर रखना हो तो राजनेता पहले जनता को किस तरह अपने पक्ष में ले इस कार्य के लिए उपयोगी माध्यम क्या है ? उन पर अपनी नजर जमाते हैं। समाचार पत्रों को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना जाता है। लोग सरकार की गतिविधियों को जानने के लिए समाचार पत्रों पर ही आधारित रहते हैं। जब भारत आजादी की शैशव अवस्था में था तब समाचार पत्रों की जनता में लोकप्रियता थी, वे पत्रिकाएँ सरकार की कमजोरियों को उजागर करने में तो लगे थे। वह तो उन पत्रिकाओं का धर्म था इससे भयभीत तत्कालीन सरकार के पक्ष में न रहने के कारण नेहरू के एक मंत्री ने समाचार पत्रों को अपने पक्ष में रखने के उद्देश्य से कुछ युवकों को पत्रकारिता के क्षेत्र में मजबूत कदम जमाने के लिए सहायता की थी।

इक्कीसवीं सदी में राजनीति बुरे नेताओं से भरी हुई है। आज भी राजनीति काला पैसा, रिश्वत, कारोबार जैसे विषैले लक्षणों से भरी हुई है। सामाजिक सेवा, देशभक्ति की भावनाएँ ओझल हो चुकी हैं। रणेन्द्र द्वारा लिखित उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* कथन के अनुसारः

> शिवदास बाबा और विधायक जी का मानना था कि कोयल बीघा में भूमि का जुगाड़ उसके बिना नहीं हो सकता, इसलिए उन्हें कंपनी में शेयर मिलना चाहिए। अब बाबा और विधायक जी को सौदेबाजी का एक और मौका मिल गया था। अब इस लड़ाई को कुचलने की प्लानिंग में साथ देने का वादा कर रहे थे। बशर्ते कंपनी शेयर वाली उनकी शर्तें मान लें। अंत में एक पाँच सितारा होटल में बहुत सारी रकम पर समझौता हुआ था।(94)

राजनीति में कदम जमाने की बात आती तो रूपये महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। आध्यात्मिक क्षेत्र से जुड़े शिवदास बाबा जी वेदांग कंपनी से इस बात पर अड़े थे कि कंपनी में उन्हें अधिक से अधिक शेयर चाहिए वरना पाट के लोगों को कंपनी के विरूद्ध भड़काने की धमकी दी गयी। पाट के विधायक जी ने और शिवदास बाबा ने किसी भी हाल में राजनीति में उच्च शिखर पर जाने के लक्ष्य से स्थानीय एम.पी. से दिल्ली में भी सेंटिग कर लेते है कि राजनीति मे अच्छे पद मिले। स्थानीय एम.पी. भी वेदांग कंपनी को मदद करने से राजनीति में सहायता का आश्वासन देता है। इक्कीसवीं सदी के राजनेता जनता की बुराई–भलाई का सौदा भी करने लगे। कोई जनता की भलाई का हनन करने लगे तो, पहले विरोध करने लगते हैं फिर समस्या सुलझती है क्योंकि वहाँ रूपया काम आसान बना देता है।

जब धीरे–धीरे तानाशाही की समाप्ति होकर लोकतंत्र की सरकारें बननी शुरू हो गयी तब राजनीति दल अपने विचारों के साथ देश का निर्माण करना चाहते हैं। राजनीतिक दल अपने सिद्धांतों का पालन न करने की दशा में विपक्षी दल को पूरी तरह मिटाने पर तुले रहते हैं। जैसे कि *मुन्नी मोबाइल* उपन्यास में बताया गया है।

किसी भी देश का भविष्य उस देश की राजनीति पर निर्भर रहता है। राजनेता ही देश के कर्णधार माने जाने के कारण पूरी गतिविधियों का समाचार जनता तक पहुँचना और जनाभिप्राय को सम्मति देने की जिम्मेदारी राजनेताओं पर होती है। समय–समय पर राजनेता जनता का मार्गदर्शन भी करें तो ठीक रहेगा। महुआ माजी कृत उपन्यास *मैं बोरिशाइल्ला* का एक कथन इस प्रकार से है :

आज तो राजनीति में विचारधारा ही ऐसी बनी है कि अपने मनचाहे मुकाम पाने के लिए गरीब जनता को ही कच्चे माल की तरह उपयोग कर रहे हैं। वर्तमान राजनीति में दिखाई देने वाले राजनेताओं में जनता और समाज के प्रति दायित्व भावना ही नहीं रहती। आत तो केवल राजनीति की ये विचारधारा बनी है कि बाहर से जनता को सकारात्मकता से दिखाते हुए अंदर की चेतना को हमेशा नकारात्मकता को ही अपनाया जाए।

4.2.2 इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

हिंदी भाषा का राष्ट्रीय स्तर पर उपयोग करते रहने के कारण अलग–अलग स्थानों में घटी राजनीति से संबंधित घटनाओं को उपन्यास के अंतर्गत लिया जाना स्वाभाविक है। हिन्दी उपन्यास में पहले से ही राजनीतिक चेतना संबंधित विषयों को एक मुख्य बिंदु के रूप में स्थान मिला है। हिन्दी उपन्यासकारों ने भारत के बड़े–बड़े राजनीतिक दल या राजनेताओं के जीवन की वास्तविकता को भी उजागर करने का साहस किया है।

महान स्वतंत्रता सैनानी ही आजाद देश के निर्माण में महत्वपूर्ण राजनेता के रूप में परिणत होते हैं। ऐसे राजनेताओं को सुरक्षित रखना देश की जनता का दायित्व माना जाता है। राजू शर्मा कृत हलफनामें को समकालीन हिन्दी उपन्यास लेखन की विशिष्ट उपलब्धी के रूप में देखा जा सकता है :

> एक मुख्यमंत्री किसान के वोट बटोरने के इरादे से किसान आत्महत्या योजना की घोषणा करता है। इधर मकईराम सूचना मिलती है कि कर्ज के बोझ से पिस रहे उसके किसान पिता ने खुदकुशी कर ली है। मकई किसान आत्महत्या योजना से मुआवजा हासिल करने के लिए हलफनामा दाखिल करता है।(59)

यहाँ एक तरफ शासन तंत्र की निर्दयता और फरेब का वृतान्त है तो दूसरी तरफ सामान्यजन के सुख–दर्द संघर्ष की अनूठी छवियाँ है। साथ में *हलफनामें* पानी के संकट की कहानी भी कहता है, बल्कि हलफनामें में भारत के ग्रामीण विकास की वैकल्पिक अवधारणा का उद्‌भुत सर्जनात्मक पाठ भी है। असगर वजाहत ने *कैसी आग लगाई* उपन्यास में विविधताओं से भरा एक जीवन सामने रखा है। यह जीवन बिना किसी शर्त पाठक के सामने खुलता चला जाता है। उपन्यास में साम्प्रदायिकता, छात्र–जीवन, समकालीन राजनीति, वामपन्थी राजनीति, ग्रामीण मुस्लिम समाज, छोटे शहरों का जीवन और महानगर की आवाधापी के साथ–साथ सामाजिक अन्तर्विरोधों से जन्मा वैचारिक संघर्ष भी हमारे सामने आता है। वजाहत लिखते है :

> राजनीति में कोई सार्स नहीं है। मैं किसी को खुश करने की कला नहीं जानता और थोड़ी बहुत शर्म भी है जो आड़े आती है। इतनी हिम्मत भी नहीं है कि दूसरों का निवाला छिनकर खा जाऊँ और इतना कमजोर भी नहीं बन सका कि अपने को कीड़ा समझकर जी लेता। इसलिए मैं हार गया। खुलकर कहो कि चालाकी और मक्कारी से। बेइमानी और धोखाधड़ी से, चतुराई और कमीनेपन से, स्वार्थ और धृष्टता से, छल और छदम से, चोरी और सीनाजोरी से, अन्याय और अत्याचार से हार गया ... भले से हारे जो हारे हमीं तो हार गए, लो आप जीत गए कजकुलाह कर लीजिए। (भूमिका)

4.2.3 राजनीति में भ्रष्टाचार

राजनीति और समाज का घनिष्ट संबंध है। राजनीति समाज का अविभाज्य घटक होने के कारण दोनों को अलग करना मुश्किल कार्य होगा। आधुनिक युग में राजनीति के कारण आम जनता को दूर–दूर ठोकरें खानी पड़ती है। राजनीति रोड का रोड़ा बनकर जनता में बाधा बन गयी है। आजादी के बाद भारत की राजनीतिक हलचल, राजनीतिक दलों की चहल–पहल, राजनीतिक नेता लोगों की चाल–चलन, जनता का परिवर्तित रूप आदि का साहित्य में चित्रण

हुआ है। कृष्ण कुमार बिस्सा अपनी पुस्तक *साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना* में कहते हैं :

> मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और हम जिस युग में रह रहे हैं वह राजनीति का ही युग है। हमारे दैनिक जीवन में राजनीति की व्याप्ति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि विज्ञान, साहित्य, धर्म, उद्योग, नीति, कूटनीति आदि क्षेत्रों तथा व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्वजनीन संबंधों में राजनीति की पैठ हो गई है। अरस्तु साहित्य की अभिव्यक्ति में राजनीतिक चेतना का समाहार एक अपरिहार्य स्थिति बन गयी है।(33)

आजादी के पूर्व की राजनीति देशभक्ति एवं देश की आजादी के लिए उपयुक्त रही तथा आजादी के बाद उसका परिवर्तित रूप देखने को मिला। सत्ता प्राप्ति राजनीति का केंद्र बिंदु रहा, जिससे जनता का शोषण होता रहा। धर्म एवं जाति के नाम पर वोट की मांग करना, वोटों को खरीदना, विपक्ष नेता को लालच दिखाकर अपने पक्ष में लेना, उसका कत्ल करना आदि प्रकार का कुकर्म नेतागण कर रहे हैं। अपनी सत्ता का नाजायज लाभ उठाकर पुलिस अधिकारी, न्याय व्यवस्था एवं शासन व्यवस्था को अपने पैरों तले दबाए रखते हैं। गरीबों की योजनाओं को अपने लोगों में बाँटना, अनेक सरकारी कामों का कोटा, परमिट, खाद, परमिशन रिश्तेदारों को देना आदि बातें भ्रष्टाचार को उजागर करती हैं। डॉ० चमनलाल गुप्ता की पुस्तक *यशपाल के उपन्यासों में सामाजिक चेतना* के विचार महत्वपूर्ण हैं – "प्रजातंत्र में भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है भ्रष्टाचार का अर्थ अपने पद अथवा शक्ति के द्वारा अनुचित कार्य करवाना, सत्ता एवं सामर्थ्य का दुरूपयोग करना।"(48) इस कथन से विदित होता है कि राजनीतिक नेता लोग अपने सत्ता का गलत इस्तेमाल करते हुए सामान्य लोगों का शोषण करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गाँधी जी के सिद्धांत सिर्फ सिद्धांत ही रह गये। व्यावहारिक पक्ष में सत्तासीन पार्टियों में भ्रष्टाचार बढ़ने लगा और जोंक की तरह सामान्य जनता का खून चूसने लगा है। आजादी के पश्चात भारत सरकार देश के विकास के लिए प्रयास जरूर करती रही। एक ओर विकास की गंगा बह रही हैं। उसमें मुख्य समस्या भ्रष्टाचार है। इसका निर्माण किसी धार्मिक मानसिकता या अंधश्रद्धा का परिणाम नहीं है। बल्कि वर्तमान व्यवस्था एवं नीति के कारण इस समस्या का निर्माण हुआ ऐसा लगता है।

शिक्षित–अशिक्षित, नागरी–ग्रामीण सभी इससे पीड़ित हैं। धन कमाना, बिना कष्ट के लक्ष्य को हासिल करना, अवैध धंधों की रक्षा करना आदि कई महत्वपूर्ण कारणों ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। हर व्यक्ति अपना जीवन स्तर सुधारने का प्रयत्न कर रहा है। अत्याधुनिक

भौतिक साधन जुटाने में प्रयत्नशील व्यक्ति अवैध मार्ग से धन जुटा रहा है। डॉ० लाजपत राय गुप्त अपनी पुस्तक *हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन* में लिखते है :

> आज–कल सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला है। नियुक्तियों के संबंध में प्रत्येक अधिकारी अपने संबंधी को नियुक्त करना चाहता है। चुनाव में जीत जाने पर प्रत्येक प्रत्याशी अपने लाभ की ओर देखता है। कार्यालयों में प्रत्येक अधिकारी अपना व्यक्तिगत लाभ देखता है।(92)

इस कथन से विदित होता है कि आज समाज में हर व्यक्ति में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि कम समय में, कम श्रम में, ज्यादा से ज्यादा लाभ प्राप्त करना। संजीव के उपन्यास *फाँस* में राजनेता द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार का काफी मात्रा में विवेचन हुआ है।

कथा पात्र विजयेन्द्र ने माइल ले लिया – एक बडे. समूहू के लिए जिन्दगी मात्र एक दुःस्वप्न बन जाये और मौत एक मात्र विकल्प! मौत मौत होती है – आत्महत्या में पात्र–अपत्र का फर्क करना सरकार या अधिकारियों की बेईमानी और बदनीयती बताती है।(107)

औरंगाबाद मध्य महाराष्ट्र का प्रमुख शहर, महाराष्ट्र की पर्यटन राजधानी फिर भी राजनीति इच्छा शक्ति के अभाव में तथा आपसी रंजिशों के कारण प्रगति मानो रूक सी गई है। बताया जाता है कि एशिया खंड में सबसे अधिक बहुत जल्दी प्रगति पर अग्रसर कोई शहर है, तो वह औरंगाबाद है। परंतु यह सरकार की देन हो सकती है चाहे वह राज्य सरकार की हो या केन्द्र सरकार की। संजीव लिखते है :

> लोकल राजनेताओं और स्थानीय लोगों का जिस प्रकार का सपोर्ट होना चाहिए वह यहाँ नहीं है। धर्म और जातिगत राजनीति से यह शहर खोखला बनते जा रहा है। राजनेता और राजनीतिक मंशाओं के अभाव में यहाँ आने के लिए वे कतरा रहे है। कहने का तात्पर्य है इन प्रदेशों में विजनवाले राजनेताओं का अभाव है।(110)

कहा जा सकता है कि राजनीति वह शस्त्र है जिससे राज्य संचालन संबंधी नीतियों का विश्लेषण होता है। यह संविधान से जुड़ा होता है। किसी भी देश का संचालन कर्त्ता उसे जीवन में उपयोग में लाने का भरपूर प्रयत्न करता है। जब साहित्यकार अपने चिंतन से एक आदर्श की स्थापना करता है विधायक उसे विधानों में आबद्ध करने का प्रयत्न करता है। साहित्यकार मानव समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करता है। जो राजनीति न होते हुए भी राजनीति से भिन्न भी नहीं होता, फिर भी वह नितांत साहित्य की वस्तु होता है।

इसलिए साहित्य और राजनीति की आधार भूमि एक ही साबित होती है। यही वह बिंदु है जहाँ साहित्य और राजनीति का परस्पर संबंध स्थापित हो जाता है।

4.3 भूमंडलीकरण में राजनीतिक परिदृश्य

राजनीतिक जुंगलबंदी से भूमंडलीकरण की शाखाएँ धरती के कोने–कोने तक फैल चुकी हैं। कोई भी देश हो राजनीतिक परिस्थितियाँ ही उस देश का आर्थिक नियमन बनाने में सहायक होती है। साथ ही वैश्विक पूँजीवादी ताकतें इसमें हस्तक्षेप करके इसको अपने हिसाब से तय करती हैं। भूमंडलीकरण द्वारा पोषित आर्थिक नीतियों को देश के राजनेता (वित्तमंत्री) संसद और जनता के सामने इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं जैसे ये कोई जादू की छड़ी हो जो देश का भाग्य विधाता बनकर सबकुछ लहलह–महमत कर देगा। ऐसे नेता अपने चुने हुए, 'धाँसू भाषणों' से सरकार के कम कुबेरपत्तियों के प्रतिनिधि अधिक बनकर देश की आर्थिक चुनौतियाँ, विकास की नीतियाँ और नवउदारवादी प्रक्रियाओं के फायदे गिनाते रहते है। पूँजीवादी शक्तियाँ अपनी आर्थिक गतिविधियों को इतना मजबूत और व्यापक किए होती हैं कि किसी भी देश के नीति–निर्माता राजनेता नहीं वे खुद होती हैं। ये आर्थिक संगठन सत्ता पर निरंतर दबाव बनाए रहते हैं। रॉबर्ट डब्ल्यू ने अपनी पुस्तक *पूँजीवाद और सूचना का युग* में लिखा है :

> भूमंडलीकरण में ऐसी विशिष्ट अलोकतांत्रिक प्रवृत्ति को भी देखा जाता है जो राष्ट्रीय सरकारों को बाध्य करती हैं कि या तो ये भूमंडलीय रूप में गतिशील पूंजी की जरूरतों को पूरा करे या फिर आर्थिक रूप से अपने सफाये का सामना करने के लिए तैयार हो जाए।(14)

संक्षेप में कहें तो आज नई सदी में पूरी जनतांत्रिक व्यवस्था को पूँजी और पूँजीपतियों ने खरीदकर अपना गुलाम बना लिया है और अपनी मनमर्जी से देश की नीतियों को संचालित करते हैं।

साम्राज्यवादी ताकतें हमेशा से ही राजसत्ता को अपना दास बनाकर रखने की कोशिश में लगी रहती हैं। कदाथित भाँति–भाँति के जोड़–तोड़ करके वे अपने मंसूबों को मूर्त रूप दे ही देते हैं। समाज में पूँजीवादी वर्चस्व स्थापित करने के लिए मध्यकाल और आधुनिक काल का जैसा दृश्य था वैसा दृश्य नई सदी में भले ही न हो, पर साम्राज्यवादी चालबाजियाँ आज भी बदस्तूर जारी हैं। शोषक और शोषित की कहानी में फेरबदल दिखे या न दिखें। प्रेमसिंह अपनी पुस्तक उ*दारीकरण की तानाशाही* में लिखते है :

> अलबत्ता साम्राज्यवाद ने जरूर अपनी चाल उलट दी है। पहले उसने राजनीति पर कब्जे के बाद अर्थनीति पर कब्जा किया था, अब अर्थनीति पर कब्जा करके राजनीति पर कब्जा जमाने की योजना चल रही है।(14)

साध्य वही है पर साधन परिस्थिति के अनुसार बदलते जा रहे हैं। अब आर्थिक संगठनों के पास इतने मीठे–मीठे हथियार आ चुके हैं कि बिना किसी जन विद्रोह और लंबी लड़ाई के अपनी आकाँक्षाओं को मूर्त रूप दे देते हैं।

4.3.1 राजनीति : समाजसेवा बनाम स्वसेवा

एक सभ्यता के रूप में मनुष्य जब से साथ–साथ रहने लगा है समाज में व्यवस्थित राजनीति की शुरूआत तभी से मानी जा सकती है। कबीलों की राजनीति से शुरू हुई मानव सभ्यता आज राजतंत्र से होते हुए लोकतांत्रिक व्यवस्था में आ पहुँची है और भूमंडलीकरण के युग में राजनीति राष्ट्र की सीमाओं को लाँघकर वैश्विक होती जा रही है। ये राजनीतिक विकास हम सभी के लिए कहीं न कहीं से प्रभावशाली रहा है और आज देश के सभी नागरिक राजनीति दायरे से बाहर नहीं हो सकते हैं। किसी न किसी रूप से सभी पर राजनीतिक हस्तक्षेप होता रहता है। वैसे भी कोई भी राजनेता हो अपनी पारी की शुरूआत अमूमन जनता के बीच जाकर उनकी समस्याओं और संघर्षों की आवाज बनकर ही करता है। पर आगे होता ये है कि यही नेता समाजसेवा के स्थान पर परिवार, रिश्तेदार, जान–पहचान वालों की तीमारदारी से मशगूल हो जाता है। ऐसा नहीं है कि ये नेता सत्ता में रहते हैं तो पूरी मनमानी करते हैं, नहीं कर पाते हैं। इनके ऊपर भी अन्य कई शक्तियाँ दबाव बनाकर नीति–निर्धारण करवाती हैं। प्रो० मोरिस जोम्स अपनी पुस्तक *भूमंडलीकरण की नीति और नियति* के अनुसार :

> भारत में आधुनिक दबाव गुटों का तीव्र गति से उदय हो रहा है। आधुनिक और परम्परावादी दबाव गुटों का अंतर राष्ट्र–राज्य की राजनीतिक संस्थाओं और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में आज ये दोनों अजनबी की तरह भारतीय राजनीति में मिल रहे हैं।(97)

ये दबाव गुट फेडरेशन ऑफ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्री (फिक्की), गैर सरकारी संगठन, जाति–धर्म, क्षेत्रीयता, पार्टी की विचारधारा और घोषणापत्र आदि किसी भी रूप में हो सकते है। नौकरशाहों की गुटबंदी भी राजनीति दलों पर पर्याप्त प्रभाव डालती हैं।

चूँकि भारत का क्षेत्रफल और जनसँख्या का फलक बहुत विस्तृत है। इसलिए यहाँ राजनीतिक पार्टियों में विभिन्नता और विचारधाराओं में सामंजस्य का अभाव आदि बहुतायत

देखने को मिलता है। किसी नेता ने अपनी जाति की बुनियादी समस्याओं को आधार बनाकर पार्टी की संरचना बनाई है तो किसी राजनेता ने विशेष धर्म और विशेष समूह के हितों को लेकर समाज में लड़ाई छेड़ रखी है। सही बात है हमारे देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था को समुचित ढंग से अभी तक ऐसा कोई भी राजनीतिक मंच नहीं मिला जहाँ से जन समस्याओं पर खुलकर बातचीत की जा सके। प्रो० मोरिस जोम्स ने लिखा है कि "भारतीय संघ जिन समस्याओं से ग्रस्त है वे हैं, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ तथा प्रोदशिकता की संकीर्ण भावनाएँ, जिनके समाधान के लिए केंद्रीय सरकार के पास समुचित शक्तियाँ होना अपरिहार्य है।"(97) भू–दरअसल, प्रादेशिकता की संकीर्ण मानसिकता जो हमारे राजनेताओं और नागरिकों के मन में पैदा हुई है वह कहीं न कहीं से स्वार्थवादी भारतीय राजनीति की ही परिणति है। देश की राजनीतिक संरचना ही इतनी उलझाऊ और विभाजक है कि राजनेताओं में जनहित की भावना दूर–दूर तक कहीं नजर नहीं आती और फिजूल के मुद्दों पर दिन भर बहस करते रहते हैं। पार्टियों के प्रवक्ता ढेर सारे चैनलों पर चिल्लाते रहते हैं।

आजादी के सत्तर सालों के बाद भी देश के हालात में कहीं कोई बदलाव नहीं हुआ जो हुआ भी है वो महज समयचक्र का परिणाम है। बदलाव तब माना जाता जब इस देश की गरीबी कम होती, इस देश के किसानों को उनके उपज का वाजिब मूल्य मिलता और किसानों को इतनी भारी संख्या में आत्महत्या करने पर मजबूर न किया जाता। जहाँ आज भी राजनीति पूरी तरह पूँजीवादी संगठनों के इशारों पर ही संचालित हो रही है। वहाँ इस बात की कैसे उम्मीद की जाए कि संसद में बैठा हमारा नुमाइंदा जनता की जरूरतों को प्रमुखता देगा, नहीं दे सकता, कभी नहीं दे सकता, दे भी कैसे? उनकी पार्टी को लाखों–करोड़ों का फंड तो कॉरपोरेट घरानों से जो पहुँचता है। देश–प्रदेश जले तो जलता रहे, स्कूल–कॉलेज बंद हो तो हो जाने दो, शहर भर में कर्फ्यूं लगे लग जाने दो किसी भी जिम्मेदार राजनेता को कोई फर्क नहीं पड़ता। सत्ताधीशों में कुछ संवेदना जगी तो ट्रविटर के जमाने में ट्वीट करके घड़ियाली आँसू बहा दिए जाते है। ऐसी सभी अवांछनीय हरकतों में किसी न किसी राजनीतिक शक्ति का हस्तक्षेप जरूर रहता है। *हलफनामें* उपन्यास में किसान आत्महत्या से लेकर राजनेताओं की उदासीनता तक के विषय को गंभीरता से उठाया गया है। लेखक राजू शर्मा लिखते हैं कि :

> प्रदेश के हर सूबे में लगातार आंदोलन हो रहे थे। यह कोई नई बात नहीं थी। जुलूस, जाम, बंद दफ्तरों की घेराबंदी, अनशन और आमरण अनशन इस तरह के आयोजनों में सभी राजनीतिक दल सक्रिय थे। सत्ता गठबंधन के दल भी पीछे नहीं थे। समान माँगे थी और एक ही तरह के विरोध के स्वर : बिजली, पानी, बीज के सस्ते दामों की

आपूर्ति, कर्जों की माफी या ब्याज में छूट, नहरों, गूलों की सफाई और मरम्मत, पिछड़ों और भूमिहीनों को जमीन का आवँटन।(12)

अब इन समस्याओं और माँगों से सरलतम तरीके से अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारी आजादी कितनी सच्ची है? और कितनी झूठी? या फिर जो आजादी आई उसमें किसका अधिक हित सध रहा है? और कौन अभी तक उसी राह पर खड़ा होकर आजादी की राह देख रहा है? जहाँ सत्तर साल पहले खड़ा था। जवाब साफ–साफ ये हैं कि राजनीति और कॉरपोरेटस शक्तियाँ आपस में मधुर–मधुर संबंध बनाकर देश की संपदाओं का बँटवारा कर लेती हैं फिर इनकी गिद्ध जैसी दृष्टि से जो बचता है वो नौकरशाह ले उड़ते है।

सट्टा बाजार में क्रिकेट और अन्य खेलों पर सट्टा लगाते तो आपने सुना होगा पर कौन चुनाव जीतेगा? कौन मुख्यमंत्री बनेगा? ऐसे राजनीतिक मुद्दों पर भी आजकल खूब धन बटोरा जा रहा है। मीडिया की बढ़ती चुनावी दिलचस्पी और एग्जिट पोलो से स्टोरियों को भनक लग जाती है कि देश की राजनीति किस करवट बैठेगी। फिर होती है रूपये की धमाचौकड़ी, बिछता है, चौसर और लगाई जाती है चुनावी बोलियां। राजू शर्मा के उपन्यास में इस विकृत संस्कृति को देखा जा सकता है :

> सटोरियों के बाजार में सबसे पहले भनक लगी कि चुनाव होने वाले हैं। पैसे लगने शुरू हो गए, कि दिन विधानसभा भंग होगी ? मुख्यमंत्री त्यागपत्र देंगे या निकाले जाएँगे ? चुनाव के पहले राष्ट्रपति शासन लगेगा या काम चलाऊ सरकार रहेगी ? किसका पलड़ा हल्का है किसका भारी ?(84)

यह उपन्यास बताता है कि वर्तमान भारतीय राजनीति और राजनेता दूषित होते जा रहे है। अगर सट्टा बाजार इतना ही बेखौफ होकर समाज में फल–फूल रहा है तो निश्चित रूप से किसी न किसी रोबदार आदमी की इसमें स्वीकृति रहती है और यह आदमी कोई राजनेता हो सकता है या राजनेता का सह पाया हुआ कोई दलाल। अब समय आ गया है कि राजनीतिक तिकड़मों में उलझी इस व्यवस्था को ढंग से फिलटर कर स्वच्छ एवं नवीन भारत की परिकल्पना की जाए। यह काम मुश्किल जरूर है पर असंभव नहीं। एक बार ईमानदारी से कोशिश जरूर की जानी चाहिए।

दरअसल, नेताओं द्वारा चुनाव के समय लब्बोलुआब वादे किए ही इस उद्देश्य से जाते हैं कि वो कभी पूरे न किए जा सके। पाँच वर्ष फिर वापिस भी तो चुनाव होने हैं तब इन्हीं समस्याओं और इन्हीं वादों की जनता के सामने पुनरावृत्ति हो जाती है। मुद्दे जस के तस रहते हैं जनता की परेशानियाँ उसी तरह बनी रहती है और नेताओं के घोषणापत्र भी कुछ फेरबदल

करके वैसे ही रहते हैं। कोई फेरबदल नहीं, कोई मौलिकता नहीं और हाँ राजनेताओं के चेहरे और पार्टियों में जरूर कुछ आंशिक बदलाव आ जाता है। भारतीय राजनीति में चुनावी प्रक्रिया इस बात की गवाह है कि जब–जब इसका आगमन होता है सत्ता और विपक्षी पार्टियाँ बरसाती मेढ़क की भाँति सक्रिय हो जाती है। कोई अपने काम को बढ़ा–चढ़ाकर बताता है तो कोई यह जाहिर करता है कि इन पाँच वर्षों में जनता के बीच कोई नई योजनाएँ नहीं आई। सभी अपनी–अपनी गोटियाँ बैठाने की जुगत करते रहते हैं राजू शर्मा ने उपन्यास 'हलफनामे' में चुनावी महाभारत में मुख्यमंत्री से लेकर आम मतदाता तक किस तरह की चुनावी मानसिकता में रमे रहते है। इसका बखूबी चित्रण किया है। चुनाव में सभी पार्टियाँ जनता की सच्ची सेविका बनने का फरेब करती है। ऐसे ही एक उत्तर भारतीय राज्य के मुख्यमंत्री आगामी चुनाव के पहले अपनी पार्टी की गिरती हुई साख बचाने की कोशिश में लगे हैं – "मुख्यमंत्री ने फैसला किया कि वे पहली चुनावी सभा में किसान आत्महत्या योजना को सरकार की अनुपम और उल्लेखनीय उपलब्धि बताकर यह सिद्ध करेंगे कि उनका दल गरीबों, पिछड़ों, दलितों और किसानों का दल है – शब्दों में ही नहीं कर्म से भी।"(195) इस तरह की कभी न क्रियान्वित होने वाली योजनाओं को भुनाने में सभी सरकारें विज्ञापन में पैसे पानी की तरह बहाती हैं। कभी–कभी तो ऐसा होता है कि अमुक सरकारी योजना का बजट नौ रूपये है और सरकार अपनी वाह–वाही लूटने में नब्बे रूपये खर्च कर देती है अर्थात् नौ की लकड़ी नब्बे खर्च। इसी तरह नई सदी में जब हम सभी भूमंडलीय सूचना क्रांति के गिरफ्त में हो चुके हैं। तब देश की शीर्षस्थ पार्टियाँ करोड़–करोड़ रूपया खर्च करके झूठ के कारोबार को बढ़ावा देती हुई दिखती हैं।

लेखक ने बाजार, ब्राण्ड और राजनीति के मिश्रण को अच्छी तरह से अनुभव कर अपनी भावनाओं को शब्दबद्ध किया है। बड़ी बात है कि उनकी कथावस्तु में जो राजनीतिक पात्र आए हैं वो देश की असल राजनीति से भी ताल्लुक रखते हैं। लेखक प्रदीप सौरभ का *मुन्नी मोबाईल* उपन्यास में मानना है किः

> किसी भी राजनेता का शौक–मिजाजी रखना भारतीय राजनीति के लिए बहुत हितकारी नहीं हो सकती। देश की सामान्य जनता के मनोभावों, आवश्यकताओं को किसी सुपर हीरो की तरह क्षण भर में पहचान राजनेता बखूबी जानते हैं और अपने करिश्माई नेतृत्व की क्षमता से जनता को अपने पक्ष में विश्वास भी कर लेते हैं। साथ ही इन सभी गतिविधियों में देश की आंतरिक व्यवस्था तो साथ में रहती ही है। भूमंडलीय शक्तियाँ

भी बहुत कुछ सहायता करने को तत्पर रहती हैं। यही तो इन जैसे नेताओं की राजनीतिक दक्षता है।(144)

देश ही नहीं भूमंडल पर जनता के अधिकारों एवं सामाजिक समानता के पक्ष में सबसे अधिक मुखर और तार्किक होकर वामपंथी विचारधारा से जुड़ी हुई राजनीतिक पार्टियाँ ही आवाज उठाती हैं। इन पार्टियों का वैचारिक दर्शन वर्गगत विभेद को समाप्त कर समाजवादी व्यवस्था में विश्वास रखने वाला होता है। लेकिन बड़ी समस्या यहाँ भी है क्योंकि आज के समय में अब यहाँ भी दिखाने के दाँत और खाने के दाँत अलग–अलग दिख जाते हैं। अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के बल पर पूरी दुनिया भर में मशहूर इस तरह की कम्यूनिस्ट पार्टियों के अधिकतर कार्यकर्ता अब धीरे–धीरे पूँजीवादी मानसिकता के गुलाम होते जा रहे हैं। उनके मन में भी संपत्ति बटोरकर लखपति–करोड़पति बनने की मंशा लगातार बनी रहती है।

आज के परिप्रेक्ष्य में ही देश की आंतरिक राजनीति में वामपंथी पार्टियों की स्थिति पर नजर डालें तो कुछेक राजनेता को छोड़कर सभी पर संदेह किया जा सकता है। वामपंथी ही क्यों इस तरह के भ्रष्टाचार लगभग सभी छोटी–बड़ी राजनीतिक पार्टियों में देखे जा सकते हैं।

4.3.2 राजनेताओं की चरित्रहीनता

नई सदी में पूँजी की सीमाहीन व्यवस्था से दुनिया के कई देशों को बुरी तरह दूषित किया है, और इसमें अपनी कुटिल चालबाजियों से केवल आर्थिक प्रणाली ही नहीं देश की लोकतान्त्रिक प्रणाली को भी भीतर तक प्रभावित किया है। क्योंकि सदन में बैठे राजनेता ही देश के आर्थिक नियमनों और प्रतिबंधों में उदारवादी व्यवहार अपनाते हुए नए व्यापारिक सिद्धान्तों को मान्यता देते है। वैश्विक आर्थिक गुटों की यही तो अभिलाषा रहती है कि उनके लिए कोई दायरा निर्धारित न रहे, कोई भी आर्थिक कानून उन पर लगाम न लगा सके और वे बिना रोक टोक के सारे संसार में अपने प्रतिष्ठानों को स्थापित कर सके। हमारे देश की दो बड़ी राजनीतिक पार्टियाँ भाजपा और कांग्रेस भी इन्हीं शोषणवादी प्रवृत्तियों की शिकार हुई हैं। छोटी–छोटी क्षेत्रीय पार्टियां चंदे के चक्कर में तो और भी अधिक पूँजीवादी संगठनों की गुलामी करती है। जब एक पार्टी की सत्ता में रहती है तो दूसरी विपक्षी पार्टी उन नीतियों को भी मुखालफत करती है। जिनका वे कभी सत्ता में रहते हुए समर्थन करती थी। इस तरह भूमंडलीकरण के इस महा भंडारे में सभी राजनीतिक पार्टियाँ प्रसाद खाने के चक्कर में लगी रहती है। प्रेम सिहँ *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखते हैं :

> जटिलता और बढ़ जाती है जब भ्रष्टाचार के मुद्दे पर झगड़ा रहे। राजग और कांग्रेस भूमंडलीकरण के मुद्दे पर एकमत हैं नतमस्तक हैं। नतमस्तक वे क्षेत्रीय नेता भी हैं,

जिन्होंने सत्ता का टुकड़ा पाने और बचाए रखने के एकमात्र उद्देश्य से परिचालित विचारहीन राजनीति का नया स्थान पक्का किया है।(79)

अब तो देश में राजनीतिक भ्रष्टाचार के अंतर्राष्ट्रीय खुलासे ही रहे हैं। पनामा पेपर्स लीक और स्विस बैंक अकाउंट में जितने राजनेता शामिल हुए हैं यह जाँच का विषय है। थोड़ा बहुत हुड़दंग करने के बाद विपक्षी और विरोधी नेताओं द्वारा चुप्पी साध ली जाती है। वे उन मुद्दों पर मौन हो जाते हैं जो देश हित में होते हैं। दरअसल, हमारे नेताओं के पास जरूरी मुद्दों को नजरंदाज करने का बेहतरीन तरीका होता है। वे जनता को किसी न किसी ऐसे कामों में उलझाए रहते हैं कि बेचारी आम जनता कुछ दिनों में आमुक घटना को भूलकर सामने पैदा हुई नई परिस्थिति से जूझने लगती है। कहने का तात्पर्य है कि भारतीय राजनीति के अधिकतर नेता एक अच्छे नाटककार भी होते हैं सच्चिदानंद सिन्हा *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ* में सहमति देते हैं :

यह स्थिति विलक्षण इसलिए है कि सभी अभिनेता राजनेता हैं और जैसा कि मैकियोवेली ने राजनीति पर अपनी विख्यात पुस्तक 'प्रिंस' में कहा है कि किसी राजनेता को अपने किसी भी कृत्य के लिए बहाने की कमी नहीं होती।(68)

ऐसा भी नहीं है कि चारों तरफ बस अँधेरा ही अँधेरा है, उजाला भी है, लेकिन उसकी पहुँच कम है। कभी–कभी इन्हीं नेताओं द्वारा कुछ काम ऐसा भी हो जाता है जो वाकई संविधान और देश के हित में होता है। जिससे एक स्वस्थ समाज की परिकल्पना की जा सकती है।

राजनीति में शोषण के विविध स्वरूप में देह की राजनीति होती है वो सबसे अधिक कुत्सित है। बहुधा राजनेता करोड़ो–करोड़ो रूपये के घोटालों के अलावा रेप, दंगा, हत्या, फिरौती, अपहरण, धमकी आदि गैर–कानूनी कृत्यों के आरोपी होते देखे जा सकते है। नई सदी में बहुबली नेताओं की भरमार देखी जा सकती है। इन बाहुबलियों के पास अपनी धमक तो होती ही है साथ ही पार्टी का वोट बैंक जुड़ने से विधानसभा लोकसभा पहुँच जाते हैं। दूसरी कई महिलाओं के साथ संबंध रखना आज के बहुत से राजनेताओं का शगल हो गया हैं। कभी कोई आरोपी हो जाता है तो कभी मामला कोर्ट–कचहरी तक पहुँच ही नहीं पाता। *हलफनामें* उपन्यास में इसी तरह के एक मुख्यमंत्री साहब हैं जिनका एक आरामदायक गुप्त निवास है। जहाँ वे संकट और तनाव के समय तरोताजा होने के लिए जाते हैं। राजू शर्मा कृत *हलफनामें*उपन्यास का एक दृश्य देखिए "मुख्यमंत्री पलटकर, पीठ के बल अधलेटे स्त्री को ताकने लगे मानो उसकी देह के प्रसाद में चुनाव जीतने का नुक्सा ढूँढ़ रहे हो।"(19) हर दर्जे की चरित्रहीनता और नपुंसकता भारतीय राजनीति में बढ़ती जा रही है। किसी राजनेता की

बुढ़ापे में कोई अवैध संतान जनता के सामने आ रही है तो किसी ने पहली पत्नी के रहते दूसरी से रिश्ता तय कर लिया है। किसी ने शादी के बाद तलाक भी नहीं लिया और पत्नी के साथ रहा भी नहीं और कोई–कोई तो तालाक पे तालाक लिए घूम रहा है। अधिकतर राजनेताओं का बॉलीवुड की अभिनेत्रियों से संबंध रखना तो जगजाहिर हो चुका है।

यह बात सौ प्रतिशत खरी है कि चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित चुनावी खर्चे का पालन शायद ही कोई उम्मीदवार करता हो, कोई नहीं करता है। लाखों–करोड़ों रूपये चुनावों में यूँ ही बहा दिये जाते हैं और इसकी लिखित जानकारी उम्मीदवार और आयोग दोनों के पास नहीं होती। प्रचार के लिए पैसा कहाँ से आ रहा है, कहाँ जा रहा है कोई ऑडिट नहीं होता। देश–विदेश का बहुत सारा काला धन चुनावों में सफेद कर दिया जाता है। छापेमारी की कोई एक दो घटनाएँ ही मीडिया में आ पाती है तो भी जो बहुत रसूखदार नहीं होता। चुनाव आते ही विभिन्न नेताओं द्वारा वोटों को खरीदने की गोटियाँ सेट की जाने लगती हैं राजू शर्मा के उपन्यास भारतीय चुनाव की प्रक्रिया में होने वाले गुणा–गणित को बखूबी रेखांकित करता है – "यह कहना शायद ज्यादा कारगर था कि पैसा शराब की तरह बह रहा है, कस्बे और देहात में देशी शराब की खपत चौगुनी, पाँच गुनी चल रही थी। प्रचार में तीन दलों की प्रमुखता थी– धन उनके पास था और बाहुबल .... ।"(216) नई सदी में होने वाले चुनाव विचारधारा या जनहित के मुद्दों पर तो बिल्कुल नहीं हो रहे हैं। अब जनता को किसीम–किसीम के सपने दिखाये जाते हैं, उनको भ्रमित किया जाता है जाति, क्षेत्र, धर्म के नाम पर बहकाया जाता है। शराब और पैसों से वोटों की खरीद फरोख्त की जाती है। जब इस तरह की साँठ–गाँठ करके कोई नेता चुनाव जीतकर संसद या विधानसभा पहुंचेगा तो फिर उसके मन में जनहित की बात कहाँ रहेगी। वह पुनः अगले चुनाव में जीतने के लिए राजनीतिक तिकड़मबाजी करने लग जाते हैं।

जमीन पर अवैध कब्जा जमाने की चाबुक वर्षों से शक्तिशाली वर्ग कमजोर वर्ग पर चलता चला आ रहा है। कभी कानूनी धमकी दिखाकर तो कभी कोई आर्थिक षडयंत्र करके आम जनता की पैतृक जमीन से बेदखल करने एवं देश की सरकारी संपत्ति पर अपना हक जमाने की रणनीति सदा से ही कुछ भ्रष्ट राजनेताओं की छत्रछाया में हुई है। जमीन हड़पने को लेकर गुंड़ों–माफियाओं के साथ राजनेताओं के गठबंधन होने की बात अब आम हो चली है। हालत ये है कि अब बड़े–बड़े प्रॉपर्टी डीलर्स के साथ कई राजनेताओं का उठना बैठना होता है। सोमपाल त्यागी पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक बड़े रसूखदार राजनेता हैं जिनके संबंध भू–माफियाओं के साथ तो हैं ही कानून की धज्जियाँ भी इनके परिचितों द्वारा खूब उड़ाई जाती

है। प्रदीप सौरभ ने *मुन्नी मोबाइल* में खुलकर इनके भू–माफिया पुत्र की करतूतों की चर्चा की है :

> उत्तर प्रदेश के एक मंत्री सोमपाल त्यागी के बेटे सिरीश की नजर इस जमीन पर है। टीटी और इलाके के दूसरे रंगदारों से मिलकर सिरीश पहलवान को उसकी जमीन से खदेड़ देता है। मंत्री का बेटा है, इसलिए पुलिस भी जमीन खाली कराने में सिरीश की खुलकर मदद करती है।(13)

दरअसल, यह खेल केवल सिरीश जैसे नेतापुत्र ही नहीं खेलते बल्कि शासन–प्रशासन के कई जिम्मेदार भी इस नंगे नाच में शामिल रहते हैं। आज बहुत से अधिकारी इसी तरह के आरोपों के चक्कर में या तो निलंबन में हैं या बर्खास्त कर दिये जाते हैं। ऐसी ही हड़प नीति के गुनाहों में शामिल कई–कई राजनेता जेल की हवा खा चुके है और अपना निर्वाचन या उम्मीदवारी रद्द करा चुके हैं। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की यही सबसे बड़ी खूबी है कि कभी–कभी ये वर्चस्वशाली नेता कानून के शिंकजे में आ जाते हैं और अपने किए धराए की भारी कीमत अदा करते हैं। सबूतों के आधार पर अदालत तो इनको सजा दे देती हैं लेकिन जनता की आँखों की पट्टी कभी–कभी ही खुलती है। हम सभी कुछ दिनों में ही बहुत सारे जरूरी मुद्दों और इनके कदाचारों को भुला देते हैं।

4.3.3 राजनेताओं की संवदनहीनता

जनतांत्रिक व्यवस्था के इतिहास में 21वीं सदी ही ऐसा समय है जहाँ सबसे अधिक लोकतंत्र की हत्या हो रही है। जिस बेपरवाह तरीके से समाज में हिंसा–लूट और संप्रदायवाद जैसी अवाँछनीय प्रवृत्ति बढ़ रही है। उससे तो देश में आधुनिक आदर्श लोकतंत्र की परिकल्पना करना मूढ़ता होगी। कमल नयन काबरा अपनी पुस्तक *भूमंडलीकरण के भँवर में भारत* में लिखते है :

> भारतीय लोकतंत्र का जो सैद्धान्तिक स्वरूप है, उससे व्यावहारिक स्वरूप की दूरी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। काफी अरसे से लोकतंत्र की नीति–रीति को लागू करने के लिए हमारे संविधान में अनेक व्यवस्थाएँ है, लेकिन इन व्यवस्थाओं का इस्तेमाल दिनोंदिन कठिन होता जा रहा है।(294)

संविधान के जो नियामक हैं, नीति नियंता है अगर वही उसको छिन्न–भिन्न करने के उपक्रम करेंगे तो देश का हाल खस्ता होगा ही। दरअसल, नई सदीं में उड़ती हुई शक्तिशाली वैश्विक पूँजी के आगे सब नतमस्तक हैं। देश के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अब राजनीति–वर्ग

और व्यावसायिक–वर्ग एक सा दिखने लगा है और दोनों में आर्थिक गठबंधन की नई पटकथा लिखी जा रही हैं। कांग्रेस तो पूँजीपतियों की तरकदारी में लगी ही थी, स्वदेशी और राष्ट्रवाद जैसे विचारों के पदचिन्हों पर चलने वाली विदेशी कंपनी और विदेशी निवेश का समर्थन करने लग गई। प्रेम सिहँ अपनी पुस्तक *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखते है कि "बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तेज के सामने राष्ट्र प्रेम की चमक भी मलिन पड़ जाती है।"(14) कथनी करनी में विभेद रखना तथा उत्तरदायित्व की कमी देश की राजनीति और राजनेताओं में तेजी से बढ़ी है।

बिना कोई जन संघर्ष किए, बिना किसी वैचारिक प्रतिबद्धता के और बिना किसी राजनीतिक स्कूल से राजनीति की ए.बी.सी.डी. सीखें आज ढ़ेरों ऐसे नेता भारतीय राजनीति में दिख जाएँगे जो या तो दंशानुगत हैं या बाहुबलि की श्रेणी में हैं। कुछ ही जनप्रतिनिधि ऐसे हैं जो अपनी मेहनत, आंदोलन और विचारधारा के सहारे राजनीतिक रसूख रखते हैं। लेकिन उनकी गिनती उंगलियों पर है और उनकी आवाजें इस भारी शोर शराबे के बीच घुट कर रह जाती हैं। मीड़िया का कवरज भी कोई संतोषजनक नहीं होता। वो उन्हीं बातों में दिलचस्पी लेते हैं जहाँ से उनकी टी.आर.पी. बढ़ती हो और ऐसी हरकत सत्ताधीशों की तरफदारी करके ही हासिल की जा सकती है। चुनाव के समय यही जनता नेताओं के माई–बाप होते हैं और जैसे ही वे चुनाव जीतते हैं फिर वहीं जनता कीड़े–मकोड़े जैसी लगने लगती है। आदमी मरता है मरता रहे, नेताओं में कोई संवेदना नहीं कोई जिम्मेदारी नहीं। *हलफनामे* उपन्यास में राजू शर्मा मुख्यमंत्री की मानसिकता को पहचानने की कोशिश करते हैं "मुख्यमंत्री का मुँह सूखी वितृष्णा से भर उठा ... कीड़े–मकौड़े की तरह लोग रेंगते नजर आ रहे थे। अनाप–शनाप उनकी तादाद कितनी बढ़ती जा रही हैं ... सचमुच ये कीड़े ही हैं, तन से, दिमाग से .... बल्कि कीड़े से भी बदतर क्योंकि कीड़ा कम–से–कम थोड़े समय जीता है और कोई मुख्यमंत्री उनके लिए जिम्मेदार नहीं ....।"(24) इस तरह की गैर–जिम्मेराना मानसिकता आज बहुत से नेताओं में देखी जा सकती है। चाहे हजारों की संख्या में किसान आत्महत्या कर लें या फिर चाहे समुचित चिकित्सीय व्यवस्था के अभाव में सैकड़ों इंसान अकाल मृत्यु के शिकार हो जायें कहीं कोई चर्चा नहीं होती। ऊपर से इन नेताओं के वक्तव्य भी बहकाने वाले होते हैं।

भूमंडलीकृत समाज में चुनाव प्रचार के तरीकों मे बदलाव तो हुआ ही जनता के मनोंभावो को समझाने के लिए ढेर सारे औजारों का प्रयोग भी शुरू हुआ। अब बिना किसी जनसभा के सोशल मीड़िया की सहायता से कोई भी राजनेता हजारों–लाखों लोगों से सीधा जुड़ सकता हैं। उनसे बातचीत कर सकता है अपने चुनावी घोषणा पत्र को सबके सामने रख सकता है। इसके अलावा प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीड़िया भी दबाव और लोकप्रियता के आधार

पर लगातार चुनावी जनसभाओं की कवरेज देते रहते हैं। इन सबके बीच बहुत शांत और शातिर तरीके से बाजार अपना खेल खेलना जारी रखता है। बाजार की विभिन्न आर्थिक गतिविधियाँ चुनाव प्रसार में सक्रिय हो जाती है। उपन्यास में लेखक ने भारतीय चुनावी माहौल की वास्तविकता के धरातल पर शिनाख्त की है :

> चुनाव के दूसरे परोक्ष संकेत भी थे जिन्हें इस व्यवसाय के जमीनी पेशेवर आसानी से पकड़ रहे थे। जीप, बस, ट्रक, ट्रेक्टरों की एडवांस बुकिंग में उछाल आ गया। शस्त्र की लाइसेंसधारी दुकानों से कारतूसों की बिक्री कम हो गई और अवैध असलाह के व्यापार में सरगर्मी दिखने लगी। अचानक बड़े सरकारी ओहदों पर तबादले होने लगे। पोस्टर साज, मूर्तिकारों और कागज के झंडे बनाने वालों को बाजार से एडवांस मिला। छोटे नोट बाजार और बैंक से गायब होने लगे।(184)

इस तरह की चुनावी सरगर्मियाँ सबूत देती हैं कि भारतीय राजनीति में भ्रष्टाचार कितनी गहराई से जड़ जमा चुका है। बढ़ती चुनावी तकनीकी और तगड़ी सुरक्षा व्यवस्था के बावजूद बूथ कैप्चरिंग की घटनाओं पर अंकुश कम ही लग पाया है। होने वाले हर चुनाव के बाद पराजित पार्टियां चुनाव आयोग की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह कहीं न कहीं से किसी न किसी माध्यम से खड़ी कर देती हैं। अभी हाल ही में उत्तर प्रदेश में होने वाली विधानसभा के चुनाव में एक विशेष पार्टी को प्रचंड बहुमत मिलने पर विरोधी पार्टियों ने समवेत स्वर में इलैक्ट्रोनिक वोटिंग मशीन पर ही सवाल खड़ा कर दिया।

नेताओं द्वारा चुनावी शपथ पत्र में घोषित संपत्ति केवल सफेद झूठ का पुलिंदा मात्र होती है। किसी भी राजनेता की संपति को कोई भी संस्थान या व्यक्ति दावे के साथ नहीं कह सकता कि इसमें पूरी ईमानदारी बरती गई है अथवा अमुक नेता के पास इतनी ही संपत्ति होगी, नहीं कह सकता है। ये बड़े–बड़े नेता बड़ी चालाकी से अपनी सम्पत्तियों को इधर–उधर स्थानांतरित किए हुए रहते हैं। इतना सब करने के बावजूद हर साल कोई न कोई नेता आयकर विभाग या सी.बी.आई के हथे चढ़ ही जाता है। न जाने कितने राष्ट्रीय स्तर के नेताओं पर आय से अधिक संपति होने के मुकदमें चल रहे हैं। नई सदी के हिंदी उपन्यासों ने अपनी कथावस्तु में भारतीय नेताओं की करतूतों की पोल खोलने की पूरी कोशिश की है। इनमें *हलफनामें* उपन्यास प्रमुख हैं जिसमें नेताओं की उदासीनता और जनता के प्रति संवदेनहीनता को यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है "नामांकन दाखिल होने के दूसरे दिन अखबार में एक खबर छपी। हुआ यह था कि एक सेठ ने अपनी आय दस हजार दो सौ और पत्नी की आय पाँच सौ रूपये सालाना घोषित की थी।"(212) अपनी ही संपत्ति का गबन कर आमदनी से कम

संपत्ति का ब्यौरा देना कानून जुर्म होता है पर आज तक शायद ही ऐसा देखने को मिला हो कि किसी उम्मीदवार का इस आधार पर निर्वाचन रद्द हुआ हो। ये दृश्य देश की राजनीति को कितनी स्वस्थ दिशा देंगे इस दिशा में बहस होनी चाहिए। कुछ राजनीतियों को छोड़ दिया जाए तो लगभग सभी छोटे–बड़े राजनेता किसी न किसी गैर–कानूनी कार्यों के आरोपी रहे हैं। कोई आरोप साबित हो जाता है कोई बेकसूर छूट जाता है। तो कोई राजनेता अंतिम सुनवाई के चक्कर में उम्र भर कोर्ट–कचहरी का चक्कर लगाता रहता है।

बेकसूर भोली–भाँली जनता की प्राकृतिक सम्पत्तियों पर कुछ राजनेता बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दलाली कर ऐसे नियम कानून निर्धारित कर देते हैं कि उन्हें समुचित मुआवजा देने की बात तो दूर जबरिया उनको उनकी जमीन से बेदखल कर दिया जाता है। आज भारत में कोई ऐसा राज्य नहीं होगा जहाँ आदिवासियों–किसानों की जमीन मानदंड़ों के अनुरूप अधिगृहीत की गई हो, नहीं की गई होगी। पूँजीवादी मानसिकता इतना उदार दृष्टिकोण समाज के प्रति रख ही नहीं सकती। उसे बस प्राकृतिक संपदाओं पर आधिपत्य चाहिए चाहे जितनी भी जुगत करनी पड़े और इस काम में वो लोकल से लेकर ग्लोबल तक के दलालों से संपर्क रखता हैं। *ग्लोबल गाँव के देवता* उपन्यास में दिखने में भले ही लघु उपन्यास लगे लेकिन इसमें प्रतिरोध के स्वर बहुत तेज व्यापक हैं। गाँव की जमीन पर विदेशी कंपनियों की नजर कई वर्षों से थी लेकिन व्यापक प्रतिरोध से वे सफल नहीं हो पा रहीं थी। इस तरह वे किसी राजनीतिज्ञ या अन्य क्षेत्रीय रसूखदार लोगों की सहायता लेती हैं और इस प्रक्रिया में वे बाकायदा सफल भी होती है। कथाकार रणेन्द्र लिखते हैं कि :

> अब बाबा और विधायक को सौदेबाजी का एक और मौका मिल गया था। अब इस लड़ाई को कुचलने की प्लानिंग में साथ देने का वादा कर रहे थे बशर्ते कंपनी शेयर वाली उनकी शर्त मान ले। अंत में मुंबई के पाँच सितारा होटल के वातानुकूलित कक्ष के सुकून भरे कमरे में कई बातें तय हुई। दोनों इतनी रकम पर तैयार हुए जितना कि न आज तक भेंटाया था और न भविष्य में भेंटाने की संभावना थी। यह भी इन दोनों की उम्मीद से बहुत अधिक था।(89)

दरअसल, छोटे व मझोले क्षेत्रीय नेताओं के मन में बहुत जल्द अमीर एवं राष्ट्रीय स्तर के नेता बनने की ख्वाहिश पली रहती है और इसी कोशिश में वे उन सभी गैर–कानूनी कामों में संलिप्त हो जाते हैं। जिनसे देश का तो नुकसान होता ही है। उनकी इस हरकत से भाई–बंधु, गाँव–समाज के लोग भी ठगे–ठगे से महसूस करते हैं। आज जब नई सदी की दुनिया में भारत अपनी एक शक्तिशाली पहचान बनाने की कोशिश में है तब कुछ राजनेताओं की ओछी

लंपटगिरी से सारे किए कराये पर पानी फेर दिया जाता है। फिर भी इस आशावादी देश में हम सुंदर और समृद्ध भारत देखने की आशा तो कर सकते हैं।

ऐसा माना जाता है कि एक सफल राजनेता एक सफल अभिनेता भी हो सकता है। क्योंकि चुनावी जनसभा नेताओं के लिए एक प्रकार से नाटक का रंगमंच ही होता है जहाँ एक से बढ़कर एक कलाकार अपनी लोक लुभावन प्रस्तुति देते हैं। भाषणों में कुछ राजनेता राष्ट्रवाद की दुहाई देते हैं तो कुछ सेकुलर होने का स्वांग भरते हैं और कुछ राजनेता तो जाति, धर्म और मजदूरों–किसानों के बल पर मंचों से मसीहा बनने का अभिनय करते हैं। मंदिर–मस्जिद प्रकरण, मंडल–कमंडल आंदोलन, नक्सलबाड़ी विद्रोह, वैश्विक पूँजी और तकनीक की बेरोक–टोक आगमन, सीमा विवाद आदि सभी गतिविधियों ने देश के राजनीतिक परिदृश्य को बहुआयामी तो किया ही साथ में नेताओं को अवसरवादी भी बनाया। प्रदीप सौरभ के उपन्यास *मुन्नी मोबाइल* में इसी तरह के कलाकार राजनेता है :

> राजनेता के प्रचार में नाटकीयता बढ़ गई थी। उनकी प्रस्तुति हिटलर, बाबा साहेब ठाकरे और अभिताभ बच्चन की कॉकटेल थी। हिटलर की तरह वह बहुसंख्यक समुदाय को डराते, बाला साहेब की तरह फतवे जारी करते और अभिताभ बच्चन की तरह भावुक अभिनय करते।(44)

भारतीय राजनीति को नीर–क्षीर विवके से परखे तो इस तरह के नामों का क्रम बढ़ता ही जाएगा।

4.3.4 राष्ट्रहित की भावना का लोप

आज के दौर में सैद्धान्तिक रूप से छद्म राष्ट्रवाद के चाले से सजी ढेरों राजनीतिक पार्टियाँ अपने देश में हैं। जो राष्ट्रहित की बड़ी–बड़ी बातें तो करती हैं लेकिन उनका साध्य मात्र सत्ता प्राप्त करना होता है और हमेशा किसी विशेष धर्म की तरफदारी में लगी रहती हैं। दरअसल, आधुनिक भारत की राजनीति में धर्म का हस्तक्षेप हमेशा तुष्टीकरण के लिए होता रहा है। जो आज भी बदस्तूर जारी है। इस बहस पर सभी राजनीतिक पार्टियाँ कभी एकमत नहीं हो सकी, हो भी कैसे सकती हैं। उन्हें आम जनमानस में धर्म को अफीम की तरह फैलाकर अपनी राजनीतिक रोटी जो सेंकनी होती है। 21वीं सदी में भारत में जब हम हिंसा की घटनाओं को लगातार बढ़ोतरी देखते हैं तो उसमें धर्म, जाति और नस्ल की भागीदारी अधिक होती है और आग में घी का काम करती है। देश की विभिन्न राजनीतिक विचारधारा वाली पार्टियाँ। समस्या यही है कि जनता सब कुछ देखकर समझकर भी वोट देते वक्त जातिवादी, धर्मवादी और क्षेत्रवादी हो जाती हैं। पूँजी का निर्बाध खेल तो इन सभी पर भारी पड़ता है। भूमंडलीकरण ने

पूँजी और तकनीक के सहारे राजनेताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया है। आम चुनावों में बिलकुल सीधे तौर पर तो नहीं, हाँ परोक्ष रूप से कॉर्पोरेट जगत की सशक्त भागीदारी रहती है। प्रोफेसर कमल नयन काबरा अपनी पुस्तक *भूमंडलीकरण के भँवर में भारत* धन कुबेरो और राजनेताओं के गठबंधन पर लिखते है कि :

> अब यह कहना खास गैर–वाजिब नहीं होगा कि राजनीति का व्यवसायीकरण तथा व्यवसाय का राजनीतिकरण हो रहा है। भारत के चोटी के उद्योगपतियों को विशेषज्ञों ने राजनीतिक पूँजीपतियों की संज्ञा दी है।(178)

भूमंडलीकरण समय में राजनेताओं का पूँजीवादी संगठनों से जुड़ाव होने में तेजी आई है।

भूमंडलीकरण की व्यवस्था में देश की सामान्य राजनीति के साथ–साथ छात्र राजनीति भी वैचारिक स्खलन की शिकार हुई है। कुछेक संस्थानों को छोड़ दिया जाए तो अधिकतर संस्थानों में होने वाले छात्र संघ चुनावों में पैसा और ग्लैमर का तगड़ा तड़का लगा होता है। कॉलेजों में पढ़ने वाले इन विद्यार्थियों के पास चुनाव में खर्चे के लिए लाखों रूपया कहाँ से आता है। उनके आर्थिक स्त्रोत क्या हैं इस गंभीर विषय पर कोई बातचीत नहीं करने वाला। वैश्वीकृत होते भारत में छात्र संघ चुनावों पर गहरी पड़ताल करते हुए प्रेम सिहँ ने *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखा है किः

> दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र संघ (डूसू) के चुनाव भी बाजारवाद के गिरफ्त से बाहर नहीं हैं। यहाँ मुख्य मुकाबला एन.एस.यू.आई. और ए.बी.वी.पी. के बीच होता है। पूरे शहर में दिन–रात दौड़ने वाली गाड़ियों, शराब और कबाब की दावतों और हर दिन सुबह शहर की दीवारों पर दिखने वाले मँहगे पोस्टरों से अंदाजा लगाया जा सकता है कि दोनों संघटन किस कदर पैसा पानी की तरह बहाते है।(55)

ये हाल केवल दिल्ली जैसे महानगर के बड़े विश्वविद्यालय भर का नहीं है बल्कि कई छोटे–छोटे शहरों के महाविद्यालयों में भी छात्र संघ के चुनाव में खूब हल्ला मचता है।

किसी देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था में गठबंधन की सरकार बहुत सारे निर्णय स्वतंत्र रूप से नहीं ले पाती है। छोटी व क्षेत्रीय पार्टियों के अपने हित होते हैं जो क्षेत्रीय राजनीति पर आधारित होते हैं। जब केंद्र की सरकार ऐसी योजनाओं या अधिनियम को क्रियान्वित करने का उपक्रम करती है। जिससे उनकी पार्टी या उनके लोगों का हित नहीं हो रहा हो तब वे खुद अपनी ही गठबंधन की सरकार की आलोचना करने लगते हैं। इस तरह की पार्टियां सरकार पर दबाव समूह का निर्माण करती हैं। चूँकि शासन बहुमत के आधार पर किया जाता है इसलिए

समर्थन वापसी पर कभी–कभी सरकारें अल्पमत में भी आ जाती हैं और देश को मध्यावधि चुनाव करने पड़ते हैं। राष्ट्रहित की सारी भावनाओं को भूलकर सभी पार्टियाँ फिर से चुनावी गुणा–गणित बैठाने में लग जाती हैं *हलफनामें* उपन्यास में मुख्यमंत्री साहब भी इसी तरह की चुनावी सरगर्मी में व्यक्त है – "उनकी सरकार, जो साक्षा में चल रही थी, के साढ़े तीन साल खत्म हो गए थे, चुनाव देहरी पर खड़ा दिखने लगा था और सोलह करोड़ मचलती आकांक्षाओं को फिर से विजय अभियान में बाँधना उन्हें आंतकित कर रहा था।"(217)

सभी राजनेताओं का एक ही लक्ष्य होता है कि जैसे भी हो जो भी साम–दाम–दंड लगाकर किसी भी कीमत पर चुनाव जीतकर सत्ता में आना है। इन चुनावों में कभी आर्थिक सत्ता तो कभी धार्मिक सत्ता और कभी–कभी तो दोनों एक साथ अपनी ताकत दिखाते हैं 21 वीं सदी के आरंभ में गोधरा कांड ने भारतीय राजनीति को एक प्रकार से ध्रुवीकरण मे तब्दील कर दिया है। प्रदीप सौरभ *मुन्नी मोबाइल* में लिखते हैं कि "गोधरा ने देश की राजनीति में तीव्र ध्रुवीकरण किया। वैसे ध्रुवीकरण की नींव तो 6 दिसंबर 1992 को ही पड़ गई थी। उस दिन बाबरी मस्जिद को भगवा ब्रिगेड़ ने ध्वस्त कर दिया था।"(24) इस तरह की अमानवीय गतिविधियाँ भारत की धार्मिक सहिष्णुता को कलंकित तो करती ही हैं। देश की राजनीति की तुष्टीकरण के पदचिन्हों पर चलने लगती है। राष्ट्रवाद की अवधारणा को खुद के हिसाब से ढ़ालकर उसका महिमा मंडन करना एक विशेष पार्टी का हमेशा से मूल चरित्र रहा है। राष्ट्रवाद के साथ–साथ क्षेत्रीय स्तर पर उपराष्ट्रवाद की भी परिकल्पना की जाने लगी है। समय और परिस्थिति के हिसाब से भारतीय राजनीति के मूल चरित्र एवं परिभाषा में परिवर्तन होते रहते हैं। भूमंडलीय समय में यह बदलाव और भी अधिक तेज गति से हुआ है।

नोटों का खेल तो चुनावों में रूक ही नहीं रहा लगातार जारी है। आयोग कितने भी कठोर कदम उठाए हर चुनाव में अरबों रूपये पानी तरह बहाये जाते हैं। शराब और रूपये के बल पर देश की अधिकांश भोली–भाँली जनता हर चुनाव में छली जाती है। उनके वोटों की कीमत लगाकर खरीद ली जाती है जैसे बाजार से रूपये देकर कोई वस्तु खरीदी जाती हैं। *हलफनामें* अब तो हालात ये है कि "चुनाव आयोग की मुस्तैदी के कारण नोटों का बटँवारा रात के अँधेरे में किया जाता था।"(217) वोट खरीदने की पूरी ठेकेदारी होती है, गुंडे–माफिया इसमें समान रूप से सहभागिता रखते हैं। देश के संविधान और गरिमा की हत्या करके यही राजनेता चुनाव जीतकर जब संसद या विधानसभा जाते हैं तो मन में कितनी राष्ट्रहित की भावना रहेगी सोचा जा सकता है। कोई फिक्र नहीं, कोई शर्म नहीं होती इन नेताओं में। *मुन्नी मोबाइल* उपन्यास में यह कथन सभी पार्टियों पर समान रूप से लागू होता है "पार्टी की चाल, चरित्र

और चेहरा भी सत्ताखोर है तो उसे शर्म कैसे आती।"(24) सच में, धीरे–धीरे हमारी राजनीति शर्महीन और संवेदनहीन होती जा रही है। नेताओं की बयानबाजियाँ और आरोप–प्रत्यारोप का स्तर दिनों–दिन गिरता ही जा रहा है। राजनेता एक दूसरे पर निजी एवं पारिवारिक हमले करने पर कोई झिझक महसूस नहीं कर रहे है।

देश की राजनीति में नेताओं द्वारा दो कार्य पूरी ईमानदारी से किए जाते हैं – एक तो सत्ता में आते ही पहले वाली सरकार की अधिकतर योजनाओं को बंद करना और दूसरा खुद के द्वारा नई–नई योजनाओं व घोषणाओं की आधारशिला रखना। बनाइ गई इन्हीं ढ़ेर सारी योजनाओं के क्रियान्वयन हेतू अरबों रूपये की फंडिंग की जाती है। फिर शुरू होता है ऊपर से लेकर नीचे तक के बंदरबाह का खेल। राजू शर्मा के उपन्यास *हलफनामें* का एक कथन देखिए। मुख्यमंत्री साहब भी बनाई गई इसी सड़क पर चल रहे हैं :

> विशेषज्ञों और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की मशहूर संस्थाओं की सलाह पर अनेक बहादुर फैसले लिए, नीतिगत सुधार किए विकेन्द्रीकरण को तरजीह दी, पंचायतों को अधिकार प्रदत्त किए, टैक्स का सरलीकरण, बाजार शक्ति और निजीकरण पर सहमति, बड़े नगरों का सुधार, पर्यावरण की चिन्ता पर जोर और रोजगार की योजनाओं में भारी फेरबदल।(19)

ये सभी घोषणाएँ दिखने में भले ही क्यों न लच्छेदार और मनमोहक लगे लेकिन जमीनी स्तर पर सब हवा–हवाई रहता है। नेता जी तो अपनी आकाँक्षाओं की पूर्ति में संलिप्त रहते हैं, रोम जलकर चाहे खाक ही क्यों न हो जाए नीरो वंशी ही बजाएगा। नेताओं में व्यस्तता इतनी सारी दिखती है पर कार्य का मूर्तरूप कम ही नजर आता है। अब बुढ़ापे में नेता जी भी सत्तालोलुपता के मारे हैं – "सत्ता और पद की भूख को पूरा करना, निभाना ही इतनी विकट और व्यापक योजना थी कि उन्हें न समय बचता था न शक्ति।"(23) सब कुछ खुले आम लूटा जा रहा है बरगलाया जा रहा हैं लेकिन प्रतिरोध के स्वर बहुत ही मंदे हैं इसमें तेजी लानी होगी। देश को एक तरह से वृहत राजनीतिक जागरूकता की आवश्यकता है। सभी दतों को आगे आना होगा और साहित्य हर दिशा में अपना काम लगातार कर रहा है। इतना तो तय है कि 21 वी सदी के हिंदी उपन्यासों ने भारतीय राजनीति के स्याह पक्ष को खूब रेखांकित किया है।

देश के धार्मिक अधिकारियों का राजनीति में हस्तक्षेप बढ़ता ही जा रहा है। साधू–संतों, मौलवी, पादरी या अन्य कोई भी धर्म गुरू हो पार्टियों द्वारा आयोजित राजनीतिक कार्यक्रमों में देखे जा सकते हैं। लगभग सभी राजनीतिक पार्टियाँ धार्मिक संरक्षण पाने की जुगत में रहती हैं तो धार्मिक संगठन भी विशेष सुविधा के निमित्त राजनीतिक गलियारों के चक्कर लगाते रहते हैं।

ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास में ऐसे ही एक बाबा हैं जिन्हें देश की एक विशेष पार्टी ने महत्वपूर्ण ओहदा दे रखा है। रणेन्द्र लिखते हैं कि :

> बाबा जी ने जन्मभूमि आन्दोलन में बढ़ चढ़कर भूमिका निभाई, हजारों की संख्या में अपने भगतों को जन्मभूमि रवाना किया, तो उनका कद और भी ऊँचा हो गया। वे उस सदाचारी–संस्कारवान पार्टी के नेशनल थिंक टैंक में गिने जाने लगे।(61)

इन बाबाओं–मौलवियों का चाल–चरित्र कैसा भी हो राजनीतिक पार्टियों को कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। बस उनका वोट बैंक मजबूत होना चाहिए किसी भी कीमत पर।

भारत ही नहीं विश्व के कई विकसित देश भी किसी विशेष समुदाय के एकमुश्त वोट पाने के लिए संबंधों की नई परिपाटी बनाते हैं। कनाड़ा में पंजाबी समुदाय के लोगों की बहुतायत है और वे कनाड़ा के आम चुनावों में विशेष दखल रखते हैं। इसी तरह के राजनीतिक संबंध को रेखाकिंत करते हैं – "स्वामीजी को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिम के अंतरंग मित्रों में एक टैक्सी ड्राइवर थी या – सरदार प्यार सिंह। उन्होंने अपने यजमान से इस दोस्ती का राज जानना चाहा तो उसने बताया कि जिम के निर्वाचन क्षेत्र में पचास हजार पंजाबी मतदाता है।"

भूमंडलीकरण के दौर में राजनीतिक संबंधों को नए सिरे परिभाषित करने की आवश्यकता आ गई है। विश्लेषण के नए औजारों को तलाशना होगा। निश्चित रूप से 21वीं सदी के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना प्रखर है और वे भारतीय राजनीति को एक सशक्त दिशा देने को प्रतिबद्ध हैं।

4.3.5 पूँजी की राजनीति

राजनीतिक परिस्थितियाँ ही देश की प्रगति और पुनर्निमाण को तय करती हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में समाज की प्राथमिकताओं और मूलभूत सुविधाओं का ख्याल रखना राजनीतिज्ञों का अनिवार्य गुण और धर्म होना चाहिए पर भूमंडलीय कल्चर में इसकी सम्भावना कम ही दिखती है। भूमंडलीकरण के प्रभावी समय में देश की राजनीति पूरी तरह से एक व्यावसायिक संस्थान में तब्दील हो चुकी है। इसी बीच प्रसिद्ध सामाजिक–राजनीतिक विश्लेषण प्रो० रजनी कोठारी की पुस्तक *भारत में राजनीति कल और आज* का आगमन होता है जिसका हिंदी में संपादन अभय कुमार दुबे ने किया है। इस पुस्तक में भारतीय राजनीति को गाँव सेलेकर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। बहरहाल, देश की वर्तमान राजनीति और सामाजिक हालात किस तरह के परिदृश्य का निर्माण कर रहे हैं इसकी

पूरी पड़ताल इस पुस्तक में की गई है। इस संदर्भ में रजनी कोठारी का एक उदाहरण दृष्टव्य है :

> सरकार पर काबिज करिश्माई नेताओं का प्राधिकार कमजोर होता जा रहा है। वे कहीं ज्यादा बड़ी ताकतों के हाथ का खिलौना बन जाते हैं। आज उनका नियंत्रण न देहातों पर है, न फैलते हुए शहरों पर और न औद्योगिक ताकतों पर। कहीं जमींदार अपनी चला रहे हैं तो कहीं रंग–रूतबे वाली जातियाँ। व्यावसायिक हित देहांतों और आदिवासी इलाकों का दोहन करने में लगे हैं। ठेकेदारों, नवधनाढ़यों, शराब के गैर–कानूनी व्यापारियों और जुआघर चलाने वालों की पीठ पर स्थानीय नेताओं, उनके कारिंदों, पुलिस वालों और नौकरशाहों का हाथ है।(402)

तो इस तरह का माहौल है पूरे भारतीय राजनीति परिदृश्य का है। सारी राजनीतिक विचारधारा भूमंडलीय व्यवस्था की गुलाम हो चुकी है। सब कुछ बिक रहा है, सबको खरीदा जा रहा है।

पूँजी के प्रति उदारनीतियों वाले प्रजातंत्र में किसान की आत्महत्या शायद उतना बड़ा सवाल नहीं रहा। संजीव कृत *फाँस* में मोहन जब नाना से कहता है कि उसे कोई काम चाहिए। नाना उसे बताते है :

> काम तो इन दिनों एक ही है बालू मिट्टी, ईंट या खाद की धुलाई। सड़कों के किनारे सारी खेती वाली जमीनें बिक चुकी है। मकान बन रहे है। आने वाले दिनों में सिर्फ बिल्डिंगे होगी, चमचमाती सड़के होगी और चमचमाती गाड़ियां न तुम्हारे जैसे लोग होंगे, न खेती, न तुम्हारी बैलगाड़ियाँ।(36)

21 वीं सदी की लोकतांत्रिक व्यवस्था में राष्ट्र की सत्ता दिखने में तो वैसे राजनेता या किसी राजनीतिक पार्टी के हाथ में दिखाई देती है। लेकिन वास्तविक संचालन हमेशा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा होता है और हो भी रहा है। दरअसल, भूमंडलीकरण के बलशाली–वातावरण में सभी देश एक दूसरे से व्यापारिक एवं अन्य प्रकार के कई समझौते किए होते हैं, जिनका पालन सभी सदस्य देशों का समवेत स्वर में करना होता है। किये गये इन समझौतों को ही अपना हथियार बनाकर भूमंडलीय आर्थिक शक्तियाँ विभिन्न देशों की राजनीतिक गतिविधियों में हस्तक्षेप करती हैं। ये विविध भूमंडलीय संगठन ही देश की आंतरिक स्थिति का भी पूरा फायदा उठाती हैं। धर्म, जाति, रंग, नस्ल, भाषा, बोली सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में इनकी दखल होती हैं। प्रेम सिहँ *उदारीकरण की तानाशाही* में राजनीति में आर्थिक वर्चस्व को लेकर चिंतित हैं – "एक आर्थिक परिघटना के रूप में सामने आने वाला वैश्वीकरण जब अपनी आर्थिक नीतियाँ तय और बलपूर्वक लागू करता है, तो उस प्रक्रिया में

उसकी जद में आने वाले देशों की राजनीति भी प्रभावित होती है।"(87) कुल मिलाकर यही लगता है कि 21 वीं सदी में विश्व भर के सभी मुल्क वैश्विक आर्थिक नियमनों के गुलाम हो चुके हैं जो कहीं न कहीं से राजनीतिक व्यवस्था को चोट पहुँचाते हैं और इसका सीधा प्रभाव देश की संप्रभुता पर तो पड़ता ही है बेचारी जनता भी कुचली जाती है। इस पूरे प्रकरण में देश की मीडिया और संस्कृति दोनों परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से पूंजीवादी संगठनों की कठपुतली बनी रहती हैं। सब भले ही मौन पर हमारे हिंदी उपन्यास इनकी साजिशों से जरूर समाज को परिचित कराते रहते हैं।

21 वीं सदीं के उपन्यासों पर दृष्टि डालें तो उनके कथ्य में राजनीति की उपस्थिति देखी जा सकती है। कथाकार काशीनाथ सिंह ने अपने दो महत्वपूर्ण *काशी का अस्सी, रेहन पर रग्घू* उपन्यासों मेंदेश के राजनीतिक चरित्रों को उल्लेखित किया है। गाँव की राजनीति से लेकर वैश्विक राजनीति तथा पंचायत से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ की बातें इनके उपन्यासों में पढ़ी जा सकती हैं। राजू शर्मा ने *हलफनामें* उपन्यास में भारतीय राजनीति में पैदा हो रही बावन तरह की विसंगतियों का चित्रण किया है। उपन्यास सत्ताधीशों की उदासीनता और दो मुंहेपन की चर्चा करता है। किन्हीं राजनीतिज्ञों में धार्मिक जकड़बंदी है तो किसी में वैचारिक प्रतिबद्धता की कमी दिखती है। कोई धनबल बाहुबल से चुनाव जीत रहा है तो कोई जाति, क्षेत्र के हिसाब से बाजी मार ले जा रहा है। निष्कर्ष यही है कि भारतीय राजनीति और लोकतंत्र संकट में है। इसलिए इस संकट से बचने के लिए सच्चिदानंद सिन्हा *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ में* कह उठते हैं – "आज राजनीति में असली विकल्प राष्ट्रीय स्वायत्तता और स्वाभिमान के आधार पर ही पैदा हो सकता है।"(72)

4.4 ग्राम्य जीवन में दलित समाज का राजनीतिक पक्ष

सोपान और उपन्यास पर आधारित परपंरा और पहचान से जन्मी वर्ण और जाति व्यवस्था के करोड़ों लोगों से मानवीय संवेदना छीनकर जन्मजात श्रेष्ठता और हीनता की पहचान के आधार पर उनके प्रति दंडात्मक विधान निश्चित किए हैं। इसी आधार पर काम काज जीवन–व्यापन कार्य व्यवहार के तरीकों को मान्यता दी है, ऐसे दौर में इनका जीवन एक मखौल बन गया है। इस कठोर दण्ड व्यवस्था ने वंचित वर्ग को बराबर खड़ा होने की हिम्मत ही पैदा नहीं होने दी। सत्ता, सम्पत्ति और साधनों से पूर्ण यह सामंतवादी विचारधारा बड़े स्तर पर काम काजी वर्ग की विचारधारा का दमन करती है। ग्रामीण भूमिहीन लोग अपनी रोजी–रोटी के लिए बड़े स्तर पर खेती और मजदूरी पर निर्भर है, वैसे ही उनके पास खेती लायक जमीन है ही नहीं। ऐसी स्थिति में सुबह उठते ही नित्यकर्म से लेकर अन्य कार्यों के लिए सवर्णों के खेतों में

जाना पड़ता है और वहीं से प्रारम्भ होता है दिन भर की हाड़ तोड़ मेहनत के लिए कितना अधिक अमानवीय शोषण, उत्पीड़न, रोटी के लिए सहना पड़ता है। जयप्रकाश कर्दम *दलित साहित्य वार्षिकी* के अनुसार, "ज्ञान, बुद्धि, समझ, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति व अधिकार बोध और जब इसके साथ सामाजिक शब्द जुड़ जाता है तो इसका अर्थ लोकव्यापी हो जाता है।"(76)

मोहनदास नैमिषराय का उपन्यास *मुक्तिपर्व* में तत्कालीन सामंती मानसिकता को चित्रित करते हुए कामकाजी लोगों द्वारा झेली जा रही गुलामी का चित्रण करता है। "बंसी, नवाब, अलीवर्दी खाँ के यहां दस रूपए मासिक का नौकर था। नवाब को खांसी आ रही थी, उगालदान मांग रहे थे। वह नहीं मिला, भागकर बैठकखाने में आए और उनकी तरफ हथेली कर दी। नवाब ने उस पर बलगम थूक दिया। बंसी की आंखों में आंसू भर आए थे। उसके भीतर अधंड–तूफान था। बाहर से वह बिल्कुल सहज।"(24) अंग्रेजी सत्ता की छत्र–छाया में पलने वाले अली वर्दी खाँ के दरवाजे पर आजादी की प्रथम सुबह गहमा–गहमी थी। लेकिन उनका मानसिक संतुलन बिगड़ा हुआ था। बंसी को देखकर उन्हें हुक्के की तलब हुई। जरा–सी देरी होने पर नवाब ने भभकते हुए कहा :

> तुम गुलाम थे, गुलाम हो, गुलाम रहोगे'। अब तक बंसी के खून में भी उबाल आ चुका था। वह गुस्से में भड़कते हुए बोला, 'जनबा अली, हम न गुलाम थे, न गुलाम है और न गुलाम रहेंगे। बंसी की बात सुनकर नवाब ने हुक्के पर रखी चिलम उठाकर बंसी के मुँह पर दे मारी। वह बंसी के माथे पर लगी और खून बहने लगा। पर नवाब साहब को बंसी के माथे से बहते खून की चिंता न थी। वह अभी भी गुस्से में कह रहे थे – कमबख्त, दूर हो जा मेरी आंखों के सामने से; हाँ हाँ जा रिया हूँ, मैं तो थूक्कूगाँ भी नई हिंसा पर, कहते हुए बंसी नवाब साहेब की हवेली से बाहर निकल आया था।(28)

उपर्युक्त उदाहरण दर्शाता है कि विलायत और सम्पन्नता के नशे में व्यक्ति मानवीय गरिमा को भूलकर कामकाजी वर्ग का घोर अपमान व हिंसक व्यवहार करता है। बंसी वर्तमान व भावी संतानों को गुलामी से मुक्त होने की घोषणा करते हैं – "मुझे गुलाम बने रहने की आदत नहीं नवाब साहब। वैसे भी देश अब आजाद हो चुका है। अब न कोई किसी का गुलाम है और न कोई किसी का मालिक सब बराबर है।"(38)

जय प्रकाश कर्दम के उपन्यास *छप्पर* में हजारों एकड़ जमीन के मालिक और सरकारी व गैर सरकारी सत्ताओं में नजदीकियाँ होने के बावजूद हरनाम सिंह दृढ़ निश्चय सुक्खा को अपने आगे झुका नहीं पाए। सुखा के झुकने का अर्थ था पीढ़ियों की गुलामी। इसलिए उसे पीढ़ियों की आजादी के लिए अत्याचार सहने पड़े। कमजोर वर्गों को अपने आगे झुकाने के

आदि हरनाम सिंह को आखिरकार लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिनिधि पीढ़ी, अपनी संतान रजमी के आगे झुकना पड़ा। अजय नावरिया के उपन्यास *उधर के लोग* की नारी पात्र रजनी न्याय की आवाज उठाते हुए कहती हैं :

> लोग शोषण का विरोध करने के लिए एकजुट हो रहे है। समाज के भीतर धीरे–धीरे एक आन्दोलन खड़ा होता जा रहा है .... समय के इस बदलाव को देखते हुए आपके लिए यही उचित और आवश्यक है कि आप भी अपने आपको बदलें और न केवल शोषण की प्रवृत्ति का त्याग करें बल्कि स्वतंत्र और स्वावलंबी बनने में उनकी मदद करे।(65)

कामकाजी समाज में विकसित अधिकार चेतना और अस्मिता बोध के कारण मुक्ति संघर्षों को नए मुकाम हासिल हुए हैं।

भारतीय समाज में सभी वर्गों के लिए न्याय और प्रतिनिधित्व का सवाल एक बहुत बड़ा मुद्दा है। अम्बेडकर अधिकार एवं सामाजिक समरसता के प्रति हैं तो गाँधी हदृय परिवर्तन चाहते थे। दोनों चाहते बदलाव ही थे, लेकिन साधनों का अंतर था। साहित्य जन–मानस को जागरूक व संवेदनशील बनाने के लिए ऐसे विषयों को उठाता है जिससे समाज में चेतना का विस्तार हो। *जस तस भई सवेर* के आरक्षण के विविध प्रश्नों पर बहस की शुरूआत है एक पक्ष इसे अयोग्यता कहकर खारिज कर रहा है तो दूसरा पक्ष तथाकथित योग्य समाज द्वारा महत्वपूर्ण पदों पर कायम होने के बाद भी शासन प्रशासन में निरंतर बढ़ रहे भ्रष्टाचार और अराजकता के लिए इसको जिम्मेदार मानता है। सत्यनारायण की उपन्यास *जस तस वहीं सवेर* कथानुसार राजकीय सेवाओं को मुक्त अर्थव्यवस्था की भाँति, फिटएकट बिल की सरवाइव' के सिद्धांत को लागू करने की माँग उठाने वाले प्रोफेसर दत्त के मत असहमत होते हुए प्रोफेसर नाथ कहते हैं :

> जिनकी टांग हमने उद्देश्यपूर्वक तोड़ दी हो, उसकी टांग पर प्लास्टर चढ़ाने के तत्काल बाद हम उसे अवसरों की समानता का नारा लगाकर वर्षों से खा–पीकर अभ्यास में जुटे धावक के साथ दौड़ने के लिए कहेंगे तो सारी दुनिया हमारी मूर्खता पर हँसेगी ही। ... अंतः केवल समान परिस्थितियों और अवसरों की उपलब्धता की स्थिति में ही मुक्त अर्थव्यवस्था, मुक्त प्रतिस्पर्धा का समर्थन किया जा सकता है।(67)

आजादी की वर्षगांठ के अवसर पर चौधरी देवीलाल और हरसन्ना भगत, मंगल पहलवान की अध्यक्षता में गाँव में आयोजित ध्वाजारोहण कार्यक्रम में बुद्धिजीवियों और नेताओं द्वारा

प्रतिनिधित्व पर आरोप लगाए जाते है, लेकिन रविदास समानता के लिए इसे आवश्यक मानते है।

उधर के लोग समाज में ध्रुवीकरण तथा इस ध्रुवीकरण की परतों को उतारते आपस में ही लड़ते–भिड़ते लोगों को हमारे सामने पेश करता हैं। यही लोग इधर व उधर खड़े हैं तथा आरोप–प्रत्यारोप के जरिए सामने वाले को ध्वस्त करने के लिए आमादा लिखते है। यहां व्यक्ति की सार्वभौमिक पहचान के साथ ही अनेक छोटी पहचानें उभरकर सामने खड़ी हैं। लेखक इन नवोदित पहचानों के बीच पैदा होने वाले संवाद पर पैनी नजर रखता है। आरक्षण से लाभान्वित व आर्थिक रूप से आम दलितों से उच्च ये इधर–उधर के लोग जातीय ध्रुवीकरण के माध्यम से लम्बी–लम्बी बहसों का वातावरण सृजित करते हैं। उधर के लोग, इधर के लोगों को कुछ कहना चाहते हैं। उसके मन में अनेक शंकाएं है। राजनीतिक रूप से दलित समुदाय में उठ रहे प्रश्नों पर कसमकश जारी है। इसी उपन्यास में अम्बेडकर जयंती के अवसर पर आयोजित साहित्यिक सभा में फैटेंसी के जरिए स्वयं बाबा साहेब दलितों का साथ देने वालों को धन्यवाद देते दिखाए गए हैं। *उधर के लोग* दलित एवं स्त्री के संदर्भ में विशेषकर नागरीय क्षेत्रों में कायम मानसिकताओं को टटोलता है। नगरीकरण ने हमें विकास एवं रोजगार के अनेक अवसर प्रदान किए हैं और समाज पहले से अधिक सभ्य और जागरूक हुआ है, लेकिन बावजूद इसके समाज में बड़े स्तर पर पाखण्डों का कूड़ा–कर्कट मौजूद है। उपन्यास जातिवादी और साम्प्रदायिक सरंचनाओं पर एक नई बहस को जन्म देता है। जातीय संरचनाओं की जटिलताओं ने बड़े–बड़े को ठिकाने लगा दिया है, इसलिए नवोदित राजनीतिक समुदाय को आपसी टकराव के प्रश्नों को कुशलता से निपटना चाहिए।

एक प्रश्न बार–बार उठता है। मन को कचौटता है कि सरकारी कार्यालयों, विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में समता भाव क्यों नहीं है 'मुक्तिपर्व' में नेतृत्व के प्रश्न पर संघर्ष देखा जा सकता हैं। भारत जातियों का देश है और प्रत्येक जाति अपनी अलग संस्कृति और अपनी अलग पहचान के लिए संघर्ष पर उतारू है जिससे विघटन बढ़ा है। मोहनदास नैमिषराय की उपन्यास *मुक्तिपर्व* कथानुसार आर्य समाजी रामलाल वंचित समाज की सहनशीलता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं :

> बंसी, हम समाज–सुधार जरूर करते हैं, पर तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। तुम लोगों के सहने–झेलने की तो जैसे कोई सीमा ही नहीं। ... बंसी भइया, आजादी का सुरज उग चुका है। मैं तो कहता हूँ, अब तुम्हें ही खुद आगे आना होगा और अपनी बात स्वयं अपने मुंह से कहनी होगी।(68)

डॉ० अम्बेडकर द्वारा दलितों के नेता के रूप में उभरना गाँधी जी को नहीं भाया और वे उनके नेतृत्व पर प्रश्न उठाते थे। "सवर्णों में कोई चाहता कि किसी भी क्षेत्र में नेतृत्व उनके हाथ से चला जाए। गाँधी जी महान थे, ठीक है, पर अम्बेडकर भी तो महान थे। फिर वे आगे की पंक्ति के नेता क्यों नहीं कहला सकते थे। आगे की पंक्ति में हमेशा सवर्ण समाज के नेता ही क्यों रहे?"(69) दलित कितना ही योग्य क्यों न हो, सवर्ण समाज उसे योग्य मानने से बचता है। यदि उसे योग्यता, बुद्धि, प्रतिभा और ज्ञानवान मान लिया जाएगा तो फिर उनके नेतृत्व और ज्ञान का तिलस्म समाप्त हो जाएगा और असलीयत देश दुनिया के सामने आ जाएगी। लोकतंत्र को केवल वोट डलवाने और सरकार बनाने तक सीमित न किया और संवैधानिक चेतना को अंतिम व्यक्ति तक पहुंचाने के लिए गाँधीवाद की अपेक्षा अम्बेडकरवाद की राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न कर सामाजिक उत्थान की बात करता है।

जैसे–जैसे विकास की गति बढ़ी है, वैसे–वैसे उपेक्षित समाज की जिंदगी में सकारात्मक बदलाव आए हैं जिन्हे विभिन्न क्षेत्रों में इनके पदार्पण के रूप में देखा जा सकता है, लेकिन अभी भी उत्पादन आबादी, अभावग्रस्त है। भारतीय गाँवों में अज्ञानता, अंधविश्वास, कुपोषण, बेरोजगारी, जातिवादी व्यवहार और सामाजिक भेदभावों से निकलने वाले सच का सामना करते–करते बेचैनी होने लगती है। आजादी के बाद बनने वाली सरकारों को एक तरफ सामाजिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम उठाने की मानसिकता का निर्माण करना था तो दूसरी तरफ सामाजिक अंधविश्वासों, जातीय परंपराओं और धर्म की जटिल परंपराओं का सामना करते हुए लोकतांत्रिक–समाजवादी ढाँचे का निर्माण करना था। क्योंकि संविधान ने उन्हें यही आदेश दिया था और इसी में सामाजिक रूपांतरण की संभावना झलकती थी। इन्होंने कभी आरक्षण के नाम पर कभी नौकरियों के नाम पर तो कभी कर्जा माफी के नाम पर उलझाए रखा।

युवा पीढ़ी शिक्षा के लिए गाँवों से निकलकर नगरों में प्रवेश कर रही है। जिससे इनमें अपनी सामाजिक हैसियत में बदलाव हुआ है। जयप्रकाश कर्दम लिखते है। दलितों में सामाजिक अस्तित्व, सामूहिक एकता और बंधुता का वातावरण बनाने के लिए *छप्पर* के नायक चंदन कहते हैं :

> सबसे पहली जरूरत है सामाजिक सम्मान की। यदि तुम्हारी सामाजिक हैसियत है तो तुम्हारे लिए हर कहीं गुजांइश हो सकती है। यदि तुम्हारी कोई सामाजिक हैसियत नहीं है तो चाहे तुम कोई भी काम कर लो, कितना भी धन लगा लो उस सबका कोई महत्व नहीं है। पैसा भी जीवन का एक फैक्टर है, मैं इससे इंकार नहीं करता। लेकिन इससे पहले जरूरी है समाज में तुम्हारी हैसियत का होना।"(37)

चंदन अशिक्षा के कारण मानसिक गुलामी में फँसे समाज की मुक्ति का संघर्ष छोड़ने का बेहतर विकल्प मानते हैं। वे कहते है :

> इन सोए हुए लोगों को जगाऊँगा और उसमें जागृति पैदा करूँगा ताकि अपने शोषण की जंजीरों को तोड़–फेंकने के लिए वे उठ खड़े हो। उन्हें खड़ा होना सिखाऊँगा मैं .... मैं पढ़ाऊँगा, मैं शिक्षित करूँगा उन्हें। मैं वाणी दूँगा उनकी मूक जुबान को ... हम थोड़े से लोग चीख–चीखकर मर जाएंगे कौन सुनेगा हमारी चीख को। हमें समाज से टक्कर लेनी है, सत्ता से लड़ाई है, जुल्म और शोषण के विरूद्ध संघर्ष करना हैं। एक दो आदमी के बस का नहीं है काम। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। इस सबके लिए फौज चाहिए, वह फौज तैयार करूँगा मैं।(40)

राजनैतिक उत्थान के संघर्ष में चंदन के पिता कहते है "महान है तुम्हारा संकल्प और महान है तुम्हारी कुर्बानी। इससे बड़ा तप और त्याग क्या होगा जीवन में ? सारे दान और अनुष्ठान फीके हैं तुम्हारे संकल्प और त्याग के आगे।"(78)

जागरूकता के आन्दोलन शोषकों और प्रशासनिक अधिकारियों की नींद हराम कर देते हैं। *छप्पर* की रजनी पिता से भेदभाव समाप्त करने को कहती है – "कौन कहता है व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता। आखिर आदमी की ही तो बनाई हुई है सारी व्यवस्थाएं और सारी व्यवस्थाएं आदमी के लिए ही है .... उसे अवश्य बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए .. .. यहाँ कहाँ का न्याय है।"(82) समाज में राजनीतिक आन्दोलन के चलते *छप्पर* के शोषक जमींदार ने अपनी जमीन को भूमिहीन मजदूरों में बाँटने का निर्णय किया :

> मैं नहीं चाहता कि हमारे बीच अब किसी तरह का अलगाव अथवा असमानता रहे। जातिगत अथवा धर्म के सूचक किसी गोत्र अथवा उपमान का भी अपने नाम के साथ प्रयोग नहीं करें हम, केवल मनुष्यता का रिश्ता हो हमारे बीच। मनुष्यता ही हमारा गोत्र हो, मनुष्यता ही हमारी जाति और मनुष्यता की हमारा धर्म हो। इसलिए मेरा तुमसे अनुरोध है सुक्खा कि मुझे ठाकुर साहब नहीं, हरनाम सिंह भी नहीं, केवल 'हरनाम' कहकर पुकारो तुम, जैसे मैं तुम्हे सुक्खा कहता हूँ।(113)

सांस्कृतिक व्यवस्था को रूपातंरित करने हेतु बौद्ध धर्म के कार्यकर्ता रूपलाल संघर्षरत हैं। मंगल पहलवान व हंसा से अपनी रिश्तेदारी के कारण वे उन्हें समझाकर सही रास्ते पर लाने में सफल होते हैं। दलित उपन्यासकार सत्यनारायण *जस तस वहीं सवेर* में लिखते है :

दोष आप लोगों का नहीं हैं। यह सब भ्रमजाल हैं, जिसमें आप फस गए हैं। दोष है व्यवस्था का जिसमें आप जी रहे हैं यह व्यवसायी नहीं दुर्व्यवस्था है जो गल–सड़ गई है।चेतना व न्याय के लिए भविष्य के नए संघर्ष का ऐलान करते हुए मंगल पहलवान कहते हैं – मैं इस क्षण से अंधकार का त्याग करता हूँ और प्रकाश का अभिनंदन करता हूँ। तमस भरी रात्रि बीत गई। नया सवेरा शुरू हो रहा है। मेरा ज्ञान मिट गया। ज्ञान चक्षु खुल गए। अब मैं रविदासों के ही नहीं मनसुखों के मामले भी स्वयं ही लडूँगा। उनका दुख भी मेरा ही दुख है।(123–124)

दलित भोजन व पीने के लिए मुकन्ना जोहड़ का गंदा पानी प्रयोग करने को बाध्य हुए। अततः संघर्ष हुआ। बहू–बेटियों को रिश्तेदारियों में भेज दिया गया और पानी के लिए एक हैंडपंप लगवाया गया। ताऊ मथुरा के कुशल नेतृत्व में किया गया यह संघर्ष ठीक बाबा साहेब के महाड़ संघर्ष के समान था।

रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यास *अकाल संध्या* में, "मुदा रूके बात हजूर .... एके बात से चिनता होती है कि जो कुछ चढ़ गया सिंहासन पर वहीं राजा। और राजा राजा एक समान! क्या ब्रामन–राजपूत, भुइहार, क्या जादव, कुर्मी, चमार–धरकार। राजा–राजा एक समान! स्बको देख लिया हुजूर।"(210)

काशीनाथ सिंह *काशी का अस्सी* में लिखते है :

धक्के देना और धक्के खाना, जलील करना और जलील होना गालियाँ देना और गालियाँ पाना औधड़ संस्कृति है। अस्सी की नागरिकता के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य, इसके जनक संत कबीर रहे हैं और संस्थापक औधड़ काशीराम इसी तरह राजनीति सत्तर पर वर्णन करते हुए काशी नाथ आगे लिखते है कि "कोताहल और ठहाके अंदर भी, बाहर भी, बहस और नोंक–झोंक अंदर भी बाहर भी। सरकार गिर रही है, बन रही है अन्दर भी, बाहर भी, हार रहा है, जीत रहा है .....।" इसी तरह राजनीति पक्ष सता पक्ष को नीचा दिखाने के लिए भी चाल चलते है। "देख बदिरिया, हम तुम दीवाली को रात भर रीवा कोठी में जुआ खेलते रहे, उस बीच दो बार बिजली गई और साले, दूसरे दिन अखबार में निकलवा दिया कि बनारस की दीवाली अबकी अँधेरे में मनी। यही नैतिकता है तुम्हारी ? राय साहब बोलते–बोलते खड़े हो गए।"(38, 52, 21)

जहाँ वर्णन है कि विपक्ष बस कुछ भी सरकार को नीचा दिखाने के उद्देश्य से करते है। इस राजनीति तंत्र में दलित को अपने स्वामिनों के अधिस्थ कार्य हेतु सुबह जल्दी निकलना पड़ता

है। ताकि शाम को कुछ खाने के लिए राशन पानी का इंतजाम हो जाए। मोरवाल *पक्की जेठ का गुलमोहर* में लिखते है :

> मुझे लगा कि वे काफी दूर निकल गये होगे मैं दरवाजा खोलकर कमरे में घुस गया, वहां एक तरफ चूल्हे में ठंडी होती राख और जली हुई लकड़ी के अदे कोयलों को देखकर मुझे अन्दाजा हो गया कि उन्होंने रोटिया बना ली है।(13)

राहुल सिहँ *नया ज्ञानोदय पत्रिका* में लिखते है :

> हमारा समाज छोटी–छोटी बिरादरियों में राजनीतिक तौर से बँटा हुआ है और ये बिरादरी लोकतांत्रिक यानी बिरादरी की बैठकों में जनमत के आधार पर निर्णय लेती है और चाहती है कि उनका प्रतिनिधित्व उनकी ही जाति या बिरादरी का आदमी करे। यह बिरादरी समूह या संगठन नया नहीं हैं, बहुत पुराना है। इसे तोड़ना अभी सम्भव नहीं है। (17)

4.4.1 दलितों का राजनीतिकरण

वैदिक कालीन भारतीय समाज से लेकर वर्तमान समय तक दलित राजनीति का शिकार हुआ है। कभी उसे वर्ण के आधार पर समाज की सबसे निचली पायदान पर रखा जाता है तो कभी उसे जाति के आधार पर अस्पृश्य कहा जाता है। जब कहीं भी उसे कुछ लाभ मिलने के अवसर दिखाई दिये तो लोगों ने उसे 'हरिजन' जैसे शब्दों से सम्बोधित कर उनके साथ राजनीति की। स्वतंत्रता के पश्चात् दलितों को कुछ पार्टियों के समर्थक के रूप में पेश किया गया और उन्हें विभिन्न प्रकार के प्रलोभन पर पार्टी से जोड़े रखा गया। चाहे वह कांग्रेस पार्टी रही हो या कोई जनता दल या फिर समाजवादी पार्टी सभी ने केवल दलितो के वोट के लिए उन्हें अपने साथ लिया उन्हें कभी भी मुखियाँ नहीं बनाया। बलबीर कुंज *सबसे शर्मनाक दिन* मेंलिखते है – "आप मुस्लिमों का प्रतिनिधित्व छीनते है, अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व बनाये रखते है।"(10)

वर्तमान समय में दलितों की गिनी–चुनी पार्टियां है जो दलितों की हितैषी दिखाई पड़ती है लेकिन पूर्ण बहुमत के अभाव में वे बहुत दिनों तक सत्ता में नहीं रह पाती, जो रहती भी है वे दलितों के लिए कुछ योजनाएँ व कार्य जरूर शुरू करती है जिससे उनका उद्धार होता दिखाई पड़ता है। बहुजन समाज पार्टी दलितों की प्रमुख पार्टी के रूप में मानी जाती है जिसकी मुखिया एक दलित महिला मायावती जी है जिसके संस्थापक मान्यवर काशीराम जी थे। इनके इलावा झारखण्ड़ में मधु कोड़ा के नेतृत्व मे तथा राम विलास पासवान के नेतृत्व में बिहार व

झारखण्ड में क्षेत्रीय पार्टियाँ दलितों की पार्टियाँ मानी जाती है। भारतीय राजनीति में आज प्रत्येक पार्टी दलितो को आकर्षित करने के लिए राष्ट्रीय स्तर, प्रदेश स्तर, जिला स्तर व तहसील, गाँव या प्रत्येक स्तर पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति अध्यक्ष, उपाध्यक्ष पद का सृजन कर दिया गया है। यह पार्टियां इन्हीं के माध्यम से अपनी पार्टी को मजबूत करने के लिए प्रयासरत है। भारतीय जनता पार्टी जैसी पार्टियां भी अपनी सभी ईकाईयों में उनके लिए पद की व्यवस्था कर रखी है।

रामधारी सिंह दिवाकर का उपन्यास *अकाल संध्या* बिहार के गाँव की पृष्ठभूमि पर आधारित जमीदारी समाप्ति के बाद सवर्णों की घटती सता और दलितों में जनतात्रिक चेतना के कारण बढ़ते आत्मविश्वास की कहानी है। कहानी उस समय का उल्लेख करती है, जब गाँव वर्ण व्यवस्था के आधार पर टोलो में बंटे थे। फिर आजादी के बाद बाबा साहब अम्बेडकर, बिनोवा भावे के भूदान यज्ञ, बिना जात–पात की व्यवस्था, साम्यवाद, वी.पी.सिंह के मंडल कमीशन और मुख्यमंत्री मायावती का उल्लेख है। स्कूल के स्वर्ण जंयती उत्सव में बुद्धन मांझी के माध्यम से लेख अपना सन्देश देता है। *अकाल संध्या* उपन्यास की कथानुसार :

> डिप्टी सी.एम. प्रो0 अनवर हुसैन बुद्धन को मंच पर बिठाकर पूछते है कि राज बदलने से गाँव में क्या कुछ असर हुआ है ? वह निड़रता से कहता है, असर नहीं हुआ है, तो हम आपके सामने कुर्सी पर कैसे बैठे है ? वह आगे कहता है, कि जिन दलितों को लोग मनुष्य नहीं समझते थे, वे आज न केवल बदल रहे है, बल्कि एक होकर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक भी हो गए है।(99)

वर्तमान समय में कांग्रेस जैसी पार्टी की कार्यकर्ता रीता बहुगुणा जोशी, राहुल गाँधी, सोनिया गाँधी आदि दलितों की बस्तियों में जाकर उनके यहाँ भोजन करने, साथ में रहने, उठने–बैठने हाथ मिलाने, जैसे क्रिया–कलाप करते हुए देखे जा सकते है। जो वस्तुतः समाज को दिखाने के लिए और दलितों को आकर्षित करने के लिए कि हम तुम्हारे सबसे ज्यादा हितैषी है, अन्य पार्टियाँ केवल तुम्हारा उपयोग कर रही है। किन्तु इन पार्टी के कार्यकर्ताओं द्वारा किये गए सभी कार्यों को यदि सूक्ष्म रूप में देखा जाता तो वास्तविकता कुछ और दिखाई पड़ती है।

राजनीतिक पार्टियाँ दलितों को अपना बताने वाली, जाँति–पाँति का भेदभाव, छूआ–छूत को न मानने का ढोंग करती है। क्योंकि अगर वह यह सब नहीं मानती तो दलितों के घरों में उपलब्ध समान या संसाधन के द्वारा बनाये या पकाये गये भोजन क्यों नहीं करते, क्यों वे अपने साथ व्यवस्थाएं लेकर चलते है। वहाँ और दूसरों से भोजन बनवाते है। क्यों नहीं आज तक

किसी भी गैर दलित पार्टी के द्वारा किसी राज्य का मुख्यमंत्री दलित हुआ ? क्यों नहीं किसी पार्टी के द्वारा भारत का प्रधानमंत्री पद पर दलित को बैठाया गया? हालांकि राजनीतिक पार्टियों ने दलितों को उसी पद पर बिठाया जो केवल काठ के उल्लू के समान है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा *जूठन* में लिखते है कि – "महार, माँश, चमार, और मेहतर के भेद वे बाह्य रूप से भुलाने की बात करते थे, लेकिन आन्तरिक रूप में वे स्वयं इन भावनाओं से जकड़े हुए थे।"(132)

इससे स्पष्ट होता है कि गैर दलित पार्टियाँ दलितों के केवल वोट के लिए कुछ पद दे देती है। वास्तव में यदि देखा जाय तो दलितों की हितैषी दलित पार्टियाँ ही हो सकती है।

4.4.2 मीड़िया और दलित समाज

वर्तमान समय में मीडिया विश्व की सबसे प्रभावशाली सूचना का एक सशक्त माध्यम हैं, इसमें विश्व की घटनाओं को अनोखे अंदाज में लोगों के सामने पेश किया जाता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पहलूओं सहित प्रत्येक आम खबर को मीड़िया के विभिन्न माध्यमों से आम जनता को जोड़ा जाता है। मीड़िया आज अपने मूल उद्देश्य से वर्तमान समय में हटती नजर आ रही है। एक समय था जब यह दूसरों की जिन्दगी में झाँककर खबर बनाती थी। लेकिन मीडिया के अन्दर की खबर जब पत्रिकाओं के माध्यम से समाज के सामने लायी तो उसमें विभिन्न प्रकार की विसंगतियाँ नजर आयी।

मीडिया के अन्दर चाहे नियुक्ति का मामला हो या खबर छपने का मामला हो बहुत पक्षपात किया जाता है – हालांकि मीड़िया हाउस जुगाड़ और जातीय समीकरण को खारिज करते है और योग्यता की दुहाई देने से परहेज नहीं करते। लेकिन अरविन्द मोहन *मीडिया में दलित* में कहते हैः

> आज हम दलित समूहों में आने वाली आवाजों पर गौर करें तो पायेंगे कि उन्हें लोकतंत्र और संविधान से बनी व्यवस्थाओं से जितनी शिकायतें हैं। उनसे कहीं ज्यादा शिकायतें मीडिया से हैं और मीड़िया में काफी समय लगाने के चलते मुझ जैसे लोगों को भी यह लगता है कि आज की मीडिरूा में ही नहीं अभी तक चली पत्रकारिता में जो कमियाँ रही है उसमें कमजोर जमातों की आवाज को उनके असली हक के हिसाब से जगह न देना प्रमुख है। आज मीड़िया पर बाजार की पकड़–बढ़ते जाने के साथ दलित समेत सारे कमजोर समूहों को सही जगह दे पाना ज्यादा मुश्किल होने लगा है और स्थिति जल्दी बदलेगी, इसकी गुजाइंश कम दिखती है।(11)

अरविन्द मोहन लिखते है, जहाँ तक पत्रकारिता का सवाल है। इसमें हम गाँधीवादी प्रभाव को देखते हैं लेकिन :

> कायदे–कानून वाला अम्बेडकर प्रभाव नहीं आया। मीडिया में खबर से लेकर मीडियाकर्मियों के चुनाव तक किसी भी तरह के आरक्षण की व्यवस्था नहीं हुई है। यह न तब हुई न आज हुई है। सरकारी मीडिया–दूरदर्शन और आकाशवाणी में सरकार की आरक्षण नीति की बदौलत संभव है कोई एकाध दलित ढंग के पद पर आ गया हो पर उसकी भी खास चली हो यह नहीं कहा जा सकता। दलितों को प्रतिनिधित्व देने या उनकी खबरों को उचित जगह देने में सरकारी मीडिया का रिकार्ड भी औरों से बेहतर है यह नहीं कहा जा सकता। बल्कि सामान्य प्रेम में ही आजादी की लड़ाई के दौरान सुधारवादी कोशिशें हुई। इसी के तहत सरस्वती के सम्पादक देवीदत्त शुक्त जैसे लोगों ने अपने एक दलित कर्मचारी के साथ तस्वीर खींचवाकर यह बताने की कोशिश की कि जाँत–पाँत नहीं मानते।(12)

रूपचन्द गौतम अपनी पुस्तक *दलित महिलाएँ और मीडिया दृष्टि* में लिखते है :

> दरअसल भारतीय पत्रकारिता ने दलित अस्मिता का जितना मजाक उड़ाया है, उतना शायद और किसी ने नहीं। कोई भी ऐसा दिन नहीं जाता, जब दलित महिला से बलात्कार की खबर किसी दैनिक में न छपती हो। खोजी पत्रकार तुरन्त दलित महिला के अनगिनत चित्र छाप देते हैं। जबकि साड़ी उतारने वाले के नहीं। बल्कि उनका मुँह हमेशा कपड़े से ढ़का हुआ दिखाया जाता है, ऐसा क्यों? क्या बलात्कारी पत्रकारों की बिरादरी के है? खोजी पत्रकार बलात्कार की खबर छापकर पत्रकारिता के शिखर पर बैठना चाहते हैं। बलात्कार खूब छपता है और खूब बिकता है। दलित समाज के जागरूक लोग बार–बार भारतीय पत्रकारिता पर आरोप एवं प्रत्यारोप लगाते है कि जितना समय खोजी पत्रकार दलित अस्मिता को बिखेरने में लगाते है, उतना समेटने में क्यों नहीं? दलित समाज के जिस्म को उखाड़ना ही अब भारतीय पत्रकारिता है, न कि उसे ढंकना। गरीबी को कुदेरना ही श्रेष्ठ पत्रकारिता है न कि गरीब की मदद करना। सच तो यह है कि आदर्श कहलाने वाली भारतीय पत्रकारिता आज भी जातिगत श्रेष्ठता के सामंती मूल्यों का निर्वाह कर रही है।(27)

आजकल टेलीविजन पर 'झाँसी की रानी' सीरियल दिखाया जा रहा है। सोचने की बात तो यह है कि उक्त सीरियल में झलकारी बाई नदारद है, जबकि स्वतंत्रता संग्राम में झलकारी बाई असली नायिका थी। फिल्म 'सुजाता' के माध्यम से दलित औरतों की डरी–सहमी अपने

हक की बात न करने वाली जैसी छवि प्रस्तुत की गई। "सौतन' फिल्म में बलिदान करते हुए रोते–बिलखते हुए केवल दलित पात्र पद्मिनी कोल्हापुरी को ही दिखाया गया है "अछूत कन्या" में दलित पात्रों को संघर्ष नहीं, बल्कि गिड़गिड़ाते प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार श्याम बेनेगल ने "डॉ० अम्बेड़कर फिल्म में बाबा साहब के चरित्र के साथ खिलवाड़ किया है।(28)

अतः मीड़िया वास्तव में दलित समाज की पोषक नहीं रही है वह केवल दलितों का दब्बू, डरपोक, अयोग्य, गँवार, अछूत, कमजोर जैसी छवि समाज के सामने प्रस्तुत करती है। इसीलिए मीड़िया पर भी वही चीजे लागू होनी चाहिए जो समाज पर राजनीति के नेतृत्व पर लागू होती है। तभी वह सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करेगा नहीं तो वह केवल उद्योगपत्तियों प्रभावशाली लोगों की ही बात कहेगा।

4.4.3 सामाजिक समरसता और सत्ता में भागीदारी

दलितों के प्रति समाज को मनो–सामाजिक दृष्टिकोण और रवैया है, वह अत्यन्त ही निम्न और भद्दा है। यह व्यक्ति की सामाजिक आत्मा का जतन है। यह चमार, महार, भंगी, मुसहर, डोम, सैंशी, तातियाँ, धानक का बहुजन समाज ही भारत की असली तस्वीर है, इसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। ज्ञात इतिहास के आरम्भिक काल से ही भारतीय जाति, वर्ग और वर्णों में बँटा रहा है। लेकिन 21 वीं शताब्दी में भारतीय समाज में सामाजिक समरसता का अभूतपूर्व विकास हुआ है। वर्तमान समय में जातिप्रथा, अस्पृश्यता समाज के व्यवहारिक रूप में बहुत कम ही रह गया है किन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर आज भी विद्यमान है।

वर्तमान समय में समाज के प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति सामूहिक रूप से कार्यों को सम्पन्न करता है, कभी उच्चवर्ग के व्यक्ति की देख–रेख में तो कभी निम्न या दलित वर्ग के अन्दर सवर्ण लोग कार्य करते हैं। सभी सार्वजनिक स्थानों पर समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, वहाँ न कोई छुआ–छुत की बात आती है, न ही दलित से परहेज की। ऑफिस में, ढाबा पर, यात्रा के दौरान रेल, बस, स्टेशन, हवाई जहाज आदि सभी जगहों पर सामाजिक समरसता दिखाई पड़ती है। वर्तमान समय में नगरों में एक ही नल पर सभी पानी भरते है, पीते है। एक ही सरकारी कॉलोनी में रहते है एक ही शौचालय का प्रयोग करते है, एक–दूसरे के मकान तथा दरवाजे आमने–सामने बने हैं।

भारतीय समाज में कहीं–कहीं सामाजिक समरसत्ता का अभाव भी दिखाई पड़ता हैं दलितों को आज भी मन्दिरों में प्रवेश नहीं करने दिया जाता, साथ में बैठकर भोजन, एक चारपाई पर बैठने से मना कर दिया जाता है, न ही अर्न्तजातीय विवाह को मान्यता दी जाती है। उनके लिए वही निम्न कोटि के कार्य करने को विवश किया जाता है, उन्हें आगे बढ़ने से

रोकने के लाखों प्रयत्न भी किये जाते है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने *जूठन* में लिखा है कि "मराठी ब्राह्मण वह भी पूना के ब्रह्मण महारों को अपने बर्तन छूने नहीं देते इसलिए उनके बर्तन अलग रखे जाते है। चाय के जूठे कप मिसेज कुलकर्णी उठाने आई थी, लेकिन कांबले का कप कुलकर्णी ले गया था।"(115) एस. नागव्वा का *सबसे शर्मनाक दिन* में विचार था कि "हम धार्मिक अल्पसंख्यक नहीं है हम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक अल्पसंख्यक है। हम पृथक राष्ट्र नहीं है। हम एक ही धर्म है, एक ही संस्कृति और एक परम्परा के हाड़ माँस है।"(10) कोई दलित आई.ए.एस. या आई.पी.एस. बन जाता है तो उसकी योग्यता पर सवाल उठाया जाता है। कहा जाता है कि वह ऐसे पदों पर बैठने के योग्य नहीं है, न ही वह पूर्ण रूप से कार्य कर पायेगा। इसके अलावा कुछ राजनीतिक पार्टियों ने भी दलित समाज की अस्मिता और सम्मान को कलंकित करने का भरसक प्रयास किया है। 6 दिसम्बर 1922 को बाबरी मस्जिद गिराकर साम्प्रदायिक माहौल बिगाड़ा गया और इस तिथि को कलंकित किया गया। 6 दिसम्बर दलितों के मसीहा डॉ० भीमराव अम्बेडकर की जन्म तारीख थी। इसी प्रकार महात्मा गाँधी की हत्या नत्थू राम गोडसे ने उस 30 जनवरी को जिस तारीख को रैदास का जन्म दिवस मनाया जाता है।

जहाँ तक दलितों की सत्ता में भागीदारी की बात है तो दलितों ने भी अपनी–अपनी कुछ पार्टियाँ बनाकर सत्ता प्राप्त की है चाहे वह थोड़े ही समय रही हो। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी की मुखिया मायावती मुख्यमंत्री बनी। झारखण्ड में मुण्डा, मधु कोड़ा ने भी मुख्यमंत्री पद धारण किया। इसके अलावा दलित वर्ग प्रत्येक पार्टी में रहकर केन्द्रीय व क्षेत्रीय स्तर पर उन्हें अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद प्राप्त किया है। हालांकि अभीतक भारत के प्रधानमंत्री के रूप में कोई भी दलित व्यक्ति नहीं हो पाया, जबकि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति लोकसभा अध्यक्ष, संविधान सभा प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में दलितों को पद मिला है। उनके लिए भारतीय संसद में सदस्य बनने के लिए आरक्षित सीटों का निर्धारण भी है। इसी प्रकार विधानसभाओं व विधान परिषद में व्यवस्था है।

वर्तमान समय में भारत के प्रत्येक क्षेत्र में दलित वर्ग का व्यक्ति सत्ता के एक कड़ी के रूप में मिलता है। यहाँ तक ग्राम पंचायत प्रधानों के पद के लिए भी दलितों को आरक्षित सीट का निर्धारण किया गया है। वे प्रधान, सदस्य, बी.डी.सी. क्षेत्र पंचायत, ब्लाक प्रमुख, जिला पंचायत अध्यक्ष, नगर पालिका सदस्य व अध्यक्ष जैसे पदों पर आसीन है।

दलित पार्टियों के सामने अनेक मजबूरियाँ है जिसके परिणामस्वरूप ये पार्टियाँ दलितों को सभी स्थानों पर चुनाव लड़ने के लिए टिकट नहीं दे पाती उनके स्थान पर ये पार्टियाँ स्वर्ण

धनी लोगों को अपने सीटों पर चुनाव लड़वाती है। क्योंकि पार्टी चलाने के लिए, चुनाव लड़ने के लिए पैसे की जरूरत होती है। यह कमी केवल आर्थिक सम्पन्न लोग ही पूरा कर सकते है, गरीब दलित के बस की बात नहीं है। दलितों की सत्ता में भागीदारी कम होने का मुख्य पहलू यह भी है आर्थिक विपन्नता की स्थिति। उपन्यास के नायक चन्दन से प्रभावित होकर दलित लोग कहते है कि "नहीं बाबू! नहीं हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि हमारे बच्चों को भी हमारी तरह अपमान, शोषण और अन्यायपूर्ण जीवन जीना पड़े। हम चाहते है वे मनुष्य की तरह जियें। जो यातनाएँ हमको सहनी पड़ी हैं वे उनसे मुक्त हों तथा समता और स्वाभिमान का जीवन जिएँ।"

कर्दम के उपन्यास *छप्पर* का नायक शिक्षित दलित युवक चन्दन अपने समाज के विकास के लिए प्रयत्नशील है। वह सामाजिक व्यवस्था में दुहरी राजनीति पर कहता है कि :

> मैं वाणी दूंगा उनकी मूक जबान को। पढ़ लिखकर हमारे समाज के लोग ऊपर नहीं उठेगें तो हमें कौन पूछेगा। हम थोड़े से लोग चीख–चीखकर मर जायेंगे कौन सुनेगा हमारी चीख को। हमें समाज से टक्कर लेनी है, सत्ता से लड़ाई लड़नी है, जुल्म और शोषण के विरूद्ध संघर्ष करना है। हम सबके लिए फौज चाहिए वह फौज तैयार करूँगा मैं।(37, 42)

4.5 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम जीवन का राजनीतिक पक्ष

भारत को स्वतंत्रता मिलने के साथ विभाजन का धब्बा लगा। इससे मुस्लिम धर्म के हर एक व्यक्ति में अनेक विरोधों का जन्म हुआ। क्योंकि उसका स्वत्व खंडित नहीं हुआ, बल्कि आजादी के बाद वह अकेला ही पड़ता गया। यही नहीं इस विभाजन में साम्प्रदायिक विशेष, घृणा, अविश्वास तथा मानवीयता की जो समस्याएँ पैदा की, उसमें पंरपरागत मूल्य ढह गये। नई स्थितियों का जन्म हुआ। मुस्लिमजन अपने सामाजिक जन अपने सामाजिक संबंधों में शरणार्थी बन गये। फलतः नया बुद्धिजीवी मुस्लिम वर्ग पराजय की आत्मग्लानि, पूर्ण असहाय अनुभूतियों में पूरी तरह टूट गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के अनंतर के उपन्यासों में राजनीतिक पर बात शुरू हो जाती है। इसमें प्रत्येक पात्र या तो राजनीति से घृणा करता हुआ नजर आता है। फिर उसके प्रति तटस्थता और आक्रोश प्रकट करता हुआ नजर आता है। भारत में मुस्लिम राजनेताओं ने राष्ट्रीय एकात्मता और राष्ट्रीय कल्याण के आदर्श को उपेक्षित कर दिया। वैयक्तिक स्वार्थ को पूर्ण करने में ही डूबे रहे। सत्ता प्राप्ति की दौड़ में मुस्लिम राजनेताओं में मुस्लिम मानव का विचार नहीं किया। अधिकांश मुस्लिम नेता मुस्लिम समाज की समस्याओं के प्रति चुप्पी साध लेते हैं।

ऐसी परिस्थितियों में साहित्यकार समकालीन यथार्थ के वस्तुपरक चित्रण कर्ताओं मे अब्दुल बिस्मिल्लाह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अपने अनुभूति प्रणता को संवेदना के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। यह संवेदना सम–सामयिक परिप्रेक्ष्य से जुड़ी हुई होती है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में भारत देश में रहने वाले कुछ मुसलमान भारत देश की राजनीति के प्रति नफरत व्यक्त करते हैं। इकबाल अहमद (इकबाल बहादुर राय) कहता है :

> इसलिए कि हम यहाँ दूसरे दर्जे के शहरी हैं। एक सेक्युलर मुल्क के होते हुए भी हिन्दुस्तान असल में हिन्दू मुल्क है। ..... यह सच है। आप बताइए कि यहाँ सरकारी नौकरियों में ऊँचे ओहदों पर कितने मुसलमान हैं? पुलिस फोर्स, फौज, रिजर्व बैंक, मिनिस्ट्री .... कहीं भी? हिन्दुस्तान का प्राइम मिनिस्टर कोई मुसलमान क्या हो सकता है?..... एक सेक्युलर मुल्क के स्कूलों में ऐसी प्रार्थनाएं क्या होती हैं ? एक सेक्युलर मुल्क के प्राइम मिनिस्टर और प्रेसिडेंट किसी भी मौके पर धूप दीप क्यों जलाते हैं ? (39)

स्वार्थी राजनीतिक नेता लोग, जो मुसलमान हैं, अपने स्वार्थ साधने के लिए क्या करते हैं? इसका निरूपण फैजी, नकबी साहब जैसे पात्रों के द्वारा करने का प्रयत्न अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने उपन्यास में किया है :

> फैजू (राइट बंधु) नेता भी थे। किस पार्टी के यह तो पता नहीं, मगर खद्दर पहनते थे। सत्ता पक्ष के बड़े–बड़े नेताओं से अपना संबंध बताते थे। किसी का भी, कोई भी काम करा देने का दावा करते थे। प्रिसिंपल साहब के गाँव में जब उसका मकान बन रहा था, तो अवैध रंग से सीमेंट की बोरियाँ फैजू ने ही दिलवायी।(68)

नकवी साहब अपने संगें राजनीतिक नेताओं के बारे में कहते हैं :

> प्रोफेसर साहब, हमारी राजनीति में तो बहुत से लोग संन्यास लेने का एनाउंसमेंट करते रहते हैं और आप जानते हैं कि वे या तो सन्यास लेते ही नहीं, या फिर दोबारा उसी दायरे में लौट आते हैं। मगर एजुकेशन – यानी शिक्षा के क्षेत्र में जुड़े हुए आप जैसे लोगों के मुँह से यह सब सुनकर बहुत अजीब लग रहा है।(83)

प्रायः राजनीतिक नेता लोग लिए बिना देते नहीं है। काम करते नहीं हैं। मुसलमान नेता लोग भी इसके उपवाद नहीं हैं। वे अपने सगे मुसलमानों के काम भी लिए बिना करते नहीं है। नकबी साहब ऐसे मुसलमानों राजनीतिक नेता लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारत सरकार पर शिक्षित मुसलमान लोग व्यंग्य करते दिखाई देते हैं। यासमीन पात्र के द्वारा इसका निरूपण किया जा रहा है। प्रस्तुत उपन्यास में जीमल से यासमीन कहती है :

> एक तो यह कि, हिन्दी साहित्य के इतिहास में आपका नाम नहीं लिखा जाएगा। ..... आपको साहित्य अकादमी पुरस्कार नहीं मिलेगा। ..... भारत का यह अलिखित संविधान है। जैसे कोई भी मुसलमान इस देश का प्रधानमंत्री नहीं बन सकता, वैसे ही हिन्दी साहित्य के लिए किसी भी मुसलमान लेखक को साहित्य अकादमी पुरस्कार नहीं मिल सकता। ... सच पूछिये तो यह सब हमारी लियाकत की वजह से नहीं मिल रहा है। सरकार को दिखाना है कि देखिए हमने एक मुसलमान को भी शामिल नहीं किया हैं।(127)

भारतीय लोगों की कमजोरी पता चल गयी है। हिन्दू और मुसलमान लोगों के धार्मिक भावनाओं को भड़काकर अपना फायदा किस तरह उठाते हैं और फायदे उठाने की जो श्रृंखला है जिसे हम समझ सकते हैं। बाबरी मस्जिद के बारे में *समकालीन जनमत पत्रिका* में प्रस्तुत किया गया है :

> 22–23 दिंसबर 1949 की रात बाबरी मस्जिद में मूर्तियाँ रखवा कर विवाद की नींव डालने लगे, फैजाबाद के तत्कालीन जिलाधिकारी के.के. नैय्यर ने इससे भड़की साम्प्रदायिक भावनाओं का फायदा उठाकर जनसंघ के टिकट पर लोकसभा तक की यात्रा की थी।(17)

1984 में विहिप ने तालों में बंद भगवान राम की मुक्ति के लिए नारे लगाए। भगवान राम को मुक्त करने के लिए सीतामढ़ी से अयोध्या की रथ यात्रा की। इस विवाद के साथ कई समस्याएँ आ जुड़ी जैसे धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक। इसमें कुछ संघ परिवार के सुविधा के लिए तो कुछ तत्कालीन परिस्थितियों की देन थी। 1986 में फैजाबाद की जिला अदालत के आदेश पर ताले खोल दिये। 1989 में राम मंदिर का शिलान्यास किया गया। वी.पी. सिहँ व मुलायम के राज में मंडल आयोग की सिफारिशें लागू किये गये थे। लागू होने के बाद 1990 में उस कारसेवा आंदोलन हुआ। 1992 में बाबरी मस्जिद को ध्वंस किया गया। इस प्रकार इन

पहलुओं की संख्या 22–23 दिसम्बर 1949 से 6 दिसम्बर 1992 तक ही नहीं, यह आगे भी जारी रहने की संभावना है।

काला पहाड़ उपन्यास में भगवान दास मोरवाल ने मेवात क्षेत्र के आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जन–जीवन का अधिकांश वहाँ की भाषा में ही विस्तृत चित्रण किया है। यह क्षेत्र हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश की सीमाओं के मध्य फैला हुआ है। इस क्षेत्र में धर्मांतरित 'मेव' मुसलमान रहते हैं। इन्होंने बाबर के विरूद्ध युद्ध में राणा सांगा का साथ दिया था। सन् 1947 में देश के बँटवारे के समय यह 'मेव' गाँधी जी का अनुरोध मानकर पाकिस्तान नहीं गए। इस क्षेत्र में हिन्दू अल्पसंख्या में हैं, परंतु वे अपने बहुसंख्यक मुस्लमान पड़ोसियों के साथ सौहार्द्रपूर्ण ढंग से रहते आए है।' वे एक–दूसरे के त्यौहारों में खुलकर सहभागिता करते हैं। सन् 1947 तक इस क्षेत्र में साम्प्रदायिकता का नामों–निशान नहीं था।

परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् जबसे चुनाव शुरू हुए, इस क्षेत्र में भी राजनेताओं ने वोट प्राप्त करने के लिए साम्प्रदायिकता को उभाड़ना शुरू कर दिया। पिछले कई वर्षों से मेवात क्षेत्र में पानी न बरसने से अकाल की स्थिति आ गई थी। भगवान दास मोरवाल *काला पहाड़* में मेवात के मुस्लिम वर्ग की दशा का वर्णन करते लिखते है, वहाँ के लोग अन्यत्र जाकर अन्न लाते थे और उसी से उनका जीवन चलता था।

> आखिरकार एक–एक कर आधे से ज्यादा चमाखाड़ा खाली हो गया, बल्कि खटीफवाड़ा तो लगभग पूरा ही खाली हो गया और जो कुछ बचे हैं उनमें से ज्यादातर लागत बैशाख पता नहीं किस ओर निकल जाते हैं। आषाढ़ के पहले सप्ताह में जब आने लगते हैं तब साथ में होता बीस–बाईस मन अनाज से लदा ट्रक या टेम्पो। वैशाख या जेठ में चमारवाड़ा तो क्या अब सात–आठ कीले के मासिक भी चुप–चाप अपने सामने–सामने बो को लेकर उनकी देख–देखी जाने लगे हैं।(57)

सलेमी के मित्र मनीराम का बेटा बनवारी गाँव छोड़कर दिल्ली नौकरी के लिए जाने लगा, उसे मनीराम ने रोकना चाहा, तो उसने कहा, "चाचा, मैं कब कह रो हूँ कि ई पुरखान को ठिया छोड़ो जाय– पर जब याँ कुछ है ई ना तो हम या पुरखान काठिया ए चाटता फिरें ?" 'काला पहाड़' के निकटवर्ती गाँवों में नगीया नाम का एक गाँव था। उस गाँव में हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लोग मिलजुल कर रहते थे। उस क्षेत्र के प्रमुख राजनेता थे – चौधरी करीम हुसैन, चौधरी खुर्शीद अहमद और चौधरी अतरमुहम्मद। ये लोग चुनाव जीतने के लिए साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों को संगठित करते थे। फिर भी नगीना वालों का जीवन साम्प्रदायिकता से प्रभावित नहीं था। कुछ समय बाद सलेमी का पोता असलम आया और उसने

बताया की तीस तारीख को हिन्दू मुसलमानों में झगड़ा होने वाला है। सलेमी ने अपने मित्र हरसाय से इस संबंध में पूछा, तो उसने बताया, "हाँ यार सलेमी, अफवाह तो कुछ ऐसी ही है ... पर झगड़ा–फिसाह की ऐसी कोई बात ना है। हाँ, ई सुनी है कि बीजपी अयोध्या में काई महजत–वहजत पे झण्ड़ा–वण्ड़ा गाड़ने की बात कर रा हैं।"

हिन्दू–मुसलमानों में साम्प्रदायिकता को बढ़ाने वाला एक अवसर सरपंची के चुनाव के समय भी आया। हिंदू संगठनों के नेता हिन्दू प्रत्याशी मानिक के पक्ष में डट गए। उधर मुसलमान भी संगठित रूप में हाफी अशरफ के पक्ष में एक–जुट हुए। अंततः सलेमी जैसे मुसलमानों के समर्थन से हिन्दू प्रत्याशी मानिक विजयी हुआ। सलेमी द्वारा हाजी असरफ का विरोध करने पर उसके बेटे बाबूखाँ ने कहा, 'हाँ–हाँ तू काईं लू देएगो हाजी असरा लू वोट ... वा माणक बणिया पर दे ए गो, जीणो हराम कर रखो है .... हाजी असरफ जैसो भी है ..... है तो अपणी बिरादरी .... अपनी कौम को।"

इस बीच 1992 में बाबरी मस्जिद का मामला छिड़ा जिसका लोगों की मानसिकता का चित्रण करते हुए लेखक ने *काला पहाड़* में लिखा है :

> सच तो यह है कि ना ये अज्ञानी हैं, न खल–कामी, न उजड हैं, न ना समझ बल्कि एक विकासशील देश के ऐसे विकसित नागरिक हैं जो अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अधिक अपने धर्म के प्रति जागरूक हैं और उसी जागरूकता का परिणाम है कि इस देश का प्रत्येक नागरिक अपनी कोम और अपने मजबह पर जी–जान से हर समय मर मिटने को तैयार है।(401)

इस विवाद के पीछे संगठनों का धार्मिक उन्माद और राजनीतिक स्वार्थ निहीत हैं। कुछ वर्षों से साधू और महंत भी इस आंदोलन में सम्मिलित हो गए हैं।

डब्ल्यू. एच. मोरलैण्ड ने अपनी पुस्तक *रूरल सिस्टम ऑफ मुस्लिम इंडिया* में बताया कि:

> भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में कृषकों के अधिकार का प्रश्न ही नहीं था। यह देन तो ब्रिटिश युग की है। हिन्दू तथा मुस्लिम कालीन व्यवस्था में कृषकों के लिए कर्त्तव्य ही थे, अधिकार नहीं। उनका कर्तव्य था कि वे भूमि से अन्न उपजाकर उसका निश्चित अंश राज्य को दे।(140)

लेखक ने उत्तर भारत को वह आंतरिक शांति प्रदान की जिसका अनुभव भारतीयों को बहुत दिनों से नहीं हुआ था। 20 वीं शताब्दी ने ही भारत को एक नया वरदान भी दिया और वह था

नियमानुमोदित शासन, जिसमें मुसलमानी शासनकाल के व्यक्तिगत शासन का स्थान ग्रहण कर लिया था। साथ ही लेखक ने यह भी बताया है कि मुस्लिमकालीन व्यवस्था किन–किन परिवर्तनों से होकर वर्तमान स्थिति तक पहुँची है। मुशिरूल हुसैन ने अपनी पुस्तक *मुस्लिमस एण्ड द काँग्रेस* में 204 पत्रों का संग्रहण किया है जिसमें 1912–1935 की राजनीति व्यवस्था व उसमें मुसलमानों की भूमिका के बारे में बताया गया है। भारत की राष्ट्रीय गतिविधियों का यह एक महत्वपूर्ण समय था। इस काल में कई महत्वपूर्ण उभरकर सामने आए जिसमें "अल्पसंख्यक, साम्प्रदायिकता तथा धर्म निरपेक्षता के मुद्दे भी प्रमुख थे।"(11)

कमलेश शर्मा ने अपनी पुस्तक *रोल ऑफ मुस्लिमस इन इण्डियन पॉलिटिक्स* में भारतीय राजनीति में मुसलमानों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। लेखक ने पुस्तक में बताया कि किस प्रकार हिन्दू–मुस्लिम समस्या ब्रिटिशकाल में बढ़ी तथा 1947 में भारत के विभाजन का कारण बनी तथा दो राष्ट्र भारत व पाकिस्तान उभरकर सामने आए। लेखक के अनुसार, "भारत–पाक विभाजन का महत्वपूर्ण कारण धार्मिक–राजनीतिक– सामाजिक समस्या थी। भारत–पाक विभाजन से भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में भी बाधा आई। लेखक के अनुसार भारत–पाक विभाजन से समस्या का हल नहीं हुआ बल्कि समस्या और बढ़ गई।"(177) सुशीला जैन ने अपनी पुस्तक *मुस्लिम एण्ड मॉर्डनाइजेशनः ए स्टडी ऑफ देयर चेंजिंग रोल स्ट्रक्चर एण्ड़ नोरम्स इन अन अरबन सैटिंग* में बताया है कि कुछ मुस्लिम संगठन आधुनिकीकरण व परिवर्तन के विरोधी हैं, क्योंकि उनके मूल्य उनके सोच पर हावी है। लेखिका के अनुसार :

> यदि भारत में आधुनिकीकरण के द्वारा मुसलमानों की सोच में परिवर्तन कर लिया जाता है, तो वह मुसलमानों व भारत दोनों के हित में होगा। इससे तकनीकों में परिवर्तन होगा जिससे मुसलमानों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा व समाज में भी बदलाव आएगा। साथ ही रूढ़िवादी सामाजिक समस्याओं का भी हल होगा। भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं धर्मनिरपेक्षता होने के कारण मुसलमानों को संवैधानिक समानता प्राप्त है परन्तु वास्तविकता में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। (133)

एच. वाई. सिद्धिकी ने अपनी पुस्तक *मुस्लिम वुमन इन ट्रॉजिशन : ए सोशल प्रोफाइल* में बताया है कि मुस्लिम महिलाओं की सामाजिक व शैक्षणिक स्थिति का स्तर बहुत अधिक निम्न है। शिक्षा की कमी व कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण मुस्लिम महिलाएँ पिछडी हुई हैं। लेखक ने बताया है कि :

> मुस्लिम महिलाओं की स्थिति पर्दा प्रथा के कारण और भी अधिक खराब है। लेखक के अनुसार भारत के आजाद होने के उपरांत भी भारतीय मुसलमानों खासतौर पर महिलाओं का विकास नहीं हो पाया। हालांकि समस्या सभी धर्मों के लोगों के साथ है, लेकिन मुस्लिम लोगों के साथ यह समस्या ज्यादा है, जिसका मुख्य कारण अशिक्षा व कमजोर आथिक स्थिति व राजनैतिक कारण है।(110)

श्री कांत घोष ने अपनी पुस्तक *मुस्लिम पोलाटिक्स इन इण्डिया* में बताया है कि राष्ट्रीय कांग्रेस ने सभी जातियों को समान आधार प्रदान किया ताकि वे भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ सके। लेकिन मुस्लिम लीग की स्थापना ने भारत को दो भागों में बाँटने की कोशिश की। अंततः 1947 में भारत दो नये राज्यों भारत और पाकिस्तान के रूप में विभाजित हुआ। लेखक ने बताया कि "जब संविधान का निर्माण हुआ, तब से भारत एक पंथ निरपेक्ष राज्य है, लेकिन इसके बावजूद भी साम्प्रदायिकता आज तक मौजूद है।"(41)

के. एस. लाल ने अपनी पुस्तक *द लेगेसी ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया* में बताया है कि भारत में मध्यकाल में मुसलमानों का शासन था। लेखक ने विस्तार से बताया है कि "किस प्रकार मुसलमान आक्रमणकारियों की तरह भारत आए परन्तु उनमें से कुछ ने भारत में ही बसने का निर्णय लिया तथा शासन की स्थापना की।"(214) लेखक ने पुस्तक में उनके द्वारा स्थापित शासन व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया है तथा यह भी बताया है कि कैसे मुसलमानों ने भारतीय सभ्यता व संस्कृति में अपना योगदान दिया। लेखक ने खास तौर पर संगीत, स्थापत्य व नृत्य में उसके योगदान के बारे में विस्तार से बताया है। रंजना कुमारी ने अपनी पुस्तक *वूमन इन डीसिजन मेकिंग* में स्पष्ट किया है कि :

> राजनीतिक जीवन व निर्णय निर्माण में महिलाओं की भागीदारी पुरूषों की तुलना में अत्यंत निम्न है तथा इसमें खास परिवर्तन हेतु सरकारों, राजनीतिक दलों, गैर सरकारी संगठनों, शिक्षण संस्थाओं तथा स्वयं महिलाओं द्वारा प्रयास करना आवश्यक है।(117)

रामगोपाल ने अपनी पुस्तक *भारतीय मुसलमानों का राजनीतिक इतिहास* में बताया है कि :

> ब्रिटिश शासन काल में मुस्लिम राजनीतिक धारा हिंदुओं से अलग ही बहती रही। निस्संदेह इस्लाम धर्म हिन्दू धर्म से भिन्न है, परन्तु हिन्दुओं और मुसलमानों को राजनीतिक दृष्टि से विभक्त करने का कारण उनका धर्म भेद नहीं था। हिंदुओं और मुसलमानों का नौकरियों के संबंध में टकराव उस समय हुआ जब राष्ट्रवादी राजनीति जन्म ले रही थी। राष्ट्रवादी राजनीति के प्रवर्तक गैर मुसलमान विशेषतः हिंदू लोग थे। अंग्रेज शासक मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति को बढ़ावा देने वाली संस्थाओं का उपयोग

> उदायीमान राष्ट्रवाद और मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप लक्षित होने वाली हिन्दू साम्प्रदायिकता को दबाने के लिए करते थे। राष्ट्रवाद और धर्म निरपेक्षता के प्रति सच्ची निष्ठा रखने वाली कांग्रेस 1936 और 1946 के चुनावों के फलस्वरूप हिंदू संघटन भर रह गई थी। कांग्रेस को सम्प्रदायवाद से समझौता करने के लिए झुकना पड़ा और पुनः धर्म निरपेक्ष बनने के लिए संघर्ष करना पड़ा।(27)

लेखक ने मुस्लिम राजनीति का विभाजन के समय तक का पूरा विवरण पुस्तक में प्रस्तुत किया है। परमानन्द लाल श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक *मध्यकालीन भारत में हिन्दू–मुस्लिम सद्भाव प्रयास एवं प्रभाव* में बताया किः

> प्राचीन काल में हिंदू अपने को श्रेष्ठ समझते थे। हिंदुओं को अपनी गौरवमयी परम्परा, धर्म व संस्कृति पर नाज था। वे मुसलमानों को मलेच्छ की संज्ञा देते थे। मुसलमान विजेता थे और मध्यकालीन भारत में उन्हीं का शासन था। मुसलमानों ने तलवार के बल पर भारत में निरंकुश शासन स्थापित किया था। अधिकांश मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं के प्रति पक्षपात की नीति अपनाई। ऐसी स्थिति में मध्यकाल में सांमजस्य व समन्वय की समस्या उत्पन्न हुई और हिन्दू व मुस्लिम समाज के बीच की खाई चौड़ी होने लगी। समाज का वातावरण विषाक्त और राम–रहीम व मंदिर–मस्जिद के नाम पर हिन्दू तथा मुसलमान आपस में लड़ रहे थे। लेखक ने यह भी बताया कि इसी समय हिन्दु–मुस्लिम सद्भाव के लिए अनेक समाज सुधारक संत महात्मा कवि व शासकों ने देश के कल्याण के लिए समानता स्थापित करने का प्रयास किया।(114)

लेखक ने खास तौर पर हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय से समानता व सामंजस्य का भाव दृष्टिगोचर होना बताया है। लोकेश के. प्रसाद ने अपनी पुस्तक *इनकवारी इन टू ही पार्टीसिपेशन ऑफ वुमन इन दी पंचायतीराज इंस्टीट्यूशन* में बताया है कि पंचायतीराज व्यवस्था में ग्रामीण महिलाओं की स्थिति प्रशंसनीय नहीं है। लेखक के अनुसार :

> महिला प्रतिनिधि के लिए आरक्षण की वर्तमान व्यवस्था लोकतंत्र एवं महिलाओं को कार्यक्रमों, नीतियों आदि की सही जानकारी हो तो वे आरक्षण से प्राप्त सुविधाओं से अधिक लाभ उठा सकेंगी।(126)

अनिल दत्त मिश्रा ने अपनी पुस्तक *जेण्डर पर्सपेक्टिवः पार्टीसिपेशन एम्पावरमेंट एण्ड डवलपमेंट* में महिला राजनीतिक सहभागिता की सैद्धांतिक अवधारणा का विश्लेषण करते हुए भारत में महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता की प्रकृति तथा महिला सशक्तिकरण एवं विकास पर प्रकाश डाला है। लेखक ने आधुनिकीकरण के सैद्धांतिक आयामों को महिला अध्ययन से

जोड़ते हुए महिला राजनीतिक सहभागिता के विश्लेषित करने का प्रयास किया है।"(217) लेखक ने अज्ञानता, निरक्षरता, पारम्परिकता आदि को महिला सहभागिता में कमी का कारण बताया है। राजकुमारी पारूथी व रामेश्वरी पारूथी ने अपनी पुस्तक *वूमेन इन लॉ एण्ड पॉलिटिक्स* में भारतीय राजनीति में महिला सहभागिता का विश्लेषण किया है। लेखिका के अनुसार :

> देश की 50 प्रतिशत आबादी महिलाओं की होने के बावजूद राजनीति में महिला सहभागिता का स्तर निम्न है। इनके दृष्टिकोण में राजनीति एक पुरूष प्रधान क्षेत्र है, जहाँ महिलाओं की स्वतंत्र रूप में निर्णय प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है। लेखिका ने राज्य स्तर की नौकरशाही तथा राजनीतिक संरचना में पुरूष वर्ग के वर्चस्व को महिला सहभागिता में बाधक तत्व के रूप में बताया है।(87)

राजनीतिक सहभागिता : महिला शक्तिकरण का सशक्त माध्यम में महिलाओं की "राजनीति में भागीदारी का विश्लेषण करते हुए सहभागिता को समाज तथा महिलाओं के स्वयं के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन और अंततः महिला सशाक्त का माध्यम बताया है।"(108) लेखिका ने महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता का जेण्डर परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है। लेखिका ने महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता की प्रकृति व बाधाओं को स्पष्ट किया है एवं उनकी राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि हेतु संभावित प्रयासों का विवेचन किया है। निरोज सिन्हा अपनी पुस्तक *वूमेन इन लॉ एण्ड पॉलिटिक्स* में लिखते है :

> भारतीय राजनीति में महिला सहभागिता निर्णय–प्रक्रिया में व नीति निर्माण में आवश्यक है। महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता जरूरी है। लेखिका के अनुसार राजनीति में महिला सहभागिता स्वस्थ लोकतंत्र के लिए आवश्यक है।(87)

तथा भारतीय संदर्भ में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी से संबंधित समस्याओं का भी विश्लेषण पुस्तक में किया गया है। भारत विभाजन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला है जो इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। विमल प्रसाद अपनी पुस्तक *द फाउडेंशन ऑफ मुस्लिम नेशनलिज्म* में लिखते है :

> आधुनिक राजनीतिक जागरूकता की शुरूआत 19वीं शताब्दी के अंत में हुई। लेखक ने मुस्लिम राष्ट्रीयता के आर्थिक, आध्यात्मिक, भावनात्मक व संगठनात्मक तत्वों पर भी प्रकाश डाला है। भारत में महिलाओं तथा पुरूषों की राजनीतिक भागीदारी का विस्तृत विश्लेषण करते हुए राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि पर बल दिया है।(39)

आर.ए.वर्मा अपनी पुस्तक *पीपुल्स पार्टीसिपेशन इन इण्डियन पॉलिटिक्स* में, "राजनीतिक सहभागिता के विभिन्न पहलुओं जैसे – पंचायत में भूमिका, शिक्षा, कानूनी संरक्षण आदि विषयों पर भी पुस्तक में प्रकाश डाला गया है।"(34) लेखक ने जनता के अधिकारों, राजनीतिक दलों की भूमिका, महिलाओं की भूमिका, महिलाओं की लोकतांत्रिक सहभागिता, महिलाओं की कार्यकुशलता तथा समस्या आदि विषयों का भी अध्ययन किया है। सूर्य नारायण सिंह ने अपनी पुस्तक *मुस्लिम इन इंडिया* में बताया है कि :

> भारत मुस्लिम लोगों की संख्या की दृष्टि से विश्व में दूसरे नम्बर पर है और मुस्लिम लोगों का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परन्तु मुस्लिम लोगों के सामने अनेक कठिनाइयाँ है जिन्हें अनदेखा करना संभव नहीं है।(16)

आशुतोष वाष्णेय ने अपनी पुस्तक *हिन्दू मुस्लिम रिश्ते : नया शोध, नए निष्कर्ष* में बताया है कि :

> गाँधी ने 1920 में आंदोलन की बागडोर संभाली और जल्दी ही यह तर्क देते हुए इसमें क्रांतिकारी बदलाव कर दिया कि जब तक आम लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल नहीं किया जाता तब तक अंग्रेज भारत को आजादी नहीं देंगे। गाँधी अंग्रेजों से आजादी भर में दिलचस्पी नहीं रखते थे, वे भारत का सामाजिक बदलाव भी चाहते थे। उनका तर्क था कि जब तक सामाजिक बुराइयों को दूर नहीं किया जाता तब तक आजादी बेमानी है उन्होंने शुरूआत के तौर पर तीन उद्देश्यों पर ध्यान खींचा हिन्दू–मुस्लिम एकता, छुआछुत मिटाना और स्वदेशी। लेखक ने पुस्तक में हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों मं समानता के संबंध में कुछ तथ्य भी स्पष्ट किए हैं तथा यह भी बताया है कि पहले की अपेक्षा वर्तमान में हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों में समानता देखने को मिलती है।(34)

लेखक ने खास तौर पर औरतों की स्थिति में सुधार पर भी वर्णन किया है व बताया की भारत के संगठित नागरिक जीवन की व्यवस्थित शुरूआत गाँधी द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को रूपांतरित करने के साथ ही हुई। बलराज पुरी अपनी पुस्तक *मुस्लिम ऑफ इंडिया सिन्स पार्टिषन* में लिखते है :

> 1947 के बाद भारत में मुसलमानों ने राजनीति में भाग लिया तथा आर्थिक कठिनाइयों तथा चुनौतियों का सामना किया। भारत–पाक विभाजन ने भारत के मुसलमानों की बड़ी जनसंख्या को खो दिया तथा जो पीछे बचे उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा तथा वे बहुसंख्यकों से आर्थिक व शैक्षणिक तौर पर पिछड़ गए।(51)

मुस्लिम महिलाओं, धर्म परिवर्तन, भारतीय जनता पार्टी की राजनीति, पुलिस तथा भारतीय प्रजातंत्र को अल्पसंख्यकों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया है। असगर अली अपनी पुस्तक *मुस्लिम माइनोरिटी : कन्टीन्यूटी एंड चेंज में* बताते हैं कि "मुसलमान परिवर्तन चाहते हैं परन्तु बहुत कुछ परम्पराओं को भी बनाए रखना चाहते हैं। इसे लेखक उदार मुस्लिम दृष्टिकोण का नाम देते है।"(82) समाज के विभिन्न समुदायों के विशिष्ट पक्षों की शैक्षिक आवश्यकताओं एवं शैक्षिक पुर्नजागरण के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत मुस्लिम समुदाय संख्या की दृष्टि से वृहत अल्पसंख्यक समुदाय हैं। मुस्लिम समुदाय अपने में विशिष्ट एवं अद्वितीय है। उसकी अपनी समस्याएँ एवं मांगे है। उसका अपना सोचने का ढंग है उसकी अपनी मान्यताएँ हैं। अंतः तत्संबंधी शैक्षिक नियोजन एवं शैक्षिक कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकते हैं, जब तक कि वे समुदाय की इन विशेषताओं के अनुकूल न हों। इस प्रकार का अनुभव तब हुआ, जब तक देश में पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों को लागू किया गया। इन कार्यक्रमों के मार्ग में जो बाधाएँ आई उनके आधार पर अनुभव हुआ कि मानव अत्यन्त जटिल संरचना है तथा उसके हितार्थ कोई योजना, कोई कार्यक्रम बनाने से पूर्व उसे अच्छी तरह समझना जरूरी है। संजय सिंह अपनी पुस्तक *मुस्लिम महिला एंड शिक्षा* में लिखते है :

> भविष्य में इसी परिप्रेक्ष्य में शैक्षिक अनुसंधान की बहुत आवश्यकता है इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए मुस्लिम समुदाय की छात्राओं की आकांक्षाओं व शैक्षिक समस्याओं को जानने का प्रयास किया है। (13)

द मुस्लिम पॉलिटिक्स इन इण्डिया में बताया है कि भारत में मुसलमानों की राजनीति पर अनेक किताबें लिखी गई है, लेकिन इन पुस्तक में भारत को मुस्लिम राजनीति को अलग संदर्भ में विश्लेषित किया गया हैं। भारतीय राजनीति में आजादी से पूर्व से वर्तमान तक की मुस्लिम राजनीति पर प्रकाश डाला गया है। कुमार वास्तव के शब्दों में :

> मुस्लिम लीग का गठन और उनके राजनीतिक आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, गोलमेज सम्मेलन, सरकार का प्रभाव, इण्डिया एक्ट 1935, इस अधिनियम के तहत चुनाव और 1937 से 1947 तक की मुस्लिम राजनीति का विश्लेषण किया है।(14)

असगर वजाहत अपने उपन्यास *कैसी आग लगाई* में लिखते है :

> विश्व की बिरादरी मानने वाला राजनीतिक दल अपने ही देशवासियों का नरसंहार करा देता है। फिर भी विश्व को कुटुम्ब मानता रहता है। एक भी ऐसा राजनीतिक दल मेरी समझ में नहीं आता जो पड़ोसी देश से मित्रता करना चाहता है और देशवासियों के

एक बड़े समूह को देशद्रोही मानता है, उनके खिलाफ घृणा का प्रचार करता है ... चुनाव के पहले पूरे देश को घूस दी जाएं और घूस देने की प्रंशसा भी हो। घूस देने की सत्ता नैतिकता की बातें भी करती है।(87)

अंत में लेखक ने भारत की मुस्लिम राजनीति के इतिहास को निष्कर्ष के साथ वर्णित किया है। भारत की मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं व संभावनाओं को जाँच करने का प्रयास किया व साथ ही भारतीय मुस्लिम महिलाओं पर नारीवाद के दो उपकरणों गतिशीलता और परिवर्तन के संदर्भ से विश्लेषण किया है। जूही वर्मा अपनी पुस्तक *फ्यूचर ऑफ इंडियन मुस्लिम वॉमन* में लिखती है :

मुस्लिम महिलाओं की वर्तमान स्थिति में सुधार के लिए भारतीय मुसलमानों के बीच व्यवहार में परिवर्तन को लागू करना अपरिहार्य माना है। महिलाओं के खिलाफ हिंसा के मामलों में वृद्धि हो रही है। मुस्लिम महिलाओं को शोषण व सामाजिक अधिकारों के प्रति जागरूक करने की आवश्यकता है।(7)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है राजनीतिक संदर्भ में मुस्लिम जीवन सही नेतृत्व के अभाव में रहा। क्योंकि मुस्लिम समाज का जो भी नेतृत्व करेगा। वह इस नेता की कठपुतली बनकर रहेगा अन्यथा वह राजनीतिक प्रवाह से बाहर रहेगा। अतः आज मुसलमान राजनीतिक क्षेत्र में अपनी सक्रिय और प्रभावकारी भूमिका प्राप्त करना है।

4.6 विचार शून्य राजनीति

इक्कीसवीं शताब्दी में जब हम प्रवेश करते हैं तो अनेक सवाल असहमति एवं जिज्ञासा निर्माण करते हैं। अतीत की राजनीतिक अवधारणाओं को देखने के बाद पता चलता है कि तत्कालीन राजनीति किसी न किसी दर्शन–जैसे मार्क्सवादी, लेनिनवादी, गाँधीवादी विचारों पर स्थित थी। पर आज की राजनीति में न किसी तरह की विचारधारा है, न विचार बल्कि विचार शून्य राजनीति और राजनीतिज्ञों की राजनीतिक सत्तालोलूपता की भरमार है। एक तरह से दिशाहीन राजनीति का रूप दिन–ब–दिन उग्र हो रहा है। यही कारण है कि भारतीयों में राजनीतिज्ञों के प्रति रोष बढ़ रहा हैं। राजनीति से लोगों को घृणा होने लगी है, बढ़ती उदासीनता, असंतोष विचारशून्य राजनीति की विकृतियाँ हैं।

असगर वजाहत उपन्यास *कैसी आग लगाई* में लिखते है :

हमारे देश में आदमी, आदमी का सबसे बड़ा दुश्मन है। दंगाईयों का प्रिय खेल आदमियों, औरतों, बच्चों को आग में जला डालना है। क्योंकि वे जानते है कि इस

अपराध को हमारा सभ्य समाज अपराध ही नहीं मानता और उसकी सजा ही नहीं है।... पुलिस के बड़े–बड़े अधिकारी हर तरह के आरोपों में फंसे है, राजनेता उनके बारे में सब जानते है, पर वह जानते है तुम भी इसी व्यवस्था की पैदावार हो।(91)

वह समय चला गया जब गांधी जी ने देश को स्वतंत्रता दिलाने के लिए अंहिसा की राजनीति चलाई। उनके विचार थे देश को गुलाम गिरी से मुक्त करना, स्वराज, स्वदेशी का पुरस्कार करना। देश को स्वंयपूर्ण, स्वावलंबी, आत्मनिर्भर बनाना। आजादी के बाद भी कुछ अरसे तक यह अभियान 'गरीबी हटाओ' आत्मर्भिरता, राष्ट्रीयकरण, लोकाभिमूख राजनीति, साक्षरता अभियान के जरिए जारी रहा। तत्कालीन राजनीति एवं राजनेताओं की राजनीति के पीछे एक विचारधारा थी, ठोस संकल्प थे, देश और देश की जनता के लिए कुछ सत्कार्य करने की भावना थी, जो उदात्तता एवं निष्लंक, निस्वार्थता जैसे बुनियादी तत्वों से संचालित थी। पर आज राजनीति का व्यावसायीकरण होकर वह व्यक्ति केंद्रीत बन चुकी हैं। राजनेताओं की कर्तव्यहीनता, लोभ, पैसा और प्रतिष्ठा ने राजनीति का बुनियादी ढ़ांचा ही बदल दिया है। आज राजनीति अपने मूल्य आस्था एवं आदर्श खो चुकी है, श्री मति राजेश जैन *भारतीय राजनीति के नये आयाम* मेंलिखती है, "स्वतंत्रता के 63 वर्षों में भारत ने अपने कर्म को समझने वाला, अपने कर्तव्यों का पालन करने वाला भारत खोया है, हमने देश प्रेम खोया है।"(50) यह वैचारिक दृष्टि से अशोभनीय एवं निंदनीय बात है।

सत्तर के दशक में इंदिरा गांधी और उनके छोटे पुत्र संस्थागत नियमों को तोड़कर राजसत्ता प्राप्ति हेतु राजनीतिक कोष जमाने लगे, जिससे सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार पनपने लगा। अभय दूबे अपनी पुस्तक*राजनीति की किताब* में इसका नतीजा "इंदिरा सरकार के खिलाफ 1976 के जयप्रकाश आंदोलन, उसके दमन और आपातकाल में निकला।"(33) इंदिराजी ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु आपात धारण शुरू किया। 'सवर्ण मंदिर सैन्य प्रवेश' जैसे कार्यों से सिख धर्म एवं भारतीय लोगों में क्षोभ, असंतोष, निराशा की स्थिति का निर्माण हुई। यह विचारशून्य राजनीति का ही परिणाम था। परिणामों की परवाह न करना, विचार न करना, राजनीतिक सिद्धांतों को नकारकर खुद के सिद्धांत, मत, विचारधारा जनता पर थोंपना विचारशून्य राजनीति का ही अंग है। इसलिए राजनीति में वे ही लोग आज सक्रिय और स्थायी हैं जो बुद्धि जीवियों की अपेक्षा अज्ञानी एवं अशिक्षित हैं। धन, बाहुबल इनके हथियार, अनैतिक ढंग से चुनाव जितना इनकी नीति।

आज राजनीति में गुड़ें, खूनी, बदमाश, धनवान, स्वार्थी लोगों की भरमार है। बहुतांश राजनेता अशिक्षित, घोर लापरवाही, कर्त्तव्यहीन, सत्कर्म छोड़कर कुमार्गी हैं। इसी कारण आज

निर्वाचन प्रक्रिया का स्वरूप बदला है। चुनाव के समय स्वतंत्रता का गलत इस्तेमाल कर ये नेता प्रक्षोभनीय 'वक्तव्य' अपने सभाओं में करते हैं। जाति, धर्म, लिंग, नस्ल की राजनीति से लोगों की भावनाओं को भड़काकर दंगे फसाद करवाते हैं। जिससे समाज में वैमनस्य की भावना बढ़ती है। ये नेता पैसा, बाहुबल, मतदान केंद्र पर कब्जा कर चुनाव जीतते हैं। वर्तमान समय में राजनीति में अपराधीकरण का बोलबाला अधिक हुआ हैं। ये नेता अपराधियों के साथ मिलीभगत, भ्रष्टाचार कर पैसों के आधार पर चुनाव जीतते हैं, किसी जुर्म के सिलसिले में पकड़े जाने पर *इंडिया टूडे* :

> जब किसी अपराधिक मामले में कोई राजनीतिज्ञ फँस जाता है तो उससे जुड़े अपराध जगत के लोग लिखित एवं अन्य साक्ष्य मिटाने के लिए अधिकारियों को रिश्वत देते हैं, यदि वह अधिकारी ईमानदार हुआ तो उसका स्थानान्तरण करा दिया जाता है या उसे मौत की नींद सुला दिया जाता है। जब किसी माफिया गिरोह का सदस्य किसी मामले में फँस जाता है तो राजनेता अपनी पहुँच एवं प्रभाव के द्वारा उसकी येनकेन प्रकारेन रक्षा करते हैं। (59)

आज राजनेता, माफिया गिरोह, सशस्त्र निजी सेवाओं, तस्करी, गिरोह, काले धंधे वाले लोगों से सांठ–गांठ कर अपने ही देश को तबाह कर रहे हैं। इस राजनीति ने देश की एकता, अखंड़ता, सभ्यता, संस्कृति का विनाश किया है।

भारतीय संसदीय प्रणाली में देश के विकास के लिए, सामाजिक परिवर्तन के लिए जनहित की दृष्टि से जब कोई संसदीय कार्य चलता है, तब विरोधी दल बिना वजह इस कामकाज में बाधा उत्पन्न करते हैं। अपना विचार, मत स्पष्ट न कर, बैंच बजाना, जोर–जोर से नारे देना, इतने में अगर सत्ताधारी दल ने उनकी बात नहीं मानी तो कुर्सियाँ फेंकना, बैंच तोड़ना, चप्पल फेंकना जैसे अनर्गल बर्तन भी ये नेता करते है, मोदी एंड मोदी अपनी पुस्तक *भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियां* के विचार यहाँ उल्लेखनीय है :

> संसदीय कामकाज में अवरोध उत्पन्न करना सदन के अंदर शोरगुल करना, असंसदीय शब्दों का प्रयोग करना, सदन में धरना देना, नारे लगाना, बाधा पहुँचाना आदि अवांछित घटनाएँ भी अनेक अवसरों पर दिखाई देती है।(8)

इस कारण समय, पैसा खर्च होता है, देश का विकास अवरूद्ध होता है।

भारतीय राजनीति में नेतृत्वहीन राजनीति का संकट गहरा रहा है। जन प्रतिनिधि खुद अपने भविष्य का निर्णय लेने में असक्षम हैं वे देश के भविष्य का निर्णय क्या लेंगे? डालचंद जैन

की पुस्तक *भारतीय राजनीति के नये आयाम* के अनुसार – "भारतीय राजनीति में नेतृत्व संकट उभरकर सामने आने लगा हैं, क्योंकि आज सभी राजनीतिक दल अपने–अपने स्वार्थों को प्रदान कर रहे हैं जनहित को नहीं।" (182) आज का राजनीतिक परिदृश्य एवं परिवेश अंधकारमय है जो योग्य व्यक्ति के पक्ष में जरा भी नहीं है। सामान्य जनता के हित के बजाय पूँजीपति, उद्योगपत्तियों के फायदे अनुसार विधेयक, नीतियाँ सरकार द्वारा अपनायी जाती है। परिणामतः देश में आर्थिक विषमता, बेकारी, भूख, निर्धनता, हिंसा, मद्यपान, घृणा, किसान आत्महत्या जैसी समस्याएँ पैदा होती है।

दिशाहीन राजनीति से जनता राजनीति के प्रति उदासीनता तेज हो रही है। क्षेत्रवाद, भाषावाद, प्रांतवाद की राजनीति से राष्ट्रवाद की भावना खत्म हो रही है। राजनेताओं द्वारा आपसी भेदभाव निर्माण कर सत्ता और संपति के लालच में भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला हैं। भ्रष्टाचार को नष्ट करने के लिए समाज सुधारक अन्ना हजारे ने 'जन लोकपाल' का जबर्दस्त आंदोलन चलाया परंतु कांग्रेसी सरकार ने इस विधेयक को मंजूरी नहीं दी। यह विचारशून्य राजनीति का ही सबूत है। ऋण माफी, खाद्यान्न उपलब्धि, ऊर्जा माफी जैसे प्रलोभन जनता को दिखाकर सत्ता प्राप्त करने की नीति राजनेताओं की है। व्यक्ति, दल, समूह सब अपनी सामर्थ्य और परिस्थिति के अनुरूप अपने औचित्य सिद्धि हेतू विविध प्रक्रिया का उपयोग कर रहे हैं। विचार शून्य राजनीति ने दलीय गठजोड़, सत्ताप्राप्ति हेतू अनमेल समझौते, प्रचार हेतू विरोधी नीति, अपराधी का राजनीति प्रवेश जैसे अवरोध एवं कमजोरियों को अंजाम दिया है।

4.7 राजनीति में धर्म

भारत में विविध तरह की संस्कृतियाँ, विभिन्न धर्म के लोग है। सिख, हिन्दू, मुस्लिम, जैन, बौद्ध इत्यादि सभी धर्म की संस्कृति, तीज त्यौहार, पर्व, रीति–रिवाज भिन्न–भिन्न है। इसलिए भारत में किसी भी धर्म को विशेष महत्व न देते हुए सब धर्मों को समान प्रयास संविधान निर्माताओं ने भारतीय संविधान में किया है। इसलिए भारत देश ने धर्म निरपेक्षता की नीति अपनाई है। फिर भी भारतीय राजनीति पर धर्म एवं जाति का प्रभाव है। इसी के अनुरूप भारत में अनेक दल, धर्म एवं जाति का सहयोग लेते हुए नजर आते है। कोई हिंदू धर्म का सहारा लेता है तो मुस्लिम लीग मुस्लिम धर्म का। भारत ने धर्मनिरपेक्षता को भले ही स्वीकार किया हो पर यथार्थ कुछ भिन्न है। *योजना : अगस्त 2017* "प्रत्यक्ष व्यवहारिक जीवन में राजनेताओं ने 'धर्मका राजनीतिकरण' किया है, धर्मसत्ता पर राजसत्ता का नियंत्रण होने के बजाय राजसत्ता धर्मसत्ता पर नियंत्रण प्रस्थापित करती हुई दिखाई देती है।"धर्मधिष्ठित राजनीति का आज बोलबाला है।

साम्प्रदायिकता, छात्र जीवन, समकालीन राजनीति, वामपंथी राजनीति, मुस्लिम समाज, छोटे शहरों का जीवन और महानगर की आपाधापी के साथ–साथ सामाजिक, अंर्तविरोधों से जन्मा वैचारिक संघर्ष भी हमारे सामने आता है। माननीय सरोकारों और माननीय गरिमा के कई पक्षों को उद्घाटित करता है। असगर वजाहत का उपन्यास *कैसी आग लगाई* :

> जिस तरह युद्ध में हारे हुए सिपाही घर लौटते है उसी तरह जख्मी, अपमानित, भूखा, निराश आस्था और भविष्यहीन मैं घर लोटा। न किसी को देने के लिए कोई तोहफा और न बताने के लिए कोई बात। बस एक आवाज है जो चिपक गई है ... हार गए ... पराजित हो गए .... शिकस्त हो गई ... डिफिट हो गई ... क्या पाने गये थे ये भी याद नहीं ... यही अच्छा है जान बच गई ... (8)

भारतीय राजनीति में आज संप्रदाय और धर्म पर आधारित अनेक संगठन कार्यरत हैं। देश की जनता को अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की श्रेणी में बाँटकर विविध राजनीतिक दल राजसत्ता प्राप्त करने की नीति अपनाते हैं। राज्य को धर्म आधारित विभाजन का पाखंड अनेक दलों की रणनीति है। गिरिश मिश्र *बाजार और समाज*के शब्दों में, "राज्य को धर्म आधारित करने की मांग संघ परिवार और उसकी सहयोगी शिवसेना की ओर से उठने लगी है। स्वयं उपप्रधानमंत्री वर्तमान धर्मनिरपेक्षता को छदम बताते हैं और उसके स्थान पर वास्तविक धर्मनिरपेक्षता यानी हिंदुत्व को प्रतिष्ठित करने की बात करते है।"(305) आज राजनीति धर्मनिरपेक्ष नहीं तो धर्म सापेक्ष बन चुकी है। लोकतंत्र की संकल्पनाओं में बदलाव आ गया है। पद प्रतिष्ठा, उम्मीदवार, अधिकार, अर्थप्राप्ति की अदम्य लालसा ने विभिन्न विकृतियों को जन्म दिया है। मोदी एंड मोदी *भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियां* में कहते है आज :

> सांप्रदायिक, जातीय, धार्मिक संगठन राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के साधन बन रहे हैं जो कि खतरनाक पहल हैं। वोट बैंक या सामुदायिक वोटिंग बैंक की कल्पना और तुष्टिकरण की प्रवृत्ति की संकल्पनाएँ अपने आप में अलोकतंत्रीय अवधारणायें हैं।(11)

समकालीन समय में राजनीति ने धर्म को कलुषित कर दिया है।

अति प्राचीन काल से धर्म और राजनीति एक दूसरे पर निर्भर रही है। रामायण, महाभारत में भी राम और श्री कृष्ण की धर्म के लिए होने वाली राजनीति से भी धर्म एवं राजनीति का संबंध स्पष्ट होता है। वेद में भी धर्म और राजनीति का बखान हुआ है, पर धर्म और राजनीति का काम तत्कालीन समय में अधर्म को नष्ट करना था। यह राजनीतिक धर्म के सहिष्णगुण, उदात्त भाव की प्रेरक थी। धर्म से राजनीति सदैव अनुप्रणित थी। धर्म के प्रभाव से समस्त प्रजा नैतिकता की प्रचारक थी पर आज राजनीति ने धर्म का विकृतिकरण किया है। धर्म

का आज लोग संकुचित अर्थों में ग्रहण करते हैं। इससे यह संकट उपस्थित होता है कि शासन किस धर्म को माने या किस धर्म से नियंत्रित हो। धर्म एवं राजनीति के अर्न्तसम्बन्धों पर आज गौर करने की आवश्यकता है।

राजनीति और धर्म पृथक नहीं है। पर जब से यह विचार होने लगा कि राजनीति और धर्म अलग–अलग है तब से राजनीति में अपराधीकरण की प्रवृत्ति पनप रही है। धर्म के तत्व को हटाकर राजनीतिज्ञ खुले आम धर्म के ही नाम पर राजनीति की शासन व्यवस्था का संचालन कर रहे है। धर्म का प्रयोग राजनीति मेंएक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है, वही दूसरी ओर प्रभाव एवं शक्ति अर्पित करने के लिए धर्म को माध्यम बनाया जाता है। धर्मविहीन राजनीति आज के युग के नेताओं की शक्ति है। धर्म के राजनीति से मिलीभगत करने की नीति ने धर्मनिरपेक्षता के पुरस्कर्ता को निर्बल बना दिया है। परंतु आज के नेता जनसेवा के रास्ते से राजनीति तक पहुँचना चाहते हैं पर धर्म और जाति के घोड़े पर सवार होकर समाज में अगर कहीं भी धर्म की राजनीति करने वालों के खिलाफ जंग छिड़ती है तो इसे अंदर–ही–अंदर पाला–पोशा जाता है। देश की राजनीति अधर्म की राह पर अग्रसर है। जिसका नैतिक मूल्य, आदर्श एवं आध्यात्मिक मानदंड़ों को खो चुके हैं। आज भारत का राजनीतिक परिवेश संपूर्णतः अराजक रूप धारण कर चुका है। राजनीति अपराध, सांप्रदायिकता, जातीय संघर्ष, स्वार्थ, अस्थिरता, अलगाववाद, शोषण को बढ़ावा दे रही है।

भारत में आज बहुत सारी समस्याएँ है, परंतु राजनेता को इससे कुछ लेना–देना नहीं है। राजनेताओं का हेतू स्वार्थ, ध्येय की प्राप्ति, जनता का शोषण, दलगत वैमनस्य, धर्माधता और जातीयता के मुद्दे पर लोगों को भड़काना और कुर्सी का लुफ्त उठाना है। आज जनता राजनेताओं के करतूतों से भली–भाँति परिचित हो चुकी है। राजनेताओं ने राजनीति में धार्मिक रूढ़ी को लाया है। इसलिए नेहरू जी कहते हैं, इससे धार्मिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं तथा अर्थव्यवस्था में दखल देने से रोका जाए। पर आज ज्यादा से ज्यादा राजनीति में धर्म का प्रयोग किया जा रहा है। सत्ता अच्छे लोगों के हाथ में होनी चाहिए पर आज अच्छे लोगों की राजनीति नहीं रही। ऐसा ही चलता रहा तो राजनीति में प्रतिभाशाली, धर्मनिष्ठ, आत्मानुशासित लोगों का प्रवेश बंद हो जाएगा। राजनीति में अधार्मिक व बुरे लोगों को आने का अवसर मिलेगा। फलतः राजनीति का स्वरूप विकृत हो जाएगा और वह पतन की ओर अग्रसर होगी। यही कारण है कि देश में शनै–शनै राजनीतिक मूल्यहीनता प्रकट होती जा रही है।

राजनेताओं द्वारा धर्म का बढ़ता हस्तक्षेप राजनीतिक व्यवस्था को विश्वासहीन कर चुका है। भारत में राजनीति जिस प्रकार दूषित हो गयी है वैसी विश्व में कहीं भी नहीं। विश्व के

अन्य देशों में तो धर्म, न्याय, नैतिकता का इतना सम्मान है कि किंचित आरोप मात्र से वहाँ बड़ा से बड़ा पद त्याग देते हैं। किंतु यहाँ तो जिस पर जितना बड़ा आरोप है वह उतना ही बड़ा नेता है। भारतीय प्रजातंत्र में आज विविध भ्रष्टाचार, अवसरवाद, अपराध परस्ती, घोटाले हो रहे है, पकड़े जाते हैं और फिर राजनीतिक पॉवर, पैसा और पॉजीशन के तहत अपने आप को निर्दोष साबित कर फिर सत्ता में आते हैं। अब यह देश धार्मिक, सांस्कृतिक अखंडता एवं विविधता का देश नहीं रहा तो अपराधियों, भ्रष्टाचारियों एवं घोटालों का देश बन गया है। राजनीति में धर्म का गलत इस्तेमाल करने से धार्मिक कट्टरता बढ़ रही है। राजनीति के भ्रष्ट, विकृत परिदृश्य ने धर्म को भी कुलषित एवं दूषित कर दिया है।

4.8 राजनीति और जाति

भारतीय राजनीति संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करने वाली महत्वपूर्ण इकाई यानि 'जाति'। भारत में भारतीय जनतंत्र को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला तत्व है जाति। अतः भारतीय स्तर पर हर क्षेत्र में इसका प्रभाव दिखाई देता है। आजादी के पश्चात् भारतीय राजनीति में 'जाति' को विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। जाति–व्यवस्था भी दृढ़ हो रही है, मोदी एंड मोदी *भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियाँ* में लिखते है :

> जाति भारतीय राजनीति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सत्यता है। एक सामान्य भारतीय अपना सब कुछ त्याग सकता है परन्तु वह जाति व्यवस्था में अपने विश्वास को तिलांजलि नहीं दे सकता है।(70)

आज जाति की संकुचित मानसिकता दिन भर दिन बढ़कर राजनीतिक परिवेश में जाति प्रणाली को राजनीतिक दलों, जाति संप्रदाय, जाति संगठनों ने चुनाव प्रक्रिया के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया है।

सन् 1967 के बाद भारतीय राजनीति में जाति का राजनीतिकरण शुरू हुआ। अखिल भारतीय स्तर पर काँग्रेस की एकीकृत नीति को बड़ा धक्का लगा। अपनी रणनीति में परिवर्तन करने के विचार से उन्होंने ब्राह्मण, मुस्लिम तथा दलितों को अपने साथ लेकर चलने का निर्णय लिया। तब से भारतीय राजनीति में अल्पसंख्यक, दलित जातियों का प्रभाव उतरोत्तर बढ़ता गया और जातियता भी बढ़ गयी। रजनी कोठारी *भारतीय राजनीति में जाति* में लिखती है, "कोई भी सामाजिक तंत्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना की क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थशून्य है।"(8) राजनीतिक परिदृश्य ने जातिय व्यवस्था को हिंसात्मकता की ओर प्रेरित किया है और जातीयता को भी बढ़ावा दिया। आजादी के पश्चात् स्पर्धात्मक निर्वाचन प्रक्रिया के कारण राजनीति में 'जाति' यह घटक केंद्रबिंदु बन गया। प्रबल

जातियों ने कमजोर 'जाति' पर अपना वर्चस्व स्थापित कर राजनीति में यश प्राप्त किया। जैसे महाराष्ट्र में मराठा, राजस्थान–राजपूताना, गुजरात– क्षत्रिय, आन्ध्र प्रदेश– रेड्डी, पंजाब–सिख, कर्नाटक– लिंगायत, हरियाणा–जाट, बिहार–यादव आदि जातियों ने अपनी शक्ति और प्रभुत्व से राजनीति में 'एकाधिकार' निर्माण किया। इस कारण कमजोर जातियाँ इस प्रकार का विभाजन हुआ। फिर पिछड़ी जातियों को अपनों पर हुए अन्याय का एहसास होने लगा। इससे जातीय मतभेद, जातिय दंगल का जन्म हुआ है।

सन 1967 के बाद 'जाति' का राजनीतिकरण हुआ। कमजोर, पिछड़ी जातियों द्वारा राजनीतिक संगठन, दल स्थापन किए जाने लगे। भारतीय राजनीति की समझ और चाहत ने उन्हें राजनीति की ओर झुका दिया। भारत में राजनीति 'जाति' के इर्द–गिर्द घूमती है। जाति को लेकर चलना होगा। यह भावना राजनीति में घर करने लगी। जातिवाद की समस्या को बल मिलने लगा। अब राजनीति में 'जाति' यह तत्व इतना महत्वपूर्ण एवं प्रभावकारी बन चुका है कि न तो इसके सिवा राजनीति हो सकती है न सरकार बन सकती है। देश के हर पहलू पर 'जाति' का वर्चस्व प्रस्थापित हुआ है। राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता की वजह से सत्ता हासिल करने के लिए आज जाति का एकीकरण हो रहा है, जाति की आंतरिक गुटबंदी अन्य जातियों से गठजोड़ कर सत्ता में आने के लिए प्रयत्नशील है। अब सत्ता की होड़ ऊँची जातियों तक सीमित न होकर निचली जातियों तक आ गयी है। शिक्षा, अधिकार, पद पाने हेतू अनेक दल, संगठन प्रतिद्वंद्वी के रूप में मौजूद है। गठजोड़ की राजनीति ने आज सब ओर अपने कदम बढ़ाये है। इसलिए हर पार्टी में अब पिछड़ी जाति के लोगों को चुनाव में खड़े करने की पैरवी जारी है। ये लोग जाँति–पाँति को नष्ट करने के बजाय आरक्षण जैसी सुविधाएँ माँगते है, वे भारत की वर्ण और जाति की व्यवस्था को बदलकर एक समतामूलक जनतांत्रिक समाज बनाने के लिए कोई व्यापक आंदोलन छेड़ने के बजाय जब जाति के आधार पर आरक्षण आदि माँगते हैं। तब परिणामतः समाज में भेदभाव उत्पन्न होता है।

जाति को राजनीति का कैंसर माना जाता है। आज भारतीय राजनीति भी महाभयानक रोग 'जाति' से ग्रस्त हैं। समाज में अनेक ऐसे नेता मौजूद है जो 'जातीयता तोड़ों' आंदोलन करते है, परंतु अंदर से उसे बढ़ावा देते हैं। आज अनेक ऐसे जातीय संगठन, दल मौजूद हैं। दलित पैंथर, राष्ट्रीय सेवा संघ, जैसे संगठन राजनेताओं से मिलकर जाति का राजनीतिकरण करने लगे है। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए नीच जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्धी नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते है। यही कारण है कि राजनीति में सत्तालोलूपता ने भ्रष्टाचार, पद, प्रतिष्ठा का

लालच पैदा किया है। आज हर दल–संगठन में राजनीतिक द्वंद्व के कारण जातीय झगड़े, तनाव एवं संघर्ष निर्माण हो रहा है।

भारतीय राजनीति में जाति का प्रभाव हर क्षेत्र में दिखाई देता है। राजनीतिक एवं प्रशासकीय निर्णय प्रक्रिया में भी जाति की भूमिका अहम रही है, क्योंकि सरकार बनानी हो तो कम से कम जाति को मंत्री पद मिलना चाहिए। जातिगत आधार पर मतदान प्रक्रिया का आरंभ हुआ है। जाति एवं प्रशासन से आरक्षण की मांग लोकसभा, विधानसभा में हो रही है। जिससे जातिगत विद्वेष पनप रहा है। यह भावना अपने जातीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्य जातियों के हितों की अवहेलना करने तथा उनका हनन करने के लिए प्रेरित करती है यहाँ तक की प्रशासन व राजनीति में भी उनके द्वारा जाति के आधार पर आचरण किया जाता है। आरक्षण के नाम पर ज्यादा–से–ज्यादा सुविधा एवं लाभ प्राप्त करने की स्पर्धा हर जातियों में चल रही है। स्कूल, कॉलेजों, नौकरी में आरक्षण 'जाति' के आधार पर ही पाना आज अटल है।

राजनीति में हर जाति का लक्ष्य जातिगत शुद्धता, हित, संरक्षण एवं विकास न होकर केवल राजनीति में प्रभुत्व प्राप्त करना है। अवसरवादी राजनीतिक का आज बहूल्य है। आशीष व्यास *दैनिक भास्कर* में लिखते है :

> देश में जाति चुनाव जीतने का जरिया बन गयी है। अब पंचायत से लेकर प्रदेश और प्रदेश से लेकर देश तक चुनावी चक्रव्यूह जातियों के आस–पास घूमने लगा है। जाति ही केंद्र है प्रत्याशी परिक्षण का और जाति ही माध्यम है मतदाता के मानस का। जातिगत महत्वकांक्षाओं ने देश में पसरी पड़ी परेशानियों और अराजकता की स्थिति की ओर भी बढ़ा दिया है।(3)

आज जाति राजनेताओं के साथ–साथ मतदाता के जनमानस में रच–बश गयी है। चुनाव में टिकट देने से लेकर मतदान करने, मंत्री बनाने की पैरवी तक 'जाति' इकाई महत्वपूर्ण होती है।

आज समाज में ऐसे अनेक दल, संगठन, संघ और लोग हैं जो राजनीति से अलिप्त होकर राजनीति में अप्रत्यक्ष रूप से गोलमटौल करते हैं। गौतम वीर *भारत में राज्यों की राजनीति* के अनुसार, "अधिकांश जाति संगठन, राजनीतिक दल का निर्माण कर राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने की अपेक्षा राजनीति के साथ 'लुका–छिपी का खेल' ही खेलते हैं।"(89) राजनीति में दबातंत्र का भी प्रयोग हो रहा है। यह पारदर्शी सच्चाई है कि जाति की राजनीति सभी नेता करने लगे हैं। जाति की राजनीति दबाव और हिस्सेदारी की राजनीति है न सिद्धांतों की राजनीति। आज विवेकशील राजनीति और मूल्याधिष्ठित राजनीति का अभाव है। समाज में आज के समय में अगड़ी जाति के साथ पिछड़ी जातियों ने भी राजनीति में दबाव निर्माण करने

की कला सीख ली है। किसी भी क्षेत्र में अब कोई भी राजनीतिक दल इनकी अपेक्षा नहीं कर सकता। आज छोटी–छोटी जातियाँ राजनीतिक चाल–चलन, दाँव–पेच को समझते हुए अपने जाति के लीड़र के साथ मिलकर राजनीतिक प्रभुत्व का निर्माण करने की कोशिश में हैं।

4.9 दलबदलू राजनीति

भारतीय शासन प्रणाली में बहुदल पद्धति तथा दलीय व्यवस्था प्रचलित है। दलीय व्यवस्था हर तरह की राजनीतिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य है, चाहे वह साम्यवादी, उदारवादी या लोकतांत्रिक हो। भारत में बहुदलीय प्रणाली प्रचलित है। बहुदलीय व्यवस्था में न ही दल बनाने पर रोकथाम होती है न ही इनकी संख्या कम की जा सकती है। इस पर अंकुश लगाने के लिए दलबदल अधिनियम जारी किया गया पर इसमें भी अनेक त्रुटियाँ होने के कारण यह सफल नहीं हो पाया। सच्चाई यह है कि जब से दल–बदल कानून जारी हुआ है तब से दल–बदलू की राजनीति ने अधिक जोर पकड़ा है। भारतीय राजनीति के सामने यह गंभीर समस्या है।

बहुदल पद्धति प्रणाली में अनेक राजनीतिक दल सत्ता में आ सकते हैं। भारत में काँग्रेस के हाथों से अधिक समय तक सत्ता होने के कारण असंख्य ऐसे व्यक्ति 1962 तक काँग्रेस में शामिल थे। पर नेहरू काल के बाद अनेक व्यक्ति काँग्रेस दल को छोड़कर अन्य दल में शामिल हुए। ऐसी स्थिति विविध राजनीतिक दल में भी शुरू हुई। इसी स्थिति को दलबदलू राजनीति कहा जाता है। आज तक यह सामने आया है कि स्वार्थ के लिए या दूसरे दलों के प्रलोभन, पद, प्रतिष्ठा, पैसे के लोभ में अनेक नेताओं ने दलबदल किया है। विगत दो दशकों के इतिहास का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट है कि दल–बदल प्रक्रिया ने भी कई राजनीतिक दलों को जन्म दिया है। यह स्वीकार करते हुए कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि राजनीतिक सत्तालोलुपत्ता ने अनेक राजनीतिक दलों को खड़ा कर दिया है। आज स्वार्थ सिद्धि हेतू राज–नेता दूसरे दल में शामिल होते हैं या नया दल स्थापन करते हैं। इस तरह विचारधारा का विचार न कर स्वयं के फायदे हेतू एक दल से दूसरे दल में जाने की प्रवृत्ति को दलबदल राजनीति कहा जाता है।

भारतीय संसदीय शासन प्रणाली का दोष है कि उसने दल–बदल की दूषित नीति को मान्यता दी है। इस व्यवस्था में पुराने मंत्रिमंडल को हटाकर नया मंत्रीमंडल स्थापन किया जा सकता है। जिन नेताओं को मंत्रीमंडल में जगह नहीं मिलती वे दल–बदल नीति अपनाकर अस्थिरता के माहौल का निर्माण करते हैं। सन 1967 के बाद भारतीय राजनीति में सत्ता प्राप्ति हेतू दलबदल राजनेताओं की तादात बढ़ने लगी। *चावला इलैक्शन लॉ एंड पैरक्टिस* "1967 के बाद एक वर्ष विरोधी दल के यानि गैर काँग्रेसी मौके का फायदा उठाने वाले विधायकों के

विभिन्न राज्यों की सोलह सरकारें गिरा दी। इसमें से बहुसंख्यक दलबदल मंत्रीपद या स्वार्थसिद्धि के लोभ से हुआ है। हरियाणा के ऐसे ही एक दलबदल विधायक की वजह से भारतीय राजनीति की परिभाषा में 'आयाराम–गयाराम' इस शब्द की वृद्धि हुई।"(21) भ्रष्टाचार को भी दलबदलू राजनीति की जड़ माना जाता है।

आजादी के बाद सरकार बनाने तथा उसे स्थायीत्व प्राप्त कर देने हेतू काँग्रेस सरकार ने दलबदल की खतरनाक परम्परा शुरू की। परिणामस्वरूप आज अनेक राजनेताओं, विधायक, सांसद, राजनीति मान्यताएँ एवं सिद्धांतों को आहूति देकर राजकीय एवं आर्थिक स्वार्थों की कामना के लिए मोटे तौर पर दल–बदल कर रहे हैं, बहुत सारे राजनेता स्वार्थ की पूर्ति नहीं होने पर ऐसा करते हैं। आज बहुत ऐसे भी राज–नेता हैं जो कपड़े से ज्यादा बार पार्टी ही बदलते हैं। बहुदलीय व्यवस्था के कारण आज राजनीतिक क्षेत्र में जातीय दल, क्षेत्रीय दल, सांप्रदायिक दलों का अस्तित्व बढ़ रहा है। जातीय द्वेष, क्षेत्रवाद, धार्मिक दंगा फसाद के लिए यही दल कारणीभूत हो रहे हैं। राजनीति में अवसरवाद का बोलबाला है। अवसरवादी घटनाओं ने सरकार के सामने गंभीर समस्या खड़ी कर दी है। राजनेताओं की महत्वकांक्षा एवं व्यक्तिगत स्थाई हेतू आज राजनेता दल–बदल करता है या नया दल का निर्माण करता है। आज दलों की बाढ़ सी आ गई हैं। इसलिए एक दल को सत्ता प्राप्त करने में अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

वर्तमान में विभिन्न दल इकट्ठा होकर सरकार बनाने के लिए लालायित है, उम्मेद सिंह इंदा *भारत में राज्य राजनीति* के अनुसार, "आज न तो कोई पार्टी बहुमत हासिल करने की स्थिति में है और न कोई ऐसा व्यक्तित्व है जो दो–तीन मजबूत दलों को जोड़कर एक साझाँ मंच दे सके, रोज पार्टियाँ बदल रही हैं तो सरकारें भी बदलेगी।"(182) आज के हालात ऐसे हैं कि दलों की भरमार से किसी भी दल को बहुमत मिलना असंभव है। नेतृत्व का अभाव, जनता का राजनेताओं के प्रति बढ़ता असंतोष ने लोकतंत्र पर लोगों का विश्वास टूट रहा है। जिससे जनतांत्रिक व्यवस्था के क्रियान्वयन में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो रही हैं। निष्ठावान, एकनिष्ठ, कार्यतत्वर, चरित्रवान कार्यकर्ता की अपेक्षा स्वार्थी, पैसे वाले, जान–पहचान वाले, आपसी लोग, किसी राजनेता के ही बेटे, अभिनेता को ही चुनाव का टिकट दिया जा रहा है। ऐसे में पार्टी में लोगों पर होने वाले अन्याय की वजह से मजबूरन कुछ लोग दलबदल करते हैं। परंतु ज्यादातर सत्ता प्राप्ति, धन–प्राप्ति, पद प्राप्ति के लिए ही राजनीतिक दल बदलते हैं। आज 'फूट डालो' की राजनीति अधिक हो रही है। अगर मानो किसी दल को बहुमत नहीं मिलता है तो वह दल अन्य दलों के दलबदल नेताओं को प्रलोभन देकर खरीद लेता है। दल–बदल के लिए

साम–दाम–दण्ड भेद नीतियों, पैसों और पर्दा का प्रलोभन दिया जाता रहा है। प्रलोभन की राजनीति में आयाराम–गयाराम ने खूब लाभ उठाया है। आज सर्वत्र जोड़–तोड़ और दलबदल राजनीति चल रही है।

भारतीय राजनीति तथा समाज पर दलबदल प्रवृति ने अनेकविद नकारात्मक परिणाम किए हैं। दल परिवर्तन पर जल्दी से जल्दी सत्ता काबीज करना, धन कमाना, विलासप्रिय जीवन जीना यही उद्देश्य दलबदल राजनीति करने वाले राजनेता का रहा है। आज तक किसी नेता, मंत्री या प्रधानमंत्री ने समाज हित, देश हित के लिए दलबदल किया? हर नेताओं का इतिहास इससे हमें वाकिब कराता है। वैचारिक मतभेद दल बदलने के लिए कारणीभूत हो सकती है पर जनहित नहीं। क्योंकि किसी भी दल में रहकर व्यक्ति जनसेवा कर सकता है। परंतु धन मेवा खाने वाले राजनेताओं को जनसेवा के नाम पर दलबदल राजनीति करने का ढ़ोंग, अवसर मिलता है।

4.10 प्रांतवाद, भाषावाद की राजनीति

आजादी के पश्चात् भाषा के आधार पर राज्य या प्रांत की रचना का पुनर्गठन हुआ। भारतीय राष्ट्र निर्माण में देश की अखंडता एवं एकता को बरकरार रखने में भाषा, प्रदेश, धर्म, जाति का बड़ा योगदान रहा है। आज प्रांतवाद या भाषावाद के चलते भारत में अत्यंत अराजकता का निर्माण हुआ है। भारत में इस उभरते हुए प्रवृत्ति के लिए विभिन्न प्रांतीय दल एवं उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ कारणीभूत रही है। भारतीय राजनीति में प्रांतवाद का अत्यधिक विधातक रूप अलग राज्य की माँग है। समय–समय पर आर्थिक–पिछड़ेपन, धर्म, जाति, भाषा को लेकर विभिन्न प्रांतों द्वारा पृथक प्रदेश की माँग की गई तथा अनेक क्षेत्रों में अलगाव की मानसिकता बरकरार है। महाराष्ट्र में विदर्भ या मराठवाड़ा, पश्चिम बंगाल में गोरखलैंड, आंध्र प्रदेश में तेलगाँना आदि। आज के समय में पूर्व–दक्षिण, उत्तर–दक्षिण, उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र का हर राज्य कोई न कोई अंतर्राष्ट्रीय सीमा विवाद, जल विभाजन या अलग राज्य की माँग में उलझा हुआ है।

प्रांतवाद के लिए सांस्कृतिक विभिन्नता, आर्थिक असमानता, विकास की दृष्टि से पिछड़ापन, सरकार द्वारा अपने अभिभावकों या अपनी सरकार जिस राज्य में है। उसे ही ज्यादा निधि देना, सामाजिक न्याय, भाषा विवाद या जातीय संघर्ष ये कारण जिम्मेदार रहे हैं। प्रांतवाद और भाषावाद को लेकर भारतीय राजनीति में आज बड़ी चहल–कदमी हो रही है। आज राजनेता राज्यों के और छोटे–छोटे टुकड़े कर राजसत्ता प्राप्ति के लिए व्याकुल और लालायित हैं। वे नए हथकंडे अपनाकर प्रांतीय विद्वेष निर्माण कर अपना मकसद साध्य करने के लिए

लोगों को लुभा–उकसा रहे हैं, मोदी एंड मोदी की पुस्तक *भारतीय राजनीति की प्रवृत्तियाँ* के अनुसार, "प्रांतीयता का यह बबाल स्वायंसत्ता का नहीं बल्कि पृथकता को वरीयता देता है और कई दफे यह वृत्ति सवंमित विचाराधात्मक अनर्थों से बोझिल भी दिखाई पड़ती है।"(37) इसलिए प्रांतवाद ने उग्रवाद को जन्म दिया है। आज के समय में देश में इतने सारे दल मौजूद हैं कि हर किसी को विधायक या सांसद बनने की अभिलाषा है। ऐसे में प्रत्येक नेता को शासन में आना हो तो राज्यों का विभाजन तो करना ही होगा। फिर इनके द्वारा 'जोड़–तोड़' की जुगलबंदी प्रांत को पृथक करने में होती है।

भाषावाद, प्रांतवाद, जातिवाद और प्रदेशवाद को बढ़ावा देने में राजकीय शक्तियों का बड़ा हाथ रहा है। जिन प्रांतों की रचना भाषायी के आधार के बावजूद उन्हें दूसरों प्रांतों में या अन्य राज्यों से जोड़ा गया, वहाँ राज्य पुनर्गठन के बाद भी असंतोष व्याप्त रहा है। वदैभाषिक बृहमुबई राज्य, बेलगाँव–कर्नाटक, पंजाब–हरियाणा इन राज्यों में अभी भी 'भाषा अभियान' संघर्ष जारी है। अस्मिता की राजनीति को चमकाकर सभी दल राजनीति में रहना चाहते हैं। रमेश उपाध्याय *साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ* में लिखते है, "अस्मिता की राजनीति में लगे लोग एक ही चीज से अपनी पहचान कराने का आग्रह करते हैं – मैं इस जाति का हूँ, मैं इस धर्म का हूँ, मैं इस क्षेत्र का हूँ, मैं इस प्रदेश का हूँ .... इत्यादि।"(74) जिस पार्टी द्वारा इस मुद्दे को लेकर राजनीति की जाती है उसे यश प्राप्त होता है। इसी धारणा हेतू आज नेता भाषा, प्रांत, जाति, धर्म की राजनीति का खेल खेलते हैं। राजनीति में सत्ता प्राप्ति के लिए आज राजनेताओं का 'डबल गेम' शुरू है। जब से रैलियों और थैलियों का जोर बढ़ा है तब से क्षेत्रीय नायकों की विशेष भूमिका उभरने लगी है। स्पर्धात्मक राजनीति ने भ्रष्टाचार, धोखा, फरेब, तनाव, मतभेद, अलगाववादी वृत्ति को अंजाम दे दिया है।

भाषायी लगाव प्रांतवाद का कारण रहा है। महाराष्ट्र की राजनीति में भाषा को आधार बनाकर चुनाव प्रक्रिया में इस्तेमाल किया जा रहा है। आज के वक्त में महाराष्ट्र के मनसे नेता मराठी अस्मिता को लेकर उत्तरी, बिहारी लोगों पर निशाना साध रहे हैं। कुछ दिन पहले पर प्रांतीय और गैर मराठी के बारे में द्वेष की भावना लोगों में इतनी कूट–कूट कर भरी गई थी कि मुंबई गली–कूचों से रास्तों तक भाषा विवाद के दृश्य दिखाई देने लगे थे। इसकी प्रतिक्रिया उत्तर भारत, बिहार, मध्यभारत तक के राजनीति में गूँजने लगी। भाषा अभियान के तजे पर प्रांतीय दुर्भिमान का राजनीतिक खेल शुरू है। राजनीतिक कारण से ही प्रादेशिकता, प्रांतवाद ने भारतीय लोगों में परस्पर वैमनस्य निर्माण किया है। खुद की सफलता एवं लक्ष्य की पूर्ति के लिए बी.एल. फडिया *भारतीय शासन एवं राजनीति* के अनुसार :

राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि यदि पृथक राज्य बन जाएँगे तो उनकी राजनीतिक महत्वकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। प्रादेशिक दलों, जैसे डी.एम.के., अकाली दल, झारखण्ड पार्टी, शिवसेना आदि ने भी राजनीतिक कारणों से प्रादेशिकता की अग्नि प्रज्वलित की है।(35)

भारतीय राजनीति में प्रांतवाद के लिए अनेक बातें कारणीभूत रही है। प्रादेशिकतावाद और पृथक राज्यों की माँग, प्रादेशिक और केन्द्र राज्य संघर्ष, उत्तर–दक्षिण वाद–विवाद, भाषावाद, राजनीतिक संगठन और दलों का हस्तक्षेप आदि। भाषावाद देश में आजादी के पश्चात् हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृति देने के वक्त से जारी है। अहिंदी क्षेत्र के लोगों की भावना हैं कि हिन्दी क्षेत्र द्वारा हम पर थोपी गयी यह भाषा है। यही नहीं तो अहिंदी भाषिक साहित्यकारों की हिंदी रचनाओं को हिंदी भाषिक लोग तुच्छ मानते है तथा हिंदी पत्र–पत्रिकाओं में उन्हें स्थान न देकर ठुकरा देते हैं। दक्षिण भारत के लोग आज भी हिंदी को अपनी राजभाषा मानने के लिए तैयार नहीं है। हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी को वे पसंद करते है। भाषा को राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त कर भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर और दक्षिण में अनेक बार हिंसात्मक आंदोलन हुए और भारत में 'त्रिभाषा सूत्र' को स्वीकृति दी गयी।

21 वीं सदीं में 'भूमि पुत्र' की प्रवृत्ति ने प्रांतवाद को बल दिया है। महाराष्ट्र में शिवसेना और मनसे द्वारा हाल ही के कुछ वर्षों में उत्तर ग्रामीण लोगों के मुंबई में लगातार आने वाले झूंड के झूंड से निजी मराठी लोगों पर अन्याय हो रहा है, का आलाप मनसे के नेता ने किया। निजी लोगों के रोजगार पर आए संकट के चलते मनसे से उत्तर भारतीय, परजातीय गैर मराठी लोगों पर हमले शुरू करने प्रारंभ किए। फलतः उत्तर भारतीय और महाराष्ट्रीय लोगों में दरारे आनी प्रारंभ हुई। प्रादेशिकता एवं प्रांतवाद ने जन मानस में आपसी भेदभाव की स्थिति का निर्माण किया है। स्थानीय नेता जनभावनाओं को उत्तेजित करके अपना राजनीतिक स्वार्थ साधने के लिए समय–समय पर अलग–अलग राज्य की माँग उठाते है। भारतीय राजनीति में राजनेताओं की बढ़ती महत्वकांक्षा और सत्ता लालसा ने प्रांतवाद, भाषावाद की लड़ाई को तीव्रता दी है। राज्यों का पृथःकरण की स्पर्धा प्रादेशिक दलों में चल रही है। ताकि शासन की बागडोर अपने हाथों में आ जाए। प्रांतवाद, भाषावाद ने विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तनाव निर्माण किया है जो देश के सामने बड़ी चुनौती है।

4.11 वोट की राजनीति

भारतीय राजनीति की निर्वाचन प्रक्रिया में लोकतांत्रिक चुनाव प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान है। निश्चित समय के बाद चुनाव प्रक्रिया में परिवर्तन होता रहता है। प्रजातांत्रिक प्रणाली

में मतदात्ताओं द्वारा जनप्रतिनिधि को सरकार में भेजा जाता है ताकि जनता द्वारा चुने गए लोकप्रतिनिधि जनहित के साथ पिछड़े क्षेत्रों का सर्वांगीण विकास करें। मतदाताओं की समस्याओं को सुलझाकर उन्हें सुरक्षा प्रदान करें। परंतु भारतीय राजनीति का परिदृश्य आज बदलता हुआ दिखाई देता है। राजनेताओं द्वारा 'विकास की राजनीति' की जगह 'वोट बैंक की राजनीति' की जा रही है। राजनेताओं का मकसद केवल धन प्राप्ति, सत्ताप्राप्ति के लिए वोटों तक ही सीमित रहा, किसी सामाजिक सरोकार के प्रति नहीं। आज राजनेताओं द्वारा सिर्फ जनता से वोट बटोरना तथा अपनी कुर्सी सही सलामत रखने का उद्देश्य शेष है। राजनेता, जाति, धर्म, भाषा का प्रयोग मतदान हासिल करने के लिए कर रहे हैं, प्रजातंत्र की सफलता केवल जातिगत समीकरणों से वोट बटोरने और सत्ता में रहने के लिए जोड़–तोड़ से नहीं हो सकती। असली सफलता तभी होगी, जब सामान्य नागरिक को संविधान प्रवत्त अधिकारों के साथ समय पर न्याय मिले। सरकारी तंत्र ने लोकतंत्र पर एक प्रश्नचिन्ह लगा दिया है, न्यायव्यवस्था का मनमानी कारोबार जारी है।

आज सारे दल और संगठन के वोट के लिए जाति, धर्म, भाषा का सहारा लेते हुए नजर आते हैं। दल निष्ठा की अपेक्षा कुर्सी निष्ठा आज के राजनेता की माँग है। इसलिए विविध दल विभिन्न जातियों, धर्मों का उपयोग कर रहे हैं, जैसे काँग्रेस–मुस्लिम वोटों का आधार लेती हैं, भाजपा हिंदू वोटों का तो मायावती दलित वोटों का। जिसे प्राप्त करने के लिए नेताओं द्वारा धर्म द्वैष भड़काने वाले भाषण किये जाते हैं, परिणामतः सांप्रदायिकता, तनाव निर्माण हो जाता है। गिरीश मिश्र *बाजार और समाज* में लिखते है, "भारत हिंदू महासंघ जैसे संगठनों सांप्रदायिक सद्भाव बिगाड़ने के लिए प्रदर्शन और सभाएँ भी करते हैं। हिंदू वोट को प्रभावित करने का यह एक जरिया हो गया है।"(301) ज्यादा से ज्यादा वोट प्राप्ति हेतू अनेक दल, श्रमिक संघ, व्यापारी, कर्मचारी संघ, महिला संगठन, किसान संगठन अपने चेहते नेताओं को समर्थन देते हैं।

राजनीति व्यवसाय चलाने का जरिया बन गयी है। टिकट वितरण का रंगतदार नाट्य खेल चलता है। टिकट देते समय पार्टी का उम्मीदवार कितना पैसा खर्च कर सकता है? चुनाव क्षेत्र में उसकी लोकप्रियता कितनी है? वह प्रभावी नेतृत्व दे सकता है, उसकी पहुँच ऊपर तक है क्या? यह देखा जाता है। किसी को राजनीति में विरासत के रूप में भी चुनाव लड़ने का मौका दिया जाता है। स्वार्थ सिद्धि हेतु कुछ लोग दल बदलते हैं या निर्दलीय के रूप में चुनाव लड़ते हैं। सुधीर वर्मा की पुस्तक *भारत में चुनाव सुधार दशा और दिशा* के अनुसार, "अनेक बार पार्टी के समक्ष टिकिटार्थियों में से कुछ जिन्हें पार्टी टिकट नहीं दे पाती वे विद्रोही प्रत्याशी के

रूप में खड़े हो जाते हैं और मैदान में डटे रहते है।"(72) इसलिए चुनाव में हर वक्त वहीं चेहरे वहीं नेता होते हैं कोई नया ठोस नेतृत्व देश के लिए उभरकर सामने नहीं आता है राजनैतिक मैदान में वहीं लोग वहीं मतदाता और वहीं पार्टियाँ होती है जो हर बार छोटे–छोटे टुकड़ों में बँटती चली जाती है।

राजनेता चुनाव में नयी–नयी नीतियाँ, शक्ले लड़ाते हैं। अपनी तरफ मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए मीड़िया से साँठ–गाँठ कर अपना प्रचार–प्रसार तथा प्रायोजित चर्चाएँ कराने के हथकंडे अपनाते हैं। हर जाति का उम्मीदवार अपने जाति या धर्म के नाम पर वोटों को बाँटता है, जब मतदाता चुनाव में अपना वोट डालने जाता है। तब वह एक जिम्मेदार नागरिक को समझकर वोट नहीं डालता तो वह जाति के मोह–जाल में फँसकर वोट डालता है। मतदाता को शायद ऐसा लगता है कि जैसे चुनाव में उसकी जाति का उम्मीदवार जीतने पर अपनी सारी समस्याएँ हल हो जाएगी। परंतु जनता के सपने अधूरे रह जाते हैं। आज के समय में चुनाव के समय में प्रत्येक प्रत्याशी द्वारा राजनीति में नये–नये प्रयोग किये जा रहे हैं। 'वोट बैंक की राजनीति' दिशाविहीन राजनीति की ओर अग्रसर हुई है। राजनीति में अपराधी, भ्रष्टाचारी लोगों का आगमन हो रहा है। चुनावों में पैसों की नदियाँ बहा दी जाती है। बढ़ते चुनाव खर्च ने आर्थिक विपन्नता की स्थिति का निर्माण किया है।

वर्तमान समय में चुनाव प्रक्रिया में तेजी से बदलाव आया है। जात, धर्म, पैसा, राजकीय दल, नेतृत्व, स्थानिक समस्या, व्यक्तिगत संबंध, विविध प्रलोभन, प्रचार–प्रसार के नये आँकड़े आदि घटकों का प्रभाव मतदाताओं पर पड़ता हुआ दिखाई देता है। उम्मीदवार अपने चुनाव क्षेत्र में पैसे बाँटकर मतदान प्राप्त करता है प्रो. पी.डी. देवरे अपनी पुस्तक *आधुनिक राजकीय विश्लेषण* में लिखते है, "गरीब एवं निरक्षर लोगों को पैसों का लालच दिखाकर प्रत्याक्षी मतदाताओं को अपनी तरफ आकर्षित कर उन्हें खुद को ही वोट डालने के लिए विवश किया जाता है।"(12) अनेक बार सामने आया है कि आज नेताओं द्वारा पैसों के अलावा उपभोग वस्तु जैसे धान, कपड़े, साडियाँ, शराब, कम्बल, लेपटोप आदि को घर–घर में बाँट दिया जाता है। नेता का प्रचार करने वाले कार्यकर्त्ताओं को होटलों में खाना खिलाया जाता है। नेताओं द्वारा कुछ पैसे न लेने वाले लोगों को उनके हाथ में अनाज, पानी, नमक देकर शपथ दी जाती है। नेता चुनाव के समय बुजुर्गों के पाँव पड़कर उनसे आर्शीवाद लेते हैं। सिर्फ चुनाव के समय गरीब लोगों के विवाह में, अन्तिमसंस्कार में शामिल होकर सहानुभूति अर्जित करते हैं, उनके घरों में चाय–पानी, खाना–खाते हैं। उन्हें प्रलोभन देते हैं। और सामान्य लोग इतने बड़े नेता

अपने यहाँ आए, खाना–खाया इसी भावना में बहकर उन्हें वोट देते हैं। इस प्रकार का प्रचार तंत्र आज हर राजनेता अपना रहे हैं। अपनी वोट बैंक मजबूत कर रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि नेता जब पैसा, प्यार, प्रलोभन का जनता पर असर नहीं होता तो बाहुबल का प्रयोग करते हैं, खूशबू सुधा *धर्म, राजनीति एवं मूल्यहीनता* में लिखती है :

> चुनावों में मतदान केंद्रों पर कब्जा, घेराव, बन्द, आत्मदाह, उग्र–प्रदर्शन, अनियंत्रित रैलियाँ, हिंसा भड़काना, झूठी नारेबाजी, मीड़िया पर दबाव, सड़क की राजनीति आदि का प्रयोग राजनेता अपने अस्त्रों के रूप में करते है।(113)

आज के युग में राजनेता अपने अनुकूल वातावरण निर्माण करने के लिए चुनाव के समय पार्टी कार्यालय, असंख्य गाडियाँ, गाड़ियों पर नेता का बैनर, प्रत्येक कार्यकर्ता के लिए बिल्ला, जहाँ–वहाँ ध्वज, बड़े–बड़े फलक, वर्तमान पत्र में विज्ञापन, घोषणा पत्र, बड़ी–बड़ी सार्वजनिक सभाएँ आदि की भरमार से मतदाताओं को प्रभावित किया जाता है। प्रत्यके दल अपने चुनावी मुद्दे, नारे, जाहिर रूप से प्रकट करते हैं।

राजकीय दल अपने घोषणा पत्र से देश के अशिक्षित, शिक्षित लोगों पर प्रभाव डालते हैं। गरीबी हटाओं, देश को आत्मनिर्भर बनाना यह चुनावी मुद्दे हर दल अपनाते हैं। नारे देकर जनता में नकारात्मक और सकारात्मक दृष्टिकोण निर्माण किया जाता है। जैसे 1998 में काँग्रेस पक्ष का नारा था 'सोनिया है बहू हमारी, कुछ तो सोचो अटल बिहारी' व 'सोनियां नहीं यह आँधी है, दूसरी इंदिरा गाँधी है, तो भाजपा का नारा था, दूर देश से टपकी, गद्दी खातिर लपकी तथा 'अबकी बारी अटल बिहारी' इस तरह के नारे भी अधिक वोट जमाने हेतू लगाये जाते हैं।

दरअसल आज की राजनीति में नई ओर मोड़ लिया है। चुनाव घोषित होने से मतदान प्रक्रिया तक राजनेताओं द्वारा विविध चालबाजी की राजनीति आज के समय की सच्चाई है। धनबल, बाहुबल के बावजूद भी बोगस मतदान, दबावतंत्र, बूथ कॅपचर जैसी घटनाएँ आज राजनीतिज्ञों के लिए जायज है। मतदाता के लिए वोट के लिए 18 वर्ष की आयु मर्यादित है पर प्रत्याक्षी को कोई आयु शिखा की मर्यादा नहीं। 'वोट बैंक की राजनीति' के लिए आज के नेता राममंदिर, बाबरी मस्जिद, मंडल आयोग जैसे मुद्दे को दोहराते हैं। पैसे देकर वोट खरीद लिए जाते हैं। किसी भी तरीके से प्रत्याक्षी अपने पलड़े में वोट डालने हेतु जायज–नाजायज कदम उठाते हैं। इसलिए दिन–रात अवसरवादी राजनीति ने जनता के मन में घृणा निर्माण की है। वोट की राजनीति ने समाज के हर घटक में विफलता निर्माण की है। देश को ऐसे में आवश्यकता है निर्भय, निड़र, निस्वार्थी, निष्पक्ष, कर्मठ राजनेता की जो देश का सच्चा सिपाही होगा। अपने देश को एक मजबूत नेतृत्व देगा तथा देश के लिए ही हमेशा तत्पर रहेगा।

4.12 राजनीति दलदल

भारतीय राजनीति के बदलते परिदृश्य ने राजनीति ही नहीं तो सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विपन्नता का वातावरण निर्माण किया है। क्योंकि हमारे देश की अधिकतर समस्याएँ राजनेताओं के चरित्र के साथ जुड़ी हुई है। भारत की राजनीति ने अधर्म का रास्ता चुन लिया है। इसका मूल्य भारतीय देश की सारी जनता को चुकाना पड़ रहा है। राजनेताओं के भ्रष्ट आचरण, व्यवहार को सामान्य आदमी भली–भाँति समझ रहा हैं। लोकतंत्र के चलते लोगों का राजनीतिक व्यवस्था पर का विश्वास दिन–ब–दिन कम हो रहा है। भारतीय लोकतंत्र में आज सर्वत्र अवसरवाद, भ्रष्टाचार, घोटाले, खून–खराबा व्याप्त है। राजनेताओं ने राजनीति की प्रतिमा इतनी मलिन कर दी है कि आज हर एक राजनेता के शरीर से गंदगी की बू आती है। देशहित, समाजहित की अपेक्षा स्वहित राजनेता देखते हैं। आज भी भारत की असंख्य जनता भूखी सोती है। विकास के नाम पर ये राजनेता भोली–भाली जनता को लुभाते हैं, योजनाओं का कॉन्ट्रक्ट निजी लोगों को देकर उनसे पैसे ऐंठते हैं। परिणामतः निकृष्ट दर्जा का काम इन योजनाओं में किया जाता है। आज की राजनीति में नैतिकता एवं मूल्यहीनता का ह्रास हो चुका है। संपूर्ण देश पर राजनीति संकट मंडरा रहा है।

आज की राजनीति विचार केंद्रित न होकर व्यक्ति केंद्रित है। देश से ज्यादा व्यक्ति को बड़ा माना जा रहा है। आज काँग्रेस में सोनिया गाँधी के सामने कितने नेता दूम हिलाते हैं। उसे राष्ट्र से अधिक महत्व दिया जा रहा है। आज राजनीति में अनेक ऐसे लोग हैं, जिनके पास नेतृत्व की क्षमता है न निर्णय क्षमता, ऐसे लोगों द्वारा ही राजनीति में धर्म, जाति, भाषा, वर्ण भेद, वोट के नाम पर जनता को लड़ाया जाता है। बाबरी मस्जिद विध्वंस, गुजरात नरसंहार से आज भी संघ और भाजपा दलदल में हैं। भाजपा द्वारा हिंदू और काँग्रेस द्वारा मुस्लिम का राजनीति के लिए उपयोग किया जाता है। परिणामतः नकारात्मक राष्ट्रवाद *जनसत्ता पत्रिका* को बढ़ावा मिलता है "नकारात्मक राष्ट्रवादी ईश्वर के संपर्क में रहते हैं और उसमें आदेश प्राप्त कर कार्यवाहियाँ करते हैं। भगवत इच्छा और आदेश 'संत–समाज' से प्राप्त कर मस्जिद ध्वस्त की जाती है, चर्चों पर हमले होते हैं। 'देवदूत' ही मंदिर वही बनाएँगे की योजना बनाते हैं।"(4) ये देवदत सफेदपोश राजनेता हैं। जो धार्मिक भावना को भड़काकर अपने हित के लिए राजनीतिक सत्ता, प्रभुता का वातावरण तैयार करते हैं।

भारतीय शासक पद्धति में धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय तथा समानता की अवधारणाओं को केंद्र में रखकर विचार किया जाता है। समाज का एक वर्ग राजनीतिक चुनौतियों को राजनीतिक संस्कृति कहकर दुष्प्रचार करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए

रामजन्मभूमि– बाबरी मस्जिद प्रकरण तथा मंडल आयोग को लिया जा सकता है। *चुनाव घोषणा पत्रों* के सहारे ये राजनीतिक दल लाभ उठाने का प्रयास करते हैं। जैसे कॉंग्रेस का कहना है, "धर्मनिरपेक्षता का एक महत्वपूर्ण प्रमेय हैं अल्पसंख्यकों का संरक्षण। कॉंग्रेस इसके लिए हर संभव प्रयत्न करेगी।"(29) यही वजह है कि आज अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक में एक दरार का निर्माण हुआ है *1991 के लोकसभा चुनाव प्रतिबद्धताएं* "भाजपा दल मौजूदा ढाँचे को सम्मान अन्यत्र स्थानांतरित करने के साथ जन्म स्थान पर भी राम मंदिर बनवाने के लिए प्रतिबद्ध है।"(5) ये दोनों ही दल राजनीतिक स्वार्थ के लिए लोगों को बहलाने का प्रयास करते हैं। फलतः राजनीति दलदल की ओर पग बढ़ाती है।

भारतीय राजनीति गैरकानूनी गतिविधियों की राजनीति है। राजनेता की जान–पहचान से ही आज अनेक अवैध धंधों के लिए अनुमति दी जाती है। जैसे शराबखाना, लेडिज बार, जुएँ का अड्डा क्लब आदि। आज समाज में राजनेताओं द्वारा 'अनैतिक घटना' पर भी अधिकाधिक निधि उपलब्ध कराई जाती है। इसमें स्कूल, कॉलेज, कारखाने, फैक्ट्रियाँ को इन्फास्ट्रक्चर न होते हुए भी अनुदान सरकार द्वारा दिया जाता है। यही नहीं आज किसी अन्य वजह से आत्महत्या करने पर उसने कर्ज की वजह से आत्महत्या की है जैसी झूठी कहानी गढ़कर पैसा उन्हें देने के लिए अनेक राजनेता प्रयास करते हैं। आज किसी भी विषय से राजनीति अछूती नहीं रही है। राजनीति ने सब ओर लोगों के मन में भ्रष्टाचार की भावना को बढ़ाया है। राजनेता से आदर्श लेकर आज जनता ने भी काले कारनामें करने का तंत्र सीख लिया है। राजनेताओं ने ही इस संकट का निर्माण किया है।

भारत की राजनीति व्यवस्था आज बेहतर से बदतर हुई है। कारण आज हर आदमी के दिमाग में राजनीति विष की भाँति फैल रही है। भ्रष्टाचार, घौटाले, कसमें–वादे, राजनीतिक षडयंत्र, हत्या, गैरकानूनी व्यापार करने वालों के साथ सांठ–गांठ करने के कारण आज अनेक नेता ऐसे हैं जिन्हें लोगों से छिपना पड़ता है। खुशबू सुधा *धर्म, राजनीति एवं मूल्यहीनता* के शब्दों में, "आज राजनीति विध्वंस, शोषण, हिंसा बन गयी हैं। राजनेताओं को नकाब ओढ़ने पड़ते हैं मुखौटे लगाने पड़ते हैं, अपने को छिपा–छिपाकर चलना पड़ता है।"(117) राजनीति में आपसी संघर्ष, आतंकवाद, स्वार्थता के वातावरण का निर्माण कर रहा है। हर राजनीतिक पार्टी नाजायज–जायज तौर–तरीकों को सरकार बनाने के लिए इस्तेमाल कर रही है। चुनावों में मतदाताओं पर प्रत्याक्षी थोपे जाते हैं :

> विसंगतिपूर्ण तथ्य यह है कि प्रैस और मीड़िया विश्लेषण भी इसी ढंग से करते हैं ताकि सामाजिक सोच भी इसी ढंग से गठित हो। इलेक्शन वॉर जीतने के लिए 'सब कुछ

उचित है' का चिंतन गैर कानूनी गतिविधियों का विस्तार कर रहा है, जैसे अपराधी तत्वों को साथ लेकर चुनाव में भाग लेना, ब्लैक मनी का प्रयोग, धन के प्रयोग की प्रतिक्रिया स्वरूप हिंसा या शारीरिक बल का प्रयोग, सभी दलों द्वारा पुलिस रजिस्टर में नामजह अपराधियों को राजनीति में नेतृत्व देने की इच्छा आदि।(9–10) राजनीति में आज गुनहगारों की संख्या बढ़ रही हैं।

राजनीति में आज काले धन का सर्वत्र बोलबाला है। देश के अनेक नेता और दल विदेशों से काला पैसा चुनावों के लिए प्राप्त करते हैं। यह पैसा जनता के वोट खरीदने में लगाते हैं। कुछ वोट धोखे या बाहुबल का प्रयोग कर हासिल करते हैं। चुनकर आने के बाद भरपूर पैसा भ्रष्टाचार के तरीके से कमाते है। फिर यह राजनेता विलासी जीवन जीते हैं। कडकडस्त्री के सफेद पोष कपड़े पहनते हैं। फाईवस्टार होटलों में खाना, विलायती कारों में घूमना इस तरह नवाबी रंग–ढंग का मदमस्त जीवन आज राजनेता बसर कर रहे हैं। दूसरी तरफ गरीब देश के फटेहाल व्यक्ति है जो रोटी, कपड़ा, मकान की चिंता से परेशान हैं। जनता को सिर्फ ये बहलाने का प्रयास करते हैं। पी. चिदम्बरम कहते है, "राजनीति और विज्ञापन कर्त्ता एक ही जाति के होते हैं, दोनों सपने बेचते हैं।" राजनीतिक दलदल ने राजनीति संस्कृति, मूल्य और लोकतंत्र पर बड़ा आघात किया है।

4.13 अवसरवादी राजनीति

भारतीय राजनीति में अवसरवादी, सुविधाभोगी राजनीति की प्रवृत्ति आजादी से ही है। पर आज इसमें अतिरेक हुआ है, क्योंकि राजनीति में अब कोई सिद्धांत है न तत्व बल्कि मौकापर्स्ती हैं। राजनीति पद, लाभ, धन कमा अपना चेहरा चमकाने और चर्चा में रहने का दिखावा है। आज अनेक व्यक्ति राजनीति में प्रवेश के लिए लालायित हैं, क्योंकि इसमें सब तरह की सुविधा, मान–सम्मान, ऐशों आराम है। इसलिए राजनीति का व्यावसायीकरण हुआ है। रजनी कांत शाह *हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना* के अनुसार, यही वजह है कि :

> राजनीति के क्षेत्र में दलबंदी, गुटबाजी, स्वार्थ, सत्ता लालसा आदि का अतिक्रमण हो गया है। जिससे आज का समाज विषम राजनीतिक परिस्थितियों से उब गया है। राजनीतिक चुनावों ने वर्तमान राजनीतिक परिवेश को दूषित कर दिया है।(75)

इन अवसरवादी नेताओं ने सत्ता में आने के बाद जनसुरक्षा की अपेक्षा धन और कुर्सी सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया है। अपनी जेबें गरम कर देश की जनता को लूटने वाले राजनेता और राजनीतिक स्थितियों को व्यक्त करने का काम ग्रामांचलिक उपन्यासकारों ने किया है।

जनता को सीधे–सीधे संस्कार दिए जा रहे है – "बाप बड़ा, न भइया सबसे बड़ा रूपइया।' जनता के यह संस्कार है या दिए जा रहे है और जनता पैसे के लिए नवविवाहिता लड़कियों को जला रही है तो क्या बुरा कर रही है? असगर वजाहत *कैसी आग लगाई* में लिखते है –

> हमारी सरकार ने ही तय किया है कि रूपया, पैसा, धन, दौलत बड़ी चीजें हैं – चाहे वोट देने से मिले, चाहे वोट देने के बाद मिले। भ्रष्टाचार का रोना दिखावा नहीं तो क्या है जबकि सरकार ही इसे प्रत्यक्ष रूप से बढ़ावा दे रही है। वे प्रान्त जहाँ हमारी सरकार है केन्द्र पैसा देगा। जहाँ सरकार हमारी नहीं है केन्द्र पैसा नहीं देगा।(87)

जिन भारतीयों ने स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान अपने शरीर, धन–संपत्ति पर आँच भी नहीं आने दी थी तथा देश स्वतंत्र होते ही खादी पहनकर राजनीति में बढ़ चढ़कर भाग लेना शुरू कर दिया था उन्हीं सुविधाभोगी, अवसरवादी भारतीयों में से एक हैं, चुनाव में इस बार लड़ना नहीं चाहता था .... हर पार्टी को बड़ा आदमी चाहिए चुनाव लड़ने के लिए। मैंने भी अपना मन बदल लिया यह सोचकर की चुनाव लड़ने में घाटा भी क्या हैं ? राजनीतिक सत्ता पूँजीपत्तियों के लिए घी का काम करती है, वैसे पूँजी में चार चाँद लग जाते हैं यदि उसमें थोड़ी राजनीति मिला दी जाए। इस तरह अवसरवादी लोग राजनीति के लिए सत्ता और धन प्राप्ति की आशा रखते हैं। तीर्थेश्वर सिंह *समकालीन हिन्दी कविता की यथार्थवादी चेतना* में कहते है, "देश के शासक वर्ग में नव धनाढ़्यों की एक ऐसी जमात उत्पन्न हो गयी है जिसका उद्योग व्यापार के साथ–साथ राजनीति पर भी नियंत्रण हो चुका है।"(12)

4.14 जनकल्याण की लुप्त होती भावना

भारतीय शासन प्रणाली में देश के विकास और जनहित की भावना नष्ट हो रही है। आज भी अनेक गाँव विकास की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। गांवों में बिजली, पानी, सड़कें, आरोग्य, नालियों की समस्याएँ है। कृषि के लिए उपयुक्त साधनों की आपूर्ति नहीं होती। सरकारी नीतियों के गलत आबँटन से कृषि क्षेत्र पिछड़ा हुआ है। चुनाव में पैसे देने वाले व्यापारी उद्योगपतियों के हित में राजनेता अधिक ध्यान देते हैं। राजनेताओं को सामाजिक सरोकार से कोई लेना देना नहीं है। राजनीति की आड़ में वे खुद की रोटी सेंकना चाहते हैं। इसलिए उसमें सेवाभाव की कमी है। सरकार के पास देश के विकास का कोई ठोस विकल्प नहीं है। सिर्फ चुनाव के वक्त जनता के सामने विकास का ढोंग रचा जाता है। गाँवों के विकास कामों की निधि में भी भ्रष्टाचार होता है। इन परिस्थितियों का सामीक्ष्य ग्रामांचलिक उपन्यासों में चित्रण हुआ है।

असगर वजाहत के उपन्यास *कैसी आग लगाई* उपन्यास के अंक अनपढ़ का विलाप में राजनीति में योजना उपेक्षा पर विचार करता है –

> हमारे देश में चुनाव होने वाले है और सरकार ने अपने खजाने के मुँह खोल दिए हैं। हर वर्ग को लाभ शुद्ध लाभ पहुँचाने की योजनाएँ घोषित हो रही हैं। सवाल यह है कि क्या योजनाएँ घोषित करने वालों को पहले से यह पता न था कि समस्याएँ क्या हैं ? ऐसा नहीं हो सकता। समस्याओं की जानकारी सरकार को ही नहीं दरबान तक को होती है।(28)

इस प्रकार नेता लोग बहाने बनाकर विकास को नजरअंदाज करते हैं। 'हलफनामें' उपन्यास में भी मंत्री विकास को अनदेखा कर किसानों को 'किसान आत्महत्या योजना' शुरू कर बहलाता है। आत्महत्या का मुआवजा देने का आश्वासन किसानों को देता हैं पर प्रत्यक्ष रूप में पांच साल तक यह मुआवजा उसे मिलता नहीं। इस पर लाल साहब सिंह *स्वतन्त्रायोत्तर हिन्दी उपन्यासों में युगबोध* में लिखते है, "हमारा शासक वर्ग दिशाहीन नहीं है। उसकी दिशा और चाहे कुछ हो न हो किन्तु जन–विरोधी अवश्य है। विरोधी दल भी जनता की राजनीति भूलकर सत्ता की राजनीति में लगे है।"(150) इसका चित्रण 'हलफनामें' उपन्यास में मौजूद है। पहलवान किसानों की दुदर्शा को व्यक्त कर हमारी प्रजातंत्र पर व्यंग्य करता हैं सचमुच, हम तब भी भिखारी थे जब अंग्रेजों का नवाबों का, जमींदारो का राज था और आज भी शिकारी है, इस राज में जिसे सब सुराज कहते है। सचमुच ही इस लोकतंत्र से जनता का विश्वास उठ चुका है। गलत लोगों के हाथों में सत्ता आने से जनहित, जनकल्याण की अपेक्षा स्वयं की प्रगति कैसे हो सकती है, यही आज के राजनेता का रवैया है। इसे ही ग्रामांचालिक उपन्यासों में दिखाया गया है। ज्योति वत्स *हिन्दी उपन्यास : सांस्कृतिक परिदृश्य* की इस पर भी अपनी प्रतिक्रिया इस तरह से है, "आज जनता राजनेताओं के लिए एक वस्तु बन चुकी है जो चुनाव आने पर खरीदी या बेची जाती है।"(74) किसान आत्महत्या योजना सिर्फ कागजों पर शुरूकर किसानों को गुमराह किया जाता है। खुशबू सुधा *धर्म, राजनीति एवं मूल्यहीनता* में कहती है, "राजनीतिक नेता के पास जितने चेहरे होते हैं उतने किसी के पास नहीं होते। उसको खुद ही पता नहीं होता कि उसका असली चेहरा कौन सा है। वह मुखौटे ही बदलता रहता है।"(117) सरकारी प्यादे कम्पनियों से मिलीभगत कर सिर्फ गंदी राजनीति पर अपनी जेबे भर रहे है। ज्ञानवती अरोड़ा *समकालीन हिन्दी कहानी यथार्थ के विविध आयाम* में लिखती है, "राजनेता या नेता वही है जिसके पास अपना एक फोर्स है, दबदबा है, विदेशी ताकते हैं, देश को उद्योगपति जिसके सहायक है।"(224)

4.15 इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में मीड़िया का स्थान

हिन्दी उपन्यासों में मीड़िया का प्रमुख स्थान है। वर्तमान युग के उपन्यासकारों ने अपने विचारों एवं अनुभवों को व्यक्त करने का माध्यम न केवल पुस्तक रचना के द्वारा उसके साथ–साथ मीड़िया से भी वह प्रस्तुत करने लगे। चाहे वह इलैक्ट्रानिक मीडिया या प्रिंट मीडिया।

मीडिया एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सारी दुनिया को अपना संदेश भेज सकते है। वह निर्दिष्ट समय में पहुंचा सकते है। वर्तमान में सारे क्षेत्र यानी हर एक व्यवसाय क्षेत्र के लोग इस माध्यम का प्रयोग करने लगे। रचनाकारों ने अपनी सोच में कुछ नयापन का झकझोर दिखाना चाहते है और यथार्थ का वर्णन करना चाहते हैं। जैसे एक उपन्यास एक जमीन अपनी चित्रा मुदगल द्वारा लिखी गई है। उसमें नारी का यथार्थ जीवन प्रस्तुत किया गया है। नीता नाम की स्त्री का चरित्र चित्रण मीडिया में विज्ञापन का क्षेत्र से संबंध में दिखाया गया है। वह अपना जीवन यापन करने के लिए विज्ञापन का व्यवसाय चुन लेती है। बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

4.15.1 भारतीय राजनीति में मीडिया की भूमिका

भारत लोकतांत्रिक देश है और पत्रकारिता को यहाँ लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता है, किन्तु लोकतंत्र तभी सफल साबित होगा, जब जहाँ न्यायपालिका, विधायिका और व्यवस्थापिका तीनों आपस में पूर्ण विश्वास और निष्ठा के साथ संतुलन बनाकर कार्य करें।

भारत में पत्रकारिता का स्वरूप समय के साथ बदलता जा रहा है। इतिहास की दृष्टि से भारत में पत्रकारिता की शुरूआत एक मिशन के रूप में हुई थी, परंतु समय ने करवट ली और इसकी दशा और दिशा ही बदल गई। यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि पत्रकारिता हमेशा से समाज के लिए संघर्ष, राष्ट्रीय सरोकार और गौरवशाली प्रसंगों से ओत–प्रोत रही है। यहाँ अँग्रेजों के पदार्पण के साथ पत्रकारिता ने भी अपना सफर शुरू किया। भारत में प्रारंभिक समाचार–पत्रों का प्रकाश ईस्ट इंडिया कंपनी के भूतपूर्व कर्मचारियों द्वारा किया गया था। इनकी पत्रकारिता का मुख्य उद्देश्य कंपनी सरकार की नीतियों को आम जनता तक पहुँचाना था। इसके पश्चात् महात्मा गाँधी, सुभाष चंद्र बोस, राजा राममोहन राय जैसे महापुरूषों ने पत्रकारिता की शुरूआत की। इनकी पत्रकारिता पूरी तरह समाज को समर्पित थी। सही मायने में देखा जाए तो ऐसी ही पत्रकारिता को सामाजिक और राष्ट्रीय हितों का संरक्षण करने वाली पत्रकारिता कहा जाता है।

अब पत्रकारिता दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। मीडिया की मौजूदा स्थिति को देखते हुए लगता है कि हम पत्रकारिता नहीं, बल्कि व्यवसाय कर रहे हैं। समाचार पत्रों, टी.वी. चैनलों पर विज्ञापनों की भरमार है। समाचार पत्र एवं चैनल केवल विज्ञापन और प्रसिद्धि पाने की होड़ में लगे हैं। हर चैनल यही चाहता है कि वह ऐसा कुछ दिखा दे, जिससे उसकी टी. आर.पी. बढ़ जाए। आज मीडिया हर घटना को अलग ढ़ंग से प्रस्तुत करना चाहती है। इस अलग प्रस्तुति का मुख्य कारण है पत्रकारिता में आई प्रतिस्पर्धा लगती है कि प्रतिस्पर्धा के कारण ही इसका व्यवसायीकरण हुआ है। इस प्रतिस्पर्धा में पहले से पहले समाचार के प्रस्तुतीकरण से लेकर अधिक से अधिक विज्ञापन पाने की होड़ शामिल है। मीडिया पर व्यावसायिकता का ठप्पा लग कर उसे कठघरे में खड़ा करने वालों को यह वास्तविकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि यदि किसी पत्रिका का समाज में अपनी आवाज बुलंद करनी है तो उसका जिंदा रहना जरूरी है। बिना व्यावसायिक हुए आज मीड़िया की कोई कीमत नहीं होती, कोई प्रभाव नहीं होता। आज हालात इतने बदतर हो गये हैं कि यदि किसी समाचार–पत्र या चैनल के पास विज्ञापन न हो तो उसका अस्तित्व ही समाप्त होने लगता है। हर चैनल, समाचार–पत्र में एक मार्केटिंग डिपार्टमेंट होता है जो विशेषकर विज्ञापन लाने का ही कार्य करता है। आज मीड़िया इतना व्यावसायिक हो गया है कि वह लोगों को गुदगुदाने का काम भी करते हैं। लोगों तक समाचार, सूचना आदि परोसने वाले इस मीड़िया ने व्यवसाय की चकाचौंध में लोगों को गुदगुदाने की जिम्मेदारी भी अपने कंधे पर ले ली है। यही कारण है कि कपिल शर्मा जैसा हास्य कलाकार समाचार चैनलों पर आकर अपने हास्य अंदाज में समाचारों को प्रस्तुत करता है और बेचारी भोली जनता अपने देश के हाल को इनके मजाकिया अंदाज में सुनकर हँसती है और तालियाँ बजाती है।

यह लोकतंत्र का चौथा स्तंभ है। मीडिया की जिम्मेदारी है कि वह तथ्याधारित वास्तविक समस्याओं को सामने लाए और लोगों को सही दिशा में प्रेरित करें। इसमें हास्य का दूर–दूर तक कोई लेना–देना न हों, क्योंकि पत्रकारिता एक गंभीर विषय है। इसीलिए मीडिया को एक बार फिर अपना व्यावसायिक चेहरा बदलना होगा और इसे एक मिशन के रूप में लेना होगा, ताकि हम जल्द से जल्द भारतीय समाज को भ्रष्टाचार, भूखमरी, गरीबी, बलात्कार, बेरोजगारी जैसी मुसीबतों से मुक्त करा सके।

मीडिया ही वह शक्ति है जो पूरे समाज को बदल सकती है, किंतु इसके लिए पहले मीडिया को बदलना होगा।

आज के युवा पत्रकारों को राजा राममोहन राय, भारतेन्दू हरिशचंद्र और विष्णु प्रभाकर जैसे पत्रकारों से प्रेरणा लेकर देश हित में कार्य करना होगा। यदि मीडिया ने आने वाले समय में पूरी पारदर्शिता और दूरदर्शिता के साथ समाज के लिए कार्य किया तो वह दिन दूर नहीं जब हमारा राष्ट्र दुनिया के सामने मिसाल बन जाएगा। भारतीय समाज पर मीडिया का प्रभाव काफी मात्रा में देखने को मिलता है। मीडिया एक मिशन के तहत कार्य करे ओर जनता में जागरूकता का भाव पैदा कर दे तो वास्तव में मीड़िया लोकतंत्र के लिए एक वरदान साबित हो जाएगा। इसमें कोई शक नहीं है कि मीडिया ने समय–समय पर अपना काम किया है और समाज को सच का आईना दिखाया है। आज समाचार–पत्र या चैनल लोगों की जरूरतें हो गई हैं, इसलिए यह एक अच्छा अवसर है कि मीडिया समाज से बुराईयों को हटाकर स्वस्थ समाज का निर्माण करें और भारत को विश्व स्तर पर एक अलग पहचान दिलाए यह मीड़िया का दायित्व भी है। आज यही एकमात्र क्षेत्र हैं, जिसमें हो रही अनियमिताओं को इसी क्षेत्र के लोग उजागर की मीड़िया में पारदर्शिता बनाए हुए हैं। यह समाज के लिए एक अच्छी बात है और इससे यह पता चलता है कि अब भी यह क्षेत्र समाज के दिल में कार्य कर रहा है।

4.15.2 मीडिया जगत में स्त्री को भूमिका

स्त्री व उसकी देह को सेक्स और सौंदर्य की प्रतिभीत में तबदील करने में मीडिया ने बाजार को भरपूर सहयोग दिया है, क्योंकि अब वह लोकतंत्र का चौथा स्तंभ होने की जिम्मेदारी महसूस करने की अपेक्षा 'लाभ' के बाजारवादी सिद्धांत से अधिक प्रेरित हो रहा है। राजेन्द्र यादव *अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य* में मीडिया जगत की भूमिका पर लिखते है, "उस खबर की कीमत सर्वाधिक आंकी गई जो अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करें। ऐसे माहौल में स्त्री का उर्द्धनग्न, उत्तेजक, माँसल शरीर की तस्वीरों एवं उनसे संबंधित सनसनीखेज खबरों को समाचार पत्रों में व्यापक स्पेस दिया जाने लगा।"(223)

चित्रा मुद्गल *एक जमीन अपनी* में स्पष्ट किया है :

नीता ने कहा मैं अब्जर्वेशन छोड़ रही हूँ .... क्यों ? क्यू मूर्खता कर रही हो .....मॉडलिंग के पीछे बड़ी मुश्किलों से हासिल पक्की नौकरी छोड़ दोगी ? नीता ने उसे आगे बोलने नहीं दिया, मॉडलिंग के पीछे नहीं, माइ डियर ..... बेहतर सुविधाओं के साथ बेहतर पद पर जा रही हूँ। 'पूर्णा' आब्जर्वेशन की टक्कर की ही एजेंसी है ... जिस तेजी से पिछले दो सालों में उसने अपनी कार्यकुशलता से उत्पादकों को आकर्षित किया है, आश्चर्यजनक है। तुम्हें मालूम है न टिपटाड शीतल पेय का फिल्मरस में कितना जर्बदस्त खाता था .... पिछले साल बाजार में दूसरे पेयों की प्रतिस्पर्द्धा में उसकी मांग उपभोक्ताओं में तिनी तेजी से गीणी है कि इस वर्ष उन्होंने

फिल्मरस से अपना खाता वापस लेकर पूर्णा को टिपटॉप का प्रचार अभियान सौंप दिया है। पूर्णा का प्रबंध निदेशक मि० सुधीर गुप्ता से आम्रपाली की शूटिंग के दौरान ही मुलाकात हुई।(87)

कंपनी की आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रतिवर्ष खर्च करना चाहिए। कर्मचारियों के वेतन के लिए कितनी राशि चाहिए, यह पहले ही तय किया जाता है :

कुछ बजट के विषय में चर्चा करना चाह रही थी न ? जी, मैं चाहती हूँ कि आप एक वर्ष की अवधि के लिए अपने विज्ञापन बजट में बढ़ोतरी कर दें ..... एजेंसी की हक में बहुत बड़ी मदद होगी। क्यों ..... ? हम तो इधर बजट कम करने की सोच रहे हैं ? कृपया अभी से ऐसा न करें। समस्या सुन लें पहले। 'फिल्मरस' में आपका चार लाख का खाता रहा है, वह ज्यों का त्यों हमें दे दीजिए, एक लाख खाते की हमें तत्काल आवश्यकता होगी ..... अगर आप अपना बजट पाँच कर देंगे।(126)

कोई भी संस्था बाजार में टिकती है तो आर्थिक योजना पहले से बना लेती है।

चित्रा मुदगल् ने 'एक जमीन अपनी' उपन्यास में उसके इस संघर्ष को निष्पक्षता के साथ उकेरते हुए इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है कि वे सवाल भी अछूते न रह जाएँ तो विज्ञापन जगत की अपेक्षाकृत नई संघर्ष भूमि में नारी स्वतंत्रता को लेकर उठते हैं, उठ सकते हैं। इस प्रकार 'स्त्री' मुक्त की मेरी परिभाषा उसका मस्तिक से जुड़ी हुई है। मेरी दृष्टि में स्त्री की मुक्ति तभी संभव है जब वह देह से नहीं मस्तिष्क से पहचानी जाएगी। संकट यह है कि अब तक इसे देह के रूप में जाना जाता रहा है। आधुनिक बोध के नाम उसको देह समझने का षड्यंत्र रचा जा रहा है और वह स्वयं भी उसमें उलझती नजर आ रही है। आज स्त्री यौन स्वातांत्रय में अपनी मुक्ति देख रही है। पुरूष भी देखता है कि मुक्त यौन–संबंधों में जाने वाली स्त्री परिवर्तन जरूरी है – चित्रा मुद्गल *राजस्थान पत्रिका* के व्यंग्य इस प्रकार से है :

स्त्री की पहचान उसके अपने निर्णयों, विवेचना, उसके सामर्थ्य उसके दिमाग से, संघर्षों और समस्याओं के समाधानों से होगी। वह निर्णयात्मक भूमिका में हो। क्षेत्र चाहे कोई भी हो विज्ञान हो, समाज हो, परिवार हो, राजनीति हो, चाहे देश के विकास की बात हो। जब तक नारी की विचारशीलता को प्रमुखता नहीं मिलती तब तक उसकी मुक्ति का स्वप्न अधूरा है।(1)

मीडिया एवं विज्ञापन में नारी देह को एक हथियार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। एक छोटे से विज्ञापन के लिए हजारों विश्व सुंदरियों का देह प्रदर्शन होता है। वह खरीददार और दलालों के हाथों में नाचती कठपुतलियाँ सिर्फ वस्तु या साधन भर होती है।

विज्ञापन एवं मीडिया कर्मियों ने सौंदर्य स्पर्धा के नाम पर ग्लैमर मॉडलों को तैयार कर एक तथाकथित सुंदर नारी को एक नर्क दिशा दिखाने में कामयाबी हासिल कर रहा है। छोटे–छोटे फायदे के लिए स्त्री भी आगे बढ़ रही है।

राजेन्द्र यादव अपनी आलोचनात्मक पुस्तक *अतीत होती सदी और स्त्रीका भविष्य* में नारी विमर्श पर लिखते हैं :

> यह सारा उद्यम इस एक संकल्प के इर्द–गिर्द है कि नई सदी में भारतीय समाज नए मूल्यों, नए सम्बन्धों, नए व्यवहार, नई मानसिकता की ओर अग्रसर होगा। आने वाली सदी में स्त्रियों की मुक्ति के सवालों के जवाब ही देश में आधुनिकता और विकास के चरित्र को तय करेंगे।(142)

एक जमीन अपनी उपन्यास में अंकिता की सहेली नीता मशहूर मॉडल बनने के सपनों को लेकर आब्जर्वेशन एंड कंपनी में दाखिल होती है। वह अपने मनचाहे मुकाम तक पहुँचाने के लिए नारी का आभूषण मानी जाने वाली लज्जा को त्याग देती है। आम्रपाली का ऐड करने के लिए उसने अपने कपडों का साइज इतना घटा दिया है कि टू पीस बिकनी में सागर के तट पर कई पुरूषों के समीप शारीरिक प्रदर्शन करने को तैयार हो जाती है। क्योंकि इस प्रकार मीडिया के माध्यम से यह जादुई मुस्कान कंपनियों में माल के विज्ञापनों के साथ प्रस्तुत की जाती है।

अंकिता ने उस एंड के बाद उससे पूर्णां एजेंसी के प्रबंध निदेशक सुधाकर गुप्ता आम्रपाली के एंड के समय अंकिता की शारीरिक सुंदरता को देखकर उसे अपने जाल में फंसाता है। विज्ञान और मीडिया के क्षेत्र में नारी मात्र उपभोग की वस्तु बनकर रह गयी है। अर्थ के लिए युवतियों को कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है। समाज की बदलती हुई परिस्थितियों का ही नहीं जीवन–शैली में बदलाव मानवीय मूल्यों की हासता, आर्थिक विषयों पर निर्भर मानव संबंधों का चित्रण मुद्‌गल ने किया है।

पूँजीवाद के चलते आज व्यक्ति स्वतंत्रता का नारा मानव सभ्यता के केन्द्र में है। बाजार और मीडिया इसके सबसे बड़े प्रस्तुता है। इसके लिए स्त्री–मुक्ति बड़ा मूल्य है और उससे भी बड़ा मूल्य है उसकी देह–मुक्ति क्योंकि पुरूष की बुद्धि वर्तमान में भोंगवाद की सीढ़ी पार कर मुनाफाखोरी के पायदान पर पहुँच चुकी है। आज स्त्री को देखने का बाजार नजरिया यौन–वस्तु के साथ उत्पाद या ब्रांड आधारित है। स्त्री बाजार के लिए 'कमॉडिटी' में तब्दील हो गई है। मीडिया बाजार की इस दृष्टि का बीज पद है। मीडिया का संसार पुरूष संचालित बाजार की सोची–समझी नीतियों का नतीजा है। इसमें जो भी प्रदर्शित है उसमें छिपी है – बाजार का

मुनाफा, केन्द्रित शक्तियाँ स्त्री का अस्तित्व मीडिया में मखौल बन गया है। बाजार के लिए स्त्री–देह नव उपनिवेश से अधिक कुछ नहीं तथा इस उपनिवेशीकरण में बाजार के साथ है मीडिया। मीडिया में जो है सब बाजार की शर्तों से नियंत्रित–निर्देशित है। मीडिया और बाजार की धडकनें बदलते फैशन और विज्ञापन में अधिक स्पष्टता से सुनाई पड़ती है। कहना होगा कि फैशन और विज्ञापन की आज के अर्थ–तंत्र के प्राण वायु हैं। इसके बिना पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अस्तित्व संभव नहीं है।

4.16 तुलनात्मक दृष्टि

किसी देश की स्थिति आर्थिक सम्पन्नता के साथ–साथ बहुत कुछ राजनीति क्रिया–कलापों पर भी निर्भर करती है। जिस देश की सत्ता अच्छी होगी तो निश्चय ही वहाँ का विकास भी सर्वोपरि होगा। राजनीति उसी प्रकार देश में अपनी भूमिका अदा करती है जिस प्रकार परिवार में मुखिया। प्राचीन समय में लगभग 300 वर्षों से भारत विदेशी ताकतों के अधीन रहने के पश्चात् अपने आत्मनिर्भरता, गौरव को भूल चुका था। विदेशी ताकतों ने जितना हो सका उतना भारत का हर क्षेत्र में शोषण किया। आजादी के साथ ही भारत को बँटवारे की विशाल त्रासदी को भी झेलना पड़ा। इस आजादी के साथ ही देश में एक राजनीतिक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। कुछ समय पश्चात् ही राजनीति की देशहित का अर्थ बदलकर स्वयंहित की राजनीति का अर्थ प्रदान कर दिया। आज राजनीति भारत के हर घर, गाँवों से शुरू होकर, हर भाषा, जाति, राज्य, संस्कृति, नस्ल, वर्ग सभी पर निर्भर करने लगी है। सीधे सच्चे अर्थों में कहाँ जाए तो राजनीति विभिन्न सम्प्रदायों की आग में अपनी रोटी सेकती है। वर्तमान में राजनीति का अर्थ बदलकर सबके सामने एक अलग रूप धारण कर लिया है जिसमें सभी न चाहकर भी शामिल है। वर्तमान राजनीति का वर्णन रांजू शर्मा ने अपने उपन्यास *हलफनामे* में चित्रित किया है। वही प्रदीप सौरभ ने भी अपने उपन्यास मुन्नी मोबाईल में गंदी राजनीति का परिदृश्य प्रस्तुत किया है।

वर्तमान समय में राजनेता देशहित को भुला चुका है उन्हें देशप्रेम न रहकर कुर्सी, सत्ता प्रेम प्रिय हो गया है। चारों तरफ इस राजनीति ने भारत को विभिन्न भागों में बाँटकर एक भारत को अनेक भागों में टुकड़े–टुकड़े कर दिया है। सभी एक देश के वासी होकर भी कहते है मैं एक हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं सिख हूँ, मैं हरियाणा से सम्बन्ध रखता हूँ, मैं केरल से, मैं झारखंड से, सुनने में ऐसा लगता है जैसे एक देश के वासी बात न करके दो दुश्मन एक–दूसरे पर अपनी ताकत दिखाने की होड़ में उत्तर आए हो। इन सब के पीछे के कारणों में, कई तरह के कारण जिम्मेदार है। राजनेताओं की चरित्रहीनता, संवेदनशीलता, राष्ट्रहित भावना का लोप,

पूँजी की राजनीति, ताकत का बोलबाला, विचार शून्य राजनीति, अवसरवादी, दलबदलू आदि सभी है। जिन राजनेताओं को जनता देश के विकास के लिए चुनती हैं। शायद, वह जनता अपना शोषण करने के लिए इन राजनेताओं के चुनाव में हर बार गलती दोहराती है। वर्तमान समय में जनकल्याण की भावना लुप्त हो चुकी है। आज तो ग्राम पंचायते भी भ्रष्ट है। जहाँ एक गाँव के विकास के लिए आने वाला फड़ भ्रष्टाचार की बलि चढ़ जाता है। देश में, हर पद हेतू शैक्षणिक योग्यता निर्धारित की गई है अपितु राजनेताओं के लिए शैक्षणिक योग्यताएँ निर्धारित नहीं है। परिणाम जैसी सूझबूझ वैसा परिणाम।

वर्तमान समय में प्रदीप सौरभ व राजू शर्मा जैसे उपन्यासकारों ने राजनीति का जीता जागता रूप प्रस्तुत किया है। जहाँ हर व्यक्ति छोटे–छोटे समाज, परिवार का हिस्सा होते हुए भी न जाने कब? अपने ही देश में पराया समझा जाने लगता है। फिर चाहे वह समाज का दलित, मुस्लिम, आदिवासी, गाँवों की भोली–भाँली जनता ही क्यों ना हो।

निष्कर्ष

हम कह सकते है कि भारतीय राजनीति में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् काफी फेर बदल हुए। राजनीति में तरह–तरह के राजनेता आए जिन्होंने कुछ को छोड़कर सभी के शासन के दौरान सिर्फ निराशा ही हाथ लगी। जितना पेशा, बजट राष्ट्रहित के लिए पास किया जाता है अगर उतना सारा पैसा सही तरीके से, सही कार्य के लिए लगाया जाए तो शायद कुछ पलानों के बाद देश में अतिरिक्त करने के लिए कुछ नहीं रह जाएगा। लेकिन हालात बिल्कुल इसके विपरीत रहे है। आज सभी ग्रामीण जनता में देश की राजनीति में रूचि बनी रहती है। जिसके मुख्य नजर में हर बार कोई ना कोई मंत्री नेता उभरकर सामने आता है। लेकिन कुछ विशेष नहीं कर पाता है। हालात यह है कि गरीब और गरीब होता जा रहा है, अमीर और अमीर होता जा रहा है। परिणाम भूखमरी, गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, पलायन, कमिऔती बढ़ती जा रही है। आज पढ़े–लिखे ग्रामीण युवा न चाहकर भी पाँच–सात हजार रूपये महीने में तरह–तरह के कार्य शहरों में करने के लिए मजबूर है। नए उद्योग धन्धे रिश्वतखोरी की भेंट चढ़ जाते है। ग्रामीण नागरिकों से पहले जमीन किसी राष्ट्रीय कंपनी द्वारा खरीदी जाती है। बाद में यही कंपनी वाली जमीन सरकार द्वारा सरकारी प्रोजेक्ट के लिए करोड़ो रूपये में खरीदी जाती है। इसका कारण है राजनेताओं का भूमि माफियों के साथ कमीशन। किसानों को सपने दिखाए जाते है कि यहाँ अब फैक्ट्रिया लगेगी, जिससे आपके बच्चों को, आपको रोजगार मिलेगा। लेकिन मिलती हर बार निराशा ही है। शहरों के बाहर बनी, झुग्गी–झोपड़िया इसी का ही परिणाम है। गाँव की पंचायत भी अब भ्रष्टाचार की शिकार है गाँव के विकास कार्य के लिए

आए पैसे अब गाँव तक पहुँचते–पहुँचते 20 प्रतिशत ही रह जाते है। जिसका परिणाम अधूरा विकास जो कुछ समय पश्चात् ही मौसम की मार नहीं झेलता है।

देश को आज फिर से भगत सिहँ, राजगुरू, सुखदेव जैसे सच्चे देश के दिवानों की आवश्यकता है जिनके लिए मातृभूमि से बढ़कर कुछ भी नहीं था। आज किसी न किसी को फिर से भगत सिहँ बनना पड़ेगा। फिर से क्रान्ति की आवश्यकता इस देश को है।

पंचम

अध्याय

पंचम अध्याय

21वीं सदी के चयनित हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का सांस्कृतिक पक्ष

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अत्यन्त ही समृद्ध देश है। भारतीय संस्कृति अपनी अनेक अप्रतीम विशेषताओं के कारण अमर कही जा सकती है। कालूराम शर्मा अपनी पुस्तक *भारतीय संस्कृति का विकास* में लिखते है :

> भारतीय संस्कृति की पावन धारा का प्रवाह, उस धूमिल अतीत से आरम्भ होता है। जिसकी सीमाओं का चिंतन करना हमारी सोच से परे है। विश्व की सभी प्राचीन सांस्कृतियों में केवल भारतीय संस्कृति को ही अमर और अनन्त कहा जा सकता है।(1)

भारतीय वाड़्मय के आदिग्रन्थ वेदों एवं मोहनजोदड़ो–हड़प्पा के उत्खनन से प्राप्त तथ्यों से सुस्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में सबसे प्राचीन और विशिष्ट है। आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का प्राण है।कला, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, संस्कृति के पृथक–पृथक अंश है। कहीं–कहीं पर पैतृक परम्पराओं की संस्कृति की संज्ञा दी जाती है।

संस्कृति एक प्रवाहशील विकासमान अवधारणा है। प्रत्येक जनसमुदाय की आर्थिक सामाजिक संरचना के अनुकूल ही संस्कृति की कला, दर्शन, साहित्य, शिक्षा आदि की सांस्कृतिक अधिर्चनाएँ निर्मित होती है। संजीव सिंह नेगी अपनी पुस्तक *लोक साहित्य के सिद्धान्त और गढ़वाली लोक साहित्य का संदर्भ* में लिखते है :

> संस्कृति मानव जीवन व प्रकृति के प्रति अर्न्तदृष्टि के रूप में भी प्रकट होती है साथ ही यह उस अन्तर्दृष्टि को भी अभिव्यक्त करती है। जिससे संस्कृति में मानव जीवन की उदात एवं विराट परंपराएँ समाहित होती है। साथ ही इनमें अनेक रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास आदि भी निहित होते हैं, किन्तु समय–समय पर जीवित इन रूढ़ियों को निर्मूल कर अपने समय एवं इतिहास के साथ परंपरा का सामंजस्य एवं पुनर्नवीनीकरण भी करता चलता है। ताकि बदलती हुई समाज की परिस्थितियों के साथ अपने सांस्कृतिक सम्प्रदाय का समन्वय कर सके और उसे लोकव्यापी भूमिका प्रदान कर सके।(18)

5.1 भारतीय साहित्य में संस्कृति की अवधारणा

संस्कृति की अपनी अलग पहचान एक विशेषता है। इसका संबंध किसी देश के सामान्य जन–समुदाय से होता है। समाज में प्रचलित विभिन्न क्रिया–कलाप, परम्पराएँ, आचार–विचार,

संस्कार, प्रथाएँ, कर्म–काण्ड़, आस्था एवं विश्वास संस्कृति के आधार–भूत तत्व हैं। किसी देश के नागरिकों की पहचान उनके अपनी सभ्यता, संस्कार, रहन–सहन तथा बोली–भाषा से की जाती है। जो उस देश की सांस्कृतिक वैशिष्टय के घोतक है। सामान्य जनता के जीवन में व्यवहृत होने वाले विभिन्न परिस्थिगत अनिवार्य धर्म तथा कर्म न सिर्फ समाज को गतिशील बनाये रखते है। बल्कि उन्हें एक सूत्र में बाँधने का कार्य करते हैं और उस क्षेत्र–विशेष को एक अलग पहचान दिलाते हैं। संस्कृति के द्वारा समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था का प्रवाह सामूहिक रूप से निरंतर गतिशील रहता है। संस्कृति व्यक्ति एवं समाज के विकास का परिचायक होती है। जीवन इसी संस्कृति का अक्षय भण्डार है। मानव आदिम काल से अपनी बौद्धिक शक्ति के द्वारा समाज के सभी प्राणियों को प्रभावित एवं आश्चर्यचकित करता रहा है।

अपनी वशिष्ट कुशलता एवं क्रियाशीलता के कारण मानव सृष्टि के समस्त जीवों की शक्ति एवं अधिपत्य का स्वामी रहता आया है। पं० बलदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक *लोक संस्कृति की रूपरेखा* में लिखते है, "लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रियाकलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों सांस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित है।"(12)

किसी देश का लोक जीवन वहाँ की संस्कृति का उद्‌गम स्थल होता है एवं लोक संस्कृति उस देश के जन–समुदाय की सामूहिक ऊर्जा का स्त्रोत होता है। लोक जीवन रस समाज की जड़ों को सींचता है। प्रो० हरिशंकर अपनी पुस्तक *हिन्दी भाषा : स्वरूप शिक्षण वैश्विकता* में लिखते है, "संस्कृति जीवन शैली होती है जिसका निर्माण एक दिन में न होकर शनैः–शनैः शताब्दियों में हो पाता है।"(68)

लोक संस्कृति को समझने के लिए मुख्य रूप से लोक एवं संस्कृति का अर्थ, लोक शब्द की उत्पत्ति को समझना होगा।

5.1.1 लोक शब्द की अवधारणा

डा. सतेन्द्र अपनी पुस्तक *अपसंस्कृतिकरण : लोकतांत्रिक अध्ययन की प्रासंगिकता* में लिखते है :

> भारतीय लोक–तत्व के विद्वान मनीषियों ने 'लोक' शब्द को कई अर्थों में प्रस्तुत किया है। कहीं वेदों–संस्कृत साहित्य में यह स्थानवाची अर्थ को प्रस्तुत करता है। तो कहीं विरोधी परिपाटी के अर्थ का घोतक है। किन्तु इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि इन्होंने 'लोक' शब्द का अर्थ 'जन–साधारण' ही सिद्ध किया है।(74)

श्याम बहादुर वर्मा *विश्व सूक्ति कोष* के शब्दकोष के अन्तर्गत 'लोक' शब्द ग्रामीण समाज तथा ग्राम्य जनपदीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। "'लोक' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है एक ओर यह शब्द अपने में विश्व अर्थ और समाज को समेटे हुए है तो दूसरी ओर यह जन सामान्य के अर्थ का भी घोतक है।"(46)

नंदिता शर्मा की पुस्तक *विंध्य क्षेत्र की लोक चित्रकला* के अनुसार :

> वास्तव में 'लोक' का अर्थ उस जन–सामान्य से है जो विस्तृत रूप से इस पृथ्वी पर फैला हुआ है और जिसमें सभी प्रकार के मनुष्य सम्मिलित हैं। साधारण अर्थ में शिक्षित समुदाय से भिन्न मानव समाज को 'लोक' की संज्ञा दी जाती है।(43)

महेन्द्र भानावत की पुस्तक *लोक रंग* में लिखते है :

> लोक शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'लोकृ–दर्शने' धातु से है। इसका धातुज अर्थ है– देखनेवाला। रूढ़िगत अर्थ 'सामान्य लोग' होता है। लोक शब्द लोक के समान ही अत्यन्त साधारण है और इसका प्रयोग वर्तमान में वेद हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही 'लोग' शब्द सामान्य अर्थ में और 'लोक' शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रस्तुत होता रहा है।(2)

विंध्य क्षेत्र की लोक चित्रकला के अनुसार लोक शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द है 'लोक' अंग्रेजी के 'Folk' शब्द का ही पर्यायवाची है जो कि 'ग्राम' अथवा 'जन' के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। 'जन' शब्द अत्यन्त प्राचीनतम् शब्द है। "संस्कृत तथा पालि ग्रंथों में मानव समाज का बोध 'जन' से कराया जाता था। इसलिए जन और लोक शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची तथा सप्राणत्व शब्द है।"(44)

"भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण सत्ता की प्रेरणा का स्त्रोत भी लोक ही रहा है। व्यक्ति के पूर्व विकास के लिए लोक धर्म का निर्वाह आवश्यक है और व्यक्ति सर्वदर्शी होने के योग्य हो सकता है।"(44)

लोक साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० सत्येन्द्र *अपसंस्कृतिकरण : लोकतांत्रिक अध्ययन की प्रांसगिकता* ने 'लोक' शब्द को परिभाषित करते हुए इसकी व्याख्या इस प्रकार करते है :

> "लोक मनुष्य समाज का वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अंहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"(75)

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी *भारतीय साहित्य एवं कथा में दशावतार* ने लोक के संबंध में लिखा है कि :

> 'लोक' शब्द का अर्थ जनपद या गाँव नहीं है, बल्कि गाँवों एवं नगरों में फैली वह समूची जनता है। जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है ये लोक नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल एवं अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।(308)

आर.ए. अग्रवाल *कला विलास भारतीय चित्रकला का विवेचन* के कथनानुसार इस प्रकार से है :

> 'लोक' शब्द जाति–वर्ग, वर्ण–धर्म, सम्प्रदाय, नगर–ग्राम्य, शिक्षित–अशिक्षित, धनी–निर्धन और विकसित अविकसित, भेदो–अभेदों से ऊपर उठकर समष्टि के लिए व्यवहार में आता है जहाँ वैयक्तिक स्वतंत्रता, तार्किकता, अहं और स्व का प्रभाव–प्रसार जैसा थोथापन नहीं आता है। 'लोक' शब्द का कृतित्व सारगर्भित सम्पूर्ण मानव समाज के अभ्युदय के लिए सार्थक सिद्ध होता है।(13)

5.1.2 संस्कृति शब्द की अवधारणा

संस्कृति शब्द से तात्पर्य देश के धर्म, दर्शन, साहित्य व कला इत्यादि से है। इसी कारण संस्कृति की सीमाओं में हम इन्हीं विषयों का सामूहिक अनुशीलन करते हैं। परन्तु यह संस्कृति का अपूर्ण रूप है। प्रेम कुमार श्रीवास्तव *राजस्थान का ज्ञानकोश* के शब्दों में :

> संस्कृति का यह व्यक्तिपरक पक्ष ऐतिहासिक विवेचन भले ही हो, परन्तु संस्कृति के सामाजिक पक्ष की गणना के बिना जिसमें हमारी परम्पराएँ, संस्कार, त्यौहार, मेले, सामूहिक भोज इत्यादि सम्मिलित हैं। संस्कृति की जानकारी या चर्चा अधूरी रहेगी। इन दोनों पक्षों के संयोग व समन्वय में ही सच्ची संस्कृति झलकती है। अतः इसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत वर्ष एक महान व जीवन्त संस्कृति वाला देश है।(132)

हरिशंकर शर्मा *भारतीय संस्कृति के आधार* के अनुसार, "समस्त मानव समाज के सर्वांगीण विकास की व्यष्टिमय तथा समष्टिमय उपलब्धियाँ ही संस्कृति है।"(3)

रेणु मीणा अपनी पुस्तक *भारतीय संस्कृति : चिंतन एवं विचारधारा* में लिखती है :

> व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस पर विचार किया जाए तो 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'भिन्न' प्रत्यय करने पर 'सुट्' का आगम होने से 'संस्कृति' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है 'सम्यक रूप से अलंकृत बनावट'।(209)

एस. एल. नागोरी *प्राचीन भारतीय संस्कृति* के शब्दों में, "संस्कृति शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका शाब्दिक अर्थ उत्तम बनाना है।"(1) कल्चर लैटिन भाषा के 'कलचुना' तथा कोलिचर से निकलता है। इन दोनों लैटिन शब्दों का अर्थ क्रमशः उत्पादन तथा परिष्कार है।

रेणु मीणा अपनी पुस्तक *भारतीय संस्कृति : चिंतन एवं विचारधारा* में लिखती है "अतः कल्चर का संस्कृति को 'परिष्कृत मानसिक उपादान' माना जाता है। संस्कृति शब्द में ही परिष्कार के अतिरिक्त मानव मन की सहज गतिविधियाँ भी सम्मिलित है।"(209) संस्कृति के प्रभाव से ही व्यक्ति विशेष या समाज ऐसे कार्यों में प्रवृत होता है जिनसे सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में उन्नति होती है।

श्याम बहादुर वर्मा *विश्व सूक्ति कोष* के अनुसार :

संस्कृति मानव–जीवन की प्रेरणादायी शक्ति है। संस्कृति का अर्थ है सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के लिए अपने मस्तिष्क और हदृय में आकर्षण उत्पन्न करना तथा अभिव्यंजना द्वारा उनकी प्रशंसा करना।(173)

विद्यानिवास मिश्र *भारतीय संस्कृति के आधार : भूमिका* के कथनानुसार :

संस्कृति इस अर्थ में व्यापक एवं विलक्षण है कि वह देश काल से जुड़ी भी है और उसका अतिक्रमण भी करती है। अनुभव में बिंधी संस्कृति इस अर्थ में परम्पराजीवी है अर्थात् वह अतीत और भविष्य के बीच संतु बनाती चलती है। मनुष्य की रचना धर्मिता के प्रमाण के रूप में संस्कृति चेतना के नए–नए प्रतिमान गढ़ती है, किन्तु उसके उपादान आस–पास पसरे नए–पुराने भौतिक और वैचारिक स्त्रोत होते हैं।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य *भारतीय संस्कृति* के अनुसार, "किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट मानवजाति में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है उसी का नाम संस्कृति है।"(2)

मैथ्यु आर्नल्ड़ *भारतीय संस्कृति के आधार* के अनुसार, "किसी समाज व राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति है।"(5)

बैरोनीसला मैलिनओस्की *सेक्स, कल्चर एंड मथ्य*के अनुसार, "संस्कृति मनुष्य की कृति और उसका प्रयोजन पूर्ण करने का माध्यम कहा जाता है।"(7)

रामधारी सिँह दिनकर *संस्कृति के चार अध्याय* के अनुसार :

संस्कृति एक ऐसा गुण है जो मानव जीवन में छाया हुआ है। अतः यह एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह व्याप्त रहता है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन संस्कृति का निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग–युगान्तर में होता है।(2)

गुजरात लोकसंस्कृति और साहित्य लोक संस्कृति को यदि एक शब्द में कहा जाए तो वह 'लोक सम्पदा' है।

5.1.3 लोक संस्कृति : विस्तार एवं महत्व

बलदेव उपाध्याय की पुस्तक *लोक संस्कृति की रूपरेखा* के अनुसार "प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही देश में संस्कृति की दो पृथक–पृथक धाराऐं प्रवाहित हो रही है जो निम्नलिखित है – (i) शिष्ट संस्कृति (ii) लोक संस्कृति।"(75)

5.1.3.1 शिष्ट संस्कृति

शिष्ट संस्कृति से तात्पर्य उस अभिजात वर्ग की संस्कृति से है जो बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। यह वर्ग अपनी प्रतिभा के कारण समाज का अग्रणी तथा पथ–प्रदर्शक था तथा जिसकी संस्कृति का स्त्रोत वेद और शास्त्र थे। संस्कृत के अर्न्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् पद्मभूषण आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने इस विषय का गम्भीर विवेचन करते हुए अपना अभिमत निम्न प्रकार से प्रकट किया है – "लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहाय होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया–कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है।"(76)

5.1.3.2 लोक संस्कृति

लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा से प्राप्त करती थी। जिसकी उत्स–भूमि जनता थी। इस संस्कृति के अनुयायी बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर अवस्थित थे। रामप्रसाद दाधीच *राजस्थान भाषा साहित्य–संस्कृति* के शब्दों में :

> लोक संस्कृति किसी प्रदेश के जनसमूह का मानसिक और कलात्मक विकास है नेतत्वशास्त्री का कहना है कि इतिहास के दौर में किसी समूह अथवा जाति के जीवनयापन के तौर–तरीकों में जो विशेषता होती है, वह विशेषता ही लोक संस्कृति है। लोक संस्कृति कुछ तो प्रकट होती है और कुछ अप्रकट होती है। प्रत्येक संस्कृति में

मनुष्य की बुद्धि का विकासमान रूप दिखाई देता है। लोक संस्कृति के कुछ आदर्श होते हैं, कुछ मूल्य होते है, कुछ परम्परायें होती है। ये आदर्श, मूल्य, परम्परायें हमें प्रेरणा देते हैं, भविष्य की पीढ़ियों को प्रेरणा देते है। सामाजिक व्यवहार, रीति–रिवाजों का निर्माण इन्हीं आदर्शों से होता है। आदर्श, मूल्य और परम्परा लोक संस्कृति के जीवन तत्व कहलाते है।(76)

5.2 ग्राम्य जीवन के आदिवासी समाज का सांस्कृतिक पक्ष

आदिवासी संस्कृति में अनेक रीतिरिवाज, संस्कार, पर्व–त्यौहार, जनजातीय मेले, लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य आदि का मुख्य स्थान है। इनकी संस्कृति की झलक इन सब में देखने को मिलती है। सांस्कृतिक दृष्टि से आदिवासी समाज एक समृद्ध समाज माना जाता है। इस समाज की लोक संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है। इनकी संस्कृति को जानने के लिए हमें इनके लोकनृत्य, लोकगीत, लोककथाएं, खान–पान, रहन–सहन, रीति–रिवाजों पर चर्चा करना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए मैंने सांस्कृतिक पक्ष को दिखाने के लिए निम्न बिन्दुओं का चुनाव किया है। जो आदिवासी समाज की संस्कृति को व्यापक ढंग से समझने और जानने में काफी सहायक सिद्ध होगे।

5.2.1 पहनावा

आदिवासी लोगों का पहनावा बड़ी ही सादगी से भरा होता है। मर्द धोती, कुरता, बंडी तथा माथे पर पगड़ी या अँगोछा पहनते है। स्त्रियाँ सीधी साधी साड़ियाँ पहनती है और चाँदी, काँसे व पीतल आदि के आभूषण धारण करती है। गले में मोती–मूँगा–सिक्कों की मालाएँ आदि पहनावा भी इन्हें बहुत प्रिय हैं। भारतीय परम्परागत पहनावे को यह आदिवासी जनजाति आज भी प्रायः जीवन्त रखे हुए है। मनोहर इनका अपनी पुस्तक *आदिवासी जनसंस्कृति में उरांव समुदाय* के पहनावे का चित्रण इस प्रकार से है :

> हमारी जाति (उरांव समाज) के महिलाओं का अलग पहनाव है जिसे हम अपनी भाषा में 'ठाढ़ी ल्ला तोलोंग किचरी कूरना' कहते है अर्थात् रगड़ी को सीधा पतला पहनकर, कमर के पास से आँचल निकालते हैं। आज कल से पहनावा बहुत कम लोगों के द्वारा पहचना जाता है, ज्यादातर किसी विशेष कार्यक्रमों में ही पहना जाता है।(3)

धूणी तपे तीर उपन्यास में भी हरिराम मीणा राजस्थानी आदिवासियों के पहनावे का वर्णन करते हैं। जिससे यह पता चलता है कि वस्त्र के अभाव के कारण बच्चे प्रायः निर्वस्त्र ही रहते हैं। पुरूष अधोवस्त्र के नाम पर रेंजे का पंजा पहनते है। युवा व अधेड़ माथे पर अंगोछे

का मंडासा पहनते है और वृद्ध लोग पगड़ी पहनते है। स्त्रियों का पहनावा घाघरा चोली है। मीणा के शब्दों में :

> जवान स्त्रियों के घाघरे, चोली और ओढ़नी से अपना शरीर ढंक रखा था। उनके पैरों और कलाइयों पर गिलट के बिंदिया, छल्ले, कड़े व चूड़िया थी। फैनी और बोरलों से उनके माथे सजे हुए थे। किसी–किसी ने वन–मोगरा या चम्पा के फूल बालो में ठूंस रखे थे। अधिकांश बुजुर्ग महिलाओं में अदइ्दी के घाघरे और अंगिया पहन रखी थी और साधारण रंग की ओढ़नी उनके सिर को ढ़के हुए थी। उनके पास गहने नहीं के बराबर थे। करीब करीब सभी बच्चे नंग–धडंग थे।(41)

गहनों के नाम पर इनके पास पारम्परिक एक आध आभूषण ही होता है। यह प्रायः साधारण जीवन ही जीते है। क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति की तरह चमक–धमक से यहाँ लोग अनजान है। यह श्रृंगार प्रिय लोग हैं इनमें युवक और युवतियाँ दोनों ही श्रृंगार करते है यह लोग गले में ताबीज, नाखुन–दाँत आदि पहनते है। राकेश कुमार सिँह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में आदिवासियों के पहनावे को दर्शाया गया है जो ग्रामीण संस्कृति की धरोहर है। उपन्यास का पात्र संजीव जो गजली ठोरी में अध्यापक के रूप में नियुक्त होता है, जब गाँव की परिक्रमा करता है तो पुरूष, स्त्रियों और बच्चों के पहनावे को ध्यान से देखते हुए वह पाता है कि :

> पुरूष दोहरा किये लुंगी या पतले कपड़े की धोती बांधे हुए थे और उनके गले में ताबीज या नाखुन–दांत अवश्य बंधा हुआ था। स्त्रियों के शरीर पर घुटनों से चार–छः अंगुल नीचे तक खूब कसकर बंधी संस्ती साड़ी थी। बच्चों का पहनावा तो हदृय को टीस पहुंचाने वाला था – लंगोट, सस्ती चड्ढ़ी पहने बच्चों के शरीर पर फटी–पुरानी कमीजे या बनियान ..... ।(80)

प्रायः इन आदिवासियों में धन का अभाव या यूँ कहें कि दिखावे की प्रवृत्ति न के बराबर है तथा जो इन्हें परम्परा स्वरूप मिला है वह यह पहनावे के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। लेकिन बाहरी समाज से जैसे–जैसे इनका सम्पर्क बढ़ रहा है। इनके पहनावे में भी अन्तर आता दिखाई दे रहा है।

5.2.2 खान–पान

आदिवासी लोक समुदाय, टोली, ग्रामीण क्षेत्र जो जंगलों से लगता है या फिर जंगलों में रहते है। इसलिए अपने आहार के लिए सामग्री भी जंगल से ही एकत्रित करते हैं। यह लोग

शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन करते हैं। बेकारी के समय ये लोग शिकार करके या पास लगते ग्रामीण समाज से माँगकर अपना पेट भरते हैं। दालों में तुवर, मूंग, कुल्थी आदि तथा रोटी को रूचिपूर्ण खाते है। ये लोग जानवरों में सुअर, चूहा, सांप, हिरण, खरगोश, सांवर आदि का मांस खाते है। मछली भी इनका प्रिय भोजन है। मांसाहारी होने की वजह से इन्हें थोड़ी बहुत प्रोटीन उससे मिल जाती है। ये लोग चावल की बनी शराब पीते है जिसे हड़िया कहा जाता है। खासी लोग इसे जू कहते हैं। तेजिन्दर सिँह *काला पादरी* में आदिवासियों के खान–पान का चित्रण इस प्रकार करते है – "वे कोढ़ो उगाते थे और खाते थे। थोड़ा बहुत जो धान उगता उसका चावल निकाल कर उसकी हंड़िया छानते थे और नाचते थे।"(70) इसी तरह हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में भी खान–पान का उल्लेख है। बेगारी खटने के लिए आए आदिवासी अपने लिए सूखी रोटी साथ में लाते है – "दोपहर में खाने के नाम पर आदिवासी जो सूखी रोटी वा कांदे या मिरच अपने साथ बांध कर लाये थे, वही उन्होंने खाया।"(65) धान, हड़िया या रूखा–सूखा खाकर भी यह लोग हर्ष पूर्ण जीवन यापन करते नजर आते हैं। आधुनिक परिवेश के व्यक्तियों की तरह दिखावे की प्रवृत्ति इन लोगों में नहीं नजर आती जो एक खास पहचान प्रदान करती है।

आदिवासी ग्रामीण लोगों के पास इतनी जमीन नहीं होती की साल भर खाने के लिए उन्हें मक्का प्राप्त हो सके। ऐसी परिस्थिति में जंगल या माँगकर ही उनका पेट भरता है। रणेन्द्र ने उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में ग्रामीण आदिवासी द्वारा सेवन किए जाने वाले खाद्य पदार्थों को चित्रित किया है :

> महुआ, कटहल, कई तरह के कन्द और साग, सब पेट भरने के काम आते। एक कस्सा कन्दा तो खाने के पहले बहुत ही मेहनत करवाता। पहले उसे लकड़ी की राख के साथ उबाला जाता। फिर रात भर दोन खेत में उसे छोटे नाले के नीचे रखा जाता, जिससे छोटी–पतली धार गिरती हो। रात भी धार के नीचे रहने के बाद भी उन कन्दों में कस्सापन बचा तो रहता, किन्तु खाने लायक हो जाता।(24)

इन पंक्तियों से हमें पता चलता है कि पेट भरने के लिए इन लोगों को कितनी मशक्त करनी पड़ती है। खाने का जुगाड़ करना उनके लिए आसान काम नहीं है। खाना अधिक पौष्टिक न होने के कारण इन्हें कई बीमारियों का सामना करना पड़ता है।

राकेश कुमार सिँह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में 'घाटो' का वर्णन मिलता है। जिसका आदिवासी ग्रामीण लोग सेवन करते है "घाटो यानी मिले–जुले मोटे अनाज का पानी में पकाया दलिया।"(139) लाल चींटों की चटनी इनको बहुत पसंद है। भोजन के साथ परोसी हुई

लाल चीटों की चटनी भोजन को और भी अधिक स्वादिष्ट बना देती है। महुआ माजी के *मरंग गोडा नीलकण्ठ हुआ* में लाल चीटों की बनाई चटनी का चित्रण हुआ है। जिसे आदिवासी लोग बड़े चाव से खाते है – "चीटों के पिछले हिस्से में भरा खट्टा पानी उस चटनी को चटपटा बना देता था और चटपटी चीजें जाम्बीरा को बहुत पसंद ....।"(24) इसके अतिरिक्त खान–पान की सामग्री जंगल से बटोरी जाती है। उपन्यास में जम्बीरा की पत्नी मेन्जारी अपनी सेठानी के साथ मिलकर भोजन पकाने के लिए खाद्य पदार्थों को बटोरने के लिए जंगल में जाती है – "पकाने से पहले जंगल, खेत या नदी की तरफ निकल जाती साग, सब्जी, घोंघा, मछली, हउ पोजेन, रूगड़ा जैसे किसी खाद्य पदार्थ की खोज में और मौसम के अनुसार जो भी मिलता, जितना भी मिलता, जुगाड़ करके ले आती।"(37) ये चीजों कां संचित कर रखते है ताकि वह आगे वाले कठिन समय में प्रयुक्त हो सके।

यह लोग महुए को सूखाकर किशमिश की तरह भी खाते है। राकेश कुमार सिँह के उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में खान पान में महुए का सेवन दर्शाया है – "सूखे महुए को भून कर खाया जाता है। थोड़ा गुड़ मिलाकर कूटने के बाद तैयार होता है लट्टा।"(138) आदिवासी लोग मांस भी बड़े चाव से खाते है। खासी समाज द्वारा सुअर का माँस, बकरा, मुर्गी, खरगोश का मांस खाने का वर्णन मिलता है।

आदिवासी लोग जंगली फल–सब्जियों से ही अपने खाने का जुगाड़ करते हैं तथा जंगली जानवरों का मांस इनका प्रिय भोजन है लेकिन आज शिकार पर रोक लगने तथा वनों पर से इनके अधिकार खत्म कर देने से इन्हें अपने खाने–पीने की वस्तुओं को एकत्रित करने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। पारूल खलखो *विविधताओं से भरा आदिवासी खान–पान* में कहती है :

> झारखण्ड में सागों के रूप में आलू की पत्तियाँ, मटर की पत्तियाँ, चने की पत्तियाँ को भी सब्जी के रूप में प्रयोग होता है। बरसात शुरू होते ही खेतों में कई प्रकार के सांग उग आते हैं जैसे – केना–मेना साग, सिलवरी साग, चिमटी साग' उसी प्रकार ठण्ड में आलू, मटर, गेहूँ लगे खेतों में कई साग निकल आते है। आदिवासी हर मौसम के सागों को सुखाकर अन्य दिनों के लिए रख लेते है।(17)

पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी समाज का खान–पान ये लोग बाँस के नवकोंपल की सब्जी भी चाव से खाते है। इनके अन्य प्रिय व्यंजक हैं – सूखी मछली का चूरा, भूने मक्के का चूरा, भूने हुए चावल का चूरा, चावल की रोटी, इत्यादि। ये जंगल के कंद–मूल भी खाते हैं। ये लोग कटहल, केला, संतरा, अनानास इत्यादि फल भी खाते हैं।(13)

5.2.3 रहन–सहन

आदिवासियों का रहन–सहन बड़ी ही सीधा–साधा होता है ये लोग वृक्षों के झड़े हुए पत्तों तथा बांस द्वारा झोपड़ियों का निर्माण करते हैं। झोंपड़ी की छप्पर घास से बनाई जाती है भीमराव पींगल *उपेक्षित जन पत्रिका* लिखते है – "मुक्त जीवन जीने की इच्छा से वे लोग आदि गाँव से या समाज से दूर डोंगर पहाड़ो में, जंगलों में रहने में ही आनंद मानते है।"(2) उपन्यास में जब संजीव गांव की पूरी परिक्रमा करते हैं तो वह पाते हैं कि प्रायः सभी आदिवासी ग्रामीणों के घर कीचड़ मिट्टी के ही बने हुए होते हैं राकेश कुमार सिंह *पठार पर कोहरा* का उदाहरण :

> अधिकांश घरों की छत फूस, सनई और पलाश के पत्तो से निर्मित थी। लगभग गोल या गोलाई लिये कोनों वाले घरों के छप्पर, आकाश की ओर शंकवाकर खड़े थे। गेर माटी से लिपे–पुते घरों के आगे बैठने हेतु सुघड़ मिट्टी से बने चबूतरे भी दिखे।(80)

लेकिन उसी गाँव की आदिवासी महिला रंगनी की रहन–सहन बाकी से उच्चस्तरीय था राकेश कुमार सिंह के शब्दों में :

> गजलीठोरी के सारे घर अंगरी (ईख के पत्ते), फूस, सरखण्डें और पलाशपतों को बांस की चचरी के बीच बांधकर छदाये गये हैं। किसी के दुआर में ईंटों का खाम्भा नहीं है। बाँस बल्ली पर खड़े है घर। रंगेनी के तो ढाबे की भीत की माटी की है, मड़ई नहीं। छप्पर खपड़े का है। खपड़े का छप्पर वही मुण्ड़ा छदा सकता है। जिसके पास खाने–पहनने से ऊपर रूप्या रहे।(75)
>
> खपड़े के छप्पर वाले घर में रहना भी किसी–किसी आदिवासी ग्रामीण को नसीब होता है।

इस प्रकार आदिवासी समाज के रहन–सहन से लेखक ने हमें बड़ी बारीकी के साथ रू–ब–रू करवाया है लेकिन उद्योग धन्धों के खुल जाने के कारण इनके सामाजिक रहन–सहन में बहुत सी जटिलताएँ उत्पन्न हो गई है। वन के कानून के कारण अब वह घर बनाने के लिए लकड़ी नहीं ले जा सकते हैं। रोहित इडिटर लेख : *महीने में एक दिन नहाते है ये आदिवासी*, आदिवासी विशेषांक *जनमत पत्रिका* लिखते है –शिवपुरी जिला मुख्यालय से लगभग 60 किलोमीटर दूर है खतौरा कस्बा इस कस्बे में है सहरिया आदिवासी ग्रामीण बस्ती। यहाँ पहुँचते ही इन आदिवासियों के जीवन–स्तर की तस्वीर नजर आने लगती है, कच्ची दीवारों पर डली खपरैल से बने हैं उनके आवास।(7)

हरिराम मीणा अपनी पुस्तक *आदिवासी दुनिया* में आदिवासी संस्कृति पर कहते है :

आदिवासी समुदाय विशेष एक ही सांस्कृतिक श्रृंखला का मानव समूह है, जो साधारणतः एक ही भू–खण्ड़ पर रहता है, एक ही भाषा–भाषी है तथा एक ही प्रकार की अपनी विशेष परंपरा व संस्थाओं का पालन करता है। एक समुदाय की एक ही प्रकार की विशेष रहन–सहन व संस्कृति होगी।(8)

आदिवासी समाज सामूहिकता में जीवन जीना पसंद करता है और एकता के साथ मिलकर रहता है। भारतीय मूल परंपरा को जीवित रखने का जो अतुल्य कार्य इन जनजातियों ने किया है वह सराहनीय है। आज भी अगर हमें भारतीय मूल, प्राचीन परम्परा के दर्शन करने हो, चाहे वे रहन–सहन के माध्यम से हो या व्यवसाय के माध्यम से उसके व्यापक दर्शन केवल इनके माध्यम से ही संभव है इसमें कोई दोराय नहीं। इस समाज पर बाहरी दबाव इतने हैं कि जिसके कारण इस समाज के खत्म होने की प्रक्रिया शुरू हो गई है।

5.2.4 लोक नृत्य

आदिवासियों को नाच गाना बहुत पसंद है। यह इनकी परम्परा में रची बसी एक ऐसी लोक कला है जो जनजातीय जीवन को जीवंत बनाती है। ये लोग खुशी के मौके पर तथा पर्व, उत्सवो पर नाचना गाना नहीं भूलते हैं। चाहे हालात कैसे भी हों ये लोग नाच गाकर अपने दुखों को भुलाने की कोशिश करता है। पेट में चाहे अन्न हो न हो लेकिन नृत्य के समय मस्ती में झूमते हैं। ये लोग सामूहिकता में जीते हैं इसलिए नृत्य भी सामूहिक रूप में करते हैं जोकि इनकी एकता का प्रतीक है। लेकिन आज इनकी सामूहिकता को भंग करने की मुहिम चलाई जा रही है जिससे नृत्य जो सामूहिक रूप में किए जाते हैं लुप्त होने के छोर पर पहुँच गए है।

हरिराम मीणा के उपन्यास *धूणी तपे तीर* में लेखक ने आदिवासियों के द्वारा किये जाने वाला गेर नृत्य को हमारे सामने रखा है। यह नृत्य फागुन महीने में होली के अवसर पर किया जाता है और इस नृत्य में लड़के लड़कियाँ दोनों ही शामिल होते हैं। आमलिया पाजो जब गेर नाचने का प्रस्ताव रखती है तो एक लड़की उसे कहती है कि हम अकेले यह नृत्य कैसे कर सकते हैं तब पानो उसकी बात से सहमत होती है – "तू ठीक कहती है। गेर में तो छोरे भी होने चाहिए।"(313) इस प्रकार लड़कों को गेर नृत्य में भागीदारी अनिवार्य है।

वृक्षों, नदियों, पहाड़ो और प्रकृति को पूजने वाले आदिवासी लोग अपनी परम्पराओं से इस कद्र जुड़े हुए है कि उसको पूरे दिल से मानते है। कुछ ऐसे आयोजन होते है जहाँ पर मिल जुल कर नाचते गाते हैं जो इनकी एकता का घोतक है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में झूमर नाच का उल्लेख हुआ है जोकि एक बहुत बड़े गोल घेरे में किया जाता हैं। लेखक के शब्दों में "बड़ा सा गोल घेरा बनाए नाच रही थीं वनजाएं। हरेक के बाएं

हाथ में दूसरी लड़की का हाथ था और दायां हाथ बगल वाली लड़की की कमर से लिपटा था। पारंपरिक वेश–सज्जा में सजी बालाएं घेरे में झूमर नाच रही थी।"(77) इस प्रकार आदिवासी युवतियां पूरी मस्ती में झूमर नाच मांदल की थाप पर नाचती है।

उराँव वृत्यों की सूची इस प्रकार से है –

1. त्यौहारिक नाच – फगूआ और सरहुल

2. जतरा – यह नाच टोलियों में किया जाने वाला नाच है जतरा, खड़िया, लूझसे, चिर्दी

3. वैकल्पिक सामाजिक नाच – करम, सरहुल, हदुर, डोमकच, जे. जतरा, धुरिया अंगनी

4. वैवाहिक वाच – इन नाचों का पूरा पंचांग देना सहज नहीं है क्योंकि इस नृत्य पर प्रांत में मतभेद है यों माद्य को जब मांडर थाने में जदूरा नाच जारी है, शुमला सबडिविजन में सरहुल और जशपुर रियासत में डोमकच की चहल पहल रहती है। फिर, जब जेठ में जतरा मांडर में धूम मचाए रहता है। हाँ भादो में सर्वत्र करम ही करम है। दूसरे मासों का हाल दूसरा है। पर मौटे तौर से कहा जा सकता है कि जेठ में जतरा–खड़िया, बरसात में करम और भगहन में चिर्दी खडिया नृत्य होते है। चिर्दी खड़िया और जतरा खड़िया में केवल गीत के राग फरक होते है।

डॉ० नीरा शर्मा अपनी पुस्तक *भारतीय लोकनृत्यों में हरियाणा और राजस्थान* में लिखती है :

> जीवन स्वयं एक कलाकृति है। प्रत्येक व्यक्ति में हदृयगत भावनाओं को अंग संचालन द्वारा प्रकट करने की क्षमता विद्यमान रहती है। सभी कलाओं की भाँति नृत्य भी मानव की आन्तरिक वृत्तियों को अभिव्यक्त करने की कला है।(7)

उपरोक्त वर्णन के अनुसार यह देखा गया है कि आदिवासी नृत्यों में विविधता पाई गई है। इस प्रकार लोकनृत्य इनकी परम्परा में रची बसी ऐसी कला है जो इनके जीवन को जीवंत बना देती है। नृत्य इनके जीवन का अभिन्न अंग है।

5.2.5 लोककथा

आदिवासी ग्राम्य लोक संस्कृति में 'लोककथाओं' का विशेष स्थान है। ये लोककथाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है। यह एक समाज विशेष की सम्पत्ति मानी जाती हैं। इन लोककथाओं के द्वारा हमें उस समाज विशेष की संस्कृति मान्यताओं, आस्थाओं आदि का परिचय मिलता है। कई उपन्यासों में आदिवासी समाज की विविध लोककथाओं का प्रयोग मिलता है।

करमा पर्व मनाने के पीछे भी लोककथा जुड़ी हुई है। *पठार पर कोहरा* उपन्यास में राकेश कुमार सिंह आदिवासी ग्राम्य समाज में प्रचलित करमदेऊ की कथा का उल्लेख करते हैं। हरमू संजीव को सुनाता है कि एक राजा के दो बेटे करमा और धरमा थे। करमा व्यापार करने के लिए विदेश चला जाता है और धरमा राजकाज देखने लगता है। करमा जब घर लौटता है तो धरमा को खुशी तो होती हैं लेकिन करमदेऊ की पूजा पर बैठा होने के कारण भाई को गले नहीं मिलता है। करमा को गुस्सा आता है तो अनर्थ कर देता है :

> घर पहुँचा और पूजा को छित्तिर–बित्तिर कर दिया। करमदेऊ की डाली उखाड़कर नाली में फेंक दी। करमदेऊ का कोप टूटा। सारा कमाया धन, हाथी–घोड़ा, छन–भर में हवा में बिला गये।"..... करमा करमा ने खूब तप जो किया था। देवता ने माफी दे दी। धरम के रास्ते पर चलने को कहा। दोनों भाई गले मिल गये ..... आज के ही दिन ..... "(221)

इस प्रकार की मार्मिक कथाएं आदिवासी जीवन में आज भी प्रचलित है। ऐसी लोककथाओं द्वारा आदिवासी अपने बच्चों को खुश करने तथा ज्ञान देने का नाम लेते है।

जिन गोत्रों की आपस में शादी नहीं होती उसके साथ कोई न कोई अवश्य जुड़ी हुई है। मधुकर सिंह के उपन्यास *बाजत अनहद ढ़ोल* में बेसरा गोत्र और टुडु गोत्र की आपस में शादी क्यों नहीं होती, उसकी लोक कथा का वर्णन हुआ है। जोबा सुकेल को बताती है :

> एक बार बेसरा गोत्र की लड़की टुडु गोत्र के लड़के से प्यार करने लगी। परन्तु लड़के ने शादी से इंकार कर दिया। इसके बाद लड़का और लड़की के परिवार वालों में एक समझौता हुआ। तय हुआ कि दोनों जानवरों की लड़ाई हो। भैंसा और मुर्गे में लड़ाई तय कर दी गयी। दोनों पक्षों ने यह भी मान लिया कि अगर भैंसा मुर्गे को मारता है तो यह समझा–जाएगा कि भगवान दोनों की शादी चाहता है। अगर भैंसा मुर्गे को नहीं मारता तो यह समझा जाएगा कि ईश्वर यह शादी नहीं चाहता है। भैंसा और मुर्गे में लड़ाई शुरू हुई। मुर्गा जीत गया, भैंसा बेचारा हार गया। भगवान को वह विवाह मंजूर नहीं था। तब से दोनों गोत्रों में शादी नहीं होती हैं।(115)

यह लोग प्रकृति को पूजते हैं इसलिए इनकी लोककथाओं में पशु–पक्षियों और पेड़–पौधों को समान महत्व दिया गया है। आदिवासी ग्राम्य समाज में पेड़ों से सम्बन्धित लोक कथाएं भी मौजूद है। श्री प्रकाश मिश्र के उपन्यास *रूप तिल्ली की कथा* में डिडे. ई के पेड़ की कथा बताई गई है। डिडे–ई का पेड़ खासी समाज के लिए देवता का प्रतीक है इसके पीछे जो लोक कथा प्रचलित है वह इस प्रकार है कि :

सरहूल पर्व मनाने के पीछे जो लोककथा छिपी हुई है वह बहुत रोचक है। राकेश कुमार सिँह के उपन्यास में सरहुल पर्व मनाने के पीछे जो लोक कथा जुड़ी है उसका उल्लेख हुआ है। *जो इतिहास में नहीं है* उपन्यास में बताया गया है कि जब पठानों ने रोहतास गढ़ पर चढ़ाई करते हैं तो उराँव सरहुल का त्यौहार मना रहे होते हैं। कहा जाता है कि धरती की इकलौती पुत्री बिन्दी एक बार स्नान करने जाती है और रास्ते से लापता हो जाती है। धरती के दूत पता लगाते हैं कि बिन्दी को यमराज ने उठा लिया है। उसके वियोग में उदास धरती पर पतझड़ छा जाता है। धरती के दूतों ने समझाया कि बिन्दी को वापिस लौटा दिया जाए तो यमराज ने इस शर्त पर धरती को लौटने दिया की आधा समय बिन्दी धरती पर बिताएगी और आधा समय पाताल नगरी में रहेगी :

> दोनों पक्ष सहमत हुए। बिन्दी के पृथ्वी पर वापस पहुँचते ही वसन्त छा गया। नयी घास उग आयी। वृक्षों के नये पत्ते निकल आये। फूल महकने लगे। बिन्दी की घर–वापसी का त्यौहार मनाया गया ... सरहुल।(28)

इस पर जब हरियाली में फूल खिलते हैं तो ऐसा माना जाता है कि बिन्दी धरती पर वापिस लौटी है और इसकी याद में आदिवासी लोग सरहुत पर्व मनाते हैं।

डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपनी पुस्तक *राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास* के अनुसार :

> लोक वाड़मय की समस्त विधाओं में लोकसंगीत, नाटकों, ख्यालों तथा नृत्यों एवं नाट्यों का महत्वपूर्ण स्थान है इन विधाओं में लोक जीवन, मनोरंजन और संस्कृति अनुपम रूप निहारने को मिलता है। जो गाँवों, कस्बों और नगरों में समान रूप से मिलते हैं। सामाजिक जीवन और संस्कृति के प्रतीकों के बीच कोई सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। इनकी अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियों में सर्वत्र मिलती है जिनका रसास्वादन सम्पूर्ण जनता करती है लोक का व्यक्त रूप मानव है अतएव लोक संस्कृति व्यारवहारिक जीवन का परिष्कृत रूप है।(17)

डॉ० मोहन लाल गुप्ता की पुस्तक *राजस्थान ज्ञानकोष* के अनुसार :

> भारत की संस्कृति ग्राम्य प्रधान संस्कृति है। प्रदेश के लोक अंचल में रहने वाली मनुष्यों का पहनावा, खान–पान, आचार–विचार एवं दिनचर्या उनके काम–धंधों के आधार पर निश्चित होती है। प्रदेश की लोक संस्कृति में ईशपूजन, धर्मपालन, सत्य निष्ठा आचरण, शरणागत, वत्सलता और अतिथ्य सत्कार को विशेष महत्व दिया जाता है।(4)

5.2.6 लोक वाद्य

आदिवासी ग्राम्य जीवन पर रचित हिन्दी उपन्यासों में वाद्ययन्त्रों का भी उपयोग दर्शाया गया है। वाद्ययन्त्रों के उपयोग से कथा का पर्यावरण अधिक मुखर स्वर पाकर पाठक के समक्ष एक चित्र सा प्रस्तुत कर देता है। इन उपन्यासों में विभिन्न लोकवाद्य यन्त्रों के नाम आए है जैसे – मांदल, बांसुरी, तानपुरा, ढोलक, नगाड़ा इत्यादि। यह विभिन्न वाद्ययन्त्र विभिन्न उत्सवों, मेलों, पूजा अवसरों, विवाह–शादी, मरण–जीवन तथा अन्य रीति–रिवाजों के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं और हर एक अवसर का वाद्ययन्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में 'ढोल–मांदल' जो आदिवासी समाज के परम्परिक वाद्ययन्त्र है लेकिन उपन्यास में सोनारा द्वारा केंदरा और गोलवा द्वारा टुईला के प्रयोग को भी दर्शाया गया है। उपन्यास में संजीव जब सोनारा को केंदरा बजाता देखता है तो आश्चर्य में पड़ जाता है :

> सोनारा ने कहां छुपाकर रखा था अब तक अपना केंदरा ? संजीव को केंदरा शहरी वायलिन की तरह लगता है। गोलवा भी आज सुबह से ही टुईला बजाता फिर रहा है। पके कद्दू के सूखे खोल में पतला तार बाँधकर बनता है इकतारे जैसा टुईला।(198)

मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ मेंमहुआ माजी ने आदिवासी समाज द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले वाद्ययन्त्रों से पाठकों को रूबरू करवाया है। प्रज्ञा, आदित्य श्री को बताती है कि जब रोजी मैडम उसे रांची के आसपास घुमा रही थी तो वहाँ उसे कई तरह के वाद्ययन्त्रों की आवाज सुनाई देती है :

> मंदिर की तरफ से किसी वाद्य की आवाज आ रही थी डुडुम–डुडुम ताड जैसी कुछ ..... फिर ? फिर अपने साथ के एक व्यक्ति से मैंने पूछा, यह कैसी आवाज है ? उन्होंने कहा, नगाड़े की आवाज लगती है। पास ही कहीं कोई मेला वेला लगा होगा। वहीं नाच गा रहे होंगे स्थानीय आदिवासी ..... ।(276)

लोग मेले में नाचने गाने के लिए भी इन वाद्ययन्त्रों का इस्तेमाल करते हैं।

अखरा में आदिवासी लोग नाचते–गाते हैं तथा वाद्ययन्त्र उनके नाच–गानों को रंगीन बना देते है। राकेश कुमार सिंह *हुल पहाड़िया* में बताया है कि अखरा में भी वाद्ययन्त्रों को प्रयोग में लाया जाता है। लेखक ने लिखा है – "आखरा में फागुन मांदल बजा रहा था।"(134)

हरिराम मीणा ने अपने उपन्यास *धूणी तपे तीर* में राजस्थान में फागुन महीने में होने वाले गेर नृत्य पर प्रयोग में लाये जाने वाले वाद्ययन्त्रों का उल्लेख किया है। लेखक के शब्दों में

– "फागुन के पूरे महीने यूं तो जगह–जगह गेर नृत्यों की धूम मची हुई थी, ढ़ोल, चंग, मांदल, बांसुरी, तबला, थाली जैसे वाद्ययन्त्रों की कर्णप्रिय धुन और गेर गीतों के सुर चारों और सुनायी देने लगते थे।"(313) इस तरह में वाद्ययन्त्र गेर नाच में चार चाँद लगा देते है। रमेश बरोना की पुस्तक *राजस्थान के लोकवाद्य* शब्दों में :

> राजस्थान के लोग वाद्यों के अन्तर्गत 'अलगोझा' दो बांसुरियों का युग्म साज है। इनकी बाँसुरियों का निर्माण बाँस की नलिका अर्थ वा छोटी लंबी लकड़ी को अन्दर से पोला करके किया जाता है। ये लगभग एक फुट की होती है।(19)

मादल राजस्थान का लोकप्रिय वाद्य है भगवती लाल शर्मा अपनी पुस्तक *राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा* में कहते है :

> इसकी आकृति मृदंग के समान होती है जो मिट्टी से बनाया जाता है। इसका एक मुँह छोटा व दूसरा बड़ा होता है। मादल के दोनों सिरों के मुँह पर खाल मढ़कर तत्पश्चात् जौ के आटे का लेप लगाकर बजाया जाता है।(29)

नंदलाल कल्ला की पुस्तक *भारतीय लोक साहित्य कोष* के शब्दों में इसके अलावा कई लोकवाद्य है, जिनको राजस्थान के लोकसंगीतज्ञ बजाते है। ये लोकवाद्य संगीत में मधुरता लाते है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये मँहगे नहीं होते तथा इनको बजाने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।"(33)

राजस्थान लोक साहित्य और संस्कृति राजस्थान कला और संस्कृति की रंग स्थली है। राजस्थान के लोक नृत्य सरस, भावभीने एवं मनोहरी चेतना के वाहक है। ऋतुपरिवर्तन हो या कोई त्यौहार, पर्वोत्सव हो या फिर घर में ही कोई मांगलिक अवसर हो, यहाँ के नर–नारी खुशी से झूम उठते हैं। "जब उनका मन–मयूर थिरकने लगता है तो वे भक्तिरस में डूबकर तन्मय होकर नृत्य करने लगते है। इस प्रकार नृत्य राजस्थानी जन–जीवन का प्रमुख अंग है।"(12) इनके समाज में धार्मिक तीज त्योहारों पर वाद्ययन्त्रों को बजाने का प्रचलन है। शादी विवाह के अवसर पर यह लोग ढोल, शहनाई, बांसुरी और थाली बजाकर नाचते है। वास्तव में आदिवासियों का अपने वाद्ययन्त्रों से अटूट सम्बन्ध है और ये लोग अपने लोक–जीवन में प्राप्त होने वाली वस्तुओं से ही अपने वाद्ययन्त्रों को तैयार कर लेते है।

5.2.7 पर्व–त्यौहार

पर्व–त्यौहार आदिवासी ग्रामीण जीवन में बहुत महत्व रखते हैं। पर्व–त्यौहारों को मनाकर देवताओं को खुश किया जाता है उनके प्रति अपनी आस्थाओं को प्रकट किया जाता है। यह

त्यौहार इनकी सामाजिक एकता और भाईचारे का प्रतीक माने जाते हैं। करमा पर्व, कांदू पर्व, सोहराई, सरहुल, मागे पर्व, फागू पर्व आदि आदिवासियों के प्रमुख त्यौहार है जिसे आदिवासी लोग बड़े चाव और लगन के साथ मनाते हैं। इन्हीं पर्व–त्यौहारों द्वारा आदिवासी लोग नवजीवन पाते हैं।

आदिवासियों द्वारा करमा पर्व मनाने का उल्लेख हमें कई उपन्यासों में मिलता है। यह पर्व कृषि पर्व के रूप में मनाया जाता है। यह त्यौहार शक्ति और मित्रता का प्रतीक है। आपसी भाईचारे को प्रकट करने के लिए इन त्यौहारों को मनाया जाता है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में करमा त्यौहार को बड़ी खुशी के साथ मनाने का चित्रण किया गया है। करमा के गीत गाए जाते है और करमदेऊ की कथा कही जाती है। इसका चित्रण उपन्यास में इन पंक्तियों में हुआ है – "आज करमा का त्यौहार है। ढोल–माँदल की थाप पर झूम रहा है गजली ठोरी। ..... सुअर के मांस के साथ खूब सारी हँडिया..... ! करमदेऊ की पूजा के बाद दावत और नृत्य–गीत .....।"(220) इनका मानना है कि ऐसा करने से देवता खुश हो जाएगें तथा इनकी कृषि भी सुरक्षित रहेगी।

उरांव समाज का जो सरहुल पर्व है सन्ताल समाज का वह बाहा पर्व होता है। बाहा पर्व में सखुए के पेड़ की पूजा होती है। मधुकर सिंह के उपन्यास *बाजत अनहद ढ़ोल* में बाहा पर्व का चित्रण मिलता है। उपन्यास में जाबा सखुए के पेड़ को देख कर चिंता में पड़ जाती है कि अब हमारा आहा पर्व अधूरा रह जाएगा। क्योंकि बाहा पर्व में सखुए के फूल जोहरो स्थान पर चढ़ाए जाते हैं:

> अब तो सखुआ के फूल भी नहीं खिले है। बाहा त्योहार कैसे मनेगा इस साल। शायद इनके फूलों को मालूम था कि इस साल बरखा नहीं होगी तो खेती नहीं होगी आकल पड़ेगा मरांग बरू सखुए के पेउ पर कैसे चढ़ेगे ? फूल नहीं गिरेंगे तो जोहरा, एरा फूल चुन–चुनकर टोकरी में कहां से रखेगी ? बोंगा का जोहेरा स्थान पर चटाई कौन डँसाएगा ? हे मरांग बरू।(17)

इस तरह सरहुल पर्व पर आदिवासी लोग सखुए के वृक्ष की पूजा करते हैं और इस दिन पेड़ को काटेगें तो हमारे सिंगबोंगा हमें रूष्ट हो जाएंगे। जो कार्य इस पर्व में वर्जित है उन्हें यह नहीं करते है। भले ही आज के पूँजीवादी वर्ग के लिए वृक्षों की कीमत सिर्फ पैसों में आंकी जा रही है लेकिन आदिवासियों के लिए इन वृक्षों का सांस्कृतिक महत्त्व है।

आदिवासियों में बेझा–तनु पर्व मनाया जाता है यह पर्व शिकार से सम्बन्धित है। यह पर्व तीन दिन का होता है। इस पर्व में तीन दिन तक शिकार खेला जाता है तथा पर्व को मनाने से

पहले शिकार के देवता को बलि दी जाती है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में शिकार पर्व जिसे बेझा–तनु कहा जाता है का उल्लेख मिलता है। "बेझा तनु, पर निकले थे पहाड़िया। तीन दिवसीय शिकार–पर्व बेझा तनु।"(189) लेकिन जंगलों पर रोक लगने के कारण यह पर्व भी प्रायः समाप्त हो गया है। आदिवासी औरतें 'जनीशिकार' मनाती है। यह पर्व बारह वर्ष के बाद आयोजित किया जाता है और दो वीर स्त्रियों 'सिनगी' और 'कैली दाई' की याद में मनाया जाता है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में जनीशिकार का वर्णन किया गया है और इस पर्व को मानने के पीछे जो ऐतिहासिक घटना रही है उसका भी उल्लेख हुआ है :

> आदिवासी समाज में हर बारहवें वर्ष आयोजित होता है 'जनीशिकार का कार्यक्रम। उरावं समाज की सिनगी दाई और कैली – दो वीर स्त्रियों की स्मृति को सुरक्षित रखने और अपनी महिलाओं के मर्दानें साहस के साथ मर्दों से जूझने के इतिहास को संरक्षित रखने का त्योहार है – 'जनीशिकार'।(65)

इस त्यौहार में औरतें मर्दों का वेश धारण कर शिकार पर निकलती है लेकिन उनके साथ पुरूष नहीं जाते है। क्योंकि इसमें मर्दो का शामिल होना वर्जित है।

डॉ० रामजन्म मिश्र की पुस्तक *झारखंड के आदिवासी पर्व* के अनुसार :

> आदिवासी जनजाति होली, दीवाली, दशहरा मनाते है। देवताओं के महादेव की पूजा करते है। कृषि की उन्नति एवं प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए 'माघी, वाहा, होरो, कोलोन, बेतौली इत्यादि पर्व भी स्थान विशेष पर मनाते हैं।(3)

जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग के असिस्टेंट प्रोफेसर डॉ हरी उराँव अपने लेखः गाँव कनेक्शन, *झारखंड पत्रिका* में बताया, "हम लोग पेड़–पौधे और जंगल के बिना नहीं जी सकते, इसलिए इनकी रक्षा और देखरेख करने के लिए हमारे यहां कई पर्व मनाये जाते हैं जिसमें करमा पर्व सबसे बड़ा पर्व हैं।"(4)

आदिवासी लोग बा पोरोब पर्व मनाते है। यह पर्व तीन दिन का होता है। इसमें तरह–तरह के नियम होते है। महिलाएं आँगन में साफ सफाई करती है। *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* में महुआ माजी ने बा पोरोब पर्व को भी चित्रित किया है। उपन्यास में संगम और चरीबा इस त्योहार को एक साथ मनाते हैं – "उस बार सगेन ने चरिबा के साथ ही बा पोरोब मनाया। प्रकृति पूज में, सिंगबांगा (सूर्य भगवान) और धरती मां के ब्याह में शामिल हुआ। तीन दिनों का पर्व था यह।"(151) उपन्यास में जम्बीरा का भाई रिनिल मागेः पोरोब मनाने के लिए 'मरंग गोड़ा' आता है।

अपर्णा श्रीवास्तव अपना लेख :आदिवासी संस्कृति, आदिवासी विशेषांक *झारखंड पत्रिका* के शब्दों में, "करम या करमा पर्व झारखंड के आदिवासियों और मूलवासियों का लोकपर्व है। यह फसलों और वृक्षों की पूजा का पर्व है। यह महापर्व करम भादों की एकादशी शुक्ल पक्ष को मनाया जाता है।"(17)

प्रेम बरेलवी लेख आदिवासी लोकपरम्परा, आदिवासी विशेषांक *झारखंड पत्रिका* के शब्दों में :

> मध्य प्रदेश के बैतूल जिले में स्थित भीमपुर ब्लॉक के आदर्श दनोरा गाँव के आदिवासी समाज ने अखाड़ी पर्व में गोमूत्र व जल छिड़ककर गांव को पवित्र किया। ग्रामीण मानते हैं कि ऐसा करने से गांव में न तो किसी प्रकार की गंदगी रहेगी और न ही बीमारी होगी।(6)

अतः हम कह सकते है कि आदिवासी लोग तमाम दुखों, परेशानियों से घिरे होने के बावजूद अपनी उत्सवधर्मिता को संजोए हुए है। लेकिन बाहरी समाज के प्रवेश तथा हस्तक्षेप से इनके पर्व–त्यौहार संक्रमण के दौर से गुजर रहे हैं।

5.2.8 संस्कार

जीवन में तीन प्रकार के संस्कार बहुत महत्वपूर्ण होते हैं – जन्म संस्कार, विवाह संस्कार, मृत्यु सम्बन्धी संस्कार। ये तीनों संस्कार जीवन को काफी प्रभावित करते हैं। आदिवासी ग्राम्य समाज में ये तीनों संस्कारों को मनाया जाता है। किसी के जन्म या फिर विवाह संस्कारों को बड़ी प्रसन्नता और उल्लास के साथ मनाया जाता है और जब किसी की मृत्यु होती है तो उसे शोक संस्कार के रूप में मनाया जाता है।

5.2.8.1 जन्म संस्कार

बच्चे के जन्म के तीसरे दिन को छठियारा का दिन कहा जाता है। इस दिन माँ के साथ बच्चे को भी नहलाया जाता है और शिशु का मुण्डन भी किया जाता है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में आदिवासी ग्रामीण समाज में मनाये जाने वाले संस्कार छठियारा का वर्णन किया है। जब बांदल मुरमू के घर बेटी का जन्म होता है तो वह ऐसे ही संस्कार का निर्वाह करता है :

> आज बेटी के जन्म का तीसरा दिन था। छठियार का दिन था। गांव के मांझी और नायके के अशौच काटा था आज। नदी में नहाकर केश और नाखून कटवाये थे। छत से नहाकर लोग गोंदल के दरवाजे पर आ बैठे तो अशौच की समाप्ति का सूचक चावल का घोल सबके सिर पर छिड़का गया था। कन्या–शिशु का मुण्डन करवाकर मां के

साथ शिशु को भी नहलाया गया। नीम की पत्तियों के साथ पकायी गयी खिचड़ी–शाँडी खाकर गोंदल के घर से सबसे पहले विदा हुए थे गोढ़ना और भैखना।(352)

महुआ माजी के उपन्यास *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* में एकसिया की रस्म का चित्रण किया है। जो बच्चे के जन्म के बाद की जाती है। जब जम्बीरा के घर पहला बच्चा होता है। तो वह एकसिया की रस्म धूमधाम से करना चाहता है :

अच्छी तरह से एकसिया का संस्कार करना ही होगा न ! जन्म से लेकर अब तक बच्चे को नया कपड़ा पहनना होगा ..... कितनी–कितनी तैयारी! ठस दिन तो बाल और नाखून करवाकर बच्चे को उस परिवार और ही समाज के सदस्य के रूप में मान्यता दी जाएगी।(41)

नामकरण वाले दिन पूजा रखी जाती है तथा पूर्वजों के नाम के उच्चारण के साथ चावल के दानों को कलश में रखे जल में डाला जाता है। जिस पूर्वज के नाम के उच्चारण पर चावल का दाना पानी में तैरने लगता है वही नाम बच्चे को दे दिया जाता है। इस प्रकार आदिवासी ग्रामीण समाज में बच्चों के नाम भी विधि–विधान के अनुसार रखे जाते है।

5.2.8.2 विवाह संस्कार

विवाह के समय दुल्हन को हल्दी तेल लगाना और दुल्हा–दुल्हन के सिर पर तेल लगाने के भी तथ्य उभर कर सामने आए है। आदिवासी ग्रामीण समाज में विवाह के समय निभाई जाने वाली रस्मों का उल्लेख हुआ है जब जम्बीरा और मेन्जारी का विवाह होता है तो दोनो तरफ से विवाह की जोर–शोर से तैयारियां चल रही होती है। महुआ माजी *मरंग गोडा नीलकण्ठ हुआ* के शब्दों में :

इधर कुछ महिलाएं दुल्हन को हल्दी तेल लगाकर, नहला धुलाकर लड़के के घर का जेवर कपड़ा पहना देती है। आल्ता, काजल, बिंदी से श्रृंगार करके मंडप में ले जाती है। लड़का भी लड़की के घर से भेजी गयी धोती पगड़ी पहनकर, सजधज कर मंडप में जा बैठता है। शादी की विभिन्न रस्मों के साथ–साथ दुल्हा–दुल्हन के सिर पर तेल चुपड़ने की और उन्हें काजल लगाने की होड़ मची हुई है महिलाओं में।(42)

इस तरह दुल्हा–दुल्हन एक बन्धन में बँध जाते है।

पवन गुप्ता लेख : आदिवासी विवाह परम्परा, आदिवासी विशेषांक *जागरण पत्रिका* के अनुसार आदिवासी समाज में विवाह की 12 परपंरा है – रायवर बापला, टुमकि दिपिल बापला, अंगीर बापला, आदेर बापला, निरबोलोक बापला, इतुत बापला, हीराम चेतान बापला, घरदी

जावाय बापला, गोलायटी बापला, जावाय किरिज बापला, घर जवाय बापला, सहाय बापला इत्यादि।

5.2.8.3 मृत्यु संस्कार

आदिवासी समाज में स्वाभाविक मृत्यु तथा अस्वाभाविक मृत्यु के लिए अलग–अलग संस्कार करने की विधि है। आदिवासी लोग मृत्यु होने पर तो शव को जला देते हैं लेकिन यहद किसी व्यक्ति की किसी दुर्घटना में मौत हो जाती है तो अंतिम संस्कार के लिए अलग विधान बनाए गए हैं। *जो इतिहास में नहीं है* उपन्यास में आदिवासी समाज में मरण संबंधी संस्कार का उल्लेख मिलता है। इस उपन्यास में जब कुजंरा के पिता की मौत होती है तो कुंजरा अपनी पिता की अंत्येष्टि में जुट जाता है :

> हत्या, आत्महत्या, सर्पदंश या किसी दुर्घटना में अस्वाभिक मृत्यु होने पर मृतक के लिए विशेष कर्मकांड का विधान तो था नहीं। न शव को जलाना था, न ही जमीन में गाड़ना था। बस मृतक के शव को दृष्टि–क्षेत्र से परे, गांव से दूर किसी दुर्गम स्थान पर छोड़ आना था।(181)

मधुकर सिहँ कृत *वजाहत अनहद ढ़ोल* में आदिवासी समाज में अस्वाभाविक मृत्यु होने पर काली मुर्गी की बलि दी जाने का उल्लेख किया गया है, उपन्यास में जब राकताब की मौत होती है तो बलि देने के लिए उन्हें कहा जाता है – "मृत्यु तो अस्वाभाविक हुई है तो दुष्ट आत्मा का ताबेन को संतुष्ट करने के लिए चिता को आग देते वक्त काली मुर्गी की बलि चढ़ानी जरूरी थी।"(232)

अतः इससे पता चलता है कि ये तीनों की संस्कार आदिवासी जीवन में कितनी अहमियत रखते हैं। वे इन संस्कारों को निभाने के लिए अपनी जी–जान लगा देते हैं चाहे उनके पास पैसे न हों वे उधार लेने से भी नहीं घबराते हैं।

5.2.9 रीति–रिवाज

रीति–रिवाज परंपरागत रूप से आगे बढ़ते रहते हैं। इन रीति–रिवाजों द्वारा ही हर समुदाय अपनी संस्कृति और परंपरा को जीवित रख सकता है। ये रीति–रिवाज जन्म, शादी, ब्याह, मृत्यु से सम्बन्धित होते हैं जोकि उस समुदाय विशेष की पहचान करवाते हैं।

5.2.9.1 विवाह सम्बन्धी रस्में

आदिवासी ग्राम्य समाज में सह–पालायन विवाह भी होता है। यदि लड़का–लड़की भाग कर शादी कर लेते हैं और वापिस घर लौटते हैं तो उनके विवाह को स्वीकार करना पड़ता है।

उपन्यास में राकेश कुमार सिंह ने आदिवासी समाज में किये जाने वाले सहपालायन विवाह का चित्रण किया है। *पठार पर कोहरा* उपन्यास में जब रूदिया और परभू दोनों भाग कर शादी कर लेते हैं तो उसे आदिवासी समाज स्वीकार कर लेता है :

> रूदिया के लिए भी यह अभिमान की बात थी कि परहा–पंचायत की ढेर सारी लड़कियों में पढ़े–लिखे परभू ने उसे ही चुना....। और पहान ..... ? क्या करता पहान जतरा मुण्डा? परभू उसकी बेटी को अपहृत करके भी रख लेता तब भी उसे इस विवाह की अनुमति देनी ही पड़ती। फिर यह तो सहपालायन था और परभू ने पहान की प्रतिष्ठा के सदके रूदिया को वापस घर भेज दिया। (209–10)

इस प्रकार आदिवासी ग्राम्य समाज में सहपालायन विवाह को सामाजिक मान्यता प्राप्त हुई।

आदिवासी समाज में एक ही गोत्र में शादी करना मना है। मधुकर सिहँ के उपन्यास *बाजत अनहद ढोल* में इस बात को रेखांकित किया गया है। जब जोबा सुकेल को बेसरा गोत्र और टुडु गोत्र के लड़के की प्रेम कथा बताती है तो दोनो गोत्रों में विवाह क्यों नहीं होता है तो सुकेल उसे आशवस्त करता है कि तुम्हें चिंता की जरूरूत नहीं है क्योंकि हम दोनों तो अलग गोत्रों के हैं – "लेकिन हमारे यहाँ तो रिवाज है जोबा, कि एक ही गोत्र में हमारे यहाँ ब्याह नहीं होते। हमारे गोत्र दो हैं।"(15)

जो इतिहास में नहीं है उपन्यास में राकेश कुमार सिंह ने बिटलाहा करने की परम्परा को उल्लेख किया है – "पहाड़–पंचायत के आदेशों का उल्लघंन करने वाले को कठोरतम दंड–बिटलाहा "बिटलाहा! आदिवासी समाज का भयानक दण्ड़–विधान। जाति से बहिष्कृत, समाज से बाहर।"(44) आदिवासी लोग जिस व्यक्ति को बिटलाहा करते हैं उस घर का पानी तक नहीं पीते हैं।

कंजर समाज में पति द्वारा अपनी पत्नी को तलाक देना आसान बात नहीं है। भगवान दास मोरवाल के उपन्यास *रेत* में हमें कंजर समाज में अपनी औरत को छोड़ने पर हर्जाना देने के रिवाज का भी पता चलता है। इसलिए कंजर समाज के पुरूष भले ही एक छत के नीचे दो–दो पत्नियों को रख लेते हैं लेकिन पहली वाली को तलाक नहीं देते है। बुआ इस बात का खुलासा करते हुए वैद्य जी को बताती है :

> असल बात यह है कि कंजरों में अगर कोई मर्द अपनी औरत को छोड़ता है, तो उसे मोटा हर्जाना देना पड़ता है ..... उतना ही जितने में वह उसे ब्याहकर लाया है। अब

बता कौन भरेगा दो–दो बार दंड। इसलिए ऐसा मर्द पहली को छोड़ने के बजाय अपने घर में दूसरी बैठा लेता है।(182)

आदिवासी समाज : दैनिक भास्कर एक तरफ प्रदेश सरकार ने अंतर्जातीय विवाह करने वाले दंपती को दो लाख रूपए की प्रोत्साहन राशि देने का ऐलान किया है तो दूसरी तरफ आदिवासी समाज की पंचायत इसके विरोध में नया नियम थोंपने जा रही है। समाज में किसी भी ग्रामीण ने महिला–पुरूष अब दूसरे समाज में शादी नहीं कर सकेंगे। कोर्ट मैरिज करने पर पंचायत उस महिला–पुरूष का समाज से बहिष्कृत किया जाएगा। साथ ही जुर्माना भी लगाया जाएगा।

स्त्रोत कल्याण विभाग : झारखंड सरकार, झारखंड की संथाल जनजाति एक अर्न्तविवाही जनजाति है, जिसके बीच समगोत्रीय विवाह निषिद्ध है। संथाल जनजाति में एक विवाह की प्रथा प्रचलित है।

5.2.9.2 घोटुल प्रथा

आदिवासी समाज में 'घोटुल प्रथा' है। मुण्ड़ा समाज में इसे 'गितिओरा' कहा जाता है तथा उराँव समाज में 'धुमकुड़िया' कहा जाता है। घोटुल युवा गृह होता है जिसमें उन्हें भावी जीवन का पाठ सिखाया जाता है। इसमें जाल बुनना, घर छवाने की कला, रस्सी बनाने की कला, हल जुआड़ करना तथा चटाई बनाना सिखाया जाता है। इसे आदिवासी ग्रामीणों में युवाओं का शयन गृह ही नहीं बल्कि युवा प्रशिक्षण केन्द्र भी कहा जाता है। यह यौन शिक्षा का प्रशिक्षण स्थल होता है उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में इस 'धुमकुड़िया' का महत्व दर्शाया गया है कथावाचक के शब्दों में :

> कैशार्य में पाँव धरते–धरते मनुष्य को देह की भाषा और यौन के छनद का ज्ञान होने लगता हैं ऐसे में प्रायः एक ही झोंपड़ी में सारा जीवन बिता डालने वाले आदिवासी दम्पत्ति अपने किशोर पुत्र–पुत्रियों को रात बिताने हेतु युवागृहों में भेजने लगते है।(91)

वहां पर लड़के–लड़कियां अपने मन पसंद जीवन साथी का चुनाव भी कर सकते हैं।

घोटुल युवा ग्रह, घोटुल भारत के कई जनजातीय समुदायों में एक महत्वपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था है। जिसमें पूरे गाँव के बच्चे या किशोर सामूहिक रूप से रहते हैं। यह छतीसगढ़ के बस्तर जिले के मुड़ियां (गोंड की उपजाति) जनजाति के ग्रामों में मिलते हैं। अलग–अलग क्षेत्रों की घोटुल परम्पराओं में अंतर होता है।

5.2.9.3 गोदना गुदवाने की प्रथा

आदिवासी लोगों में गोदना गुदवाना भी एक प्रथा है जिसे ये लोग शुभ मानते है। इनके गोदना गुदवाने के पीछे तीन प्रमुख कारण ऐतिहासिक स्मृति, गण की सदस्या का प्रमाण तथा श्रृंगार है। युवतियों की गोदना के प्रति जो विचारधारा है मधुकर सिहँ *बाजत अनहद ढ़ोल* में इसका उल्लेख किया है –

"गोदना पर इन्हें नाज रहता है। गोदना को इस लोक का श्रृंगार और परलोक का सहारा मानती है।"(110) इनका मानना है कि गोदना गुदवाने से देवता प्रसन्न होते हैं इसलिए शरीर के विभिन्न हिस्सों पर गोदना गुदवाया जाता है। सिनगी देई, कइली देई और चम्पू देई की स्मृति में उराँव समाज की स्त्रियां गोदने की तीन बिन्दिया धारण करती हैं इन तीन वीरांगनाओं ने पठान पुरूषों से मर्दानी बनकर युद्ध किया था जिसे राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में बड़े सहज ढंग से वर्णित किया है।

जहां बेड़िया समुदाय में 'सिर ढ़ांकना' का पालन किया जाता है तो वही कंजर समाज में 'मत्था ढकाई' की रस्म का पालन किया जाता हैं। भगवान दास मोरवाल कृत उपन्यास *रेत* में बताया गया है कि कंजर समाज में मत्था ढ़काई की रस्म के बाद ही लड़कियों को वेश्यावृत्ति में उतारा जाता है लेकिन मत्था ढकाई के बाद भी वह अन्य पुरूषों से संबंध बना सकती है। बुआ इस रस्म के बहाने अपने जबांई के चाव पूरा करने का ढ़ंग मनाती हुए वैद्य जी से कहती है :

> हमारे यहां तो इज्ज़तदार मत्था ढकाई करता है, उमर भर उसका जमाई की तरह मान किया जाता है। एक ब्याहता मर्द की तरह अपनी खिलावड़ी के पास आने–जाने की पूरी छूट होती है। इससे कभी पैसे नहीं लिए जाते हैं बल्कि जमाई की तरह पूरे नेग–दस्तूर के साथ उसकी विदाई दी जाती है।(27)

इस प्रकार 'मत्था ढकाई' की रस्म को निभाया जाता है लेकिन 'मत्था ढकाई' की रस्म का जो भी खर्चा आता है उसका भुगतान उस लड़के को ही करना होता है।

गोदना : सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ गोदना शब्द का अर्थ है किसी सतह को बार–बार छेदना अर्थात् अनेक बाद छिद्रित करना। इस प्रकार यह शब्द उस क्रिया को प्रतिनिधित्व करता है जिसकी पुनरावृत्ति से इसे सम्पादित किया जाता है।(17)

5.2.9.4 फूल की रस्म या सहिया जुड़ाने की रस्म

आदिवासी लोगों में फूल की रस्म होती है जिससे फिर आपस में दोस्ती का रिश्ता कायम हो जाता है। इसे मित्रता जुड़ने की रस्म की संज्ञा भी दी जा सकती है। रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता* में भी इस रस्म का उल्लेख हुआ है। सहिया जुड़ाने की रस्म में कुछ उपहार भी देने पड़ते हैं। उपन्यास में कथावाचक तथा ललिता में सहिया जुड़ाया जाता है तो दोनों एक दूसरे को उपहार भेंट करते है। कथावाचक ने लिखा है :

> छोटी सी रस्म थी। मैंने सलवार सूट का कपड़ा और एक पेन सेट उपहार में दिया ललिता एक सुन्दर–सी रेडीमेड शर्ट मेरे लिए लायी थी। फिर हमने एक–दूसरे को गुलाईची का फूल भेंट किया। अब तो एक दूसरे को नाम से नहीं फूल कहकर सम्बोधित करना था।(77)

वैसे तो यह रस्म लड़का–लड़का और लड़की–लड़की में निभाई जाती है पर इस उपन्यास में कुछ विपरीत देखने को मिलता है। इनके उपन्यास *गायब होता देश* में भी सहिया जुड़ाने की रस्म को रेखांकित किया गया है।

5.2.10 लोकगीत

लोकगीतों का सम्बन्ध लोकजीवन के सुख और दुख से है। इनमें जन–जीवन के भाव अभिव्यक्त होते हैं। इनके इन्हीं लोकगीतों में मानव संस्कृति के विभिन्न चित्र अंकित रहते हैं। हिन्दी के आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों में उपन्यासकारों ने उनके धर्म, संस्कार, रीति–रिवाजों, पर्व–त्यौहारों आदि से सम्बन्धित लोकगीतों का चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त उपन्यासों में दुख के गीत, प्रेम सम्बन्धी गीतों का भी उल्लेख किया गया है।

5.2.10.1 दुख के गीत

दुख के क्षणों में अपने मन का बोझ हल्का करने के लिए आदिवासी लोग गीतों का सहारा लेते हैं। गीतों के द्वारा अपनी दुख तकलीफों और चिन्ताओं को प्रकट करते हैं। गीतों के माध्यम से हम इनकी अपने समाज के प्रति चिंता को देख सकते हैं। रणेन्द्र के *ग्लोबल गांव के देवता* उपन्यास में यह मार्मिक गीत अकसर नौजवान लड़कों के मुंह से सुनाई देता है :

> काठी बेचे गेले असुरिन,
>
> बांस बेचे गेले गे,
>
> मेठे संगे नजर मिलयले,
>
> मुंशी संग लासा लगायले गे।(38)

इस गीत का आशय है कि लड़की और बांस बेचने गयी असुरिन, तुमने खदान के मेठ के साथ नहरे क्यों मिलायी? तुमने खदान के मुंशी के साथ लगाव क्यों बढ़ाया? पैसे के लोभ में तुम कुल का नाम डूबा रहे हो। इस उपन्यास में हमें एक और मर्मस्पर्शी गीत देखने को मिलता है। जोकि रूमझुम द्वारा गाया गया है। यह अजब सा उदास गीत है।

5.2.10.2 प्रेम सम्बन्धी गीत

आदिवासी समाज में प्रेम सम्बन्धी गीत भी गाए जाते हैं। जिसमें उनके प्रेम के इजहार की झलक मिलती है। प्रेमी अपनी प्रेमिका को रिझाने के लिए प्रेम सम्बन्धी गीत गाता है। उपन्यास *जो इतिहास में नहीं है* में ऐसा ही प्रेम गीत उरांव पुरूष के कण्ठ से फूटता है :

यदि मुझसे प्रेम है तो
सिसकी क्यों मारती हो ?
दे मारो ना मुझ पर
कदम्ब का फूल।(93)

अर्थात् यदि मुझसे प्यार है तो उसका इजहार कर दो। जहां एक तरफ प्यार के इजहार के गीत गाए जाते हैं तो वहीं प्रेमिका के मिलने पर जो प्रेमी के मन में भाव उद्वेलित होते है उसको भी दर्शाया गया है। राकेश कुमार सिहँ के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में भी फागुन–मादल बजाता है और हीरा प्रेम सम्बन्धी गीत गाता है :

पहाड़ की ढ़ाल पर मकई का खेत
खेत की मेड़ पर बजाऊंगा बांसुरी
टप्प् टप्प् चुएगें महवे के फूल
महुआ चुनते बजेगी तेरी पायल
गरजेंगे जब चैट के बादल
छुप जाना मेरी छाती में तुम।(66–67)

प्रस्तुत गीत युवा वर्ग का अपने प्रेम को अभिव्यक्त करने का एक तरीका है।

5.2.10.3 मनोरंजन के गीत

आदिवासी ग्राम्य समाज में हँसी–मजाक से कई प्रकार के मनोरंजन गीतों की भरमार है। आदिवासी समुदाय में न केवल दुःख के क्षणों में ही गीत गुन–गुनाए जाते हैं अपितु

हँसी–मजाक के मौके पर भी गीतों की परंपरा देखी जा सकती है। महुआ माजी के उपन्यास *मरंग गोडा नीलकण्ठ हुआ* में जब जाम्बीरा और मेन्जारी की शादी होती है तो बारातियों में से कुछ युवकों ने हँसी मजाक में व्यंग्यात्मक गीत गाना शुरू कर दिया :

देला बालानेरा नाजी नानर डियंग,

दाना बालानेरा जगादाअ डियंग,

नजी नानर डियंग कामने मेरे,

जगादाअ डियंग कामनेरे।

हुडिं होनमे नेमालेमे।

मालची रेहोले मालची मीसाईहा।(35–36)

गीत का आशय है कि बड़ी बहन के नाम से जो डियंग बना है, उसे तो हम लोगों को दे दो, साथ ही आपके खेत के चावल से जो डियंग बना है, उसे भी हम लोगों को दे दे। अगर आप लोग उन दोनों प्रकार के डियंग को नहीं दे सकते हैं तो वधू की छोटी बहन को ही दे दीजिए, जिसे ले जाकर हम लोग नमक मिर्च लगाकर चखेंगे।

झारखंड : समाज, संस्कृति और विकास वैवाहिक नाचों को पूरा पंचाग देना सहज नहीं है। क्योंकि इस विषय में प्रांत–प्रांत में मतभेद है। यों माघ को जब मांडर थाने में जदूरा नाच जारी है, गुमला सब डिविजन में सरहुल और जशपुर रियासत में डोमकच की चहल–पहल रहती है।

5.2.10.4 विवाह सम्बन्धी गीत

परिवारिक सुख को चित्रित करने वाला एक गीत 'आबो मोरियो' है। ससुराल के सभी सम्बन्धों के प्रति इसमें लोकगीतों की आत्मा का प्रकाशन मिल जाता है। नववधू अपने परिवार–रूपी आभूषण की उपमाओं में ससुराल के सम्बन्धों को पूर्ण आत्म–निर्माण के साथ व्यक्त करती है *भारतीय लोक साहित्य कोष* :

म्हारै आंगण आंबो मोरियौ, पसवाडै जी पसरी गज बेल,

सहेल्यां ए आंबो मोरियौ।

म्हारा सासू जी पूछे बुह थांरै गहणं से अरथ बताय,

सहल्यां आंबौ मोरियौ।

सासू जी गहणां जी गहणां कांई करौ,

गहणां म्हारा देवर जेठ।(65)

राजस्थान के आदिवासी समाज में ग्रामीण लोग गीतों में प्रायः बच्चों के लोक–गीत भी उपलब्ध है। *राजस्थानी साहित्य और संस्कृति* बच्चों के गीत का एक उदाहरण यह दिया गया है :

मेह बाबा आजा, मेह बाबा आजा

घी नै रोटी खाजा, आयो बाबा परदेसी।

अबै जमानो कर देसी, ठांकणी में ढ़ोकलो।

मेह बाबो मोकलो।।(75)

हिन्दी कविता और लोक संस्कृति के अनुसार, "लोकगीत न तो नया होता है और न पुराना – वह तो जंगल के एक वृक्ष के समान है जिसकी जड़े भूतकाल की जमीन में गहरी धंसी हुई है परन्तु जिसमें निरन्तर नई–नई शाखाएँ प्रस्फुटित एवं पल्लवित होती है और फूल खिलते रहते हैं।"(18)

शादी विवाह के अवसर पर दुल्हा और दुल्हन को लेकर गाये जाने वाले गीतों का वर्णन उपन्यास *पठार पर कोहरा* में मड़वे में लड़किया गीत गाती है :

केकर माथे लाल–सुन्नर पगड़ी

केकर हाथे लाल गेंदा फूल

ओ मैना रे।

मति जाबे दूर विदेश।(211)

गीत का आशय है कि किसके सिर पर सुन्दर लाल पगड़ी है ? अर्थात् दूल्हे के, किसके हाथ में गेंदे का लाल फूल है? अर्थात् दुल्हन के ओ मेरी दुलारी मैना (बेटी), इस पगड़ी पर लुभाकर हमसे बहुत दूर परदेस न चली जाना।

5.2.10.5 श्रम गीत

श्रम गीत वे गाने है जो किसी काम को करते समय गाये जाते है। ऐसा देखा जाता है कि मजदूर लोग अपनी शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए काम करते समय गाना भी गाते जाते हैं। इससे काम करने में मन लगा रहता है और परिश्रम का पता नहीं चलता। श्रम गीतों में रोपनी आदि से सम्बन्धित गीत आते है। धान को खेत में रोपते समय जो गीत गाये

जाते है वे रोपनी नाम से प्रसिद्ध है। उपन्यास में रोपनी के गीतों के ज्वार से सारा गजलीठोरी नहा उठता है :

बिर तबु चब तन, आते तबु पीडितन, दारू बू रोवाया,

गोड़ा पिड़ी रेबु रोवाया, सादी..... सादी....., उली कण्तड़ कद बारू,

मु दू हंस, जोतो दारू, दारू बू रोवाया .....।(224–225)

इस गीत में ग्रामीण लोगों की चिंता को भी उजागर किया गया है लेकिन साथ में उनकी आशावादी सोच का भी वर्णन मिलता है, लोग गाते हैं कि जंगल खत्म हो रहा है। धरती बंजर हो रही हैं। अतः गाध रोपेंगे। टाँड के आड़ में रोपेरों। कतार–कतार। आम, कटहल, जामुन, कुसुमफरसा, पीपल आदि। गाद्य रोपेगें ....। उनकी आजीविका का आधार जंगल तथा कृषि ही हैं भले ही बाहरी समाज ने उनकी आजीविका को तहस–नहस कर दिया लेकिन फिर भी बड़े ही जीवत वाले होते हैं और फिर से खेती–बाड़ी कर अपने आप को सफल बनाने का सपना देखते है। आदिवासी इन श्रम गीतों से उत्साह बढ़ाने का सहारा लेते हैं।

5.2.10.6 मृत्यु गीत

आदिवासी ग्रामीणों में मृत्यु गीत भी गाये जाते है। इसमें मृतक व्यक्ति द्वारा किये गये कामों को याद किया जाता है लेकिन मधुकर सिहँ के उपन्यास *बजाहत अनहद ढ़ोल* में खासी समाज में बलि चढ़ाने से पहले जो मृत्युगीत गाया जाता है उसका उल्लेख इस प्रकार से हुआ है :

जल पर तैरती है मृत्यु, और जीवन वायु में'

हम ले आये हैं कोनी जो दर्द है भीतर। कुछ इोस

घिरा सफेद गाढ़े जल से, हम जल को फेंक देंगे

ले आयेंगे जर्दी, जल के साथ चली जायेगी मृत्यु

जीवन चला आयेगा जर्दी के साथ, वह जर्दी और जल खतरा है

जिसके भीतर, से मृत्यु बाहर आयेगी, भीतर जायेगा जीवन।(142–43)

इस प्रकार बलि चढ़ाने से पहले बलि पुरूष के लिए मृत्यु गीत गाया जाता है।

5.2.10.7 मेहमान के स्वागत के गीत

बाजत अनहद ढ़ोल में आदिवासी ग्रामीण लोग मेहमान के स्वागत में भी गीत गाते है ऐसे गीत का चित्रण हुआ है। जब पोंटेट (अंग्रेज) आदिवासियों के यहाँ जाता है तो वे लोग

बहुत खुश होते है और उसकी उतना कांदू देवता से करते है। कादूं उनका प्रमुख देवता होता है। वह जीवन देता है और प्राण ले सकता हैं :

उपहार ले रेम ञाम

नेक धरती रेमा।

आयो बाबा गेयो तेगो बोंगा।

चान्दो तायोम मुकिन

आयो बाबा निकिन

जोहार आकिन में हो दिनाय आंगा।(27)

पोटेंटे को मतलब समझ नहीं आता है। पोटेंट इस गीत का मतलब जानने के लिए गोको गायक से पूछते हैं। तो गोको गायक उसे बताते हैं कि कांदू हमारे मुख्य देवता हैं। आप भी हमारे देवता के समान हैं। यह गीत हमारी प्रार्थना है, स्मरण करने से हमें जानकारी मिलती है कि इस पृथ्वी पर माता–पिता ही जीवित देवता हैं। प्रभु के बाद माता–पिता को रोज प्रणाम करो। आप हमारे कल्याण के बारे में सोचते हैं। आप माता–पिता के समान हैं। माता–पिता हमारे अँधेरे को हर लेते हैं और जीवन के रास्ते को रोशनी से भर देते हैं। इसीलिए सभी मिलकर आपको प्रणाम कर रहे हैं।

लोकगीतों द्वारा आदिवासियों के जन–जीवन की भावुकता, व्यापकता तथा मार्मिकता आदि की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। आदिवासी कृषक खेतों में काम करते समय अपनी थकावट दूर करने के लिए तथा उत्साह बढ़ाने के लिए गीतों का सहारा लेते हैं। आदिवासी लोकगीतों में हँसी मजाक सम्बन्धी मनोरंजन के गीतों की संख्या भी काफी है। इसमें आदिवासियों की सम्पूर्ण संस्कृति की झाँकी मिलती है। अपने मनोभावों को आदिवासियों ने इन्हीं गीतों के माध्यम से व्यक्त किया है।

5.3 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम समाज का सांस्कृतिक पक्ष

भारत के अन्य समाजों की तरह मुस्लिम समाज में भी जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाले अनेक संस्कार है जिन्हें प्रचलित अर्थों में रीति–रिवाज भी कहते है। अन्य धर्मों की तरह मुस्लिम धर्म के भी अपने पर्व–त्यौहार, तीर्थ है इनका वर्णन इस प्रकार से है :–

5.3.1 जन्म के रीति–रिवाज

जन्म संस्कार मनुष्यों का आरंभिक संस्कार है, जो गर्भाधान से शुरू होकर बच्चे के जन्म से कुछ आगे तक चलता है। भारत में विभिन्न क्षेत्रों के मुस्लिम समाज में प्रचलित जन्म के संस्कारों में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है।

मुस्लिम समाज में जब कोई बच्चा जन्म लेता है तो सर्वप्रथम उसे स्नान कराकर, पास के मौलाना को बुलाकर उसके कानों में अज़ाम दिलवाई जाती है। इसके पीछे मान्यता है कि अज़ान देते ही उस बच्चे का प्रवेश इस्लाम धर्म में हो जाता है। श्याम चरण दुबे *भारतीय ग्राम* के अनुसार कहीं–कही "घर का कोई बुजुर्ग ही नमाज पढ़ देता है .... और शहद की एक या दो बूंदे नवजात शिशु के मुहँ में डाली जाती हैं। जब तक यह नहीं कर लिया जाय, बालक को दूध नहीं पिलाया जाता।"(116) आज जब डॉक्टरों की यह स्पष्ट मान्यता है कि बच्चे को छः महीने तक केवल माँ का दूध पिलाया जाए, तब व्यापक मुस्लिम समाज अपने इस शहद पिलाने की रीति को छोड़ रहा है। 'सुन्नत' या 'खतना' संस्कार मुस्लिम समाज में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ये जन्म से लेकर पाँच या छहः वर्ष तक होना जरूरी माना जाता है। "इस अवसर पर कुछ संबंधियों को बुलाया जाता है, बालक को माला पहनाई जाती है और तब शल्य कर्म किया जाता है। इस अवसर पर लड़के को छोटे–मोटे उपहार दिए जाते है।"(118) इसे 'मुसलमानी' भी कहते हैं। 'मुसलमानी' को मुसलमान की पहचान से भी जोड़कर देखा जाता है।

हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ 'बिस्मिल्ला संस्कार' का अर्थ 'विद्या आरंभ' होता है। जब बच्चा लगभग पाँच वर्ष का हो जाता है तो उसे अक्षर बोध कराया जाता है और पढ़ने के लिए मदरसे में भेजा जाता है। यह लड़के एवं लड़कियाँ दोनों के लिए किया जाता है। "'मदरसे' की शिक्षा एवं धार्मिक शिक्षा का स्वरूप मुस्लिम समाज में लगातार बदल रहा है, आधुनिक शिक्षा से युक्त मुस्लिम समाज के अधिकांश लोग अपने बच्चों को मुख्यधारा की शिक्षा में ला रहे हैं।"(182)

'अकीका संस्कार' में मुसलमान बच्चों का मुंडन एवं नामकरण होता है। इस संस्कार में बकरे, भेंडे, और दुम्बे आदि की कुर्बानी दी जाती है। "मुस्लिमों में मूर्ति पूजकों द्वारा प्रयुक्त किए जाने वाले नाम न रखने की सावधानी बरती जाती है।"(183)

5.3.2 विवाह के रीति–रिवाज

समाजशास्त्र की शब्दावली में कहें तो भारतीय समाज में अनेक 'एथनिक' समूह हैं। जाति तथा धार्मिक समूह भी एथनिक (विशेष जाति या धर्म से सम्बन्धित या उसका प्रतिनिधिक) समूह में ही आते हैं। मुस्लिम भी भारत का एक 'एथनिक' समूह है, हिंदुस्तान के इन एथनिक समूहों के विवाह सम्बन्धी अपने विशिष्ट रस्मों–रिवाज हैं।

मुस्लिमों में विवाह को 'निकाह' कहा जाता है। यह अरबी भाषा का शब्द है। 'निकाह' के दौरान जिस पत्र पर शर्तें लिखी जाती हैं उसे 'निकाहनामा' कहते हैं। यह शर्ते मुस्लिम विवाह को हिंदू विवाह की रीतियों से अलग करती हैं। क्योंकि मुस्लिम समाज में विवाह को

हिंदुओं की तरह धार्मिक अर्थ में नहीं लिया जाता है और न ही उसे संस्कार ही माना जाता है, बल्कि मुस्लिम समाज में विवाह एक समझौता है। के.एम. कापड़िया *भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार* में लिखते हैं किः "इस्लाम में विवाह एक अनुबंध है, जिसमें दो साक्षियों के (प्रत्येक पक्ष का एक) हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबंध का प्रतिफल 'मेहर' अर्थात् वधू को भेंट दी जाती है।"(201)

अकिल अहमद की पुस्तक *मुस्लिम विधि* के अनुसार :

> 'मेहर' वह धनराशि होती है जो विवाह के बाद पति द्वारा पक्षकारों के करार या कानून के अनुसार दी जाती है। मुस्लिम समाज में 'मेहर विवाह का एक ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि विवाह के समय संविदा में उसका उल्लेख न हो, तो भी विधि स्वतः संविदा के आधार पर उसकी पूर्णधारणा कर लेगी ... मेहर का इतना महत्व इस कारण है कि वह पति द्वारा तालाक देने के अधिकार के मनमाने प्रयास के विरूद्ध पत्नी को सुरक्षा प्रदान करती है।(73)

मुस्लिम विधि के अनुसार निकाह का प्रमुख उद्देश्य "कामवासना का नियमन, गृहस्थ जीवन का नियमन, वंश की वृद्धि, पत्नी और बच्चों की देखभाल और जिम्मेदारी में आत्मसंयम तथा सदाचारी बच्चों का पालन है।"(39) के. एल. शर्मा अपनी पुस्तक *भारतीय समाज* में लिखते है –"मुस्लिम समाज में विवाह के लिए 'निकाह' शब्द प्रचलित हो गया है क्योंकि विवाह की यह पद्धति इस्लाम में सर्वाधिक चर्चित है। "जिसके अंतर्गत स्त्री अपने पति के साथ रहती है और बच्चे पति के वंश से जुड़े रहते हैं। तलाक पति का एक मात्र विशेषाधिकार है।"(73) इस निकाह पद्धति के अतिरिक्त मुस्लिम समाज में 'मुत्ता विवाह' भी होता है। इस विवाह में दोनों पक्षों की पारस्परिक स्वीकृति लेकर एक निश्चित समय के लिए समझौता होता है। इस समझौते की अवधि में कोई पत्नी अपने पति को तलाक नहीं दे सकती। मोहम्मद फिरोजखाह *मुस्लिम मानस और हिन्दी उपन्यास* के शब्दों में "मुसलमानों में सुन्नियों के अनुसार केवल स्थायी विवाह ही हो सकता है। परन्तु शिया मुसलमानों के अनुसार अस्थायी विवाह भी हो सकता है।"(100) 'निकाह' को शिया और सुन्नी दोनों मानते हैं।

5.3.3 मृत्यु के रीति–रिवाज

मृत्यु को इस्लाम में द्वितीय जीवन कहा गया है। मृत्यु के संस्कार भी देशभर में अलग–अलग जगहों पर भिन्न–भिन्न तरीकों से होते हैं। श्याम चरण दुबे *भारतीय ग्राम* के कथनानुसार :

मुसलमानों की मृत्यु के रिवाज हिंदुओं से भिन्न है। शव के पाँव की अंगुलियों को एक सूतली से बाँधा जाता है, और पेट पर एक छोटी सी नमक की थैली रख दी जाती है ताकि वह फूलने न पाये। ..... शरीर को ढ़कने के लिए एक नया कपड़ा खरीदा जाता है और मृतक को कब्रगाह तक ले जाने के लिए लकड़ी का बक्सा मंगाया जाता है। पुरूष का शव कपड़े के तीन टुकड़ों से और स्त्री का शव पाँच टुकड़ों सेढ़का जाता है। मृतक के ललाट, आँखो, हथेलियों और पैरों पर कर्पूर का चूर्ण छिड़क दिया जाता है।(124–25)

कर्पूर और चूर्ण के अलावा कुछ सुगंधित चीज भी छिड़कने का रिवाज है। मृतक को लकड़ी के संदूक में रखकर चार लोग उसे कंधा देते हैं, साथ में संबंधी मित्र सब पीछे–पीछे मस्जिद तक जाते हैं। इस शव यात्रा में जिस तरह हिंदू बोलते जाते हैं कि "राम–नाम सत्य है" वैसे ही मुसलमान "अल्ला के सिवाय कोई नहीं है" बोलते हैं। मस्जिद में नमाज पढ़ने के उपरांत जुलूस कब्रगाह तक पहुँचाया जाता है। शव को कुरान की आयतों के उच्चारण के साथ कब्र में दफ़न किया जाता है। दफ़न करने के उपरांत कब्र से चालीस कदम पीछे हटकर मृतक के लिए 'फातिहा' पढ़ा जाता है। 'फातिहा' का अर्थ 'मरने वाले की मुक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना है, इसमें कुरान की आयते पढ़ते हुए मुर्दे की मुक्ति के लिए प्रार्थना की जाती है।

'फतिहा' रस्म के साथ ही मृत्यु संस्कार का प्रारम्भिक दौर समाप्त होता है, इसके उपरांत मृत्यु के दो दिन तक शोक संतप्त परिवार में खाना नहीं बनता, श्याम चरण दुबे बताते है :

तीसरे दिन मस्जिद में नमाज पढ़ी जाती है और उसके बाद मृतक के संबंधी कब्र पर फूल चढ़ाते हैं। ऐसा दसवें दिन भी किया जाता है। चालीसवें दिन वे सब लोक एकत्र होते हैं जो कि शव यात्रा में सम्मिलित हुए थे। इस रोज फिर प्रार्थनाएं की जाती है, और कुछ लोग कब्र पर फूल चढ़ाने भी जाते हैं। इसके बाद दावत होती है।(129)

मृत्यु के इस चालीसवें दिन के रस्म को 'चालीसवां' या 'चेहल्लुम' भी कहते हैं। मृतक की मृत्यु के एक साल बाद भी उसकी कब्र पर फूल चढ़ाये जाते हैं तथा प्रार्थनाएं की जाने की रीति है। मुस्लिमों के जन्म संस्कार, विवाह की रीतियाँ, मृत्यु संस्कार को ध्यान से देखने पर हिंदू संस्कारों से पर्याप्त समानता देखने को मिलती है, हिंदुओं और मुस्लिमों में होने वाले जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार एक दूसरे के अलगाव के खिलाफ खड़े होते हैं।

5.3.4 मुस्लिम समाज के प्रमुख त्यौहार

किसी भी समाज के अपने कुछ त्यौहार होते हैं जिससे उस समाज में समय–समय पर उत्सवधर्मिता बनी रहती है। ये त्यौहार अपने समाज से गहरे अर्थों में संपृप्त होते हैं। भारत के अन्य समुदायों की तरह मुस्लिम समुदाय के भी कुछ विशिष्ट त्यौहार हैं।

5.3.4.1 ईद

इस त्यौहार को मूल रूप से –'ईद–उल–फितर' के नाम से जाना जाता है। यह त्यौहार रमजान मास के व्रतों (रोजों), के सफलतापूर्वक समाप्ति की खुशी में मनाया जाता है। 'ईद' अरबी भाषा का शब्द है इसका अर्थ है 'लौटना' और फितर का अर्थ है 'खाना–पीना'। यह त्यौहार हर वर्ष लौटकर आता है तथा मुसलमान लोग एक महीने का रोजा रखने के बाद 'खाना–पीना' शुरू करते हैं इसलिए इसे 'ईद–उल–फितर' कहते है।

भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक इतिहास रमजान के महीने का मुसलमानों के धार्मिक वर्ष में बड़ा महत्त्व है :

> जहाँ तक हो सकता है, लोग पूरे महीने रोजा रखते हैं। वे सुबह होने से पहले और सूरज ढलने के बाद भोजन कर सकते हैं, पर बीच में आशा की जाती है कि व्यक्ति अपना अधिकाधिक समय नमाज पढ़ने और धार्मिक कार्यों में लगाए। इस महीने का छब्बीसवाँ दिन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस दिन हजरत मुहम्मद को अल्लाह से कुरान मिली थी। इस दिन लोग नए कपड़े पहनते हैं, कुरान और नमाज पढ़ते है।(65)

ईद को मनाने से पूर्व रमजान के दौरान दान और दक्षिणा भी दी जाती है। त्यौहारों में दान–दक्षिणा की परंपरा हिंदू धर्म में भी है।

मुगल काल में रमज़ान की लंबी अवधि के बाद तोप दागकर तथा बिगुल बजाकर 'ईद–उल–फितर' की घोषणा की जाती थी। मोहम्मद फिरोज अपनी पुस्तक *मुस्लिम मानस और हिन्दी उपन्यास* में लिखते है इब्बनबतूता ने फिरोज तुगलक के द्वारा ईद मनाए जाने का रोचक वर्णन करते हुए, यह कहता है कि "सुल्तान इस अवसर पर अपने दरबारियों, कर्मचारियों तथा गुलामों को भी कीमती पोशाक दिया करता था।"(107)

5.3.4.2 बकरीद या ईद–उल–अज़हा

ईद के बाद बकरीद का त्यौहार भी मनाया जाता है। यह त्यौहार पूर्व पैगम्बर हजरत इब्राहिम एवं उनके पुत्र हजरत इस्माईल की याद में मनाया जाता है। श्याम चरण दुबे *भारतीय ग्राम* में लिखते हैः

हज़रत इब्राहिम ने ख्वाब में अल्लाह की ओर से हुक्म पाया था कि अपनी सबसे प्यारी वस्तु को अलहा की राह पर कुर्बान कर दो। उन्हें अपना पुत्र इस्माईल सबसे अधिक प्यारा था पर अल्लाह की इच्छा उस प्यारे पुत्र से कहीं अधिक महत्त्व रखती थी। उसी को दृष्टि में रखकर हज़रत इब्राहिम ने अपने पुत्र की कुर्बानी अल्लाह की राह में करना अच्छा समझा। जब उन्होंने अपने प्रिय पुत्र की कुर्बानी करने के लिए अपनी आँखों पर पट्टी बाँधी और पुत्र की गर्दन पर जैसे ही छुरी चलाई वैसे ही अल्लाह ने पुत्र के स्थान पर एक दुम्बा अवतरित कर दिया। हजरत इब्राहिम की यह परीक्षा थी, जिसमें वह खरे उतरे। इसी नजरिये से अल्लाह ने उनकी कुर्बानी को हमेशा के लिए एक स्मृति बनाया। प्रत्येक साल उसी दिन जानवरों की कुर्बानी के रूप में हजरत इब्राहिम की इस त्यागपूर्ण भावना को मनाया जाता है।(110)

इस्लाम के विश्वास के आधार पर यह त्यौहार जिल्हिज महीने के दसवें दिन मनाया जाता है। लोग सबेरे उठकर बिना कुछ नाश्ता किए, मस्जिद जाकर नमाज पढ़ते हैं :

घर लौटने पर वे खुदा के नाम पर बकरे की बलि देते हैं। नियम यह है कि परिवार के हर सदस्य के लिए एक बकरा काटा जाय, पर यदि वह आर्थिक दृष्टि से सम्भव न हो तो हर एक वयस्क के लिए एक बकरा काटा जाता है। वैसे यह भी कई गरीब परिवारों के लिए कठिन होता है और वे पूरे परिवार की ओर से केवल एक बकरे की बलि देते है। तब वे अपने मित्रों से मिलने और अभिवादन करने जाते हैं।(111)

5.3.4.3 शबे–बारात

शबे–बारात को 'शब–ए–कद्र' भी कहते हैं। शबन माह की यह पन्द्रहवीं रात को मनाया जाता है। शर्ब का अर्थ है 'रात' तथा बारात का अर्थ है 'बरी' किया जाना। इस प्रकार शबे–बारात का अर्थ खुदा के सामने अपने पापों से बरी के लिए प्रार्थना करना और अपनी गलतियों की क्षमा माँगना।

मुहम्मद फिरोज अपनी पुस्तक *मुस्लिम मानस और हिन्दी उपन्यास* में लिखते है :

इस रात को मुसलमान अपने मृत सम्बन्धियों को मिठाई और रोटी का श्राद्ध देते हैं। वे उनकी कब्रों पर जाकर फूल चढ़ाते हैं, और प्रार्थनाएं करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इस दिन मृत व्यक्तियों की आत्माएं अपने सम्बन्धियों से मिलने और उनसे भेंट प्राप्त करने के लिए आती हैं। बाद में सभी पुरूष और स्त्रियाँ प्रार्थनाएं करते हैं और अल्लाह से अपनी लम्बी उम्र के लिए दुआएं माँगते है। वे कुरान भी पढ़ते हैं।(107)

मुसलमानों में इस रात का खासा महत्व है, वे पूरी पूरी रात जागते है और यह मान्यता है कि उनके गुनाह माफ हो जाते है। कुल मिलाकर यह त्यौहार पूरी रात अल्लाह की आराधना में सिमटकर रह जाता है।

5.3.4.4 मुहर्रम

मुहर्रम शिया संप्रदाय के द्वारा हज़रत इमाम हुसैन की याद में मनाया जाता है। यह एक 'शोकोत्सव' है। इस त्यौहार के पीछे एक कथा प्रचलित है कि मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् खलीफाओं की परंपरा चली। ये खलीफा इस्लाम धर्म के प्रचार–प्रसार के साथ शासन का काम भी देखते थे। प्रथम खलीफा 'अबू बक्र' द्वितीय 'उमर', तृतीय 'उस्मान', और चौथे 'इमाम अली' थे। सिराज के. बहोरा अपनी पुस्तक *हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम समाज : आलोचनात्मक अनुशीलन* के कथनानुसार :

> इन खलीफाओं की मृत्यु के बाद हजरत अली के पुत्र हजरत हसर को खलीफा बनाया गया। लेकिन एक दूसरे व्यक्ति ने हसन की गद्दी हड़प ली और वह खलीफा बन बैठा। उसका नाम 'मुआविया' था। ..... खिलाफत तानाशाही के रूप में परिवर्तित होने लगी। ..... यहीं से इस्लामी राज्य का रूवरूप नष्ट होने लगा .....। मुआविया के इन्तेकाल के बाद उसका पुत्र यजीद शासक बना। उसके शासनकाल में बुराइयाँ, बदकारियाँ शुरू हो गई थी। वह चाहता था कि इमाम हुसैन भी उसे अपना बादशाह स्वीकार करें, किन्तु जब इमाम हुसैन ने ऐसा नहीं किया, तो उसकी सेनाओं ने 'कर्बला' नामक स्थान पर फरात नदी के किनारे उन्हें शहीद कर डाला।(60)

इस प्रकार यह त्यौहार मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुसैन तथा इनके साथियों की शहादत की याद में मनाया जाता है।

5.3.5 विधवा–विवाह

इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद ने स्वयं हजरत आमशा को छोड़ सभी निकाह केवल विधवाओं से ही किए। उन्होंने अपने अकृष्ट दाम्पत्य जीवन के उदाहरण से तत्कालीन अरब सभ्यता समाज में नारी की सामाजिक स्थिति को उन्नत किया है। सच तो यह है कि किसी भी युवा विधवा की युवावस्था ही नहीं बल्कि सारा जीवन बेसहारा, तन्हाइयों का गहवर बनकर मानसिक पीड़ादायक, सादगीयुक्त समाज के हर रोग से टूटकर बिखरता रहता है। उसकी बेकसी–बेबसी का संसार की कठिन डगर पर विषैले रिश्ते–नाते बेहरमी से नाजायज फायदा उठाते है। उसका जीना मुहाल कर देते हैं। यह भी संभव है कि युवा विधवा अपने आप से

बाहर निकलकर संपूर्ण समाज में अपनी हवस पूर्ति हेतु गंदगी फैलाये या आजीविका के लिए किसी भी व्यवसाय का सहारा ले जो असामाजिक, असभ्य हो। समाज की सुचारूता बनी रहेगी, अगर विवाह पुनः कर दिया जाए। "विधवाओं के लिए ताने कसना, उन्हें जलील करना ...बुरी बात ही नहीं बल्कि एक गुनाह है। विधवा विवाह करने वालों को घृणा की दृष्टि से देखने वाले कुफ्र का गुनाह करते हैं।"(60–61) खुद खुदा का यह हुक्म है। अपनी कौम की विधवा स्त्रियों के निकाह कर दिया करो, इतना ही नहीं नौकरों का भी निकाह कर दो चाहे वे मुकलिस की क्यों न हो।

5.3.6 धार्मिक मान्यताएँ

मुस्लिम समाज उस समय भयानक आडंबरों एवं कलीबाई युद्धों में जकड़ा हुआ था। लोग शराब पीकर गालियाँ देते थे। लड़कियों को जिंदा दफना देने के साथ ही जीना खोरी की परंपरा भी जोरों पर थी, बुतों की पूजा होती थी। इन्हीं सब बुराईयों आडम्बरों को दूर करने के लिए इस्लाम धर्म की कुछ मान्यताएँ तय की गई। जो निम्नलिखित है।

5.3.6.1 कलमा

कलमा के बगैर इस्लाम में प्रवेश नहीं होता यह मुसलमान की अनिवार्य मान्यता है। इस्लाम धर्म में एकेश्वरवाद पर बल दिया गया है तथा मूर्त्ति पूजा की सख्त मनाही है। सैयद अबुल अपनी पुस्तक *इस्लाम धर्म* में लिखते है "अल्लाह (ईश्वर) के सिवाय दूसरा और कोई पूज्य नहीं हैं। मुहम्मद साहब उनके रसूल हैं।"(66) जाफर रजा अपनी पुस्तक *इस्लाम सिद्धांत और स्वरूप* में लिखते है यह "कलमा इस्लाम की बुनियाद है। यहीं वह कलमा है जो मुस्लिम को गैर मुस्लिम से अलग करता है। 'कलमा' का विश्वास इस्लामी धर्म–सिद्धांत के सभी शाखाओं में सम्मिलित है।"(49)

5.3.6.2 नमाज

इसको 'सलात' भी कहते हैं। 'नमाज' का इस्लामिक धर्म सिद्धान्तों में खासा महत्व है। राहुल सांस्कृत्यायन अपनी पुस्तक *इस्लाम धर्म की रूपरेखा* में लिखते है, "नमाज का स्थान इस्लाम में वही है जो हिंदू धर्म में संध्या या ब्रह्म–यज्ञ का। यद्यपि कुरान में 'पंचगाना' या पाँच वक्त की नमाज का वर्णन कहीं नहीं आया है, वह एक प्रकार से सर्वमान्य है।"(50)

5.3.6.3 रोजा

इस्लाम धर्म में रोजा का विशिष्ट महत्व है। हमीदुल्ला अपनी पुस्तक *इस्लाम परिचय* में लिखते है, "एक मोमिन की धार्मिक जिम्मेदारी यह है कि वह रमजान के महीने भर तक रोजे

रखे। रोजा की अवधि में आदमी को काम–वासनाओं की तृप्ति के बारे में भी नहीं सोचना चाहिए।"(142)

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में रमजान के रोजों का वर्णन मिलता है – "रोजे के दिन थे। लोगों का विचार–विमर्श का मौका इफतार के बाद ही मिलता था। दिन भर तो वैसे ही कलेजा जलता था। शाम को पेट में चटपटी चीजों के जाते ही बुद्धी का द्वार खुलता था।"(74) यासमीन का उस दिन बारहवाँ रोजा था। वैसे शायद सत्रहवाँ या अठारवाँ था। बीच में मासिक धर्म की वजह से उसे अपना रोजा का महत्व यह कि इससे मनुष्य की आत्मा शुद्ध होती है, हदृय को सांसारिक बुराइयों से बचाया जाता है। रोज़ो के माध्यम से मनुष्य अपना आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास कर सकता है।

5.3.6.4 ज़कात

हमीदुल्ला अपनी पुस्तक *इस्लाम परिचय* में कहते है इस्लाम में जकात का अपना महत्व है। कुरान शरीफ में जकात के बारे में यह है कि प्रत्येक मुसलमान को अपनी वार्षिक आय का कुछ हिस्सा दान में देना अनिवार्य है। "यह जान लो, तुम्हें जिस वस्तु से लाभ प्राप्त हो, उसका पाँचवाँ भाग अल्लाह, रसूल, रसूल के परिवार जनों, पितृविहीनों, निर्धनों और परदेशी यात्रियों के लिए है।"(158) सय्यद अबल आला मौद्दी ने अपनी पुस्तक *मुस्लिम समाज जीवन और अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास* में लिखा है कि "दौलत की पूजा करने वाले और रूपये पर जान देने वाला लालची और कंजूस आदमी इस्लाम के किसी काम का नहीं।"(66)

5.3.6.5 हज़

मक्का और मदीना की तीर्थ यात्रा करना हज कहलाता है। यह मुस्लिम समाज का अनिवार्य तत्व होते हुए भी सामर्थ्यवान व्यक्ति के लिए उपयुक्त है। हज केवल उनके लिए है जो मक्का जाने का खर्च उठा सकते है। हज का अर्थ है 'तीर्थ दर्शन'। इस्लाम को मानने वालों के लिए मक्का और मदीना ही तीर्थ है।

हज यात्रा के संदर्भ में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वह जैसे ही मक्का के पवित्र क्षेत्र में पहुँचता है। उसे अपना आम दिनों वाला वस्त्र उतार कर एक विशेष वस्त्र धारण करना पड़ता है जिसे 'एहराम' कहते हैं। यह एहराम वस्त्र "भिक्षुक का वस्त्र है – चादर के दो टुकड़े, एक लुंगी बना, दूसरा कंधे से लपेट लिया और पाँव में चप्पल या जूते।"(66–67) यह वस्त्र केवल पुरूषों के लिए है स्त्रियों के लिए नहीं। वहाँ पहुँच कर हज़ यात्री नारा लगाते है कि 'ऐ मेरे

अल्लाह! मैं हाजिर हूँ। तेरा कोई भागीदार नहीं, मैं प्रस्तुत हूँ। सारी तकलीफ और नैअमतें तेरे लिए जेवा हैं। हुकूमत और बादशाही भी तेरा कोई भागीदार नहीं।"(67)

इस प्रकार इस्लाम की ये धार्मिक मान्यताएँ हिन्दू धर्म की मान्यताओं के काफी करीब हैं। रोजा या उपवास की प्रक्रिया हिंदू धर्म में भी है, जिसमें नवरात्रि का नौ दिन के व्रत है। इसी तरह तीर्थ यात्रा, दान देना (ज़कात), ईश्वर आराधना (नमाज) इत्यादि की प्रक्रिया हिंदू धर्म से मिलती–जुलती हैं। आज सांप्रदायिक विभाजन के दौर में इन बातों को रेखांकित किया जाना जरूरी है।

5.3.7 दरगाह, मन्नत, पीर पर विश्वास

वास्तविक रूप से देखा जाए तो इस्लाम 'एकेश्वर' में विश्वास रखता है। अल्लाह के सिवा दूसरा कोई पूज्यनीय नहीं है। लेकिन हम देखते है कि भारत में कोई 'पीर औलिया' की मजारें है, जिसे 'हम दरगाह' कहते है। लोग बड़े श्रद्धा भाव से दरगाह पर फूल, चादर चढ़ाने जाते हैं। यह सब भारतीय संस्कृति का मिला–जुला रूप है। पीर–औलिया में केवल मुस्लिम ही नहीं बल्कि हिंदू समाज भी बड़ी आस्था रखते हैं, वह सारे कृत्य करते हैं, जो दरगाह पर जाकर मुसलमान करते है। कहते हैं कि भारत में इस्लाम तलवार के दम पर आया लेकिन इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रसार में 'सूफी संतों' की अहम् भूमिका रही है।

आज 'दरगाह' और 'पीर औलिया' पर विश्वास रखने वाले कई श्रद्धालु हैं। वह नियमित रूप से जुमेरात के रोज दरगाह पर जाते हैं, जियारत करते हैं, फातेहा पढ़ते हैं और मन्नत भी माँगते है। अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में दरगाह का उल्लेख मिलता है। जैसे :

> संयोग देखो कि सर्वप्रथम मुझे ही जरूरत पड़ गई। दरअसल हमने अजमेर के ख्वाजा साहब की दरगात में एक मन्नत माँगी थी, जिसे उतारने के लिए वहाँ आना था। और तुम तो जानते ही हो कि उर्स के मौके पर अजमेर में कितनी भीड़–भाड़ होती है। देशभर के लोग वहाँ पहुँचते है। क्या शहर और क्या गाँव।(84)

5.3.8 शेरो–शायरी, मुशायरा, कव्वाली

मुस्लिम समाज में शादी ब्याह, मिलाद–वाद आदि मौकों पर मुशायरा या कव्वाली का आयोजन किया जाता है। शेरो–शायरी तथा कव्वाली मुस्लिम समाज के सांस्कृतिक पक्ष का खास आकर्षण है। डॉ० बाबा रसूल शेक *मुस्लिम समाज जीवन और अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास* के शब्दों में – "उर्स में एक हफ्ता पहले ही मजारवाली बगीया को साफ कर दिया

गया था। मजार को चूने से पोता गया था। और इलाहाबाद से एक कव्वाले को तय करके बयाना–बटठा कर लिया गया था।"(38)

5.3.9 रहन–सहन, पहनावा

रहन–सहन एवं पहनावा की स्थिति में मुस्लिम समाज में आज भी काफी पिछड़ापन दिखाई देता है। जिनमें व्यापक सुधारों की आवश्यकता है। बहुत जगहों पर तो स्थितियाँ घृणास्पद भी रही है। इसके अनेक कारण हैं। यथा–शिक्षा से वंचित रहना, आर्थिक बदहाली, सामाजिक भेदभाव इत्यादि। आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण एक तरफ तो उनके लिए बेहतर जीवन स्तर हेतु साधन जुटा पाना ही संभव नहीं है। वहीं दूसरी तरफ समाज व्यवस्था प्राचीन निर्माताओं ने उनकी निम्नस्तरीय जीवन व्यवस्था के उपाय करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

मुस्लिम समाज में पुरूष शलवार–कमीज, पाजमा–कुरता और शेरवानी पहनते है। सिर पर टोपी पहनी जाती है। औरतों का भी लिबास तरह–तरह का रहा है। शलवार–कमीज, चुस्त पाजमा–कुरता, शरारा, प्लाजा और इन वस्त्रों के ऊपर काले रंग का सिला कपड़ा जिसे 'बुरका' कहा जाता है। जो मुँह से लेकर, पाँव तक पूरे शरीर को ढाँपता है। पहले सुंदर–सुंदर रंगों के चुने हुए, गोटा लगे और कढ़ाई किए हुए दुपट्टे–ओढ़ने का फैशन बहुत था।

5.3.10 प्रथा एवं परम्पराएँ

प्रथाएँ, परम्पराएँ, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ आदि अनेक तत्व संस्कृति में घुले–मिले होते हैं जो एक दीर्घकाल से समाज में चले आ रहे है। ये तत्व अपने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों की रूपों में समाज पर विशेष प्रभाव डालते हैं। एक तरफ मनुष्य सकारात्मक तत्वों का सहजता से अनुसरण करता है, वहीं अनेक नकारात्मक तत्वों को भी वह अपने साथ चिपकाए रखता है। केवल इसलिए, कि इनका संबंध उनके पूर्वजों से रहा है। दलित समाज का सांस्कृतिक पक्ष का वर्णन इस प्रकार से हैः

5.4 ग्राम्य जीवन के दलित समाज का सांस्कृतिक पक्ष

प्राचीनकाल में वर्ण–व्यवस्था का प्रारम्भ कार्य आधारित हुआ था। शनैः शनैः इसका आकार वर्ण–वर्ग भेद को बढ़ाता हुआ जातिगत बन गया। इसी जातिय व्यवस्था के चार वर्गों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में मनुष्य का विभाजन कर दिया। इस व्यवस्था ने चौथे वर्ग

को तो समाज से पृथक कर दिया। उन्हें सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से कमजोर कर दिया व पशु से भी बदतर जीवन बना दिया।

5.4.1 देवी–देवता

धर्म का ढोंगीपन, नीतिमूल्य एवं जीवन मूल्य इतने खोखले रहे है कि मनुष्य इतना स्वार्थी हो गया कि, वह हर चीज की तरह धर्म को भी अपने स्वार्थ के लिए उसका रूप बिगाड़कर उसे विकृत बना देता है। आज धर्म का तो अस्तित्व समाप्त होने की कगार पर है। आज का धर्म व्यक्ति की अंतरात्मा से ज्यादा उसकी जाति से जुड़ा हुआ है। जो सबसे घातक है। जाति के नाम पर बहकाकर अधर्म किया जा रहा है। इसी संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि *जूठन* में अपने समाज की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते है :

> भूत प्रेत की छापाओं के प्रति पूरी बस्ती में अजीब माहौल था। जरा भी किसी की तबीयत खराब होती तो डॉक्टर के बजाए किसी भगत को बुलाया जाता था। भगत के शरीर में देवी–देवता प्रकट हो जाने पर बीमार को दिखाया जाता था। अकसर किसी भूत का जिक्र करके भगत भूत पकड़ने की क्रियाएँ करता था। जिसके बदले में देवी–देवताओं पर सूअर, मुर्गे, बकरे और शराब चढ़ाई जाती थी। प्रत्येक घर में उन देवताओं की पूजा होती थी। ये देवता हिंदू देवी–देवताओं से अलग होते हैं, जिनके नाम किसी पोथी–पुराण में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेंगे। लेकिन किसी भी ऐसे परिवार में चले जाइए जिनका संबंध इस बिरादरी से है, वहाँ इन देवी–देवताओं की पूजा देखने को मिलेगी। जन्म हो या कोई शुभ कार्य, शादी–विवाह या मृत्यु–भोज। इन देवी–देवताओं की पूजा के बिना अधूरा है।(37)

वाल्मीकि जी आगे अपने समाज के देवताओं के बारे में लिखते हैं कि इन देवताओं को 'पौन' कहा जाता था। कलवा, हरि सिंह, नलवा विशिष्ट और बड़े पौन है, जो ज्यादातर परिवारों में पूजे जाते हैं। कई देवियाँ भी हैं जिनमें माई मदारन उल्लेखनीय है।

कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिंदू थे, लेकिन किसी हिन्दू देवी–देवताओं की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण नहीं, जहारपीर की पूजा होती थी या फिर पौन पूजे जाते थे। वो भी अष्टमी को नहीं, नवमी के ब्रह्म मुहुर्त में।

इसी प्रकार दिपावली पर लक्ष्मी पूजन नहीं, माई मदारन के नाम पर सूअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कड़ाही की जाती है। कड़ाही यानी हलवा–पूरी का भोग लगाया जाता है। इस तरह त्यौहार कोई भी हो, पूजा इन्हीं देवी–देवताओं की होती है।"(53)

वाल्मीकि जी लिखते है कि "मंदिर में आषाढ़ के महीने में विशेष पूजा होती थी जिसका इंतजार हमारी बस्ती के लोग पूरे वर्ष करते थे। मंदिर में चढ़ाने वाला चढ़ावा बस्ती के लोग ही लोते थे। चढ़ावे में होते थे कपड़े, चुनरियाँ, चूड़ियाँ, पैसे, पूरी, मालपुए, हलवा, पताशे, कभी–कभार एक आध चाँदी का छल्ला या अँगूठी जिसे लेकर बस्ती के लोगों में मारपीट भी हो जाती थी।"(57)

5.4.2 खान–पान

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने समाज की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए लिखते है :

> शादी–ब्याह के मौको पर, जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजों के बाहर बड़े–बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। बारात का खाना खा चूकने पर पतले उन टोकरों में डाल दी जाती थी जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इक्कट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे–खुचे टुकड़े, एक आधा मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी–बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बाछें खिल जाती थीं। जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी।(59)

वाल्मीकि जी आगे अपने समाज के बच्चों की दयनीय स्थिति बताते हुए लिखते है :

> बस्ती के पास जुलाहों के घर थे। शादी–ब्याह के मौकों पर जब उनके घरों में दाल–चावल बनते थे, तो हमारी बस्ती के बच्चे बर्तन लेकर माँड लेने दौड़ पड़ते थे। फेंक दिया जाने वाला माँड हमारे लिए गाय के दूध से ज्यादा मूल्यवान था ..... माँड़ पीने की यह आदत किसी शौक या फैशन की देन नहीं थी। अभावों और फाकों से बचने की मजबूरी थी। फेंक देने वाली चीज हमारी भूख मिटाने वाली थी।(59–60)

5.4.3 शिक्षा–दीक्षा

माता प्रसाद *झोपड़ी से राजभवन तक* में लिखा है "डॉ० अम्बेडकर ने दलित समाज को शिक्षित बनो, संगठित बनो, संघर्ष करो। का मूलमंत्र दिया जिससे जागृत होकर दलित समाज में शिक्षा की ओर अपने कदम बढ़ाये है। आज दलित समाज शिक्षा के क्षेत्र में जागृत हो गया है और वह उच्च शिक्षा को भी प्राप्त कर रहा है।"(35)

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की आधारशिला होती है। शिक्षा हमें अन्धकार, रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा अज्ञान से मुक्ति दिलाती है और सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। जिनके घर में माता–पिता जागृत है, वह अपने बच्चों को शिक्षा का महत्व समझाकर उन्हें पढ़ाते है। वाल्मीकि के पिता शिक्षा के प्रति जागृत है। इसलिए वे अपने बच्चे को पढ़ाने के लिए शिक्षकों

से भी संघर्ष कर लेते है। और वाल्मीकि जी हमेशा कहते है कि पढ़ लिखकर अपनी जाति सुधारो। अरूण कुमार *आधुनिक शिक्षा एवं दलित* में लिखते है – "अच्छी शिक्षा अच्छे समाज का निर्माण करती है, दूसरी ओर अच्छा समाज भी अच्छी शिक्षा व्यवस्था प्रतिरूपित करता है।"(3) वही सुखदेव थोराट अपनी पुस्तक *शिक्षा व्यवस्था और दलित समाज* में कहते है कि :

> आजादी से पहले की सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि दलित समाज के लोगों को शिक्षा का अधिकार नहीं था, इसके बाद अंग्रेजों के शासनकाल में स्थितियाँ कुछ बदलीं और एक मुक्त शिक्षा व्यवस्था लागू हुई, इससे कुछ लोगों को लाभ मिला।(14)

वही आज की दलित शिक्षा व्यवस्था पर नजर डाले तो साफ–साफ समाचार पत्रों में छपा कि *क्यों दलितों और सवर्णों के बीच टकराव बढ़ने की आंशका है* :

जब कामकाजी दफ्तरों और शैक्षणिक संस्थानों में जातिगत आधार पर भेदभाव के मामले सामने आ रहे हैं, उसी समय में भारत के दलित युवा भेदभाव वाली पंरपराओं को चुनौती भी दे रहे हैं।

जूठन के कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि को शिक्षा के लिए कई संघर्ष करने पड़े है। वे पहले मोहल्ले के सेवकराम से अक्षरज्ञान प्राप्त करते हैं। पर उनसे उनके पिताजी की कुछ खटपट हो जाने से उन्हें उनके पिताजी बेसिक प्राइमरी स्कूल लेकर जाते हैं। वहाँ भी प्रवेश के लिये उनके पिता जी मास्टर हरफूल सिहँ के सामने गिड़गिड़ाते है – "मास्टर जी, थारी मेहरबानी हो जागी तो म्हारे इस जाकत (बच्चा) कू बी दो अक्षर सिखा देंगे।"(13)

लेकिन *जूठन* में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी को उनके पिता हमेशा शिक्षित होकर जाति सुधारने की प्रेरणा देते है। 'जूठन' में उन्होंने अपने छात्र जीवन का विस्तृत वर्णन किया है। बात–बात पर चूहड़े कहकर उन्हें पुकारना, हैंडपंप छूने पर सजा मिलना, हैडमास्टर की कक्षा में झाड़ू लगवाना, लात–घूसों से मारना, विद्यालय के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से दूर रखना, रसायनशास्त्र के शिक्षक का इंटर के प्रैक्टिकल और मौखिक परीक्षा में जान–बूझकर फेल करना आदि संघर्ष करते हुए लेखक पढ़ते है।

5.4.4 सामाजिक सम्मान

दलित समाज अपने मान–सम्मान के क्षेत्र में जागृत हुआ है। सदियों से घृणा, अपमान का पात्र यह समाज बना हुआ था। जाति के आधार पर किसी मानव का अपमान केवल भारत देश में ही देखने को मिला है। किसी अन्य देश में नहीं। सब से बड़ी बात यह है अपने ही देश

के लोगों का अपने ही देश के लोगों के प्रति हीनता का भाव, हिराकत की नजरों से आज भी दलित समाज को देखा जाता है। वाल्मीकि जी इस संदर्भ में लिखते है :

> जाति ही जहाँ मान–सम्मान के लिए महत्वपूर्ण कारक हो, वहाँ यह लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है। लगातार विरोध और संघर्ष की चेतना चाहिए जो मात्र बाह्य ही नहीं, आंतरिक परिवर्तनगामी भी हो, जो सामाजिक बदलाव को दिशा दे।(57)

जातिगत व्यवस्था के चलते सवर्ण समाज ने दलित समाज को अपने नियंत्रण में रखा। ताकि कोई भी दलित सवर्ण की बराबरी ना कर सके। सवर्णो द्वारा दिया गया अपमान इन्हें जन्म से लेकर मृत्यु तक भोगना ही पड़ता। लेकिन यह अपमान का घूँट कब तक पिया जाता? पूरे भारतीय समाज को जागृत करने के लिए दलित अपनी अस्मिता, अपने स्वमान के लिए खुद आगे आए। वे अपनी पहचान के लिए अपने मान–सम्मान के लिए संघर्ष करके आगे आए हैं।

5.4.5 परिश्रमी कार्य

जीवन में परिश्रम का विशेष महत्त्व है। परिश्रम वह कुंजी है जो भाग्य के बंद दरवाजे भी खोल देती है। परिश्रम ही जीवन की सफलता का रहस्य है। परिश्रम से व्यक्ति समाज का निर्माण करता है। दलित समाज सदियों से ही परिश्रम करता रहा हैं लेकिन उसे अपने परिश्रम का महत्त्व ही पता नहीं था। लेकिन जब उसमें चेतना का संचार हुआ तब उसने अपने परिश्रम की महत्ता समझी।

सवर्ण समाज ने दलित समाज से मेहनत–मजदूरी करा कर उनसे अधिक परिश्रम करवाया और उनके परिश्रम का पूर्ण मूल्य भी उसे अदा नहीं किया। इसलिए सवर्ण पीढ़ी–दर–पीढ़ी धनवान होता गया और दलित पीढ़ी–दर–पीढ़ी विपन्नता की खाई में गिरता रहा। लेकिन समय बदला है और दलित समाज में सभी क्षेत्रों में जागृति आयी है इसके साथ–साथ परिश्रम के क्षेत्र में उसने परिश्रम को पहचाना। परिश्रम कर व्यक्ति कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। इसका अनुभव हो रहा है। अब वह अपने परिश्रम का पूर्ण मूल्य समझ चुका है।

5.4.6 अंधविश्वास

भारतीय समाज में अंधविश्वास एवं रूढ़िगत मान्यताएँ सदियों से व्याप्त है। उससे भी दलित समाज कभी अछूता नहीं रहा है। आज भी परिवार में किसी के बीमार होने पर, संतान प्राप्ति के लिए घर पर ओझा को बुलाया जाता है, जो तंत्र–मंत्र से कई दुख–दर्द दूर करने का ढ़ोंग करता है। कई बार तो उसके लिए निर्दोष मूक जानवरों की बलि भी दी जाती है। माता

प्रसाद *झोपड़ी से राजभवन* में अपने समाज में व्याप्त अंधविश्वास को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते है :

> उस समय हमारी बिरादरी में मारे हुए पशुओं के मांस खाने का रिवाज था। लोग अपने बच्चों की पढ़ने नहीं भेजते थे। घर में भूत–प्रेत की बड़ी मान्यता थी। झाड़–फूंक में विश्वास अधिक था। देवी–देवता को छौना (सूअर का बच्चा) काटा जाता। शराब और ताड़ी का चलन जोरों से था। पहलवान देवी की कब्र पूजा होती थी। अन्धविश्वास ही में लोग जीते थे।(47)

इस प्रकार हिन्दी दलित कथाकारों ने अपने समाज की धार्मिक स्थिति का वर्णन किया है। जिसमें धार्मिक आस्था के कारण दलितों ने अपने भगवान् बना लिए जिनकी वे पूजा करते आये। इस पूजा के साथ–साथ अंधश्रद्धा के फलस्वरूप पशु–बलि कार्य भी करते रहे। इसके अलावा लगभग सभी कथाकार बताते है कि समाज में सभी भूत–प्रेत पर विश्वास करते रहे हैं एवं ओझा या भगत इसका फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करते रहे है। दलित समाज के उद्धारक बाबा साहेब ने कहा था कि "हिन्दू धर्म में जन्म लेना मेरे बस की बात नहीं थी। किन्तु मैं हिन्दू रहकर मरूँगा नहीं, यह मेरे बस में है एवं उन्होंने बौद्धधर्म को स्वीकार किया।"

5.5 ग्राम्य जीवन के मेले व त्यौहार

मेलों का हमारे सांस्कृतिक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। इन मेलों में एक जगह पर ही हम विभिन्न संस्कृतियों को मिलते हुए देखते हैं। अतः मेले भावात्मक एकता का प्रतीक भी है। मेले गाँव की संस्कृति से अभिन्न रूप में जुड़े होते हैं। त्यौहारों, पर्वो तथा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अवसरों पर मेले आयोजित किये जाते है। आज "भारतीय ग्रामीण मेलों में सामाजिकता एवं सामूहिकता के स्थान पर वैयक्तिकता तथा ईर्ष्या की भावना समाविष्ट होती जा रही है।(59) मेलों का आकर्षण आजकल दिन प्रतिदिन घटता रहा है। मेलों की भीड़ के बीच आज सामूहिकता के स्थान पर बिखराव भी दिखाई दे रहा है। आज मेलों में गुण्ड़ागर्दी और लड़कियों से छेड़खानी एक साधारण सी बात बन गयी है।

मेलों की तरह त्यौहार भी भारतीय लोक जीवन का विशिष्ट अंग हैं। भारतीय धर्म साधना के परिवेश में वर्ष भर अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं। ये भारतीयों के आचार–व्यवहार, रहन–सहन, खान–पान, वेश–भूषा, लोक विश्वास तथा कर्म काण्ड़ों के परिचालक हैं। त्यौहार अपने देश की संस्कृति के पोषक होते हैं। प्रत्येक त्यौहार के पीछे कोई न कोई पौराणिक आख्यान है। भारतीय त्यौहारों में होली, दशहरा, दीवाली और रक्षाबंधन का विशेष महत्व है।

इसके अतिरिक्त जन्माष्टमी, रामनवमी, मकर सक्रान्ति, शिवरात्रि, दुर्गापूजा आदि त्यौहारों का महत्व भी कम नहीं।

चाक उपन्यास में बसंत पंचमी मेले का वर्णन है। इसमें होली से जुड़े छोटी–छोटी लड़कियों में एक रिवाज का वर्णन किया गया है। होली के चार पाँच दिन पहले से छोटी–छोटी लड़कियाँ अपने आँगन सजाती है। भंवर की छोटी बहन घरघूली बनाकर श्रीधर को दिखाती है। पंचरंग से घरघुली बनाते है। जब होलिका की जलन होती है तब सिंगाड़े जैसी घरघुली को भी जलाती है। उस समय सब बालक अपनी अम्मा, भाभी, चाचियों के संग गेहूँ और जौ की बाले भूनेंगे।

औरतें करवाचौथ का व्रत रखती हैं। एक जमाने में जाटों में करवाचौथ नहीं मनायी जाती थी। 'चाक' में अतरपुर ग्राम की पृष्ठभूमि पर करवाचौथ को लेकर गाँव की स्त्रियों के पति की प्रतिष्ठा का वर्णन मिलता है। जब बहुएँ, लड़कियाँ, अलिगढ़, हाथरस में जाकर सिनेमा ठेठर देखने लगी है, तब से इसका अनुसरण होने लगा। करवाचौथ से दीवाली तक पूरे बारह दिन हैं। दिवाली के दिन घर आँगन लीपते है। चौका–चूल्हा सहेजते है। पूरी पकवान का दिन है दिवाली। दिवाली के अवसर पर गाँव में लोकनृत्य भी होता है।

ग्राम जीवन में त्यौहारों का बहुत बड़ा स्थान है। पंजाब में बैशाखी और लोहड़ी दोनों प्रसिद्ध है। बैशाखी फसल का त्यौहार है, जो कटाई के आरंभ का सूचक है। लोहड़ी शीतकाल के अंत का प्रतीक है। हर त्यौहार की कुछ रीतियाँ है। त्रिकला उतरते ही गाँव में लोहड़ी की गहमा–गहमी मच जाती है। नवरात्रि में घर–घर जौं और कनक की खेती बोकर नहा–धोकर दरिया पर स्नान कर औरत आलों में मिट्टी बिछा बीज बोती है। ईद और दशहरे की तिथियों के आने के पहले ही सब के दिल उत्साह से भर जाते हैं।

इस प्रकार मेलो और त्यौहारों का भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न त्यौहारों पर लगने वाले मेले ग्रामीण संस्कृति को ही अभिव्यक्त करते है। इन मेलों में दूर–दूर गाँव के लोग मिलते–जुलते है, गाते–बजाते हैं। आंचलिक उपन्यासकारों ने मेलो के चित्रण द्वारा गाँव की सामूहिकता को अभिव्यक्त किया है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद वर्तमान तक आते–आते ग्रामीणों की बदली मानसिकता का रूप स्पष्ट नजर आता है। आज मेले अपना परपंरागत स्वरूप खोकर गुंडई के क्षेत्र बनकर रह गया है। मेलों के प्रति धार्मिकता नष्ट हो गई है। ग्राम जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं, विषमताओं और समस्याओं ने मेलों के राग–रंग को फीका कर दिया है। त्यौहारों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। हमारे देश के अधिकांश पर्व एवं त्यौहार हमारे कृषि तंत्र के साथ सम्बद्ध है। गाँवो में त्यौहार पहले उमंग और उल्लास के साथ

मनाये जाते थे, लेकिन अब यह उल्लास और उमंग धीरे–धीरे क्षीण होती जा रही है। होली, दीपावली, ईद, मेले, जयंती आदि सांप्रदायिक झगड़ों के स्त्रोत बन गये हैं। फिर भी जन–जन का उनके साथ जुड़ाव और त्यौहार मनाने की आस्था अद्‌भुत है।

5.6 ग्राम्य जीवन में प्रचलित लोकगीत

लोकगीत मानव मन की अनुभूतियों एवं विषय वैविध्य के अलंकरण से मंण्डित है। लोकगीत मानव मन की अनुभूतियों की सरस, रागात्मक, अभिव्यंजना का लंयात्मक उपहार है। लोकगीत कलम–कागज जीवी नहीं वरन कष्ठ जीवी है। ग्राम्य जीवन में प्रचलित कुछ लोकगीत इस प्रकार दृष्टव्य है।

बच्चे के जन्म का गीत

चाक" राजा हो मेरे राजा, अरे तुम महाराजा नहों, राजा हमें है तिलरिया की सार तिलरि गढ़वाओ, चुनरि रंगवाओ नहीं .... रानी हो मेरी रानी, अरे तुम महारानी न हो,"(214)

फसल का गीत

मै तौ रारौ, मै तो रारौ, बुबाऊँगी ऐसे ऐसे। मोय दाऊ की सों ऐसे।

मैं तो झिनमा, मैं तो सिनमा बूबाऊँगी ऐसे–ऐसे मोय दाऊ की सों ऐसे।(237)

सावन के गीत

"चंदा की चाँदनी मोरिला रैन उजियार,

राजा की रानी पानी नीकरी जा,

हट हट जा रहे मोरिला भरतिन दे नीर,

मो घर सास दुसावटी जी(246)

आल्हा के गीत

धुआँ उड़ानों आसमान में, सबिता रहे धुंध में छाय।

लानत तुम्हारी रजपूती पर, तेगा बँधिव को बेकार।

जो गीत की नहीं तुम मोहबे में सो गीत करो तुम्हारी आज।(205)

देशभक्ति का गीत

माँग रहा है हिन्दुस्तान,

रोटी, कपड़ा और मकान।

सोशलिस्ट पार्टी का ऐलान,

मत देना दस लगान।(190)

चन्द्रावल गूजरी की कथा गीत

बाबल तेरे देश में मेवाती कवि सादी द्वारा रचित कृष्ण और चन्द्रावल की कथा को 'चन्द्रावल गूजरी की बात' नाम से जाना जाता है। निराशा के क्षणों में यह कथा लोगों में आहलाद एवं रोमांच पैदा करती है :

मुख दरपन में देख, नैनन बीच कजरा डारो

ऐसी वणी मूलक, झलक जोबन पे मारो

नख बेसर नदा बेसर नख पहर के, मोती लीनो डार(196)

.....

माथा की बिंदी हड़ी, गल को झटको हार

गूजरी लूटी श्याम ने, वाको फीको करो सिंगार

कोई उतारे मटकिया, काई न झटकी चीर

अंगिया फाड़ी श्याम ने, कर दी छोटी–छोटी लीर।(197)

5.7 ग्रामीण वेश–भूषा

वस्त्राभूषण प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषता रखती है। ग्राम्य समाज को खान–पान, वेश–भूषा, रहन–सहन आदि बातें शहरी समाज से अलग करती है।

वस्त्रों का प्रयोग दो रूपों में होता है। निचले भाग को ढ़कने वाला वस्त्र अधोवस्त्र कहलाते है; जबकि शरीर के ऊपरी भाग में पहने जाने वाले वस्त्रों को अधिवास कहा जाता है। उत्तर भारत के पुरूषों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले अधोवस्त्र में धोती और पायजामा प्रमुख है। अधोवस्त्र के रूप में हिंदू स्त्रियाँ धोती, साड़ी तथा लहँगा, सलवार आदि पहनती है। पुरूषों के वस्त्रों में कुर्ता, झंगा, जामा, नीमा, पगड़ी आदि प्रमुख है। कुर्ता गले से लेकर जाँघ तक लटकता था, हिन्दू लोग कुर्ता को बन्द बायीं ओर लगाते है। झंगा, अँगरखे की तरह का एक वस्त्र था। जिसकी कमर पर चुन्नट होती थी। पजामा ढ़ीला–ढ़ाला होता है जो चारों ओर से लटकता रहता है। पगड़ी का प्रचलन भी हम इस जमाने में देख सकते हैं। साधारण लोग जैसे कृषक व व्यापारी पुरूष ढ़ीली पगड़ी बाँधते है। इसे साफा पगड़ी कहा जाता है। प्रायः सभी

श्रेणी के लोग पगड़ी या साफा बाँधते है। स्त्रियों के अधिवास वस्त्रों में अँगिया, चोला, कुर्ती, अँगिया कुर्ती, शूट और दुपट्टा आदि प्रमुख वस्त्र है। दुपट्टा सिर्फ स्त्रियाँ ही उपयोग करती है और शाल का प्रयोग स्त्री–पुरूष दोनों द्वारा किया जाता है। ऋतुएँ बदलने के साथ पहनावा भी बदलने लगता है।

5.8 ग्रामीण खान–पान

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान तथा अन्न उत्पादन में अग्रण्य देश रहा है। कई प्रकार के अनाजों का उत्पादन यहाँ होता है। इनमें गेहूं, जौ, धान, चना, मोठ, मसूर, मक्का, ज्वार, उरद, मूँग, तिल, मटर, सरसों, सोयाबीन, कांगुनी, कोदो, साँग, आलू, प्याज व लगभग सभी तरह की सब्जियाँ उल्लेखनीय है। इन विभिन्न अनाजों से अनेक प्रकार के व्यंजन बनाते है गाँव के लोग।

मैत्रेयी पुष्पा के *चाक* उपन्यास में भारतीय गाँवों के एक परिवार के खान पान का उल्लेख इस प्रकार है सारंग ने पूरियाँ सेंक दी। कचौरियाँ बना दी। आलू का साग छौक दिया। सारंग अपने पति और बेटे को खाने की थालियाँ परोसने लगती है। उड़द की दाल, आलू का साग, हलुआ, दही–बूरा, और संग में घी की कटोरी। वही एक जगह एक अन्य परिवार में खान–पान का वर्णन है रसोईदारिन ईसुरी से पूछती है – आज हम कलेव में पराठे नई ज्वार की मथेरी (दलिया) बनाहे। वही ग्रामीण लोग पशुपालन करते है तो गाँवों में दूध, दही, घी, लस्सी उचित मात्रा में मिल जाता है। गाँवों में लस्सी को लेकर एक कहावत है कि "लस्सी और लड़ाई बढ़ाने में क्या देर लगती है।" विवाह शादियों के अवसर पर ही ग्रामीण घरों में मिठाई प्रायः घर के दूध, घी से ही तैयार करवाई जाती है।

उपन्यास में एक जगह कहा गया है कि श्रीधर को देखने पर सारंग हमेशा रसोई का ही ध्यान आता है, वह श्रीधर के लिए बड़े प्यार से बाजरा का भात, कठी और रसखीर बनाती है। होली के दिन गाँव के लोग गूँझा बनाते है और दीवाली के दिन तरह–तरह की मिठाई बनाते है। लेकिन आजकल गाँवों का शहरों से तालमेल बढ़ने के कारण शहरी वस्तुओं का आयात भी ग्रामीण घरों में बढ़ने लगा है जो भूमण्डलीकरण का एक अच्छा उदाहरण है। गाँव मे पहले प्रायः हम घर में लकड़ी चूल्हे व तंदूर अनिवार्य हुआ करते थे लेकिन अब गैस–सिलेंडर गाँव के घरों में अपनी जगह बना चुका है।

5.9 ग्रामीण रीति–रिवाज

किसी व्यक्ति या समाज के जीवन निर्वाह का ढ़ंग उसके रीति–रिवाज के अन्तर्गत आता है। इस दृष्टि से गाँवों में लोगों का रहन–सहन का ढ़ंग अपनी विशिष्ट पहचान रखता

है। ग्रामीण जीवन में अनेक रीति–रिवाज है जिन्हें ग्रामीण पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित करते आ रहे है।

जब गाँव में मृत्यु होती है तब उससे जुड़े अनेक रिवाज होते हैं। मृत्यु के बाद घर की औरतें मलिन ओढ़नियाँ ओढ़ती है क्योंकि वर्षापर्यन्त नया पल्ला सिर पर रखने का प्रतिषेध था। ताकि प्रकट हो कि घर में कोई मौत हुई है मृत्यु के बारहवें दिन बछी खड़ी करने का रिवाज जिसके बाद परिवार के सदस्यों अपने नियमित दिनचर्या के कार्य फिर से आरम्भ करते है। पत्नी की मृत्यु पर पति का रोना असहज व्यवहार माना जाता था और निपट अस्वाभाविक थी। इसलिए पत्नी की मृत्यु पर पति रोता नहीं, बल्कि दुखों को मन के अन्दर दबाकर रखता है।

बच्चों को लेकर भी गाँवों में आज भी काफी रीति–रिवाज है बच्चे का मुंडन करना (तीन माह के बाद), स्त्रियों का इस मुण्डन पर गीत गाना। प्रसूति के तेहरवा दिन सूत निकालने की प्रथा है। उस दिन प्रसूति स्त्री के बर्तन बदले जाते है। बच्चे के जन्म के सवा महीने तक बच्चे की माँ घर से बाहर नहीं निकलती इत्यादि।

वैशाखी के दिन हर किसान के घर में खीर–हलवा–चुरमा बनाते हैं। गाँवों में घर की बनावट एक–एक व्यक्ति की हैसियत और आर्थिक दृष्टि से बनी होती है। गाँवो के प्राचीन घरों में अब भी विरासत दिखाई पड़ती है जहाँ दिवारों की चौड़ाई आम से अधिक मिलती है।

अतिथि सत्कार की भावना उसके सच्चे रूप में गाँव में ही हम देख सकते हैं। अतिथि देवो भवः आदर्श को मानने वाले भारतीय का सच्चा मित्र गाँव के लोगों का है। घर के द्वार पर आने वाले लोगों का अता पता पूछने से पहले उनका सत्कार किया जाता है। गाँव में किसी के घर कोई मेहमान आता है तो वह अपने जान–पहचान के सभी घरों में जाकर आता है जहाँ प्रायः उनके लड़के, लड़कियाँ, बहने व गाँवों की लड़की विवाहित हो। हर गाँव के बीच एक चौपाल का निर्माण हुआ होता है जहाँ पर सभी इकट्ठे होते रहते है। यह चौपाल हर व्यक्ति के लिए दुख सुख का सांझा आँगन होता है।

पहले तो गाँव में गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा, सूखा और बाढ़ के अलावा कुछ नहीं था। लेकिन अब ऐसा नहीं रहा है। लड़के अफसर हो गये है, पक्के मकान बन गये है, गली–गली में टयूबेल पड़ गये है, हरिजन टोली भी अब वह नहीं रही वे अब किसी के वश में नहीं रहे।

5.10 ग्रामीण लोक–कथाएँ

लोक कथा का कोई एक कर्त्ता नहीं होता। मौखिक परंपरा के चलने वाली निवेदन प्रधान गद्य कहानी अर्थात् लोककथा है। लोक कथा में दंत कथा, पुराण कथा, परी कथा, नवल कथा, हास्य कथा, वीर कथा, विनोद इत्यादि प्रकार के होते हैं।

पशु–पक्षियों की कहानी नीति कथा व्रत के समय बताई जाने वाली कहानियाँ लोक कथा के अंतर्गत ही आती है। अंग्रेजी में इसे 'फोकटेल' कहा जाता है। समाज में प्रचलित श्रद्धा, रूढ़ि, परंपरा जो विश्वास आदि से युक्त सामग्री लोककथा में होती है। ग्राम्य जीवन में प्रचलित पीढ़ी–दर–पीढ़ी की कुछ लोक कथाएँ इस प्रकार से है :

दुनिया की रीत सच्ची के झूठी की कथा

एक बाग में एक लड़का रहता था। उसकी छोटी बहन भी साथ रहती थी। दोनों के माँ–बाप मर चुके थे। लड़का आम–जामुन के पेड़ों के नीचे से फल बीनता, बहन उन्हें टोकरी में रखकर बाजार में बेचने जाती। मजे में दिन कट रहे थ। एक दिन क्या हुआ कि बहन ने बाजार में एक दुल्हन देखी। भोली, सुन्दर गुड़िया सी दुल्हन। रंगीन कपड़े पहने हुए वह आम खरीदने में अपने दुल्हा का हाथ बंटा रही थी। बहन को बड़ा अच्छा लगा। उसने बाग में आकर अपने भाई से कहा भाई–भाई ब्याह कर लो। आम वाला कह रहा था, मेरी भाभी आ जाएगी, काम में हाथ बंटाएगी। बातें करेगी, मन लगाएंगी। संग में घर बाजार आ जाएगी। कितना अच्छा होगा। 'बहन की बातें टाले कैसे ? भाई ने अच्छी से लड़की देखकर ब्याह कर लिया। भाभी आ गयी। वह भाई के संग–संग लगी डोलती। बहन से भी बातें करती। खूब मेल चल रहा था। थोड़े दिन बाद भाभी का व्यवहार बदलने लगा। उसने भाई से कहा – तुम्हारी बहन कब तक हमारी छाती पर रहेगी? इसका ब्याह करो। अपने घर जाए दुनिया की रीति यही है। ऐसी बातें सुनकर भाई उदास हो गया। बहन से बोलना चाहे तो घरवाली रूठे। बहन भी उदास रहने लगी, भइया उसे किस बात की सजा दे रहा है ? अपनी उदासी का कारण कहे तो किससे कहे ? इस बाग में भईया–भाभी के अलावा उसका कोई नहीं। दुखी थी, अकेली थी सो रास्ते में चलती कुत्तिया अपने संग लगा ली। प्यार की भूखी कुत्तिया बड़ी समझदार थी। लड़की ने शुरू से अन्त तक अपना दुख सुनाया तो कुत्तिया ने समझाया – इसमें दुःखी होने की क्या बात है ? यह तो दुनिया की रीत है। लड़की उदास होती जब भाभी खाना न देती। दिन भर काम कराती, वह रोती–कुत्तिया फिर कहती यह तो दुनिया की रीत है। भाई ने बहन का ब्याह कर दिया, बहन विदा हो गई, साथ कुत्तिया भी विदा हुई। लड़की मेहनत करती, कामकाज उठाती, पति का घर अच्छी तरह चलाती, कुत्तिया देखभाल रखती। एक बार दोनों को बाग की याद आई। भाई को राखी बाँधी, भाई ने बहन को चुनरी उढ़ा दी। गजब कि चुनरी भाभी की थी। भाभी ने भाई से कहा, उढ़ा तो दी है, दाग न लगे। दाग कैसे न लगता, पेड़ पर बैठे कोए ने बीठ कर दी। दाग पड़ गया। दागदार चुनरी–भईया बहन दोनों डर गए। भाभी जिद करके बैठ गयी, अनशन कर दिया। बोली, बहन के खून में चुनरी रंगों तब अन्न जल पाऊँगी। नहीं

जो जान दे दूँगी। भईया क्या करे? औरत के वश में फसा आदमी बहन को जंगल में ले गया, संग–संग कुत्तिया चली। भाई ने बहन को गड़ासे से काट दिया, कुत्तिया भौंकने लगी। भेद खोलने वाली कुत्तिया को भी भाई ने काट दिया। बहन के खून से चुनरी रंगी। बहन और कुत्तिया को अलग–अलग गड्ढ़ों में गाड़ दिया।

दिन–रात का हिसाब कौन रखे मिट्टी पर घास उग आई। आसपास वन चम्पा उग आई। आया सावन। गाँव की बेटियों को लिवाने जेठ–ससुर भादों में आए। रास्ते में चलते लोग फूल तोड़ने का मन बनाते। मरने वाली बहन का जेठ आया, फूल तोड़ने लगा तो आवाज आईः–

अहो–अहो जेठ हमारे फूल जिनतोरो, डार जिन तोरो।

भइया ने बैन मारी, भौजी ने रंगी चुनरी, रंग चूं चूं।

दूसरी कब्र से कुत्तिया की आवाज आती–दुनिया की रीत यही है। फिर बहन का देवर आया फिर वही आवाजें – रंग चूं चूं वाली। मगर पति नहीं माना फूल तोड़ लिया। वन चम्पा हराकर गिरी, वहाँ से निकली वही बहन और दूसरी कब्र से निकली समझदार कुतिया। अततः भुवन ने कहाँ दुनिया की रीत सच्ची कि झूठी?

करवा–चौथ के व्रत की कथा :–

सात भईया और सात भाभी। तिनके एक बीजा बहना। बीजा बहन के ब्याह की पहली करवाचौथ। सात भाईयों की प्यारी, दुलारी, आँख तारई बीजा करती रही। 'आज तो तुम्हारी बहन बरती रहेगी। तुम सातों भोजन पानी कर लो, "भाभियों ने अपने–अपने पति से कहा। खा लें। बिना बिजा बहन के, नहीं, हम नहीं करने देंगे बरत। हमारी फूल सी बहन कूम्हला जाएगी। हमसे न देखा जाएगा। सो भइया भी निर्जल बरती। करवा चौथ का चंदा देर से निकलता है। बखत भारी पड़ने लगा। हलक सूख गए। देह ढहनाने लगी। अब क्या हो ? हमारी बहन तो प्राण तज देगी भूखी प्यासी। छोटे भइया को एक जुगत सूझी, दीया और छालनी लेकर कसैनी पर चढ़ गया। दिया के ऊपर चलनी ढ़ककर पेड़ बराबर ऊँचाई से बोला, चंदा निकल आया। अरघ दे दो। भाभियाँ बोली हम तो नहीं देगी अरघ, इतनी जल्दी चंदा कहीं निकलता है। बीजा ने सोचा–मेरा भईया झूठ कयों कहेगा भला ? वह उठी करवा भरा और अरघ दे आई। सातों भईया खाने बैठ गए। बीजा भी संग बिठा ली। उसके सामने थाली परसकर आई, बीजा ने हाथ जोड़ लिए – करवा चौथ मइया, मेरी भूल–चूक माफ ..... पहला गिरास तोड़ा बीजा ने, सो बाल निकला कौर में, दूजे में निकली मक्खी। ..... तीजा गिरास तोड़ते ही बीजा के सासरे का भंगी

आन पहौंचा दर बज्जे पर ..... कुँवर जी नहीं रहें। बरत खंडित। ..... बीजा अपने पति की लहास लेकर बैठी रही कोठे में साल भर। ..... छोटी से माँग पति बीजा उसके पति ने तोरा बरत तोड़ा था। बीजा ने छोटी की चूँदरी पकड़ ली। छोटी ने अपने करवे में से छींटे मारे। कुँवर जी हरे–हरे करके उठ खड़े हुए। हे मेरी करवा चौथ मइया, तू साल की साल आ। जैसी बीजा बहन की घड़ी फेरी, सबकी हजारी उमर कर।

टेसु की कथा

अल्मा कबूतरी उपन्यास में रत्णा एक अपराधी जाति का कुरूप आदमी है और जब भी मंसाराम उसे टेसु का ताना देता तो वह क्रोधित हो जाता है। तभी एक दिन राम सिंह उसे टेसु की कहानी सुनाता है और मंसाराम को गाली देते हुए समझाता है कि तुम आदमी के कटे धड़ के अलावा कुछ नहीं हो। तुम्हारे पास आँखें नहीं, कान नहीं, नाक नहीं, बुद्धि नहीं, क्योंकि सिर नहीं। बर्बरी महाबली भीम का पोता (घटोत्कच का बेटा) बहुत बलवान किंतु घमंडी था। महाभारत के युद्ध के पूर्व पांडव इकट्ठे हुए तब घटोत्कच और बर्वरीक अपनी सेना के साथ आए। कृष्ण पांडवों के साथ रणनीति बना रहे थे। बर्बरीक अपनी बहादुर कथाएं सुना रहा था, जो सबको अखर रहा था। उसने यह दावा किया कि वह अकेला ही महाभारत का युद्ध जीत सकता है सब उसके विरोध में थे। लेकिन वह मान न रहा था। अर्जुन को क्रोध आया। अपने एक तीर से उसकी गर्दन काट दी। कहते हैं कटे सिर वाले बर्वरीक ने युद्ध का संचालन करने वाले भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की कि उसे इतनी मोहलत दें कि महाभारत के युद्ध में योद्धाओं को असली ताकत का जायजा ले सके। कृष्ण ने अपनी दिव्य शक्ति से उसको जीवन प्रदान किया। उसका कटा सर एक बांस पर टगवा दिया। पांडव की सेना हारती तो वह हँसता जीतती तो वह रोता। युद्ध समाप्त हुआ। पांडवों की युद्ध सेवा में एक से एक गपोड़े भी कह रहे थे, युद्ध उनके दम पर जीता गया। कृष्ण देखते सुनते रहे और अंत में कहा युद्ध का सच्चा हाल बर्बरीक से ज्यादा प्रामाणिक रूप कोई नहीं बता सकता, क्योंकि उसके सिवा सच्ची तन्ययता किसी से न थी। बर्बरीक बोला – युद्ध योद्धाओं से नहीं, युद्ध नीति से जीता गया। विवके और कौशल से जंग पर विजयी पाई जाती है। वह टेसु के रूप में जाना गया। जिसे आज हम 'खाटू श्याम' के रूप में पूजते है।

टिटहरी की कथा

एक थी टिटहरी। उसके अंडे हर बार समुद्र में बह जाते, क्योंकि उसका स्थान समुद्र के किनारे था। उसने सोचा, क्यों न मैं समुद्र को पाट दूँ। वह रोज थोड़ी–थोड़ी बालू जुटाती और समुद्र में डाल देती। ऐसा सालों किया। समुद्र ने लगातार देखा। वह हँसता रहा। माखौल

उड़ाता रहा और अंडे बहाता रहा। एक दिन समुद्र ने देखा टिटहरी बालू डाल–डालकर थक गई है और हाँफ रही है। समुद्र ने उसे समझाया कि मिट्टी की ताकत पानी का सामना नहीं कर सकती है। मगर टिटहरी ने गौर नहीं किया और कह दिया – यहाँ ताकत की बात नहीं हो रही है बात लगन की है। मैं तुम्हारी लहरों से डरती नहीं – एक साल कुछ ऐसा हुआ कि वर्षा ही नहीं हुई और लहरें टिटहरी के अंडों तक आ नहीं पाई। अंडो में से टिटहरियाँ निकली। जीव–जन्तुओं ने और लोगों ने ताजुब किया। कहा जाता है कि समुद्र टिटहरी से डर गया और अपना पानी वापिस खींच लिया।

कबूतरा जाति की प्रथा

कबूतरा जनजाति स्वयं को रानी पद्मिनी की संतानें कहती है। इनके बीच इससे जुड़कर एक लोककथा प्रचलित है। जब कदम राणा को जन्म देती है जब बच्चे के छठी के अवसर पर मलिया सब को कुनबी क्या सुनाती है। शंकर महादेव अपने भक्तों को कुनबी नाम दिया। लेकिन देवता के संग हैवान भी पैदा हुअ था। एक दिन कुनबियों ने धौके से ऋषि की गाय का वध किया, ऋषियों ने शाप दे दिया कि तुम कलंकी होकर ढोते–ढोते मरोगे। राक्षसों को खाने के लिए कुनबियों को गुफा में बंद किया। सारे कुनबी खत्म हो गये। तब देवता ने ऋषियों का तप खंडित करने के लिए नृत्य कला में निपुण नर नारी को पैदा किया। राक्षसों से नर–नारी की कुनबियों की आजादी माँगी। लेकिन सारे कुनबियों को राक्षसों ने पहले ही खा लिया था। इसलिए शंकर महादेव अपने लिए भक्तों को पैदा करने के लिए नर–नारी से कबूतर की तरह के सुंदर और शांत संतान को पैदा करने को कहा।

5.11 तुलनात्मक दृष्टि

विश्व धरातल पर हर देश की अपनी विशिष्ट संस्कृति विद्यमान है। भारत की संस्कृति प्राचीन काल से ही अपनी विशेष सभ्य संस्कृति के लिए राष्ट्र धरोहर रही है। इसी संस्कृति का विस्तृत वर्णन समकालीन उपन्यासकारों ने खूब किया है। हरिराम मीणा राजस्थान के प्रसिद्ध ग्रामीण जन–जीवन से जुड़े आँचलिक उपन्यासकार है। इन्होंने अपने राज्य राजस्थान की विशेष संस्कृति का वर्णन अपने उपन्यास *धूणी तपे तीर* में किया है। इनके उपन्यास का अध्ययन करने से पता चलता है कि वास्तव में राजस्थान ऐतिहासिक संस्कृति के लिए प्रसिद्ध क्यों रहा है? इनके उपन्यास में इनकी परम्परागत संस्कृति विद्यमान है। वही अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने उपन्यास *अपवित्र–आख्यान* में मुस्लिम समाज की संस्कृति का परिचय दिया है। इस संस्कृति तत्वों में बिस्मिल्लाह ने मुस्लिम पर्व, संस्कार, वेश–भूषा, रीति–रिवाज का वर्णन बहुत ही सुंदर ढंग से किया है। लेकिन इनकी मुस्लिम समाज की संस्कृति में पौराणिकता अधिक नजर आती

है। राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *पठार पर कोहरा* में आदिवासी समाज की जिस संस्कृति का परिचय दिया गया है वह कुछ नवीनता ग्रहण करते नहर आते है। जैसे आदिवासी लोगों को बाहरी लोगों से आवागमन, उनसे मिलने से पढ़ने के लिए बच्चों को स्कूल भेजना, कुछ शहरी ढ़ंग का पहनावा धारण करना इत्यादि। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास *चाक* में औरतों द्वारा व्रत पर कही जाने वाली गाथा जो पौराणिक समय से ही चलती आ रही है। वह आज भी वैसी ही है। महुआ माजी के उपन्यास *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* में भी आदिवासी समाज की संस्कृति का विशिष्ट रूप उजागर हुआ है। हाँ, इनकी और राकेश कुमार सिंह के उपन्यास में जो आदिवासी संस्कृति का वर्णन किया गया है। दोनों में काफी समानता प्रतीत होती है जैसे गोदना प्रथा, पर्व पर विशेष नाच–गाना, महुए से बनने वाली शराब हड़िया का मेहमानों को परोसना आदि कई तरह की समानताएँ है। संजीव के उपन्यास *फाँस* में जो ग्रामीण रीति–रिवाज है और मीणा के उपन्यास में रीति–रिवाज है, वे दोनों परस्पर ग्रामीण संस्कृति का शुद्ध स्वरूप है इन दोनों की संस्कृति में अगर कोई फर्क है तो सिर्फ क्षेत्र विशेष का। वह तो लगभग सभी उपन्यासों में क्षेत्र विशेष की विभिन्नता के कारण अक्सर थोड़ा बहुत होता ही है। अजय नावरिया के उपन्यास *उधर के लोग* में दलित वर्ग की संस्कृति का वर्णन है। इनकी संस्कृति में एक आदिवासी जन–जीवन की तरह कुछ जादू–टोने, तंत्र–मंत्र आदि विषयों में समानताएं पाई गई है। जैसे बीमारी के समय डॉक्टर के पास न जाकर ओझा से इलाज करवाना, घर में कुछ बुरा होने पर ओझा से परामर्श लेना इत्यादि। इस प्रकार से प्रायः सभी उपन्यासों में अपनी–अपनी क्षेत्र विशेष की संस्कृति का वर्णन किया है। जिसमें कुछ समानताएँ भी है, कुछ में असमानताएँ, तो कुछ में, कुछ कुप्रथाएँ और विषमताएँ भी।

निष्कर्ष

संस्कृति एक जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, भाषा, साहित्य, विभिन्न कलाएँ, रीति–रिवाज, उत्सव पर्व, धार्मिक मान्यताएँ, खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा, शिक्षा एवं विभिन्न जीवन मूल्यों समेत अनेक अन्य तत्वों का समावेश है। ये सारे तत्व मनुष्य और समाज से सम्बन्धित है। इन्हीं के माध्यम से मानव व्यवहार की दिशा व स्वरूप का निर्धारण होता है। जाति, धर्म, भाषा, भूगोल आदि आधारों पर भिन्नतामुक्त समाज के विभिन्न हिस्सों में इन संस्कृति तत्वों के समान व असमान प्रभाव से समाज के विभिन्न भागों में समरूपता और बहुरूपता नजर आती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक व्यवस्था जैसे क्षेत्र में असमान अवसर के कारण समाज में विषमता होती है। अतः संस्कृति तत्व जीवन की दशा–दिशा के निर्धारक होते है। यह तत्व संख्या में अनगिनत हो सकते हैं फिर भी प्रमुख तत्वों को यहाँ देखा गया है। उपन्यासों का अध्ययन करते समय ग्राम्य जीवन के सांस्कृतिक पक्ष से जुड़ी लगभग सभी बातें स्पष्ट हुई हैं।

षष्टम्

अध्याय

षष्टम् अध्याय

21वीं सदी में भूमंडलीकरण के परिदृश्य में ग्राम्य जीवन में हुए परिवर्तन

भूमंडलीकरण स्थानीय और क्षेत्रीय वस्तुओं या घटनाओं के विश्वस्तर पर रूपातंरण की प्रक्रिया है। जिसके द्वारा पूरे विश्व के लोग मिलकर एक समाज बनाते हैं तथा एक साथ कार्य करते है। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का संयोजन है। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक देश का अन्य देशों के साथ वस्तु, सेवा, पूँजी एवं बौद्धिक सपंदा का अप्रतिबन्धित आदान–प्रदान ही भूमंडलीकरण है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में देश एक–दूसरे पर परस्पर निर्भर हो जाते हैं और लोगों के बीच दूरियाँ घट जाती है। एक देश अपने विकास के लिए दूसरे देशों पर निर्भर करता है।

6.1 भूमंडलीकरण शब्द का अर्थ

हिन्दी विश्व कोष के अनुसार' "भूमंडलीकरण' शब्द मूल रूप में 'भूमंडल' शब्द से बना है। भू का अर्थ है 'भूमि', पृथ्वी तथा 'मण्डल' का अर्थ है परिधि।"(212) इस प्रकार भूमंडलीकरण का अर्थ हुआ – पृथ्वी की परिधि करना।

हिन्दुत्व का वैश्वीकरण भूमंडलीकरण शब्द के विभिन्न पर्याय हैं जैसे : "वैश्वीकरण, विश्वीकरण, ग्लोबलाइजेशन, पृथ्वीकरण, जगतीकरण, अंतराष्ट्रीयवाद, उदारीकरण, बाजारवाद, पश्चिमीकरण, बंधन मुक्त व्यापार आदि।"(96)

6.2 भूमंडलीकरण की परिभाषाएँ

अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति हेनरी किसिंजर ने भूमंडलीकरण को अमेरिकीकरण कहा *पल प्रतिपल पत्रिका* उनके अनुसार :

> भूमंडलीकरण संयुक्त राज्य के अधिपत्य का ही पर्यायवाची है। उनका मत है भूमंडलीकरण को प्रवाह में बहने के अलावा कोई चारा नहीं है। जैसे ख्याल को आखिरी तौर से मान लेना कि दुनिया का भविष्य राष्ट्र आधारित लोकतंत्रों में निहित न होकर किसी 'ग्लोबल गवर्मेस' और 'ग्लोबल डेमोक्रेसी' की शीर्ष संरचना में निहित है।(15)

रजनी कोठारी की पुस्तक *भारतीय राजनीति में जाति* के अनुसार, "भूमंडलीकरण को युद्ध के बाद उभरे एक किस्म के साम्राज्यवाद के रूप में चिन्हित् करते हैं। उनका मानना है कि यह एक अराजनीतिक, प्रौद्योगिकी आधारित और राष्ट्र–राज्य को कमजोर करने वाला एक नवपूँजीवादी साम्राज्य है।"(17)

भूमंडलीकरण केवल सीमाबद्ध राष्ट्रीयता के आर–पार पूँजी के प्रवाह का ही नहीं है बल्कि उसे विचारों के इसी तरह के प्रवाह के रूप में भी समझना आवश्यक है। इस रूप का एक अनिवार्य और बेहद महत्वपूर्ण आयाम है धर्म का भूमंडलीकरण।

सी० रंगाराजन की पुस्तक *भूमंडलीकरण, साहित्य और संस्कृति* में स्पष्ट किया है कि :

> अर्थ–व्यवस्थाओं तथा समाजों के बीच सूचना, विचारो, तकनीकों, वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी तथा वित्त के बीच समन्वय की प्रक्रिया के साथ भूमंडलीकरण संबंधित है, जिसमें विभिन्न देशों के लोग तथा समाज इस प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं।(19)

6.3 भूमंडलीकरण का स्वरूप

भूमंडलीकरण व्यापारिक क्रियाकलापों, विशेषकर विपणन संबंधी क्रियाओं का अंतर्राष्टीयकरण करता है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व एक बाजार के रूप में उभरता है। भूमंडलीकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विश्व बाजारों के मध्य पारस्परिक निर्भरता उत्पन्न होती है और व्यापार देश की सीमाओं में प्रतिबन्धित न रहकर विश्व व्यापार में निहित, तुलनात्मक लागत लाभ दशाओं का विदोहन करने की दिशा में अग्रसर होता है।

भूमंडलीकरण एकरूपता एवम् समरूपता की वह प्रक्रिया है जिसमें सम्पूर्ण विश्व सिमट कर एक हो जाता है। एक देश की सीमा से बाहर अन्य देशों में वस्तुओं एवं सेवाओं का लेन–देन करने वाली अंतर्राष्ट्रीय निगमों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ देश के उद्योगों की सम्बद्धता है।

सामाजिक ऐतिहासिक परिघटना के रूप में भूमंडलीकरण का अर्विभाव संचार और पूंजी की दोहरी भूमिकाओं के नाते सम्भव हुआ है। दोनों ने मिलकर राष्ट्रों, बाजारों, संस्कृतियों, भाषाओं की सीमाएँ तोड़ दी हैं, उनमें परस्पर आदान–प्रदान की स्थितियाँ उत्पन्न की हैं।

पंकज विष्ट लेख : भूमंडलीकरण और भारत *समयांतर पत्रिका* के शब्दों में :

> भूमंडलीकरण का समस्याग्रस्त स्वरूप तब प्रकट होता है जब आर्थिक रूप से मजबूत संस्थान और कई संगठन विकासशील देशों पर एक निश्चित प्रकार का राजनीतिक,

आर्थिक एवम् सामाजिक माडल थोपते हैं और इसे लागू करने के लिए उन्हें बाध्य कर देते हैं। इस प्रकार के प्रयास को 'गोरी चमड़ी' वाले व्यक्ति की जिम्मेदारी सिद्धांत (व्हाइट मैनस वर्डन थ्योरी) के नाम से जाना जाता है जिसकी यह मान्यता है कि विकासशील देशों को विकास का रास्ता दिखाने की जिम्मेदारी ईश्वर ने विकसित देशो को दे रखी है। इस पुरी प्रक्रिया को स्पाईबे एवं टेलर पश्चिमीकरण या आधुनिकता का नाम देते है।(5)

लेकिन इन आधुनिकता के पुजारियों को न तो तीसरी दुनिया से कोई सरोकार है और न ही गरीब से कोई मतलब।

भूमंडलीकरण की नींव समाजवाद के मूलमंत्र समानता तथा हर रूप की सहभागिता के सिद्धांत को निष्कासित कर, व्यक्तिवाद के सिद्धांत के धरातल पर खड़ी है। देशी संस्कृति का विनाश कर अपनी संस्कृति थोपने का प्रयत्न भूमंडलीकरण या साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की पहली शर्त है।

भूमंडलीकरण आज ऐसी प्रक्रिया में भी देखा जा रहा हैं जिसके आगे राष्ट्रीय सरकारें जनहित के लिए कोई भी कदम उठाने में असमर्थ हो जाती हैं। वे अंतर्राष्ट्रीय बाजार के नियमों में बंध जाती है। आधुनिक सूचना तकनीक से प्रभावित राष्ट्रीय सरकारें भूमंडलीय बाजार–व्यवस्था को अपनाने के लिए इस कारण भी बाध्य हैं कि उत्पादनकर्त्ता कहीं भी आ–जा सकता है। राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर पूँजी को कैद नहीं किया जा सकता। क्योंकि आज बटन दबाते ही अरबों की संख्या में डालर एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की ओर फिसल जाते है। इंटरनेट तो वह एजेंट हैं जो बाजार आधारित समाज को विकेंद्रित जनतांत्रिक और पारदर्शी बनाकर ही छोड़ता है।

दुनिया पर वैश्वीकरण लादे जाने की परिघटना से विकसित देशों द्वारा अपने देशी पूँजीवाद से अंतरनिहित संकटों को टालने की राजनीति देखते हैं और इसे साम्राज्यवाद का नया स्वरूप नव साम्राज्यवाद ही मानते हैं।

6.4 भूमंडलीकरण और नई सदी के हिन्दी उपन्यास

बीसवीं शताब्दी का भारत काफी उथल–पुथल रहा है। इस दौरान औपनिवेशिक शासन और लोकतांत्रिक भारतीय शासन की लगभग बराबर की भागीदारी रही, फलस्वरूप भारत के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परिवेश में व्यापक तौर पर फेरबदल देखने को मिलता है। उल्लेखनीय यह है कि इस काल के अंतिम दशक तक आते–आते समूचा विश्व सांस्कृतिक,

सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से एक ऐसी व्यवस्था का अनुगमन करने लगा। जिसे प्रचलित रूप में भूमंडलीकरण कहा जाता है। निश्चित रूप से इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से हिंदी साहित्य भी अछूता नहीं है। बात केवल 21वीं सदी की करे तो भूमंडलीकरण से प्रभावित उपन्यासों में कंटेंट में एक ऐसा उद्वेलन देखने को मिल रहा है, जिसमें सांस्कृतिक मुठभेड़, छटपटाहट, प्रतिरोध के स्वर, आवरण का पर्दाफाश, थोथे जीवन मूल्य, अधिकारों का संरक्षण, सब कुछ कह एवं कर गुजरने की तमन्ना आदि का सांमजस्य देखने को मिलता है। भारत में अब उदारीकरण, बाजारीकरण, भूमंडलीकरण जैसी आर्थिक प्रवृत्तियां पूरी तरह से पाँव पसार चुकी थी। इसके अवदान के रूप में युवा चितंक अमित कुमार सिहँ अपनी पुस्तक *भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प* में लिखते है :

> भूमंडलीकरण ने समूचे विश्व में हाशियाकरण को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया है। राज्यों को नियंत्रित करने वाली जनता की शक्ति पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उसके समर्थक लोबी का अप्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है भले वे किसी देश का राजनीतिक नेतृत्व हो या फिर किसी भी देश का समृद्ध आर्थिक प्रतिष्ठान।(33)

रेहन पर रग्घू वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह का प्रसिद्ध उपन्यास है। लेखक ने भूमंडलीकरण की त्रासदी तथा समकालीन मनुष्य जो निरंतर एकांकीपन की ओर अग्रसर, का निहायत संजीदगी से चित्रण करने का सफलतम प्रयास किया है। वैश्वीकरण की विद्रूपताओं को टटोलने वाला यह एक लोकप्रिय उपन्यास है। कथाकार ने यह बताने का प्रयास किया है कि किस तरह बाजार हमारे गाँव घर में घुस चुका है? किस तरह हमारी चेतना, हमारी संस्कृति को कैप्चर किया जा रहा है ? पूँजी के प्रलोभन, नवधनाढ्य मध्यवर्गीय जीवन और इस प्रकार के मुखौटावादी समाज का जो चित्र खींचा है उसका उदाहरण देखिये – "जिस कंपनी में और जिस कांट्रेक्ट पर अमरीका जाना है, उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा कि अगर उसका बाप चाहे तो गाँव का गाँव खरीद ले।"(23) लेखक ने उपन्यास में इस बात की भी घोषणा करते हैं कि गाँवों में शहरों का प्रवेश होकर नई बसी कालोनियों में उपभोक्तावाद और बाजारवाद निरंतर प्रवेश करता जा रहा है। निःसंदेह *रेहन पर रग्घू* 21 वीं सदी की वास्तविकता का जीता–जागता उदाहरण है।

ग्लोबल गाँव के देवता युवा कथाकार रणेन्द्र का उपन्यास है जिसमें विस्थापन की त्रासदी भूमंडलीय यथार्थ का सबसे बड़ा महाप्रसाद है। विस्थापन की प्रक्रिया से किसी भी समाज का केवल भौगोलिक परिवर्तन ही नहीं होता, बल्कि उसके साथ ही साथ उस समाज का सांस्कृतिक एवं चेतनागत स्वरूप का भी अमूलचूल परिवर्तन होता है। वास्तव में किसी भी

सामाजिक अस्मिता को कालजयी एवं सम्माननीय बनाने के लिए उसकी भाषा व संस्कृति को बचाना अनिवार्य है। क्योंकि सांस्कृतिक पतन सम्पूर्ण समाज को विवेकशून्य बना देता है और इस स्थिति में उसकी अस्मिता पर संकट के बादल मंडराने लगते हैं। रणेन्द्र ने प्रकृति के साथ आदिवासी का तादात्म्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है :

> अखाड़ा के पर्व–त्यौहार, सरहुल, हरियारी, सोहराय पर रातभर मांदर बजता। रातभर गाँव–गाँव से जवान लड़के जुटते। लड़कियाँ जुटती। झूमर, जुदरा के बोलों पर रातभर चाँद नाचता। सखुआ और पलाश नाचता। नदी झरना पहाड़ नाचते। एक साथ पूरी प्रकृति नाचती।(26)

उपन्यास में आक्रोश एवं प्रतिरोध की भावना भी है तो कही बेबसी, लाचारी व सिसकियों की प्रतिध्वनियाँ भी गूँजती है।

महानगरों पर पश्चिम का, नगरों पर महानगरों का तथा गाँवों पर नगरों का दबाव रहा है। गाँव के लोग भी अपने सहज उन्मुक्त प्राकृतिक जीवन से दूर हटते जा रहे है। दोहरे जीवनमूल्यों ने व्यक्ति को दोगलेपन व खोखलेपन को बढ़ा दिया है। गाँवों से महानगर आये नवांगुतकों के लिए यहाँ समायोजन करना गंभीर समस्या है, क्योंकि महानगरों का यांत्रिक परिवेश उन्हें अपनाता नहीं है। अतः अपनी जमीन से कटकर यहाँ के ढ़ाँचे में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना और स्वतंत्र रहना ही इनकी नियति है।

ऐसे समय में 21वीं सदी के उपन्यास न सिर्फ मानव विरोधी षड्यंत्रों का खुलासा करते हैं बल्कि इन पर करारी चोट भी करते है। उपन्यासों का उद्देश्य इस रूप में नीहित है कि धूमिल होते मानवीय मूल्यों को संरक्षित किया जाए। सभ्यता, संस्कृति और समाज में समरसत्ता के भाव का संचार हो। बहरहाल इंतजार रहेगा कि भूमंडलीकरण आम जनमानस में नई सुबह लेकर आये। वर्तमान सदी में उपन्यास भूमंडलीकरण के प्रतिरोध में खड़े नजर आते हैं साथ ही साथ मनुष्यता की पक्षधरता लिये हुए हैं।

6.5 भारत पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

भूमडलीकरण ने सम्पूर्ण विश्व को बाजार बना दिया है। इस बाजार की विशेषता यह है कि लोग न सिर्फ अपने जरूरत की चीजें खरीदते हैं बल्कि उपलब्ध चीजों के आधार पर अपनी–अपनी जरूरतें पैदा करते हैं। इस स्थिति को यूँ कहा जा सकता है कि, पहले जरूरतों के हिसाब से बाजार का निर्माण होता था अब बाजार के हिसाब से जरूरतों का निर्माण हो रहा हैं। बाजार में जब कोई नई चीज आती है तो वह अकेली नहीं आती। वह अपने साथ अन्य कई

चीजें लेकर आती है। ठीक इसी प्रकार भूमंडलीकरण हमारे जीवन में अकेले नहीं आया है। यह जीवन में काफी कुछ लेकर आया है जैसे जानलेवा प्रतियोगिता, मुनाफे की संस्कृति और मानवाधिकारों जैसे कई प्रभावशाली घटक भूमंडलीकरण की देन हैं। मानवाधिकार से हमारा तात्पर्य है मानवाधिकार किस मानव के लिए हैं ? क्योंकि भूमंडलीकरण के कारण तो यहाँ के शोषित, उपेक्षित, बहिष्कृत, आदिवासी जनजाति, दलित, किसान–कृषि को तबाह किया जा रहा है। वे पूरी तरह विस्थापित हो रहे है फिर ऐसी स्थिति में मानवाधिकार का क्या मतलब है ? यह किस मानव के लिए है ? यह बेशक उस मानव के लिए है ? यह बेशक उस मानव के अधिकारों के हित में है जो पूँजीपति है। बाजारवादी माहौल में मुनाफा, शोषणकारी ताकदों एवं विदेशियों को मिल रहा है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। ये सारी स्थिति आम आदमी को बुरी तरह प्रभावित कर रही है। भूमंडलीकरण के कारण बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बाजार के माध्यम से नए मूल्य और संस्कृति को परोसा जा रहा है। जो निश्चित रूप से अमेरिकी जीवन शैली को अपना आदर्श मानते हैं। ये मूल्य बाजार द्वारा निर्धारित एवं संचालित हो रहे हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित जन–जीवन के संदर्भ में अमित कुमार सिंह की पुस्तक *भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प* में लिखते है, "बाजार सुदंरता को सेक्स अपील से जोड़ता है, धर्म और अध्यात्म का व्यावसायीकरण करता है और प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु मानता है। यह अश्लिलता एवं नग्नता को कला, संस्कृति व स्वतंत्रता से जोड़ने में भी कोई संकोच नहीं करता।"(88) भूमंडलीकरण से भारत पर पड़ने वाले प्रभाव निम्नलिखित है :

6.5.1 भूमंडलीकरण से उजड़ते गाँव

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने देश के हर नागरिक को जबरदस्त रूप से प्रभावित किया है। वैश्वीकरण की नीतियों के तहत कई विदेशी कंपनियाँ भारत आकर मुक्त रूप से व्यापार कर रही है। देश के पूंजीपति भी इस नीति के तहत देश को उजाड़कर अरबों रूपये कमा रहे हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्र नीति को सफल बनाने के लिए मार्ग में बाँधा बन रहे गरीब, मजदूर, शोषित मनुष्य को यह व्यवस्था मृत्यु के कगार पर खड़ा करती है। गाँव की परम्परा शहर, कस्बों से कुछ मामलों में हमेशा भिन्न रही वो रहन–सहन का मामला हो या खान–पान, गीत–संगीत, पहनावा या फिर आपसी संबंध या भाईचारे का। सदियों से, शहरों के वनस्थित गाँव का कार्य हमेशा विस्तृत एवं लोक परंपरा से जुड़ा हुआ होता है। पर सवाल यह उठता है कि भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में क्या सच में हमारे गाँव विकसित हो रहे हैं या फिर हम इन्हें खोते जा रहे हैं ? लोक की मिठास से ज्यादा हमें बनावटी चासनी ही क्यों पसंद आ रही है ?

क्या सच में यह पसंद आ रही है या फिर जबरदस्ती मार्डन बनने की होड़ में हम उसे पसंद करने की कोशिश में लगे है? हमें कुछेक सवाल खुद से पूछने की आवश्यकता है।

रेहन पर रग्घू एक सामान्य परिवार का कथानक बाजारों के प्रभावों के तहत उजड़ते गाँव का ब्यौरा है। रघुनाथ अपनी आँखों के सामने अपनी जमीन, गाँव, परिवार टूटते देखता हैं लेकिन कुछ कर नहीं पाता हैं, क्योंकि समय की माँग रघुनाथ के विचारों को सहन नहीं कर सकती। संजय अमेरिका में घर बसाने की सोच रहा है और रघुनाथ जमीन से मोह दिखा रहे हैं। आज व्यक्ति संसाधनों से घिरा है लेकिन सम्बन्धों के अकाल में गाँव में शहर का प्रवेश हो गया है, लेकिन गाँव पलायन कर शहरों में बस गये है। व्यक्ति आजीवन जिन बच्चों के लिए संघर्ष करता है, वही बच्चे अंत में पिता, परिवार से दूर जा बशे है। 'अशोक विहार' कालोनी में जब रघुनाथ आते हैं तब इस दुःख दर्द को बयां करते है जिन संतानों के लिए घर, गाँव, परिवार, नाते, रिश्ते छोड़कर आए वही आज वहाँ नहीं। इतने तक तो गनीमत थी, लेकिन अब हालात यह है कि "जो सर्विस कर रहा है, वह उसी नगर में रम गया है और वहाँ से लौटकर यहाँ नहीं आना चाहता। अगर वह आना भी चाहता है उसके बच्चे नहीं आना चाहते।"(146) पलायन, अकेलापन, पारिवारिक विघटन, गाँव खाली यद्यपि उपन्यास के प्रकरण हैं लेकिन कथानक के मूल में जाए तो कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण ने भारतीय समाज व्यवस्था पारिवारिक आदर्श, जीवन मूल्य तथा संस्कृति, पुरातन परम्परा, हँसते बशते गाँव को जड़ से हिलाने का कार्य किया है। आज अकेला रघुनाथ नहीं बल्कि घर–घर, शहर–शहर में कितने रघुनाथ हैं। आज नोएड़ा या अमेरिका में केवल संजय एवं धनंजय नहीं अपितु अनेक युवा रचे–बशे हैं।

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम है तथा समाज भी समय की माँग के अनुसार बदलता रहा है। कम्प्यूटर के आने पर भी व्यक्ति ने इसी प्रकार दुख व्यक्त किया जैसा टेलीफोन, मोबाईल आदि के आने पर कर रहा है। आज खेद विकास एवं तकनीकी का नहीं अपितु गौण हो गई सोच चेतना का है। विपिन चन्द्र अपनी पुस्तक *वैश्वीकरण हिन्दी भाषा और साहित्य* में लिखते है :

> वैश्वीकरण समाज के सम्मुख जहाँ असीमित सम्भावनाएँ लेकर प्रस्तुत होता है। वही संबंधों की मिठास, रिश्तों की निकटता तथा मानव की संवेदना को भी गहरा आघात पहुँचाता है। आज व्यक्ति मॉल, फेसबुक, व्हाट्सएप पर तो हर वक्त है पर एक–दूसरे के दिल में नहीं।(27)

मध्यवर्गीय परिवार में पुरानी एवं नई पीढ़ी के बीच जो अन्तर दिखाई देता है वही उजड़ते गाँव का इस भूमंडलीकरण में मुख्य कारण है। उमाशंकर चौधरी लेख : भूमंडलीकरण के दौर में गाँव *आलोचना पत्रिका* के कथनानुसार :

> वास्तव में भूमंडलीकरण के बाद भारतीय समाज में व्यापक बदलाव को परिलक्षित करने वाला एक ऐसा उपन्यास है जिसमें दो पीढ़ियों के बीच इतना बड़ा फर्क दिख जाता है जो आश्चर्य पैदा करता है। जिस बच्चे का जन्म और परवरिश ही इस चकाचौंध की दुनिया में हुई है उसकी ख्वाहिशें भी उसी रफ्तार में बहुत बड़ी है। वह उसके पीछे भागता है लेकिन इस बीच वह पुरानी पीढ़ी उससे काफी पिछे छूट जाती है।(84)

पूँजी के केन्द्र में आने से व्यक्ति गौण होता चला गया है। इज्जत, लिहाज, शर्म, आदर, प्यार, अपनापन जैसे शब्द दिन प्रतिदिन अपनी सार्थकता खोते जा रहे है। उद्योग, तकनीकी तथा विज्ञान के प्रचार–प्रसार ने अर्थ को सुलभ बना दिया है जिससे व्यक्ति आवश्यकतानुरूप खरीद एवं बेच पा रहा है। आज हर चीज बाजार में उपलब्ध है किन्तु इस सब प्रवरण में हम भूल जाते है कि पूँजी व्यक्ति को अपने हिसाब से ढ़ाल लेती है। इस पर काशीनाथ *रेहन पर रग्घू* में लिखते है :

> आर्थिक ढ़ाँचे का स्वरूप तथा उसके परिवर्तन की दिशा मानवीय इच्छा पर निर्भर नहीं होती वरन् उत्पादन की शक्तियों की स्थितियों पर तथा उत्पादन के संबंधों के स्वरूप में होने वाले विशिष्ट परिवर्तनों (जो उन शक्तियों के विकसित होने के कारण होते हैं और समाज के लिए आवश्यक हो जाते हैं) पर निर्भर होती है।(146)

गाँव में रहने वाले लोग 'शायनिंग इंडिया' से पूरी तरह अनभिज्ञ थे, पर भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने उन्हें अचानक समूचे विश्व के साथ जोड़ दिया। अचानक आया यह बदलाव ग्रामीणों को पूरी तरह नष्ट कर रहा है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में देश की सरकार पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना बनकर रह गई है। भूमंडलीकरण के कारण देश की अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था में कई महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए। गरीब, वैश्वीकरण की प्रक्रिया में अधिक शोषित होने लगे है, उमाशंकर चौधरी लेख : भूमंडलीकरण के दौर में गाँव *आलोचना पत्रिका* में लिखते है :

> वे दिन थे जब नयी आर्थिक नीतियाँ लागू की जा रही थी, समझौते पर धड़ाधड़ हस्ताक्षर किए जा रहे थे, देश की सम्पदा को कौड़ियों के मोल बेचा जा रहा था। निजीकरण के लिए विदेशी कंपनियों को बुलावा दिया जा रहा था। उन्हें लाइसैंस, परमिट आदि में अनाब–शनाब छूट दी जा रही थी, विदेशी कर्ज का बोझ पहाड़ हुआ

जा रहा था। देशी उद्योग धंधे ठप्प पड़ रहे थे और बताया जा रहा था कि हम सुदृढ़, शक्तिशाली और सम्पन्न देश बनाने जा रहे है।(86)

जब गाँवों की जमीनों पर सरकार द्वारा फैक्ट्रियों का परमिट दिया जाता है तो लोगों को लगता है कि उन्हें फैक्ट्री में मजदूर का काम मिल जाएगा व कुछ पढ़े–लिखे बच्चों को रोजगार मिलेगा। पर यह इच्छा पूरी नहीं होती। बड़ी–बड़ी मशीनें सैकड़ों मजदूरों का काम अकेली करती है। फैक्ट्री, नई दुकानें, चमकीले मौल्स में गाँव कहीं खो जाता है। गाँवों को शहरों में बदलने का फंडा कितनी तेजी से चल रहा है। यह हम सब देख रहे है। कोई गरीब न रहे नारा लगाकर हजारों वर्ष के शिल्प, संस्कृति, परम्परा, संस्कार बुलडोजर से कुचले जा रहे है। बेरोजगारी के कारण किसान, मजदूर मिट्टी ढ़ोते–ढ़ोते मिट्टी के मोल होते हैं। अब ग्राहक को ही मनुष्य समझा जा रहा है बाकि को नहीं। आधुनिकता को समाज की जरूरतें कहकर जिंदगी को मारने की खूबसूरत चाल अब लोगों के ध्यान में आ रही है।

भूमंडलीकरण से गाँव तो उजड़ ही गए है तथा ग्रामवासी भी पूरी तरह विस्थापित हुए है। वैश्वीकरण के दौर में वे जिंदगी के साथ कदमताल करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। परिणामस्वरूप गाँव को उजाड़ने के साथ ग्रामवासियों की जिंदगी को भी भूमंडलीकरण ने पूर्ण विराम दिया है।

6.5.2 भूमंडलीकरण से संयुक्त परिवार पद्धति का क्षरण

भारत में संयुक्त परिवार की प्राचीन पंरपरा रही है। एक ही छत के नीचे 15–20 लोग एक साथ रहा करते थे। जिनमें माता–पिता, चाचा–चाची, ताया–ताई, दादा–दादी इनके बच्चे आदि कई लोग एक साथ आनंद से रहा करते थे। पर वर्तमान समय में संयुक्त परिवार पद्धति विलुप्त हो गयी है। परिवार बेहद छोटे–छोटे हो गए हैं। परिवार में केवल पति–पत्नी तथा एक बच्चा इतना छोटा परिवार बन गया है। दरअसल भूमंडलीकरण के कारण मनुष्य पूरी तरह से व्यक्तिवादी बन गया है, उसे अपने सगे–रिश्तों से भी तकलीफ होने लगती है। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि अगर कोई रिश्तेदार कुछ समय बाद चला जाए तो ठीक है। अगर वह दो दिन रूकता है तो परिवार के लिए परेशानी का कारण बनता है। कई घरों में तो प्रायः लोग अकेले ही नजर आते हैं। देखा जाता है कि माँ–बाप का एक ही बेटा है और वह ही अपनी पत्नी, बच्चों के साथ अलग रह रहा है। शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से यह बेहद खतरनाक है। अमित कुमार सिंह अपनी पुस्तक *भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प* एक सर्वे के अनुसार :

> महानगरों के 30 प्रतिशत एकाकी परिवारों में 20–24 प्रतिशत बच्चों में विरोधात्मक रवैया और चापलूसी की प्रवृत्ति पाई गई है, जबकि 40 प्रतिशत माताओं में उदासीनता, अकेलेपन, तनाव आदि समस्याएं सामने आयी। वही 30 प्रतिशत पुरूषों में प्री और पोस्ट रिटायर मेंट अवसाद देखा गया है। उनका कहना था कि बच्चे उन्हें नहीं पूछते, आगे जाने क्या होगा ?(104)

यूं तो संयुक्त परिवार में रहना कई लिहाज से समझदारी का काम है, लेकिन बढ़ती भागदौड़ और अपनी–अपनी ख्वाहिशें पूरी करने की तमन्ना एकल परिवारों को बढ़ावा दे रही हैं। टूटते संयुक्त परिवार न सिर्फ बच्चों से दादी–बाबा का प्यार छीन रहे हैं, बल्कि उन्हें पुराने संस्कारों से भी कहीं न कहीं दूर कर रहे हैं।

एक जमाना था जब संयुक्त परिवार ही सब कुछ माना जाता था। एक ही छत के नीचे आधा–आधा सैकड़ों सदस्यों वाले परिवार रहते थे। दिन भर भले ही सब अपने–अपने कामों में जुटे रहें, लेकिन रात का खाना एक साथ ही होता था। तब रसोई भी एक थी और खाने में भी दुलार प्यार का छौंका लगा होता था। धीरे–धीरे पश्चिमी सभ्यता ने रंग दिखाना शुरू किया तो संयुक्त परिवार टूटने लगे और एकल परिवारों का चलन समाज में हो गया। वैसे भी लगातार हो रही प्रगति ने कहीं न कहीं संयुक्त परिवारों को तोड़ा ही है। कुछ चुनिंदा लोग ही ऐसे हैं जो संयुक्त परिवार में रहना पसंद करते हैं। हालात यह हो गए हैं कि आधा सैकड़ा सदस्यों वाले परिवार ढूंढे नहीं मिलते, लेकिन पति, पत्नी और बच्चे के सीमित सदस्यों वाले परिवार बहुतायत में मौजूद हैं। महिला अधिवक्ता महामहिमा श्रीवास्तव लेख : भूमंडलीकरण में भूखमरी *जागरण पत्रिका* का कहना है "कि समाज में अर्थ का महत्व बढ़ने से संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। वे कहती है कि संयुक्त परिवार होने से सुरक्षा बोध रहता है तो साथ ही जिम्मेदारियों का एहसास भी।"(17) समाज में इस स्तर पर भी जागरूकता लाने की जरूरत है और लोगों की संयुक्त परिवारों का महत्व बताने की आवश्यकता भी है।

मुरलीधर गुप्ता लेख : भूमंडलीकरण और भारत की पूंजीव्यवस्था *जागरण पत्रिका* में कहते हैं कि:

> संयुक्त परिवार की बात ही और है। उनके बच्चे और पोते–पोतियाँ उनके साथ ही रहते हैं। जब वे लोग पुरानी कहानियाँ सुनने की जिद करते है तो प्रेरक कहानियाँ सुनाते हैं। कहीं न कहीं इससे उनके जीवन में संस्कारों का महत्व बढ़ जाता है और वे संस्कारवान भी बनते है।(14)

कभी इस तरह की बात सामने नहीं आई कि संयुक्त परिवार के कारण किसी की प्रगति में परेशानी आई हो। परिवार व्यवस्था में दरार पड़ना भारतीय समाज व्यवस्था पर भूमंडलीकरण के गंभीर परिणाम के रूप में देखा जा सकता है।

6.5.3 आपसी रिश्ते में दरारें

भूमंडलीकरण के प्रभाव स्वरूप पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था का जोर बढ़ा है। समाज में नौकरी के प्रति आकर्षण का भाव बढ़ रहा है। नौकरियों के कारण युवा अपने माता–पिता से दूर रहने लगे है। जिसके परिणामस्वरूप छोटे परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है। आधुनिक परिवारों में व्यक्ति की मनः स्थिति के संदर्भ में *द ग्रेट इंडियन फैमिली* में लेखक लिखते है :

> परिवार जबरदस्त दबाव के शिकार हो रहे है। कामकाजी माँ, अति व्यावसायिक पिता, काल सेंटर में काम करने वाले बच्चे ..... परिवार में साहचर्य के लिए कोई समय शेष नहीं रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला, अपनी दुनिया में जी रहा है।(106)

भूमंडलीकरण भारत में माँ–बाप, भाई–बहन और दूसरे संगे संबंधियों से अलग सिर्फ पत्नी–बच्चों के साथ रहना रूढ़ हो गया है। औद्योगिक समाज के तनाव और व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं की टकराहट के कारण पारिवारिक संबंध अस्थायी बन गए हैं।

संबंधों में दरार पड़ना उपभोक्तावादी समाज की एक सामान्य विशेषता है जो भारतीय परिवेश में पति–पत्नी के मध्य व्यापक स्तर पर देखी जा सकती है।

6.5.4 वृद्धों की दयनीय स्थिति

भारतीय समाज में वर्तमान समय में वृद्धों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। *इंडिया टुडे* ने–

> भारतीय समाज में वृद्धों की चिंतनीय स्थिति को लेकर एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट पेश की थी। जो हर संवेदनशील व्यक्ति को सोचने के लिए मजबूर करती है। रिपोर्ट के अनुसार अलग करना है। 11 प्रतिशत बुजुर्गों के साथ एक भी युवा नहीं रहता। 64 प्रतिशत शहरी बुजुर्ग महिलाएं पूरी तरह से अन्य लोगों पर आश्रित है। 30 प्रतिशत नागरिकों को स्वास्थ्य–सुविधा की दरकरार है। वृद्ध जनसंख्या में 40 प्रतिशत मानसिक एवं शारीरिक रूप से प्रताड़ित है तथा 50 प्रतिशत महिलाएँ भारत में अकेले रहने को मजबूर है।(14)

हमारा समाज आज से पहले पेड़ों, पत्थरों से लेकर जानवरों तक को पूजता था। आज अपने बुजुर्गों को दरकिनार कर रहा है। माता–पिता को देवता मानने वाले बेटे, अब उन्हें बोझ समझने लगे हैं। बुजुर्गों पर होने वाले अत्याचार के मामले बढ़ रहे हैं।

एक वक्त था, जब माता–पिता को आदर्श मान उनका सम्मान किया जाता था। पूरे संसार में शायद भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ तीन पीढ़िया सप्रेम एक ही घर में रहती थी। आज भूमंडलीकरण के वशीभूत देश के नौजवान माता–पिता के साथ चंद सेकेंड बिताना भी मुनासिब नहीं समझते। जानकारी के अभाव और बदनामी के डर से बुजुर्ग कानून का सहारा लेने से हिचकते हैं। कई मामलों में बुजुर्ग अपने बच्चों को इस कदर प्यार करते हैं कि उनकी प्रताड़ना भी खामोशी से सह लेते है। जो माता–पिता अपनी औलाद के आगमन की खुशी में मोहल्ले में मिठाइयाँ बाँटते फिरते थे और उसकी एक हँसी से दुनिया की पूरी खुशियाँ प्राप्त कर लेने की अनुभूति करते थे। वही औलाद माता–पिता की एक छोटी–सी इच्छा की पूर्ति करने में आनाकानी कर रही है। उन्हें अपने जीवन का बोझ समझती है।

माता–पिता के प्रति नफरत बढ़ती ही जा रही है। भले ही देश में युवाओं की सोच बदल गयी हो, लेकिन माता–पिता अब भी नहीं बदले हैं। हमें समाज में सुधार लाने के प्रयास करने ही होंगे।

6.5.5 प्रतियोगिता की अंधी दौड़

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने दिशाहीन प्रतियोगिता को जन्म दिया है। प्रतियोगिता की दौड़ में बचपन से ही बच्चे दबाव एवं तनाव का शिकार हो जाते हैं। बच्चा बोलना सीखें इससे पहले महत्वाकांक्षी माता–पिता उसके कैरियर के सपने सजाने शुरू कर देते है। किसी नामी शिक्षा संस्थान में दाखिला पाने के लिए नब्बे फीसदी अंक अनिवार्य है। अतः माता–पिता की महत्वाकांक्षा एवं बच्चे की स्थिति इनमें असंगति पनपने लगती है। परिणामस्वरूप बच्चे अवसाद जैसी बीमारियों का शिकार होने लगे हैं।

कई बार परिवार में बच्चों से ऐच्छिक अंक न पाने पर उन्हें शारीरिक दंड भी दिया जाता है। ममता, प्यार, स्नेह के अभाव में बच्चे जब बड़े हो जाते हैं तो किशोर तथा युवा अवस्था में उनकी मानसिकता में जबरदस्त परिवर्तन होता है। प्रतियोगिता के दबाव में आधुनिक जीवन शैली और ऊँची आकांक्षाओं, व्यस्त माता–पिता की उदासीनता समाज में बढ़ते खुलेपन के कारण लड़के–लड़कियों में मूल्य, नैतिकता एवं वर्जनाओं के प्रति लापरवाही का भाव तेजी से बढ़ रहा है। शराब, सिगरेट, सेक्स और अश्लील साहित्य की कोई बात नहीं, जैसे सामान्य शब्दों के साथ स्वीकार किया जा रहा है।

भूमंडलीकरण का जबरदस्त आघात परिवार में सदस्यों के संबंधों पर होता दिखाई देता है। इससे ऊपजी प्रतियोगिता के कारण छात्रों में अनायास भय पलने लगा है, वे अपने कैरियर को लेकर साशंक है। दौड़ती प्रतियोगिता ने जीवन में जो गति भर दी है उसका कोई ठौर ठिकाना नहीं है। भूमंडलीकरण के कारण ऊपजी कार्पोरेट जीवन शैली की चकाचौंध में युवा अपनों से भी दूर हो रहा है। उसे अपनो के अपनेपन का अहसास केवल विभिन्न तरह के हादसों में होता है, जिसे वह महससू भी नहीं करना चाहता।

6.5.6 नए मध्य वर्ग का उदय

यह नया मध्य वर्ग सामाजिक सरोकारों से अछूता और घोर स्वार्थी है जो समाज में एक ऐसे उपभोक्ता–वर्ग के रूप में उभरकर सामने आया है जिसकी दिलचस्पी अपने दैनिक सुख तक सीमित है। संस्कृति के नाम पर उपभोक्तावाद इनकी सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकृत संस्कृति है। यह एक ऐसा घोर व्यक्तिवादी वर्ग है जो केवल अपनी ऐशों–आरामों की फिक्र करता है। मँहगी कारें, अति आधुनिक उपभोक्ता मशीने, डिज़ाइनर वस्त्र तथा अनुशंगिक वस्तुओं के साथ–साथ जिस पंचतारा जीवन शैली को मध्य वर्ग ने अपनाया है। वह उदारीकरण की प्रक्रिया से जन्मी भोगवादी माहौल का नतीजा है। यह बेहद असंवेदनशील वर्ग है देश की गरीबी, बेरोजगारी से इन्हें कोई सरोकार नहीं है। इस पर अमित कुमार सिंह अपनी पुस्तक *भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प* में लिखते है :

> बड़े–बड़े कोठियों वाली पॉश कॉलोनियों में भी कूड़ों के ढ़ेर व टूटी–फूटी सड़के बड़ी आसानी से देखी जा सकती है। इस वर्ग में इतनी सामाजिक चेतना भी नहीं देखी जाती कि वे सुधार हेतु छोटा–मोटा प्रयास भी करें। घरों के बाहर खड़ी महँगी गाड़ियाँ दरअसल, यही सोच जाहीर करती है – बस ऐश करो बाकी चीजें भूल जाओ। अपनी जड़ों से कटा हुआ, परंपरा से मोह ग्रस्त और आधुनिकता की ललचाई आँखों से देखनेवाला यह मध्यवर्ग भूमंडलीकृत भारत की सांस्कृतिक देन है।(104)

6.6 आदिवासी समाज पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

इसमें कोई शक नहीं कि भूमंडलीकरण ने शहरी जीवन स्तर में सुधार किया और उसे ऊँचा उठाया है। लेकिन हाल फिलहाल में भूमंडलीकरण के विरोध में आवाज उठाई जा रही है जो समाज के ऐसे वर्ग से आती हैं जो तथाकथित जंगली हैं, असभ्य हैं, और मूल समाज का हिस्सा नहीं है। इनकी आवाज में ऐसी समस्या की पीड़ा है जिसने समाज के शिक्षितों को इनकी आवाज में आवाज मिलाने को विवश किया है। सवाल उठता है कि ऐसी क्या वजह है ? जिससे इस समाज को भूमंडलीकरण के विरोध में खड़ा किया है जिस वैश्वीकरण से सम्पूर्ण

विश्व का लाभ हो रहा है, तरक्की हो रही है, उसके जीवन स्तर में सुधार हो रहा है, आदिवासी समाज उसका विरोध क्यों कर रहा है?

भगवान ग्वाहड़े की पुस्तक *आदिवासी मोर्चा* में एक कविता है *वैश्वीकरण की असली शक्ल* शीर्षक से जिसमें ज्ञात हो जाता है कि आदिवासी प्रकृति से जुड़े हुए हैं, उनकी आत्मा, उनके पूर्वज पेड़ों में बसते हैं, उनका जीवन, उनकी सम्पूर्ण दिनचर्या प्रकृति के आस–पास उनके साथ है, लेकिन वैश्वीकरण के कारण उनके इलाके के पहाड़ टूट रहे है, झरने नालों में परिवर्तित हो रहे हैं। भगवान ग्वाहड़े लिखते हैं :

पेड़–पौधे–लता–बेलियों को कुचल कर

तुमने बनाई महामार्ग की

द्रुतगतिमान अमानवीय राहें

जैसे फैलाई हों

दैत्य दानव ने अपनी विकराल बाहें ....।(24)

ग्लोबल वार्मिंग वर्तमान समय में एक ऐसा ज्वलन्त विषय है जिसकी चर्चा विश्व भर में की तो जा रही है किन्तु कोई ठोस रास्ता नहीं निकल पा रहा है। इसकी एकमात्र वजह है प्रकृति का अन्धाधुंध दोहन! कोई भी अपनी सुविधाओं से समझौता करने के लिए तैयार नहीं है, किन्तु आदिवासी तटस्थ रूप से केवल पर्यावरण के विषय में ही सोचता है।

6.6.1 भूमंडलीकरण के भंवर में आदिवासी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का संकट

भूमंडलीकरण के प्रतिरोध में आदिवासी साहित्य की अनुगूँज को भी समझने और जानने की दरकार है। आदिवासी साहित्य जीवन और जीवन के यथार्थ का साहित्य है कल्पना आधारित नहीं। इसलिए जीवन की शैली, मिथक, समस्याओं पीड़ा व शोषण ही उसकी साहित्य की वस्तु है। किसी भी भाषा के द्वारा हम उसके मानव का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक जीवन चित्रित कर सकते हैं। आदिवासियों की संस्कृति समृद्ध है, लेकिन साहित्य में अपनी सम्पूर्णता के साथ उसका दर्ज होना अभी शेष है। शायद उसका एक बड़ा कारण शिक्षा का माध्यम, भाषा और भाषा से सम्बन्धित साहित्य और संस्कृति भी है।

आदिवासियों ने जिस भाषा में शिक्षा प्राप्त किया, उसी भाषा के माध्यम से जीवन की विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी करने की कोशिश की। अनायास ही अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति से जुड़ाव छूटता गया, किन्तु अब वैश्वीकरण के समय अपनी भाषा और संस्कृति से

जुड़ना अति आवश्यक हो गया है। किसी भी भाषा का साहित्य उस भाषा के बोलने वालों की मनोवृत्ति, भावना, चिंतन और जीवन सम्बन्धी दर्शन को लेकर चलता है। इसलिए एक भाषा अपने कलेवर में उस भावभूमि को संजोये रहती है जो उसकी बोलने वालों की मनोवृत्ति तथा चिंतन के लिए होती है। वाकई! इस रूप में साहित्य उस भाषा के बोलने वाले व्यक्तियों के जीवन की साँसे हुआ करती है। वह उस भाषा–भाषी समूह के भूत, भविष्य और वर्तमान का सांस्कृतिक इतिहास भी होता है। इसलिए किसी भी साहित्य की सर्वोत्तम परख में उस भाषा के बोलने वालों की संस्कृति की प्रौढ़ता, मौलिकता तथा दार्शनिक पद्धति सम्मिहित होती है। इसीलिए समाज का त्रिकालदर्शी दर्पण कहा गया है, क्योंकि किसी भी समाज के जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब साहित्य के दृष्टिगत होता है।

आदिवासियों की अपनी संस्कृति है, जो गैर आदिवासियों से कई मायनों में विशिष्ट है। क्या यह सही नहीं है कि हिन्दू धर्म आज भी वर्ण व्यवस्था के भार से मुक्त नहीं हो पाया है, जबकि आदिवासी समाज में वर्ण व्यवस्था के लिए कोई जगह नहीं है। स्त्री–पुरूष के रिश्ते की दृष्टि से आदिवासी समाज आदर्श समाज है।

बहुसंख्यक आदिवासियों के पास नगर जीवन, सुरूचिपूर्ण भोजन और अच्छे कपड़े, जो सभ्य होने का मापदण्ड़ माना जाता है – का अभाव है, पर उनके पास उच्चतर जीवन मूल्य है, लोभ और लालच से मुक्त जीवन की संस्कृति है। वर्तमान में आर्थिक वैश्वीकरण और उदारीकरण ने सबसे अधिक सांस्कृतिक पटल पर परिवर्तन उपस्थित किए है, जिससे आदिवासी संस्कृति अछूती नहीं रह पायी है।

आज के भूमंडलीकरण के दौर में कार्पोरेट जगत का बोलबाला है। साम्प्रदायिकता, जातिवाद, राजनीति की क्रूरता, मीडिया का बाजारीकरण, उपभोक्तावाद, बाजारवाद इत्यादि वैश्वीकरण के दौर की सच्चाई है। जिससे की आदिवासी समाज को अनगिनत चुनौतियों से जूझना पड़ रहा है।

'नई आर्थिक नीतियाँ' *बहुवचन पत्रिका* से हमारी सरकारों और उद्योगपतियों को विकास के नाम पर आदिवासियों को लूटने की खुली छूट मिल गई। इसका असर देश के किसी भी आदिवासी इलाके में देखा जा सकता है। "देश भर के आदिवासियों ने इस खुली छूट को अलग–अलग तरीकों से चुनौती भी दी है। लाल रेखा की परिधि के बढ़ते चले जाने को लेकर नियमगिरि की ग्राम सभाओं द्वारा वेदांत के एक सफर में विरोध तक में हम देख सकते हैं। आदिवासियों की समस्याएँ सुलझने के बजाय उलझती जा रही है।"(38)

इसीलिए ऐसी स्थिति में आदिवासी भाषा साहित्य एवं संस्कृति की तरफ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वस्तुतः आदिवासी समाज से संवाद स्थापित करने में आदिवासी साहित्य महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी समाज के सामने अपने अस्तित्व का संकट गहराता जा रहा है। उन्हें जल, जंगल, जमीन से काटने का प्रयास किया जा रहा है, पर इस संकट से निजात आदिवासी साहित्य ही दिला सकता है। आदिवासी साहित्य को आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों ने लिखा है। राकेश कुमार सिंह का *जो इतिहास में नहीं है* व *पठार पर कोहरा* रणेन्द्र का *ग्लोबल गाँव का देवता* संजीव का *जँगल जहाँ से शुरू होता है* व *फाँस* महुआ माजी का *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ* मधुकर सिहँ का *बाजद अनहद ढ़ोल* व *धूणी तपे तीर* रणेन्द्र का *ग्लोबल गाँव के देवता* पुन्नी सिहँ का *सहराना* आदि आदिवासी ग्राम्य समाज को केन्द्र में रखकर लिखा गया साहित्य है। इन गैर आदिवासी द्वारा आदिवासी जीवन पर किए गए लेखन में केवल लेखनीय संवेदनशीलता ही झलकती है, जबकि आदिवासी लेखकों द्वारा यह लेखन अधिक प्रभावी ढ़ंग से हुआ है। यह स्वानुभूति तथा सहानुभूति का अन्तर है।

कभी इस देश के बड़े भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी ने यह भविष्यवाणी की थी कि आदिवासी भाषाएँ अपनी मौत मरती जाएगी और दो–तीन सौ साल में खत्म हो जायेंगी। कहना न होगा कि इसका सामना आदिवासी साहित्य एवं विमर्श को करना है कि इस भूमंडलीकरण के समय में आदिवासी अपनी भाषा के बिना अपनी संस्कृति को कैसे बचायेंगे। आदिवासी साहित्य सम्बन्धी अधिकांश भ्रमों के निर्माण की शुरूआत यहीं से होती है, कि आखिर हम आदिवासी साहित्य में किसे शामिल मानेंगे और किसे नहीं। पहली बात तो यह कि हिन्दी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं रही है, इसलिए हमें इस आग्रह को छोड़ना होगा कि हिन्दी में लिखे साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं मानेंगे। आदिवासी साहित्य की परम्परा में हमें विभिन्न आदिवासी भाषाओं में बिखरे लाखों आदिवासी गीतों के रूप में उपलब्ध 'पुरखौती' को शामिल करना होगा, जिसका कुछ हिस्सा डब्लू. आर. सी. आर्चर जैसे विद्वानों द्वारा संकलित भी किया गया है। यह आदिवासी साहित्य का मूलाधार है। प्रवृत्तियाँ बताते वक्त हमें "संथाली, मुंडारी, खाड़ियाँ, कुडुख, हो आदि भाषाओं की साहित्य परम्परा को सामने रखना होगा।"(34)

भारत की आबादी में लगभग दस करोड़ या उससे कुछ अधिक जनसंख्या आदिवासी समाज की है। भारतीय संविधान में इन्हे जनजातीय की संज्ञा दी गई है। भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण के समय में भी आदिवासी समाज अपने बुनियादी हक और अधिकारों से वंचित है। विकास कार्यों के नाम पर इन्हे जंगलों से निकाला गया।

वस्तुतः आदिवासी साहित्य, आदिवासी समाज के दुखों यातनाओं को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है। यह ऐसा साहित्य है जो अपने समय के समाज को सांस्कृतिक विरासत को सम्पूर्णता में जाकर देखता है। *जनसत्ता पत्रिका* "आदिवासी जीवन से लेकर आदिवासी साहित्य तक में शास्त्रों और सिद्धान्तों तक के लिए कोई जगह नहीं है, फिर भी आदिवासी साहित्य के बारे में यही समझ विकसित करने और उसका मूल्यांकन करने के लिए हमें उसके बुनियादी तत्वों की पहचान करनी होगी।"(3)

आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक वैश्वीय के दर्शन होते हैं और सहजता एवं सरलता के अनूठे मेल से वे जीवन को आनंदमय बनाते हैं। आदिवासी साहित्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देता है तथा यह आदिवासी समाजों में जाति तथा वर्ग के भेद को मिलाकर अपने जीवन मूल्यों को स्वीकार करने का पक्षधर है। संथाली, मीणा, गौड़, भील आदि जनजाति अथवा किसी भी अन्य जनजाति पर लिखा साहित्य आदिवासी साहित्य का ही अंग है। *कथाक्रम पत्रिका* "आदिवासी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है। समृद्ध मौखिक साहित्य परम्परा का लाभ आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केन्द्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथा लेखन है।"(4)

उपन्यासों की पड़ताल करती हुई रोहिणी अग्रवाल *समकालीन हिन्दी उपन्यास और दिकू समाज का आदिवासी चिंतन* की यह टिप्पणी विचार करने लायक है :

> बेशक सृजन के समय रचनाकार सृष्टा होता है, लेकिन उसके श्रृस्टा के भीतर बैठा बोध उसके वर्ग, धर्म, लिंग और व्यय से निर्देशित–प्रभावित होता हुआ उसे जो दृष्टि और संवेदना देता है, वही उनके लेखकीय व्यक्तित्व का सृजन करता है और रचना में प्रतिफलित होता है।(44)

अतः आदिवासी भाषायी, साहित्य, अस्मिता बोध, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिकता का सही खाका ये लोकराग ही तय कर सकते हैं, इन्हे सुरक्षित रखना ही आदिवासी विमर्श की सबसे बड़ी चुनौती है।

6.6.2 भूमंडलीकरण में आदिवासियों का विस्थापन

भूमंडलीकरण में औद्योगिकरण की जो अँधी सनक दिखाई देती है इसका बहुत अधिक हद तक भुक्तभोगी, आदिवासी या जिन्हें संविधान में अनुसूचित जनजाति कहा है वो वर्ग नजर आता है। आदिवासी के विस्थापन के संदर्भ में हरिराम मीणा *वैश्वीकरण और आदिवासी* में लिखते है :

आदिवासी अँचलों में प्राकृतिक संसाधनों की जो लूट वैश्वीकरण के इस दौर में मची है उसने आदिवासी जीवन को नरक तुल्य बना दिया है। जहाँ आधारभूत सुविधाओं, मानवाधिकारों, लोकतंत्र में साझेदारी आदि की बात बहुत दूर आदिवासी समाज का अस्तित्व ही गहरे संकट में कसता जा रहा है।(48)

हरिराम मीणा भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी की देश के विकास में हिस्सेदारी की बात करते हुए यथार्थ की ओर जाते है कि आज आदिवासी ग्राम्य का अस्तित्व ही खतरे में है। उनकी लुप्त होती प्रजातियों की चिंता एक महत्वपूर्ण विषय है। भूमंडलीकरण में विकास के नाम पर जंगल और भूमि लूट के साथ प्राकृतिक संसाधनों के अवैज्ञानिक दोहन ने इस धरती की हरियाली मिटा दी है। आदिवासी ग्रामीण समुदाय जो सदियों से वंचित, शोषित और विकल्पहीन रहा है, आज उसकी हालत बहुत ही सोचनीय और चिंताजनक है। समानता, अवसर और अधिकारों से वंचित इस समुदाय को तथाकथित विकास की मुख्यधारा से जोड़ने के ढंग ने इनको अपनी जमीन से बेदखल कर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्तर पर सोची समझी रणनीति के तहत कमजोर किया जा रहा है। इस पर राहुल चिमुरकर *आदिवासी समस्या एवं समाधान* में लिखते है :

संविधान में आदिवासियों को दिए अधिकारों के संदर्भ में डॉ बी० आर० आम्बेडकर ने अनुसूचित जाति और अन्य पिछड़ा वर्ग को केवल शिक्षा और नौकरी में आरक्षण दिया लेकिन आदिवासियों की शिक्षा और नौकरियों के साथ–साथ दो महत्वपूर्ण अधिकार दिए– स्वयं शासक का अधिकार और मालकी हक का अधिकार।(12)

संविधान में कई प्रावधान आदिवासी के हित एवं पक्ष में होने के बावजूद आदिवासी का बड़े पैमाने पर विस्थापन हो रहा है। जिसका कारण सरकार की भूमंडलीकरण की नीतियाँ है। भूमंडलीकरण के दौर में सबसे ज्यादा विस्थापित आदिवासी हुए है। उन्हें जंगलों से बेदखल कर पूँजीपति जंगलों से खनिज संपदा निकालकर अरबों रूपए कमा रहे हैं। जंगलों की खनिज संपदा निकालकर आदिवासी को बड़े पैमाने पर विस्थापित किया गया है। आदिवासी की जमीनें छिनकर उन्हें खदानों में मजदूर बना दिया गया है। यहाँ आदिवासी जिंदा रहने के लिए जंग में युद्धरत है। प्रस्तुत त्रासदी को आदिवासी उपन्यास *मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ, जँगल जहाँ से शुरू होता है, पठार पर कोहरा, जो इतिहास में नहीं है* आदि में चित्रित किया गया है।

6.7 ग्राम्य जीवन में दलितों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

किसी वर्ग के भविष्य का प्रश्न उसके वर्तमान के संकट से निकलता है, भविष्य की चिन्ता स्वाभाविक भी है और उचित भी। 1991 के बाद भारत के शासक वर्ग ने विश्व व्यापार

संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की कुख्यात तिकड़ी द्वारा निर्देशित भूमंडलीकरण उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को अपनाया। इन नीतियों का राज्य व समाज की संस्थाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। समाज को कुछ सीमित वर्ग मालामाल हुए हैं तो अधिकांश जनता पागल हुई। अमीर देशों के अमीर लोगों और गरीब देशों के अमीर लोगों को लाभ पहुँचाने वाली इन नीतियों ने दलितों के भविष्य पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। यद्यपि भारतीय शासन सत्ता पर बड़े भू–स्वामियों और पूंजीपतियों का नियंत्रण रहा है, इसलिए दलितों–पीड़ितों का विकास व उत्थान के उचित अवसर नहीं मिले। चूंकि स्वतन्त्रता के आंदोलन में सभी वर्गों की भूमिका थी, इसलिए सभी वर्गों की आकांक्षाओं को समाहित करने के लिए कल्याणकारी व जनतांत्रिक राज्य को अपनाया था और दिखावे के लिए ही सही राज्य के सामने वंचित दलित वर्गों के उत्थान विकास, विषमता मिटाने व समानता स्थापित करने का आदर्श व संकल्प तो था ही, लेकिन वैश्वीकरण उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों के अपनाने से इसे बड़ी बेशर्मी से त्यागकर सम्पन्न वर्गों की खुल्लम–खुला वकालत शुरू कर दी है। जहाँ राज्य धन के अभाव का रोना रोकर, सबसिडी कम करके शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा व रोजगार प्रदान करने के दायित्व के पीछे हट रहा है तो दूसरी ओर कभी सीमा शुल्क कम करके तो कभी सस्ते ऋण देकर दलितों–वंचितों का हिस्सा अमीरों की झोली में डाल रहा है। अमीरों को सुरक्षा दे रहा है तो दलितों के प्रति क्रूरता से दमन व हिंसक रूप में पेश आ रहा है उनकी विरोध व असहमति की आवाज को निर्ममता से दबाया जा रहा है या अनसुना किया जा रहा है।

दलितों के लिए वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की नीतियों को अपनाया जाना ब्राह्मणवाद की पुर्नस्थापना जैसा कदम है। इन नीतियों ने भी दलितों को शिक्षा, रोजगार व सामाजिक सुरक्षा के अवसरों से वंचित किया है।

किसी वर्ग के विकास व प्रगति के लिए ज्ञान निहायत जरूरी है, इसलिए दलित चिन्तकों ने विशेषकर ज्योतिबाराव फूले और डॉ० अम्बेडकर ने शिक्षा पर सबसे अधिक जोर दिया था। आज के युग में जबकि ज्ञान विकास की कुँजी बन चुका है तो किसी वर्ग इससे दूर करने का अर्थ है उसको गुलाम बना लेना। शिक्षा के विशाल ढ़ाँचे ने यद्यपि दलितो की हिस्सेदारी इतनी अधिक नहीं रही, लेकिन यह भी सच है कि दलितों में शिक्षा का जितना भी विस्तार हुआ है तो यह सार्वजनिक ढ़ाँचे से ही।

राज्य–तंत्र में दलितों की हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की थी, इसके चाहे अपेक्षित परिणाम न निकले हों, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि इससे दलितों की हिस्सेदारी बढ़ी है और शिक्षित दलितों के लिए रोजगार के अवसर बने थे।

लेकिन निजीकरण की नीति के तहत सरकारी विभागों और सार्वजनिक उपक्रमों को जिस तरह से निजी हाथों में सौंपा जा रहा है उससे न केवल रोजगार के अवसर समाप्त प्राय होगें, बल्कि जीवन के लिए आवश्यक शिक्षा, परिवहन व बिजली जैसी मूलभूत सेवाओं से वंचित होना पड़ेगा या फिर इन्हीं को प्राप्त करने में सारा खर्च होगा, जिसका की जीवन स्तर पर नकारात्मक असर पड़ेगा। निजीकरण ने दलितों पर दोहरी मार मारी है एक तो उनके रोजगार अवसर कम किए हैं, दूसरे आवश्यक सेवाएं मँहगी हुई हैं इसके अलावा दलितों के पास सम्पत्ति का बहुत कम भाग है।

दलितों की अधिकांश आबादी गाँव में रहती है और खेती पर निर्भर है। दलितों के बहुत छोटे हिस्से के पास जमीन हैं। अधिकांश दलित खेतीहर मजदूर हैं। खेतीहर मजदूरों की स्थिति काफी कुछ खेती पर निर्भर करती है। भूमंडलीकरण की नीतियों से खेती के स्वरूप में भारी बदलाव हुए हैं, व्यावसायिकता के दबाव के कारण किसान और मजदूर के संबंधों में बदलाव आया है, जिसने मजदूर की गरीबी को दरिद्रता में बदल दिया है। किसान कर्जे में डूबे है, कर्जे की अधिकता के कारण एक लाख अस्सी हजार से अधिक किसान आत्महत्याएं कर चुके हैं। खाद, बिजली व तेल आदि से सबसिडी कटौती से व कीटनाशकों के अत्यधिक प्रयोग से खेती किसान के लिए घाटे का सौदा बनती जा रही है, जब किसान के यह हालात है तो उस पर निर्भर मजदूर की क्या हालत होगी। इसका अनुमान लगाना कठिन काम नहीं है। खेती का अधिकतर काम मशीन से करने के कारण मजदूरों को बहुत कम दिन काम मिल पाता है। अनुमान के अनुसार केवल 60 से 70 दिन तक ही काम मिलता है, शेष दिनों में खाली जैसा है जिसके परिणामस्वरूप मजदूरों की बारगेनिंग क्षमता कम हुई है और 15 से 20 रूपये में दिन भर के लिए काम करना पड़ता है। इससे पूरी परिस्थिति बदली है।

जब गाँव में गुजारे लायक काम नहीं मिल पाता तो शहर में पलायन और विस्थापितों का सा जीवन बिताने पर विवश हैं। एक तरफ तो जवान व बलिष्ठ पुरूष शहर में अकेलेपन और तनावपूर्ण जीवन बिताने को अभिशप्त हैं, तो दूसरी तरफ घर परिवार की सारी जिम्मेदारी औरतों पर आने से वे जवानी में ही बुढ़ा रही हैं।

कारखानों में दलितों की उपस्थिति मजदूर के रूप में है। छोटे–छोटे उद्योगों में मानव श्रम की जरूरत होती थी। स्वचालित मशीनों के प्रयोग ने श्रमिकों की जरूरत को कम किया है और जो काम स्थानीय स्तर पर होता था वह अब केन्द्रीकृत हो गया है। बड़ी पूँजी द्वारा बड़े स्तर पर उत्पादन ने इन छोटी–छोटी इकाइयों का काम चौपट कर दिया है जिससे कि श्रमिक बेरोजगार हो गए हैं। भूमंडलीकरण की नीतियों में मजदूरों के शोषण को संस्थागत रूप दे दिया

हैं। एक तरफ तो ठेके पर काम की प्रणाली लागू करके मजदूरों की पक्की नौकरी व सामाजिक सुरक्षा को एक ही झटके में छीन लिया दूसरी तरफ श्रम कानूनों में बदलाव करके उनकी एकता को कम करके उनके संघर्षों को कुंद करने की कोशिश है। जिन कार्यों में दलित संलग्न थे, निजीकरण की प्रक्रिया में सबसे पहले उन्हीं कामों को निजी दायरे में लिया है, जिससे रोजगार की सुरक्षा छीनकर उसे पूर्णतः लाचारी की अवस्था में फेंक दिया है। न्यायालय जैसी संस्थाओं से कानूनी वैधता मिल रही है।

यह संयोग मात्र नहीं है कि ज्यों–ज्यों इन नीतियों का प्रकोप बढ़ रहा है, त्यों–त्यों दलित उत्पीड़न व साम्प्रदायिक–वैमनस्य बढ़ रहा है, बल्कि इनमें एक अन्तः सूत्रा है। इन नीतियों की मार से लोगों में रोष को समाप्त करने के लिए कथावाचक 'बाबाओं' व 'बाबूओं' फौज भी बढ़ रही है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की नीतियों ने दलितों के साथ–साथ समाज के अन्य कमजोर वर्गों के सामने की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार व सामाजिक सुरक्षा का संकट इस हद तक खड़ा किया है कि इन नीतियों के चलते वे फल–फूल नहीं सकते। या तो ये नीतियाँ रहेगी या फिर ये वर्ग।

6.8 ग्राम्य जीवन में मुस्लिम समाज पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

टी.वी. व विज्ञापनों के माध्यमों से दैनिक जीवन में उपयोग आने वाली वस्तुएँ। नये डिजाइन का इलैक्ट्रानिक सामान, मोबाइल, इंटरनेट आदि से मुस्लिम रहन–सहन में बदलाव आया है। खान–पान के संदर्भ में देखा जाये तो मुस्लिम समाज की महिलाएं रेस्टोरेंट में जाने लगी है। आभूषणों के संदर्भ में देखा जाए तो सीरियल के माध्यम से नये–नये डिजाइनों के परिधानों की मैंचिंग भी आर्टिफिशियल आभूषणों का चलन हो गया है। यहाँ तक कि निकाह जैसे विशेष समारोह पर महिलायें व लड़कियाँ ब्यूटीपार्लर जाने से भी पीछे नहीं हटती। भाषा शैली में मुस्लिम समुदाय में उर्दू के साथ–साथ हिन्दी व अंग्रेजी भाषा सीखने का प्रयास भी देखा जाता है क्योंकि उनका मानना है कि समाचार पत्रों, न्यूज, विज्ञापन व सीरियल की भाषा हिन्दी व अंग्रेजी में ज्यादा मिलती है। जिसे यह समाज आसानी से नहीं समझ पाता है। संस्कारों के संदर्भ में देखा जाए तो यह विदित होता है कि संस्कार तो प्रत्येक धर्म के अपने–अपने होते हैं। जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते रहते है। जिसमें बड़ों का आदर सत्कार सब पहले जैसा है, परन्तु नयी पीढ़ी में थोड़ा–सा प्रभाव दिखायी देता है जैसे बाय–बाय, ओक्के व गुडमार्निंग के रूप में दिखता है जो कि जनसंचार का ही प्रभाव है।

मुस्लिम समाज के परिवारों की महिलाएँ भारतीय सस्कृति से जुड़े परिधानों के साथ–साथ पश्चिमी सभ्यता के परिधानों का भी उपयोग कर रही है जिसमें जींस टॉप प्रमुख हैं

परन्तु 8 से 12 वर्ष की बच्चियाँ ही इसे पहन पाती है। भूमंडलीकरण के जनसंचार माध्यम मोबाईल का प्रभाव भी इस समाज पर पड़ा है इस समाज के लड़के व लड़कियाँ पश्चिमी सभ्यता को अपना रहे है लड़के पेंट शर्ट पहनने लगे है और औरतों में पर्दा प्रथा में प्रति नकारात्मक मनोवृत्ति पनप रही है। साथ ही लड़के व लड़कियाँ का फिल्में देखना, उनका आपस में मिलना–जुलना, प्रेम–विवाह को बढ़ावा दे रहा है। मुस्लिम समुदाय में प्राचीन समय से चली आ रही परम्पराये भूमंडलीकरण के प्रभाव से टूटती सी नजर आ रही है, जबकि उसके स्थान पर एक नयी संस्कृति का उदय हो रहा है। रमजान के समय में ब्यूटी प्रोडेक्ट वह इन उत्पादों का इस्तेमाल नहीं करती क्योंकि इसमें खुशबू आती हैं। सामूहिक चर्चा के दौरान एक तथ्य यह भी सामने आया है कि हमारा गाँव शहर से काफी दूर है इसलिये भी हम सारी वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। गाँव का शहरी बाजार से दूर होने के कारण उनका प्रतिदिन बाजार में जाकर वस्तुएँ खरीदना सम्भव नहीं होता है। इसलिए आवश्यक वस्तुओं के लिए वह महीने या पन्द्रह दिन में एक बार जाकर वस्तुओं का क्रय कर लेते है। सामान्य एक विशिष्ट या उच्च वर्ग इन उत्पादों का उपभोग आसानी से कर लेता है। जबकि उक्त समुदाय में कुछ निम्न वर्ग या सामान्य वर्ग की महिलाओं का भी यह मानना है कि यदि उन्हें भी यह अवसर मिले तो वह भी इन उत्पादों का उपभोग करने से नहीं हिचकिचाएगी। प्रत्येक समाज और प्रत्येक व्यक्ति की जीवन शैली उस व्यक्ति में पायी जाने वाली आस्थाओं या उस समाज में प्रचलित विचार धाराओं से प्रभावित होती है। जीवनशैली, खान–पान प्रतीकों एवं चिन्हों के जरिये साम्राज्यवादी संस्कृति को जनप्रिय बनाने का प्रयास है।

मुस्लिम समुदाय में महिलाओं को बिन्दी लगाने का प्रचलन नहीं है। लेकिन भूमंडलीकरण में मुस्लिम समुदाय की युवा लड़कियाँ विशेष अवसरों पर बिन्दी लगाने से परहेज नहीं करती है। नयी बाजार नीति इस आर्थिक भूमंडलीकरण का एक अनिवार्य मार्ग है। विश्व बाजार अब तक स्वायत रहे समाजों और संस्कृतियों के रहन–सहन, भाषा, दैनिक जीवन, आचरण और मूल्य–बोध का अपने तरीके से अनुकूल कर रहा है। व्यवसाय और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू है। विज्ञापन, फैशन, संगीत, फिल्म, खेल जगत, शिक्षा व राजनीति पूँजी प्रचार अभियान के क्षेत्र में इस नये छवि संसार को देखा जा सकता है। आज जब हम प्रगति पथ पर बढ़ रहे हैं और देश विकास कर रहा है ऐसी स्थिति में पर्दा जैसी विडम्बनाओं को अपनाने या जोर देने का मतलब स्त्री अपनी क्षमता खोती जा रही है तथा वह स्वयं को असहाय की कतार में खड़ी पाती है। उक्त समुदाय में कुछ मुस्लिम महिलाओं का यह मानना है कि जब वह अपने रिश्तेदारों के यहाँ विशेष अवसरों पर तैयार होकर जाते है तो वहाँ पर भी सगे–सम्बन्धियों के साथ अनजान लोग भी उपस्थित होते है तो वह भी उन्हे पर्दे के बगैर देखते

हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि उक्त समुदाय में बुर्के का कोई औचित्य नहीं है। मुस्लिम समाज में भूमंडलीकरण के प्रभाव के कारण कट्टर रीति–रिवाजों में उदारता आ रही है और वह अंध–विश्वास व कुरीतियों से थोड़ा ऊपर उठ रहे है।

6.9 भारतीय कृषि पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

भारतीय कृषि व्यवस्था देश की जीवन रेखा है। जो न केवल देश के निवासियों की खाद्यान्न पूर्ति का साधन है, अपितु यह देश की ग्रामीण जनता को रोजगार उपलब्ध कराने का भी एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत कृषि की दृष्टि से कई शताब्दियों पहले परिपक्वता की स्थिति में पहुँचकर आत्मनिर्भरता प्राप्त कर चुका है उससे देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक व्यवस्था भी संतोषजनक थी। भारतीय सरकार द्वारा देश की अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित एवं मजबूत आधार देने के लिए कृषि पर विशेष ध्यान दिया गया। लेकिन देश की कृषि व्यवस्था अत्यधिक कमजोर होने के कारण इसे एक व्यावसायिक रूप प्रदान करने हेतु बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता थी। जो न तो किसान के पास था और न ही सरकार के पास था। स्वाभाविक रूप से किसानों को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु नकदी प्राप्त करने के लिए अपनी फसल का कुछ भाग बेचना पड़ता था यहीं से विपणन व्यवस्था का प्रारंभ हुआ।

किसान जब फसल बोता है, तो जुताई, बुबाई, उन्नत बीज, खाद सिंचाई, फसलों के पकने की समयान्तराल कटाई एवं उसकी सफाई तथा सुरक्षित रखकर अपने गाँव से विक्रय–केन्द्रों तक पहुँचाने के लिए पूँजी उधार लेनी पड़ती है। उस पर ब्याज आदि पर होने वाले लागत व्यय के पश्चात्, स्वयं के परिश्रम और जोखिम का उचित मूल्य मिलना जरूरी है। अन्यथा यदि किसान को यह उचित मूल्य प्राप्त नहीं होता है तो हानि की स्थिति में किसान या तो कृषि उत्पादन बन्द कर देगा अथवा कृषि कार्य करने की अपेक्षा वह उस भूमि का उपयोग अन्य कार्यों में करेगा।

देश में कृषि की स्थितियाँ सम–स्थिति में विद्यमान है। क्योंकि पहले तो, भारत का भौगोलिक वातावरण ही ग्रामीण क्षेत्र में समान दिखायी देता है और संसाधनों के अभाव में सम्पूर्ण भारत में किसानों की स्थिति में भी समानता दिखायी देती है। इसलिए ये किसान आर्थिक दृष्टि से अधिक सबल नहीं है। ग्रामीण क्षेत्र में आज भी किसानों को कृषि कार्य संचालित करने हेतु आर्थिक मदद हेतु साहूकारों और व्यापारियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जिसके कारण किसान आज भी इनका ऋणी होता है और इनके दबाव में रहकर फसलों का उत्पादन और फसलों का विक्रय करना पड़ता है। जिसे इनका बड़ी मात्रा में शोषण किया जाता है। साथ ही कृषि क्षेत्र में सरकार कृषि सुधार हेतु कुछ महत्वपूर्ण प्रयास किये गये है। लेकिन

कृषि उपज विक्रय के लिए सरकारी प्रयास संतोषजनक नहीं है। जिसके कारण किसानों को अपना कृषि उत्पादन बेचने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। और बेबशी में किसान अपना उत्पादन या तो दलालों के हाथ में बेचता है या खुले बाजारों में बेचता है, या कम मात्रा में उत्पादन होने पर वह हाट–बाजार व आड़तियों को बेचकर कीमत वसूलता है। जिससे उसे हानि उठानी पड़ती है। यह एक गम्भीर समस्या है। जो कृषि की दोषपूर्ण व्यवस्था का परिणाम है। क्योंकि आज भी सम्पूर्ण भारत में सुविधाजनक एवं आधुनिक कृषि केन्द्रों का पर्याप्त अभाव है। परिणामस्वरूप भारतीय किसान ग्रामीण स्तर पर हाट बाजारों में फुटकर विक्रेताओं के माध्यम से तथा मंडियों में अपने कृषि उत्पादन का विक्रय करते है। वर्तमान में सरकार द्वारा संचालित सरकारी खरीद केन्द्रों पर कृषि उपज का विक्रय किया जाता है। लेकिन ये केन्द्र सुविधाहीन होते है। अतः यह व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण है। जिसके कारण किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य आज भी प्राप्त नहीं हो पा रहा हैं।

भारतीय कृषि पर भूमंडलीकरण का सकारात्मक प्रभाव –

1. **राष्ट्रीय आय** – कृषि वस्तुओं के लिए अंतरराष्ट्रीय बाजार प्राप्त करना, कृषि उत्पादन, नई तकनीक, नए बीज आदि में वृद्धि हुई है। कृषि उत्पादन को बढ़ाने में मदद मिली। जिससे देश का अनाज जरूरत से अधिक होने पर हम दूसरे देशों में निर्यात करते है जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। अधिकांश ग्रामीण जनता कृषि पर भी निर्भर करती है। कृषि के उत्पादन के चलते ग्रामीण लोगों कृषि क्षेत्र में कार्य मिल जाता है। वही मजदूर वर्ग भी कृषि के बोने से लेकर, उत्पादन व्यवसायों तक रोजगार प्राप्त कर पाता है।

2. **रोजगार में वृद्धि** – उद्योगों के आधार पर कृषि संग्रहीत है और इसे रोजगार में वृद्धि पर बनाया गया है। हॉट बाजार मंडी अब हर किसान अपनी फसल मंडी में बेचता है, जिससे उसे फसलों के कुछ अच्छे दाम मिल जाते है।

3. **अंतर्राष्ट्रीय बाजार** –अब नई तकनीक से खेती में अधिक उत्पादन, अच्छे बीज... किसान अब अपना अनाज मंडी में बेचता है ना की, किसी ठेकेदार, आश्रितदाता को देता है। जिससे किसान के व्यापार में हिस्सेदारी बढ़ी है।

भारतीय कृषि पर भूमंडलीकरण के नकारात्मक प्रभाव –

1. विकसित देशों द्वारा बड़े पैमाने पर वितरित अनुदान में कमी करने से पहले 'विश्व व्यापार संगठन' द्वारा अनुदान, विकसित देशों ने बड़े पैमाने पर अनुदान वितरित किया था वे बढ़

रहे थे। भारत में कृषि राशि पर अनुदान में काफी कमी की है जिससे किसान को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। (फसल बोनस)

2. छोटे उत्पादन क्षेत्र – भारत में जनसंख्या के 60% कृषि पर निर्भर है। दबाव बढ़ती आबादी के कारण कृषि बढ़ रही है। भूमि का कब्जा है और ऐसा है कि उत्पादन लागत अधिक है मानक आदि की समस्या भी है। इसलिए प्रतिकूल है भारतीय कृषि पर प्रभाव पड़ना।

3. बौद्धिक संपदा अधिकारूक – बौद्धिक संपदा अधिकार भारतीय पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है कारण कृषि। बहुराष्ट्रीय कंपनियां कृषि के क्षेत्र में आसानी से प्रवेश कर सकती है और यह खराब होगी मार्जिन किसानों के लिए।

4. उत्पादन खर्च और माल की कम लागत को बढ़ाना – किसानों को दिवालिया किया जा रहा है बढ़ते उत्पादन व्यय, महँगा बीज एक तरफ और कीमतों को कम करने के कारण दूसरी तरफ माल वह इससे बाहर नहीं निकलता और इसलिए किसान आत्महत्या कर रहा है।

सुझाव :–

1. बुनियादी सेवाओं में वृद्धि करने के लिए यह मानक और बुनियादी के दायरे को विकसित करने के लिए आवश्यक है घरेलू सड़कों, बंदरगाहों, आधुनिक संचार, भण्डार, मानक जैसे सेवाओं का नियंत्रण आदि। ये सुविधाएँ निर्यात के लिए प्रेरणा पर होनी चाहिए। विदेशों में हम निर्यात बढ़ाएंगे तो लाभ भी बढ़ेगा।

2. वित्त और विद्युत आपूर्ति भारतीय कृषि के लिए बिजली की आपूर्ति अनियमित है और अपर्याप्त है। कृषि के लिए वित्त की कमी भी है। यह के मानक पर प्रभाव उत्पादन और उत्पादन का व्यय इसलिए बचने के लिए उचित नीतियों को लागू करना आवश्यक है ये समस्याएँ।

3. प्रोडेक्शन और निर्यात बढ़ाना – अगर कृषि से प्रोडेक्शन कार्य को बढ़ाया जाए या यू कहें कि कृषि से उपज फसलों से प्रोडेक्शन किया जाए और उसे भारत से बाहर निर्यात किया जाए तो कृषि मुनाफे का सौदा होगी।

4. उत्पादन की योजना – फसलों के बढ़ने की योजना आवश्यक है ताकि अच्छे उत्पादन की कीमतों में वृद्धि कम न हो। अपर्याप्त आपूर्ति, बुनियादी सेवाओं की कमी, उत्पादन में कमी, बढ़ती फसलों की योजना में कमी, वित्त की कमी, बारिश पर निर्भरता आदि उत्पादों

को उचित मूल्य प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपाय किए जाए। प्रसंस्करण उद्योगों को कृषि वस्तुओं, पर संसाधित करने के लिए विकसित किया जाए। किसानों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और कृषि संबंधित उद्योग शुरू करने के लिए मार्गदर्शन में उपचार किए जाए तो भूमंडलीकरण में कृषि को उत्साहित कर सकते है।

6.10 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासां का परिदृश्य भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में

यह सिद्ध है कि भारत तथा विश्व में सभी देशों में भूमंडलीकरण की पहली दस्तक आर्थिक दरवाजे पर ही हुई। वैसे भूमंडलीय अवधारणा बहुआयामी है जिसमें आर्थिक–सांस्कृतिक, सामाजिक–राजनीतिक जैसे सभी परिदृश्य दिखते है परंतु आर्थिक पक्ष सबसे अधिक मजबूत है। *उदारीकरण की तानाशाही* में प्रेम सिहँ की अपनी सहमति इसी तरह से देते हैं –"वैश्वीकरण की अवधारणा को बहुआयामी बताने और सिद्ध करने की कोशिशें की जाती है, लेकिन प्राथमिक रूप से वैश्वीकरण एक आर्थिक परिघटना के रूप में ही देखा और माना जाता है।"(80) सही बात है आज समूची दुनिया पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों से ही घिरी हुई है। वैश्विक नीति नियंताओं द्वारा एक विश्व–अर्थतन्त्र का निर्माण किया जा रहा है अर्थात् 'एक विश्व एक बाजार'।

अपनी आर्थिक नीतियों के कुशल संचालन के लिए शक्तिशाली देशों ने 'विश्व बैंक', 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोश' और 'विश्व व्यापार संगठन' जैसे वैश्विक संस्थानों का सहारा लिया। 'संयुक्त राष्ट्र संघ' तो जैसे विकसित देशों का एजेंट ही हो। 21वीं सदीं में समूचे विश्व का जो आर्थिक विकासक्रम है वह बहुत कुछ एकपक्षीय है। कुछ लोग मिनटों में करोड़ों–अरबों रूपये का वारा–न्यारा कर रहे हैं तो बहुतों के पास रोज रात को रोटी के लिए कुछ व्यवस्था होगी इसकी कोई गारंटी नहीं। साफ–साफ बात यह है कि भूमंडलीकरण युग में अमीर तेजी से अमीर और गरीब तेजी से गरीब हो रहे हैं। इस पर प्रेम सिंह की टिप्पणी इस प्रकार से है :

> लगातार भूखमरी महामारी या प्यास कल्याणकारी प्रतिकारों के अभाव में झुंड के झुंड लोग तड़पकर किन्तु धीमी गति या मात्रा में मरने लगेंगे, तब इक्कीसवीं सदीं में उसे दैवी विनाश या विकास की कीमत कहकर ओझल कर दिया जाएगा।(64)

21वीं सदी में बदलते इस परिदृश्य पर विविध क्षेत्रों से जुड़े हुए बहुधा चिंतकों ने पक्ष–विपक्ष पर खूब बोला है, खूब लिखा है। मुंशी प्रेमचंद *हिन्दू समाचार* तो बहुत पहले ही समाज में मजबूत होती आर्थिक सत्ता से लोगों को सचेत कर रहे थे :

> हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी–अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे है, यह

भूल गये हैं कि अब न कही हिन्दू संस्कृति है, न मुस्लिम संस्कृति है और न कोई अन्य संस्कृति। अब केवल संसार में एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति।(11)

मुंशी जी द्वारा पहले व्यक्त की गई यह सूक्ति आज के दौर में और अधिक प्रासंगिक हुई है।

6.10.1 बाजारीकरण

21 वीं सदी में बाजार की रोशनी से सभी परिचित तो हुए मगर उजाला सभी घरों में हुआ तो ऐसा नहीं है। कम शब्दों में कहे तो हम रिश्तों से ज्यादा वस्तुओं को संभालने लगे हैं। हमारे मन मस्तिष्क का संचालन बाजार की शक्तियाँ अपने हितों के हिसाब से कर रही है। राबर्ट डब्ल्यू अपनी पुस्तक *पूंजीवाद और सूचना का युग* में लिखते है "समाज के बुनियादी फैसले जनता की जरूरतों के बजाए ज्यादा से ज्यादा बाजार के अधिकार क्षेत्र से तय हो रहे है।"(30) हरहाल, वर्तमान में स्टेटस सिंबल परिभाषित करने का जो पैरामीटर है वो ब्रांडेड कलचर के बेहतरीन साँचे में डाला गया ऐसा नमूना है जिसमें आकर्षण कम मादकता अधिक है। प्रेम सिहँ *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखते हैं :

> बाजारवाद के साथ प्रौद्योगिकी जुड़ी हुई है। प्रौद्योगिकी के रथ पर सवार होकर ही बाजारवाद दिग्विजय के लिए निकला हुआ है। अतः बाजारवाद पर जब बात की जाती है, तो प्रौद्योगिकी उसमें समाहित होती है।(42)

सांप्रदायिकता और बाजारवाद एक सिक्के के ऐसे दो पहलू है जिनका दिखने में आपसी रिश्ता तो बहुत दूर का लगता है लेकिन दोनों एक–दूसरे को अनुकूलतम दाना–पानी देते रहते हैं। दरअसल, शक्तिशाली पूँजीवादी मन हमेशा से ही धार्मिक उन्माद फैलाता रहा है, प्रेम सिंह का मानना है कि :

> इतिहास का यह दौर बाजारवाद और संप्रदायवाद की परस्पर–पोषक विचारधाराओं के उफान का है। बाजारवाद में जहाँ उपभोग, हिंसा और सेक्स की उतेजना भरी होती है, वहीं संप्रदायवाद में धर्म और संस्कृति उत्तेजना के स्त्रोत बना दिये जाते हैं।(71)

हम सभी जानते हैं कि कुछ समय पहले गाँव–कस्बों के हाट–बाजार में वस्तु विनिमय का ही चलन था अर्थात् लिए हुए समान के बदले उसी मूल्य का कोई सामान देकर हम अपनी जरूरतें पूरी कर लेते थे। रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता* में इस प्रसंग को चित्रित किया है :

> पाट पर बड़े–बड़े मिट्टी के घर। बड़ा सा हाता। कोठरियाँ आँगन और एक कोने में लम्बा सा गोहाल। बरामदे में मुर्गियों के भी बाड़े। ये गाय–गोरू बकरी–छगरी, मुर्गी–सुअर केवल पशु–पक्षी नहीं थे, बल्कि आदिवासियों के पास बुक भी थे।

हारी–बीमारी, शादी–विवाह इन्हीं के भरोसे। जब भी जरूरत होती, बेचारे मूक प्राणी घर पहुँचा दिये जाते।(23)

बाजार के शोषणकारी चरित्र ने इनकी संपति पर ग्रहण सा लगा दिया है। किसानों की स्थिति का तो कहना ही क्या? राजू शर्मा द्वारा *हलफनामें* में किसान समस्या की बातें इस तरह प्रस्तुत की जा रही है :

मकई को याद है टीवी की खबर के आखिर को गुलाबी, गोल गाल वाली लड़की ने इठलाते हुए दर्शकों से कहा था : किसानों की दुर्दशा की ओर जिस तरह मकईराम प्रसाद की पहली अर्जी ने सरकार का ध्यान खींचा है, अपना हक पाने के लिए जो जद्दोजहद हुई है, प्रदेश में किसान–आत्महत्या का पहला मामला जिस तरह प्रकाश में आया है, अब देखते हैं उसकी तरफ सरकार का रूख क्या होगा ? ..... उसके बाद लड़की इस तरह मुस्कराई थी मानों यह बहुत बड़ा रहस्य हैं।(61)

सच में, बाजारवादी व्यवस्था एक रहस्यात्मक गुफा है।

बाजार ने हर चीज की ब्राडिंग कर रखी है। खान–पान, रहन–सहन, बाहर–भीतर, रात–दिन इन सभी पर बाजार का भरपूर हस्तक्षेप हो रहा है। 21 वीं सदी की दुनिया की हकीकत यह है कि बिना किसी फायदे के कोई एक पग भी बढ़ाने को तैयार नहीं, सब अपने हित साधने के मौके में रहते है। संस्कृति और सभ्यता से उनका कोई विशेष वास्ता नहीं है। वास्ता होता भी है तो संस्कृति का बाजारीकरण करने में। अमुक देश की संस्कृति को श्रेष्ठ और फैशनेबल बना के दूसरे देश की संस्कृति पर थोप दिया जाता है। जहाँ पर वह धड़ल्ले से चल पड़ती है। सोचना सभी को होगा नहीं तो आगे सब अँधेरा ही अँधेरा हैं।

6.10.2 आर्थिक उदारीकरण

किसी भी व्यवस्था के संचालन में अत्यधिक लचीला और सरल दृष्टिकोण रखने की प्रक्रिया को ही उदारीकरण कहा जा सकता है। बात जब अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की हो तब इसका सीधा–सीधा मतलब है 'आर्थिक नियमन के क्षेत्र में कम–से–कम सरकारी हस्तक्षेप' से है। इतिहासकार विपन चंद्र अपनी पुस्तक *आजादी के बाद का भारत* में लिखते हैं कि "संक्षेप में ये कदम दमघोंटू आंतरिक नियंत्रणों से अर्थतंत्र को छुटकार दिलाये जाने की कोशिश की ताकि वह अपने हित में विश्वव्यापी भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में भाग ले सके।"(28) इस पूरे घटनाक्रम का हिंदी मीडिया ने भले ही समर्थन न के बराबर किया हो पर अंग्रेजी मीड़िया ने इसका खूब प्रचार किया। *उदारीकरण की तानाशाही* में प्रेम सिंह लिखते है "अंग्रेजी मीड़िया ने बात साफ

कर दी है : जो उदारीकरण के पक्ष में है वह राष्ट्रहितैषी हैं और जो विरोध में है वह राष्ट्रविरोधी।"(15) फिलहाल, विरोध और समर्थन का छिटपुट स्वर भले ही संसद या सड़क पर दिखा हो लेकिन अंतिम रूप में यह उदारीकृत व्यवस्था भारतीय अर्थव्यवस्था में चल निकली।

उदारीकरण की शक्तियाँ ही भूमंडलीकरण के प्रसारण को मजबूत करती हैं। राबर्ट डब्ल्यू ने *पूँजीवाद और सूचना के युग* में लिखा है कि :

> दरअसल, जिसकी चर्चा भूमंडलीकरण के रूप में की जाती है वह नवउदारवादी आर्थिक नीतियों का समूह है जिसमें की दक्ष और व्यावहारिक अर्थव्यवस्था के आधारभूत सिद्धांतों के रूप में न्यूनतम नियमनों के साथ अधिकतम मुनाफा और वस्तुओं और पूँजी उन्मुक्त संचरण पर बल रहता है।(29)

लेकिन इन सभी खिंचतान में सत्ता और पूँजी का ही वर्चस्व बरकरार रहा, आम जनमानस अब भी इसके फायदे से कोसों दूर है। हाँ, कुछ छनकर आयी हुई रोशनी कभी–कभी दिख जाती है। अर्थात् "बहुत हद तक तो उदारीकृत बाजारों का निर्माण सरकारों ने इसलिए किया है कि बाजार में प्रवेश की इच्छा रखने वाली प्रतिस्पर्धा, कंपनियों को संतुष्ट किया जा सके।"(44) इस प्रकार यह उदारीकृत व्यवस्था पूँजीवादी देशों का नवसाम्राज्यवाद है और इसने साहित्य, समाज, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, राजनीति और विज्ञान सभी को प्रभावित किया है।

वस्तुतः उदारीकृत व्यवस्था ने किसानों के साथ खूब छल किया है। इन अन्नदेवताओं को मौसम के साथ–साथ तय किए गए न्यूनतम समर्थन मूल्य के प्रकोप का भी सामना करना पड़ता है। प्रेम सिहँ ने उ*दारीकरण की तानाशाही* में लिखा है कि "भूमंडलीकरण–उदारीकरण के तहत चल रही नई आर्थिक नीतियों ने देश की खेती–किसानी पर अभूतपूर्व संकट ला दिया है।"(37) हालात ये है कि कोई भी व्यक्ति किसानी नहीं करना चाहता। किसान बनना शायद ही किसी का ख्वाब हो सब डॉक्टर, इंजीनियर, ऑफिसर, व्यवसायी आदि बनना चाहते हैं। राजू शर्मा के उपन्यास *हलफनामे* में कामकई भी इन्हीं हालातों का मारा है – "खानदान में वह पहला है जिसने गाँव से बाहर, इस कस्बे में घर बसाया और खेती से अलग धँधा शुरू किया।"(8) जब खेती में कुछ रहा ही नहीं तो कौन ये सब करे ? मुनाफा तो छोड़िए कभी–कभी लागत भी निकालना मुश्किल हो जाता है। काशीनाथ सिहँ *रेहन पर रग्घू* में भी किसानी की चर्चा की है–" ..... कि इसी दरम्यान एक दिन नहर के रास्ते एक ट्रेक्टरी धड़–धड़ करता हुआ आया और अहिरान में दशरथ राउत के दरवाजे पर खड़ा हो गया।"(65) गौरतलब है कि उदारीकृत व्यवस्था से किसानों की आर्थिक हैसियत दिन भर दिन बदतर ही हो रही है।

इधर कुछ वर्षों से पश्चिमी देशों में जाकर डॉलर कमाना इन सभी के मन की मुराद रही है। इस आकर्षण की जद में देश की बेहतरीन प्रतिभा भी शामिल है। ऐसा ही कुछ वातावरण काशीनाथ सिहँ ने उपन्यास में दिखाया है जिसमें गाँव–गाँव डॉलर प्रेम का प्रपंच है – "जिस कम्पनी में और जिस कांट्रेक्ट पर अमेरिका जाना है उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा कि अगर उसका बाप चाहे तो गाँव का गाँव खरीद ले।"(23) सबकी यही मंशा है कि जो दिखे खरीद लो, जो पसंद आए खरीद लो, गाँव का गाँव खरीद लो, जंगल खरीद लो, नदी खरीद लो, पहाड़ खरीद लो, द्वीप खरीद लो, आकाश खरीद लो, चाँद खरीद लो, सब कुछ खरीदने की इस कोशिश में एक दिन पूरी धरती या यूँ कहें पूरा ब्राह्यण्ड बिक चुका होगा। आज के इस ग्लोबल युग में रणेन्द्र का उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* पूरी तरह से इन्हीं षड्यंत्रों का खुलासा करता है। इसमें अवैध खनन पर लिखा गया है कि "छोटे–बड़े सभी खदान–मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैरमजरूआ, जमीन से ज्यादा खान किया करते। अवैध खनन खुलेआम और वर्षो से जारी था।"(27) मीडिया में कभी–कभी लाखों–करोडों के घोटालों का नाम तो उछलता है जाँच की कोटा पूर्ति भी होती है पर जिम्मेदारों को निर्धारित सजा नहीं मिल पाती हैं।

उदारीकरण व्यवस्था के प्रभाव से जितनी भी कंपनियाँ भारत आई वो बड़ी चालाकी और बारिकी से नामों का भारतीयकरण करती हैं ताकि आम जन–मानस में राष्ट्रीयता का बोध हो। ऐसा ही एक नाम उपन्यास में है जो खनन का कार्य करती है :

> खास बात डॉक्टर साहब को यह लगी कि अभ्यारण्य के लिए कंटीले तारों का घेरा डालने का काम 'वेदांग' बहुराष्ट्रीय कम्पनी ने किया। ..... ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता है 'वेदांग'। यह उंगली पकड़कर बांह पकड़ने वाली बात लगती है। यह कम्पनी है विदेशी और नाम रखा है 'वेदांग', जैसे प्यारे देशी हो। कितना चालू पुर्जा है इसी से पता चलता है।"(80)

आज अखबारों में इस तरह के 'वेदांग', जैसे मिलते–जुलते कई कंपनियों के नाम घोटालों में लिप्त होते हुए पढ़े जा सकते हैं। फिलहाल, छोटे व फुटकर रूप में ही सही इस देश के कोने–कोने में लोग इन आक्रांताओं का प्रतिरोध कर रहे हैं, इनसे लड़ रहे है।

6.10.3 औद्योगीकरण

मशीनों के आविष्कार को समूची मानव सभ्यता की सर्वोच्च बौद्धिक उपलब्धि माना जा सकता है। मध्यकाल में यूरोप में हुई इस क्रांतिकारी घटना ने दुनिया भर में लोगों को जीवन जीने के नए–नए तरीके बताये। कार्ल मार्क्स इनमें एक बड़ा नाम है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया

ने ऐसा पूँजीपति वर्ग पैदा किया जिससे आज पूरी धरती को अपना चरागाह बना रखा है। 21 वीं सदी में एक से बढ़कर एक उच्च तकनीकी व्यवस्था ने जीवन को जितनी तेजी से भौतिक स्तर पर सुलभ बनाया उतनी ही गति से उसके सपने उलझनों का ढ़ेर भी लगाया। मनुष्य मशीन बनकर रह गया और मशीन मानव होते जा रहे हैं। प्रेमसिंह *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखते हैं कि "पूंजीवादी व्यवस्था में आधुनिक औद्योगिक प्रबंधन के माध्यम से बड़ी सूक्ष्मता से मशीनों को मजदूरों को हटाकर नियुक्त किया जाता है।"(23) निश्चित रूप से इस प्रक्रिया से समाज में बेरोजगारी बढ़ेगी और इस बढ़ती बेरोजगारी से भाँति–भाँति की अवांछनीय चीजें पैदा होती है। मसलन–पलायन, नशाखोरी, हिंसा, गोरखधंधा, भ्रष्टाचार आदि। सच्चिदानंद सिन्हा ने भी अपनी पुस्तक भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ में इसी बात पर चिंता व्यक्त की है :

> हम आज देख पा रहे है कि विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के अनुरूप विकास करने के प्रयत्नों से समृद्धि के छोटे–छोटे टापू तो भले ही पैदा हो जाएँगे पर बहुसंख्यक जनता के जीवनधारण की व्यवस्था तहस–नहस हो जाएगी, उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा।(24)

जरूरत आ चुकी है कि वैश्विक स्तर पर दुनिया को सोचना होगा।

रेहन पर रग्घू उपन्यास में लेखक ने गाँव का जो चित्र खींचा है उसका दृश्य भी बहुत कुछ औद्योगीकरण की स्याही से रंगा हुआ है। इतना सब होते हुए भी उपन्यास का नायक भ्रमित है कि गाँव उसके लिए बेहतर है या शहर जाकर बहू के साथ रहे। काशीनाथ सिहँ लिखते हैं कि "गाँव में वह सब पहुँच रहा था धीरे–धीरे, जो शहर में था– बिजली भी, नल भी, फ्रिज भी, टी.वी. भी अखबार भी लेकिन वह मजा नहीं था जो शहर में था।"(104) यही तो मोह है, रघुनाथ का मन भी प्रलोभित है। उसका मन शहर की ओर भाग रहा है और गाँव से मोह भी नहीं छूट पा रहा है। इससे अलग एक कहानी 'हलफनामें' उपन्यास में भी दिखती है जहाँ मशीनी क्रान्ति तेजी से पैर पसार रही है। गाँव के सेठ–साहूकार किसानों को ट्यूबवेल लगवाने को उकसाते हैं। फिर बोरिंग के लिए किसानों को मोट कर्ज देते है और बोरिंग मशीन भी वहीं सेठ–साहूकार लाते है। पानी निकले ना निकले पैसा वो उतना ही लेंगे जितना तय रहता है और उस जगह पर पानी निकलने की संभावना बहुत कम रहती है। राजू शर्मा *हलफनामें* में लिखते हैं :

> लाला ने अपने बोरवैल के धन्धे से गाँव को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया था। अनाप–शनाप बोरिंग करा वह लाखों कमा रहा था। उसके संपर्क देश पर में फैले थे।

जमीन रेहन पर रखवा कर्ज भी वही देता था। काफी जमीन पर उसका कब्जा हो गया था। उसके कुकृत्यों में लेखपाल और पंचायत के सदस्यों की मिली–भगत थी।(191)

दरअसल, देश में जब भी व्यापक स्तर पर लूटपात होती है तो यह लूट गठबंधन से होती है, आपसी समझौते से होती है अर्थात् कई शक्तियाँ भी शामिल होती हैं इस महाभोज में।

यह बात किसी से छुपी नहीं है कि देश में जहाँ भी खदानें है, खनन कार्य हो रहा है उस जगह के आस–पास इतनी बजबजाती गंदगी होती है कि इलाके भर में भयंकर बीमारियाँ फैली रहती हैं। लेकिन पास में ही कुछ किलोमीटर की दूरी पर खनन अधिकारियों के लिए जो कॉलोनियाँ बनाई जाती है उसका चित्र बड़ी विश्वसनीयता से उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में किया गया है :

> हमारा बॉक्साइट यहाँ से डेढ़–दो सौ किलोमीटर दूर जहाँ प्रोसेस होकर अल्यूमिनियम में ढ़लता है, वह जगह 'सिल्वर सिटी ऑफ इण्डिया' कहलाती है। एक बार घूमने का मौका मिला था। फूलों चार्कों से लदी हरी–भरी खूबसूरत कॉलोनी। एक से एक स्कूल, चमचमाते बाजार, क्लब घर, योग केंद्र, लाइब्रेरी, खेल के मैदान और न जाने क्या–क्या! सुन्दर–सुन्दर कुतों को घुमाती सुन्दर–सुन्दर महिलाएं, बर्फ के गोलों से गुलथुल उजले–उजले बच्चे, रंग–बिंरगी गाडियाँ। लगा, इन्द्रलोक धरती पर उतर आया हो।(16)

भेदभाव और शोषण का यह दृश्य इस औद्योगिक समाज में कई स्तरों पर नासूर की तरह फैला हुआ है।

6.10.4 निजीकरण

निजीकरण का अर्थशास्त्रीय दृष्टि से बहुत ही संक्षिप्त और सरल अर्थ ग्रहण करे तो इसका मतलब 'सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार की अंशधारिता को कम करना' होता है। अर्थात् देश के अंदर जितने भी शासन के अधीन प्रतिष्ठा और उपक्रम हैं उनका धीरे–धीरे निजी संस्थानों में परिवर्तन करना ही निजीकरण की प्रक्रिया को मजबूत करना होता है। रवि प्रकाश पाण्डेय *वैश्वीकरण एवं समाज* में निजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि :

> आर्थिक क्रियाओं के दायित्वों का राज्य से निजी क्षेत्र में हस्तांतरण की प्रक्रिया को निजीकरण कहते हैं। इसके कई रूप हो सकते हैं जो संबंधित दायित्वों की प्रकृति और हस्तांतरण किए जाने वालों पर निर्भर करता है।(2)

गौरतलब है कि संसार भर के अधिकतर अर्थशास्त्री यह भ्रामक मत प्रचलित कर चुके हैं कि धरती पर विकास का रास्ता सार्वजनिक उपक्रमों से नहीं बल्कि निजीकरण की तरफ खुलता है।

कृषि प्रधान देश कहा जाने वाला भारत आज किसानों की कब्रगाह बनता जा रहा है। राजू शर्मा ने *हलफनामें* में लिखा है कि :

> असल में सरकार मूलतः किसान और कृषि विरोधी है। वह कृषि सेक्टर को गरीब किसान के हाथ से छीनकर पूँजीपतियों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सौंपना चाहती है। सरंचनात्मक स्तर पर इनकी नीतियाँ जनविरोधी और प्रतिक्रियावादी हैं।(219)

अब खेती–किसानी के जितने भी नीति नियम हैं वो ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तय करेंगी। प्रेम सिहँ *उदारीकरण की तानाशाही* में कहते हैं – "भारत में वैश्वीकरण की शुरूआत के बाद भूख से होने वाली मौतों और कर्ज न चुका पाने वाले किसानों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याओं की संख्या तेजी से बढ़ी है।"(91) समय रहते देश के नीति–नियंताओं को इन अन्नदाताओं की तरफ ध्यान देना होगा नहीं तो हमारी थाली से अन्न गायब हो जाएगा।

किसानों को सिंचाई के लिए सरकार पानी तक की व्यवस्था नहीं कर पा रही है। अब पीने का पानी बोतल बंद गाँव–गाँव तो दिखता है लेकिन जितने भी हैंडपम्प और नलकूप हैं वो अधिकतर सूखे हैं या जर्जर पड़े हैं। *हलफनामें* उपन्यास में भी इसी तरह का दृश्य है। राजू शर्मा ने पेश किया है :

> वे जल व्यवस्था (जिसे वह निजल अव्यवस्था कहकर उसका मजाक उड़ाते थे), पानी के टैक्स में बढ़ोतरी, सिंचाई साधनों के प्रस्तावित निजीकरण और विश्वबैंक द्वारा थोपी गई नीतियों की पुरजोर खिलाफत कर रहे थे। उनकी चेतावनी थी कि अगर सरकार अभी नहीं सँभली तो वह दिन दूर नहीं जब गाँव–गाँव में पानी के पीछे कत्लेआम होगा।(47)

निजी स्वार्थों की पूर्ति और सत्ता में बने रहने की मंशा ने सरकार को पंगु बना दिया है। प्राकृतिक संपदाओं की लूटपाट करने में कोई भी निजी कंपनी पीछे नहीं रहना चाहती। नदी–पहाड़ जंगल जमीन सब पर ये शक्तियाँ अपना आधिपत्य चाहती हैं –*ग्लोबल गाँव के देवता* उपन्यास में ऐसी स्थिति पर रणेन्द्र ने गहरी चिंता व्यक्त की है :

> छतीसगढ़ के रायगढ़, जिले से होकर बहने वाली एक बड़ी नदी शिवनाथ द्वारा एक इंडस्ट्री समूह को बेच दी गयी थी। उसका निजीकरण हो गया। कई–कई गाँवों के लोग, मवेशी, चिरई–चुन चुन, खेत–बघार सब पानी के लिए छद्दन रहे थे।(92)

यहाँ जीव–जन्तु बूँद–बूँद के लिए तरस रहे हैं और दिल्ली में बैठे शरमायादार पर्यावरण संरक्षण और पारिस्थितिकी पर बहस करते हुए भारी पैकेज की घोषणा कर रहे हैं। चिंता की बड़ी बात ये है कि इस विषय पर सरकार कब चिंता करना शुरू करेगी।

6.10.5 अर्थकेन्द्रित मानसिकता

वस्तुतः हम जिस युग में जीवन–यापन कर रहे हैं उसमें सबसे बड़ी सत्ता रूपये की है। इस अर्थ प्रधान संस्कृति में मनुष्य रूपये की जुगाड़ में जाने कहाँ–कहाँ भागा फिरता है। जिस भी स्थान पर उसे अधिक रूपया दिखता है तो वहीं का होकर रह जाता है। अपनी जड़ और संस्कृति में वास्ता रखने की बात दूर अब तो मानसिकता इतनी रूग्ण हो चुकी है कि संबंधों की सारी अहमियत थी कब्रगाह में दफन हो गई हैं। प्रेम सिंह *उदारीकरण की तानाशाही* में इस बदलते यथार्थ पर चिंतित होकर लिखते हैं :

> ... जब प्रति व्यक्ति प्राकृतिक संसाधन के अनुपात में घोर कमी आ जाएंगी, तो विकास और जीवन स्तर में बढ़ोतरी की दर बनाए रखने के लिए करोड़ो–करोड़ो का बलिदान करना होगा। बहुत सारी स्थानीय आबदियों का सफाया करना पड़ सकता है, जिस तरह उत्तरी अमेरिका में एक बार हुआ था।(64)

आज पैसे का संबंध सभी संबंधों पर भारी है। अब संबंधों की महत्ता भावनाओं से नहीं रूपयों से तय होती है। बाजार और तकनीक ने रूपये की रफ्तार में खूब तेजी भरी है। शॉपिंग धीरे–धीरे ऑनलाइन होती जा रही है –काशीनाथ सिंह कृत *रेहन पर रग्घू* में लिखते है, "असल चीज पैसा है! अगर पैसा हाथ में हो तो वे सारे जिन्स बिना कुछ किए बाजार में मिल जाते हैं जिनके लिए आप रात–दिन खून–पसीना एक करते हैं। बिना कुछ किए, बिना कहीं गए।"(106) इस तरह की खरीदने–बेचने की व्यवस्था भले ही पश्चिमी देशों में सफल रही हो पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसको लागू करने में सरकार को पूनर्मल्यांकन करने की आवश्यकता है। क्योंकि वहाँ मानवशक्ति की कमी है इसलिए तकनीक का सहारा अधिक लेते हैं परंतु हमारे देश में ऐसे ई–बाजार देश की बढ़ती हुई जनसंख्या में बेरोजगारी ही पैदा करेंगे।

हम सभी जीवन भर पूँजी इकट्ठा करने में गुजार देते हैं, इसी के भ्रामक चक्रव्यूह में पूरी उम्र फँसे रहते हैं। कभी गलत तो कभी सही, कभी कानूनी तो कभी गैर–कानूनी जैसे बन पड़ा सभी पूँजी के संयोजन में मरे जा रहे हैं। *ग्लोबल गाँव के देवता* में कई ऐसे पात्र हैं जो दिखावे के लिए कोई भी रोजगार कर लेते हैं मगर पर्दे के पीछे दूसरा ही खेल जारी रहता है :

> जिसके पास जितना पैसा रहता है, उसे उतनी ही पैसे की हाय–हाय लगी रहती है। सिंह जी को ट्रकों के ड्राइवर– खलासी, हाट–बाजार के दुकानदारों और माइन्स ऑफिस के कर्मचारियों से भरे होटल की आमदनी से संतोष नहीं था। शाम होते ही वहां चुपके हडिया–दारू की बिक्री शुरू हो जाती। खरीफ कटनी के बाद लेबर सप्लाई से भी अच्छा पैसा बनाते थे सिंह जी।(30)

भूमंडलीकरण के व्यापक प्रभाव से देश भर की शिक्षा व्यवस्था में व्यावसायिकता हावी हो गई है। तकनीकी और प्रबंधन सिखाने के नाम पर गली–गली में संस्थान खुल गए है और कुछ नामी संस्थान तो एडमिशन के नाम पर मोटी–मोटी रकम की भी माँग करते हैं। उपन्यास में इस देश की नवीन शिक्षा व्यवस्था पर लेखक काशीनाथ सिहँ ने *रेहन पर रग्घू* में कुछ ऐसे ही हालात का वर्णन किया है – "इनसे कहो, ये रूपयें कहीं इधर उधर खर्च न करें, डोनेशन के लिए रखें। बिना डोनेशन के कहीं एडमिशन नहीं होने वाला! साफ साफ बता दे रहा हूँ।"(28) भारी–भरकम फीस तो जमा ही करो साथ ही डोनेशन अलग से। इस तरह की पढ़ाई इतनी मँहगी होती है कि देश की ढ़ेरों प्रतिमाएँ संस्थान तक पहुँचने से वंचित रह जाती है। इसी तरह डोनेशन से पढ़–पढ़ कर बच्चे अमेरिका जाने का ख्वाब मन में पाले बैठे रहते हैं और जितनी भी मुनासिब – गैरमुनासिब कोशिशें होती है सब करने को तैयार रहते हैं। आखिर कोई कितना बचाए खुद को जब चारों तरफ आर्थिक गुणा–गणित की ही बिसात बिछी हो।

केवल शिक्षा व्यवस्था को ही क्यों दोषी ठहराया जाए हमारी न्यायपालिका भी कम जिम्मेवार नहीं है इस तरह के समाज निर्माण में। किसी कानूनी सलाह के लिए आप कोर्ट–कचहरी जाते हैं तो पग–पग पर प्रसाद चढ़ाने को तैयार रहिए। राजू शर्मा ने *हलफनामें* में किसान की समस्या के साथ न्याय व्यवस्था पर भी व्यंग्य किया गया है :

> तुम्हें झूठ को सच बनाना हो या सच को सच, शपथ की तसदीक तो नोटरी ही करेगा या ओथ कमिश्नर ये जो नोटरी होता है, सच में भंडार की चाबी उसी के पास है। उसे खुश रखने में भलाई है, अरे भगवान को प्रसाद चढ़ाते हो कि नहीं ...यहाँ भी काम आखिर चढ़ाव से ही होता है।(39)

बात हलफनामें तक ही सीमित नहीं है सबूतों और गवाहों की बहुतायत खरीद–फरोख्त भी अदालतों में होते देखा जा सकता है। वकीलों की फीस निर्धारण पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं है। बहुत सारे वाजिब मामले पैरवी के अभाव में अदालत के दरवाजे पर पहुँच ही नहीं पाते।

6.10.6 स्वार्थवादी प्रवृत्ति

जैसे–जैसे विश्वभर में भूमंडलीकरण की अवधारणा मजबूत हो रही है वैसे–वैसे समाज में संवेदनहीनता बढ़ रही है। मनुष्य की बढ़ती हुई आकांक्षा और आर्थिक संपन्नता की धुन धीरे–धीरे सामाजिक जीवन शैली को परिवर्तित कर भोग–विलासी प्रवृत्ति को आत्मसात करती जा रही है। नई सदी का समाज खरीदने–बेचने में इतना मशगूल है कि वैश्विक पूँजीवादी हमलों की तरह किसी का ध्यान नहीं रह गया है। मजे की बात ये है कि हमले लगातार जारी

है। हम सभी एक ऐसे चक्रव्यूह में फँसे है जहाँ से मानवता कहीं नजर नहीं आती। विकृत बाजार मानसिकता और आर्थिक विघटन की स्थितियों से हमारी संवेदनाएं निस्तेज हो चुकी हैं। अब हम दिखावे में जीना पसंद करने लगे है दायित्व से बेखबर पूर्णतः स्वार्थीपन का शिकार हो चुके हैं।

अमानवीय होते समाज में उपन्यासकार काशीनाथ सिहँ *रेहन पर रग्घू* में जो भय देख रहे हैं वो बहुत ही यथार्थ प्रतीकों में व्यक्त करते हैं वे स्त्री पात्र से कहलवाते है :

> मान लो, किसी के घर में कोई चोर घुस आए – किसी के क्या मेरे ही घर में चोर घुस आए और वह भी अकेले, बिना किसी साथी के, औजार के, डाकू घुस आए दिन दहाड़े और मुझे उठाकर ले जाये पार्क में और मैं चिल्लाऊँ कि बचाओ ! बचाओ ! तो कौन सुनेगा ? (ज्यादातर बूढ़े या तो बहरे हैं या ऊंचा सुनते है) कौन दौड़ेगा ..... यह सब न कर सके तो खड़ा होकर चिल्लाएँ तो सही (ज्यादातर की कमर झुकी है और मुँह में दाँत नहीं है, वे गुगुआ तो सकते हैं, चिल्ला नहीं सकते)।(108)

सारा समाज इसी तरह की पंगुता का शिकार हो चला है। किसी को फुरसत नहीं कि वो सोचे उसके गाँव–समाज में क्या हो रहा है ? पड़ोस में तो बात दूर की है खुद से साथ भी हुई बहुत सी हरकतों को नजरअंदाज करना हमारी आदत हो गई है।

इसी कड़ी में यही पूँजीवादी शक्तियाँ अपनी मल्टीनेशनल कंपनियों को मजबूत करती हुई दुनिया भर में विजय पताका फहराने भेजती है। हमारे देश में भी इन्हीं विदेशी कंपनियों की निर्ममता आदिवासी एवं अन्य इलाकों में देखी जा सकती है। रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता* में बहुत ही भावुकता से इस ओर इशारा किया है :

> ग्लोबल गाँव के देवता खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हजार–हजार इंद्र जिसे अंजाम नहीं दे सकते थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने मुकाम पा लिया था। ... ... वह लहराती–इठलाती राज्यों की राजधानियों से होती वाया दिल्ली, वाशिगंटन डी. सी. की ओर दौड़ी जा रही थी।(100)

दुनिया भर में अब विकास और संपन्नता का पैमान वाशिंगटन डी.सी, तय करता है। उसके द्वारा बनाए गए सूचकांक और नियम–कायदे ही विश्वसनीय और मानक मान लिए गए हैं।

देश हित में बनने वाली ढ़ेरों सरकारी योजनाओं का जमीनी स्तर पर क्रियान्वयन न हो पाना व्यवस्था की स्वार्थवादी उदासीनता का परिणाम है। राजू शर्मा द्वारा लिखित उपन्यास *हलफनामें* में इस तरह के सरकारी ढुलमुल रवैयों को बखूबी दिखाया गया है :

हर नागरिक ने कभी–न–कभी महसूस किया है कि कागजी और जीवित यथार्थ के बीच कुछ इंच का फासला हमेशा रहता है। इस वक्त कागज सूखे से लड़ रहे थे और जनता बाढ़ के ताड़व से व्रस्त थी। पर अगले साल के आते–आते समीकरण बदलेगा – तब कागज बाढ़ से बचने की रणनीतियाँ बनाएंगे और जानवर समेत इंसान सूखे की मार से त्राहि–त्राहि कर रहे होंगें .....।(87)

देश में हो रही इस तरह की लाल–फीताशाही पर सरकारें पूरी तरह मौन रहती हैं, रहे भी क्यों न आखिर शासन–सत्ता और अधिकारी भी तो उन्हीं के अधीन रहते हैं। उन्हें अपने स्वार्थी इच्छाओं की पूर्ति जो करनी होती है।

6.11 आलोचनात्मक मूल्यांकन

भूमंडलीकरण के दौर में औद्योगिक पूँजीवादी समाज का निर्माण हुआ। यह समाज परम्परागत समाज से भिन्न है। भूमंडलीय परिदृश्य में उत्पादन एवं उपयोग दोनों की मात्रा विशाल हो गई। अतः नये औद्योगिक समाज 'मास सोसायटी' या 'झूड़ समाज' में बदल गई। इस समाज का कोई भी आकार निश्चित नहीं है और न इस पर व्यवस्था का पूरा नियंत्रण ही है। इस समाज के लोग अपने पारम्परिक परिवेश से अलग होकर केवल भीड़ का एक हिस्सा भर बनकर रह गये हैं। जहाँ पारंपरिक समाज धर्मों, रीति–रिवाजों द्वारा नियंत्रित व्यवस्था थी, वहीं नया समाज नियंत्रणहीन, उन्मुक्त एवं आकारहीन है। इस समाज के लोगों द्वारा स्थापित विचारधाराएँ एवं मूल्य पारंपरिक मूल्यों से अलग विकसित हुआ है। फलस्वरूप समाज में नये एवं पुराने मूल्यों के बीच द्वन्द्व एवं संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इस आधुनिक समाज में माँ–बाप का जीवन भी इतना व्यस्त हो चुका है कि वहाँ बच्चों से उत्पन्न व्यवधान भी उनमें चिड़चिड़ापन को बढ़ावा दे रहा है। संयुक्त परिवार तो बहुत पहले टूट चुका है। आज के सफल परिवार में किसी बुजुर्ग का न होना भी पारिवारिक अनुशासन के क्षय होने का कारण है। ऐसे परिवार में या तो बच्चा घर पर अकेला रह जाता है या माँ–बाप द्वारा अधिक दंड की क्रूरता झेलनी पड़ती है। बच्चे की जिन्दगी घर की चार दीवारी एवं खिलौने तक सीमित हो जाती है। माँ–बाप अपने बच्चों को समय नहीं दे पाते है जिससे बच्चे में अपराध बोध की भावना पनपने लगती है। व्यवसायिक मूल्य हम पर इतना हावी हो गया है कि हम समस्त सामाजिक मूल्यों को दर किनारे करते चले जा रहे है। आज के औद्योगिक समाज में बुढ़े एवं बुजुर्गों के लिए कष्टहीन मौत के प्रावधान की माँग उठने लगी है।

नये समाज में जी रहे मानव में मानवता का नाश हो रहा है। हमारी भावनाएँ वस्तुगत बन गई है, फलस्वरूप रिश्तों में बदलाव आने लगा है। चुँकि नया समाज भूमंडलीकरण की देन

है और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के मूल में लाभ ही सब कुछ है। आज का सामाजिक संघर्ष स्थानीय न होकर वैश्विक बन गया है। भूमंडलीकरण वंचित वर्गों एवं पिछड़े देशों के लिए वरदान न होकर अभिशाप बन गया है। फिर इस संरचना में ग्रामीण समाज का वजूद कहा तक अपने पैर थमा पाएगा?

निष्कर्ष :–

हम देखते है कि दुनिया भर में हुए आर्थिक प्रपंचों ने 21 वीं सदी का जो परिदृश्य बनाया उसकी मूलभूत प्रवृत्ति अधिनायकवादी की तरफ जाती है। माहौल कुछ ऐसा है कि कुछ चुने हुए देशों एवं संगठनों के द्वारा निर्धारित किए गए रास्तों पर ही अन्य सभी देशों को चलना पड़ता है, कभी मन से तो कभी बेमन से। इस समय कोई भी देश आर्थिक संपन्नता से सर्वश्रेष्ठ देश बन सकता है, भले ही उसकी कोई समृद्धशाली सांस्कृतिक–धार्मिक–राजनीतिक विरासत न रही हो। मतलब आप रूपये से मजबूत हैं तो आप अन्य पर दादागिरी कर सकते हैं। उस पर अपनी मर्जी थोप सकते हैं, श्रेष्ठ हो सकते हैं और 21वीं सदी में परोक्ष रूप से यही हो रहा है कभी–कभी प्रत्यक्ष में भी। माना कि यह तथाकथित भूमंडलीकरण की अवधारणा कुछ चुनिन्दा लोगों के लिए सराहनीय रही हो, पर अधिकांश पक्षों पर यह नाकामयाब ही है। जल–थल–नभ सभी जगह इसने संतुलन को अव्यवस्थित ही किया है। इसकी पुष्टि जोसेफ स्टिगलिज की प्रकाशित पुस्तक *ग्लोबलाइजेशन एंड इट्स डिसकेटेंट्स* के अंतिम अध्याय *आगे का रास्ता* के एक उद्धरण से दिया जा सकता है – "वैश्वीकरण आज दुनिया के अधिकांश गरीबों के काम का नहीं है। वह पर्यावरण के लिए भी ज्यादा कुछ नहीं कर पा रहा है। वैश्विक अर्थव्यवस्था के स्थायित्व के लिए भी वह काम का नहीं है।"(34)

बाजारीकरण, निजीकरण और उदारीकरण जैसे चमत्कृत शब्दों ने वैश्विकृत दुनिया को फलने–फूलने में खूब मदद की। वैश्वीकृत वातावरण में पले–बढ़े ये सभी उपमान कहीं–न–कहीं से पूँजीवादी देशों के मीठे–मीठे हथियार ही है। इन हथियारों की खूबी ये है कि इनको जिस भी भू–भाग पर छोड़ा जाता है। वहाँ के समस्त कार्य–व्यापार में असर करते हैं और धीरे–धीरे पूरी व्यवस्था को अपने हिसाब से संचालित करने लगते हैं। सचमुच, आज बाजार का वर्चस्व सर्वत्र दृष्टव्य है और कोई भी सत्ता इसके हस्तक्षेप से दूर नहीं है। इन्हीं विसंगतियों से समाज में अर्थकेन्द्रित मानसिकता का प्रचलन तेजी से हुआ और सभी के मन में स्वार्थवादी प्रवृत्तियाँ खूब पैदा हो रही हैं। लोगों की पूरी जिंदगी बस सामानों को एकत्रित करने में ही खपती जा रही है। प्रेम सिंह *उदारीकरण की तानाशाही* में इसी बात को मध्यवर्ग की तरफ होकर बोल रहे हैं

– "लालच के वशीभूत मध्य–वर्ग बाजारवाद के रास्ते समृद्धि के नए–नए सोपान चढ़ते जाना चाहता है।"(61) एक तरह से समाज में दिखावेपन की संस्कृति मजबूत हो रही है।

21वीं सदीं के हिंदी उपन्यासों ने इस तरह की सभी आर्थिक अवधारणाओं को बारीकी से रेखांकित किया है। लेखक अपनी कथावस्तु कुछ इस प्रकार तय करते हैं कि लेखन से भूमंडलीकरण के प्रभाव और परिणाम पर खुलकर बातचीत की जा सके। समाज में धीरे–धीरे आर्थिक सम्मोहन जोर पकड़ता जा रहा है। जिस पर हमारे उपन्यास साहित्य ने गहराई से पड़ताल करके उन परिवर्तनों की मुखालफत की है जो मानवता के हित में नहीं है। उन मूलभूत तत्वों को उपन्यास में दिखाया गया हैं। जो हमारी प्राकृतिक संपादाओं का अंधाधुंध दोहन करने में सहायक होती है। आज के समय में जल–जमीन की चिंता *ग्लोबल गाँव के देवता, मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ, धूणी तपे तीर, जो इतिहास में नहीं है* में देखी जा सकती है। रोजगार के लिए विदेश में गए भारतीय परिवारों की बदलती स्थिति और मनोभावों को *रेहन पर रग्घू* में देखा जा सकता है। अन्य सभी चयनित उपन्यासो में भी ग्लोबल समय की संवेदनाओं को आर्थिक दृष्टिकोण पर परखने की कोशिश देखी जा सकती है। समग्रतः 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में न केवल भूमंडलीय आर्थिक परिस्थितियों का जिक्र किया है बल्कि बचाव की संभावित भूमिका का भी निर्माण किया है।

उपसंहार

हिन्दी कथा साहित्य में उपन्यास का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अध्ययन के आधार पर शिल्प तथा आकार की दृष्टि से आधुनिक उपन्यासों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए है। साहित्य को समाज दर्पण संभवतः इसलिए कहा गया है कि उसमें समाज के सभी वर्गों और उनकी स्थितियों का वर्णन दिखाई देता है। किन्तु साहित्य सिर्फ प्रतिबिंब नहीं होता है। उसमें समाज की यथास्थिति नहीं होती, अपितु साहित्यकार समाज के अलावा समग्र प्रकृति को भी प्रतिबिंबित करता है। उपन्यास में विघटित मूल्यों और मान्यताओं को ग्रहण किया जाता है। समकालीन जीवन मूल्यों को स्पष्टतः स्वीकारने की क्षमता तथा दृष्टिकोण की नवीनता इन उपन्यासों की विशेषता हैं।

इक्कीसवीं सदी की शुरूआत से एक दशक पहले जब बीसवीं सदी अपने अंतिम चरण में थी, भारत में भूमंडलीकरण की शुरूआत हुई। अपने को 'वसुधैव कुटुम्बकम' से गौरवान्वित अनुभव करने वाले राज में उनके विमर्श शुरूआत हुए जो इस मातृदेश की मिट्टी में दबी, कुचली, पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक, आदिवासी, दलित, मुस्लिम, कृषक वर्ग जैसे लोगों की भावनाएँ समाज के सामने उभरकर आई। दलित चेतना, मुस्लिम चेतना, आदिवासी चेतना के साथ कृषक चेतना की शुरूआत चित्रित रूप से हिन्दी में इसी काल से शुरू हुई। इस कालखंड में समाज के अनाचार और अत्याचार, समाज की स्थापना, भारतीय साम्प्रदायिकता का सवाल, जाति का प्रश्न, दलितों का शोषण, आदिवासी जीवन आदि जैसे ज्वलंत मुद्दे समाज के सामने आये और उपन्यास के सरोकार बनते गये। आज भारत में हिन्दी साहित्यकारों द्वारा रचित कहानियों, कविताओ और उपन्यासों में आदिवासी, दलित, स्त्री विमर्श, अल्पसंख्यकों, सामाजिक वर्ग संघर्ष, सांसारिक विभिन्न पक्षों का चित्रण मिलता है। इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों द्वारा भी इन्हीं संघर्षों का बदलता स्वरूप व कारणों को प्रस्तुत किया गया है। अगर साहित्यकार को समाज के आगे–चलने वाली मशाल के रूप में रहना है, तो उन्हें अपने साहित्यिक धर्म को आज निभाना होगा।

इक्कीसवीं सदीं के उपन्यासकारों ने हिंदी उपन्यास साहित्य के प्रवृतिगत परिवर्तनों को पार कर उपलब्ध के सोपान पर पहुँचाया। आधुनिक दृष्टि के अंतर्गत उपन्यासों की गतिविधियाँ, दिशाएँ, विशेषण और विवेचन तथा मूल संदेश एवं सर्वेक्षण निष्ठापूर्वक किया है। आधुनिक उपन्यासकार भिन्न–भिन्न विषयों को चुनकर उपन्यास का निर्माण करते आ रहे हैं। इक्कीसवीं सदीं के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, भूमंडलीकरण और साहित्यिक स्थितियों की

नवीन निष्पत्तियों के आलोक में मानव संबंध, जीवन मूल्य को समझने–सुलझाने के प्रयत्न में आधुनिक उपन्यासकारों ने अपनी क्षमताओं के अनुरूप अनुपाठ पूर्ण करने में लगे हुए है।

उपन्यास के क्षेत्र में एक नयी परंपरा के साथ एक यथार्थ परक रचना का धैर्य इक्कीसवीं सदीं के उपन्यासकारों में है। एक सार्थक सक्रियता की दृष्टि से इक्कीसवीं सदी का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सदी के हिन्दी उपन्यासों में संजीव ने *फाँस*, रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता*, हरिराम मीणा *धूणी तपे तीर* में समाज के दुःख, कृषि ग्रामीण जन की स्थिति, दर्द का ब्यान दर्ज किया है। इस सदी की प्रतिष्ठा उत्पन्न करने वाले प्रसिद्ध रचनाओं में काशीनाथ का *रेहन पर रग्घू*, चित्रा मुद्गल का *एक जमीन अपनी*, राकेश कुमार सिहँ का *पठार पर कोहरा*, असगर वजाहत *अपवित्र आख्यान*, महुआ माजी *मंरग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ*, भगवान दास मोरवाल का *रेत* जैसे उपन्यास विषय वस्तु की दृष्टि से समाज को पथ प्रदर्शन ही नहीं, यथार्थ से गहरी संस्कृति के कारण अभिव्यक्ति की नवीनता, सामाजिक यथार्थ के प्रति नई आस्था, परिवेश के प्रति अधिक जागरूकता, अनुभूति की तीव्रता से अंकित, मानवीय संबंधों के परिवर्तित संदर्भ को उजागर करना, ग्राम्य जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना, आदिवासी समाज, दलित समाज, मुस्लिम समाज व सामान्य ग्रामीण जनजीवन आदि को परिलक्षित करते हुए दिखाई पड़ते है।

हिन्दी उपन्यास के विकास की इक्कीसवीं सदी में जो उपलब्धियाँ सामने आई हैं वे साहित्य के क्षेत्र में व्यापक महत्व रखती हैं। नये मूल्यों के संधान की तीव्रता, जिजीविषा, आधुनिकता की चुनौती की स्वीकृति, माने हुए रिश्तों को सवालिया निगाह से देखना, जीवन विस्तार एवं काल, विस्तार से रहित खण्ड चेतना को प्रस्तुती क्षणों की संवेदना का व्यापक एवं सूक्ष्म, मुस्लिम, दलित, आदिवासी, ग्रामीण जनजीवन, ग्रामीण संघर्ष, चुनौतियाँ, परम्परा आदि का जिस रूप में चित्रण हुआ है वैसा पूर्ववर्ती उपन्यासों में इतना नवीन ढंग से नहीं हुआ है। इस सदी के उपन्यास समाज में हुए विभिन्न परिवर्तनों को उजागर करने में सफल हुआ है और एक मुख्य बात यह है कि अगर उपन्यासों पर सूक्ष्म दृष्टि डाली जाए तो हर एक उपन्यास में संतुलन परिलक्षित होता है। उसमें पात्रों की प्रवृत्ति का व्यवहार हमें कहीं–न–कहीं यथार्थ रूप के दर्शान कराने लगता है। इस सदी के उपन्यासों की मुख्य विशेषता यह है कि जनजीवन की परिस्थितियाँ को साहित्य का प्रतिरूप माना गया हैं, और इनका यथार्थ रूप समाज में परिलक्षित होता है ना केवल कल्पना की प्रधानता को आधार बनाकर साहित्य रचा गया है।

इक्कीसवीं सदी का हिन्दी उपन्यास लोकप्रिय बनने में सफल हुआ है। नये नैतिक मूल्यों, मूल्यों की परवरिश और समाज के राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, यथार्थ

जीवन सिद्धांतों से प्रभावित हुआ है। नैतिक मूल्यों और विविध आयामों का संबंध साहित्य में स्पष्ट दिखता है।

इस सदी के उपन्यासों की मुख्य विशेषता यह है कि भाषा प्रगतिशील, प्रयोगिक, सरल, सहज, जन प्रचलित, शुद्ध व्यावहारिक, जीवंत एवं चँचल हो गई है। परंपरागत भाषा को नकारना, नये प्रयोगों को स्वीकारना, सूक्ष्म और जटिल अनुभवों को संप्रेषित करना, भाव के साथ अनुसरण होना, इस युग के उपन्यासों की विशेषता बन गई है।

नये व्यक्ति सत्य और नये सामाजिक सत्य को उद्घाटित करने के लिए युगीन भाषा ने अपने को नये अर्थ देने का प्रयास किया है। हिन्दी उपन्यासों में इस युग में होने वाले परिवर्तनों से अच्छी तरह अवबोध कराया गया है। इस सदी के उपन्यासों की भाषागत अभिव्यंजना की नव्यता हमें एक ओर स्पष्ट अनगढ़ भाषा में मिलती है तो दूसरी ओर सशक्त नये प्रतीकों, नये अलंकारों, नये विशेषणों, नये उपमानों, नये प्रस्तुत एवं भावाभिव्यंजक भाषा के शब्दों के रूप में परिलक्षित होती दिखाई पड़ती है। विषय को सामान्य जन तक ले जाने में उपन्यासकार की दृष्टि और प्रतिभा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

अतः स्पष्ट होता है कि इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से अपने पाठकों को आधुनिक दृष्टि से अवगत कराया है। समय–समय पर आने वाले परिवर्तनों के अनुसार उपन्यास के धरातल में भी परिवर्तन कर समझाने का सफल प्रयास किया है।

भारतीय ग्रामीण समाज कृषि पर आधारित है, कृषि ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय है। गाँव में मौजूद जो लोग कुछ अन्य व्यवसाय भी करते हैं, तो उनका व्यवसाय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर भी निर्भर करता है। शहरों में संयुक्त परिवार विरले ही दिखाई पड़ते है, वही गाँवों में इसका महत्व आज भी कायम है। जहाँ शहरों में जाति, समाज आदि को छोड़कर लोग आगे बढ़ चुके है। वही गाँवों मे आज भी इन सब चीजों को महत्व दिया जाता है। जो की बहुत गलत है। शहरी लोग तीज त्यौहारों को भी भूल चुके है। वही ग्रामीण लोग आज भी भारतीय पंचागं का प्रयोग करते हैं। ब्रांड, फैशन ये सभी चीजे अब तक गाँवों की दहलीज को छू नहीं पाई है। गाँवों के लोग आज भी सादा जीवन उच्च विचार में विश्वास रखते है। आज जहाँ शहरों में विकास की रफ्तार तेज होती जा रही है, वही गाँव के लोग मूलभूत सुविधाओं के लिये भी संघर्ष करने के लिए मजबूर है। जिस किसान की बदोलत हमें भोजन मिलता है, वह खुद ही ढंग से दो वक्त की रोटी नहीं जुटा पाता। दुख तो तब होता है, जब किसानों द्वारा पैदा किए गए अन्न को दूसरे लोग बेचकर ज्यादा मुनाफा कमाते है और किसान की दयनीय स्थिति वैसी ही बनी रहती है। गाँवों की इस स्थिति का एक बहुत बड़ा कारण अशिक्षा भी है। गाँव के

लोग आज भी शिक्षा को जरूरी नहीं समझते। अगर लोग शिक्षा को जरूरी समझे भी तो उन्हें सुविधा उपलब्ध नहीं होती। आजकल समय के साथ–साथ लोगों की धारणा बदल रही है। लोग गाँवों से शहरों की ओर पलायन कर रहे है। गाँव के लोग ग्रामीण असुविधा से तंग आकर शहरी सुविधा से आकर्षित हो रहे है, और शहरों में अपना निवास बनाकर सुविधा तलाश रहे हैं। यह सत्य है कि गाँवों में शहरों की अपेक्षा सुविधाएँ नाम मात्र की भी नहीं है। गाँवों में रहने वाले लोग अपनी हर एक जरूरत चाहे वह खेती के संसाधन हो या घरों का सामान आदि के लिए शहरों पर निर्भर करते है। उन्हें अपनी हर छोटी से छोटी जरूरत के लिये शहर जाना पड़ता है, जिसमें उनका समय और पैसा दोनों व्यर्थ जाते है।

जो गाँव, शहरों के किनारे या मुख्य राजमार्गों पर बसे है, उनक तो विकास हो गया है, परंतु जो गाँव शहरी सीमा से दूर है वे अभी भी विकास की राह देख रहे हैं। कई गाँवों को तो अब तक भी मुख्य सड़कों से जोड़ा नहीं गया है। नेता और राजनीतिक पार्टियाँ केवल चुनाव के समय इन गाँवों की ओर रूख करती है और ग्रामवासियों के मन में नयी आस दे जाते है। गाँव में न अस्पताल है, न ही कोई अन्य सुविधा। और अगर किसी गाँव में अस्पताल है भी तो वहाँ कोई डॉक्टर अपनी सेवाएं देना नहीं चाहते। अगर किसी गाँवों में अस्पताल और डॉक्टर दोनो मौजूद हैं। तब भी वहाँ सम्पूर्ण संसाधन के अभाव में हर ग्रामवासी की अपनी छोटी सी परेशानी में शहरों की ओर रूख करना पड़ता है।

वर्षा की बढ़ती अनियमिता और पर्यावरण प्रदूषण का सबसे गहरा असर कृषि पर ही पड़ता है। लगातार कई वर्षों से वर्षा का स्तर कम होता जा रहा है और इसका असर कृषि और किसानों पर पड़ता है। गाँवों में आज भी जुआ, सट्टा और मादक पदार्थों की बिक्री खुले आम जारी है। यहाँ तक कि गाँवों में रहने वाले बच्चे भी इनकी ओर आकर्षित होते है और गलत आदतों का शिकार होते चले जाते है।

ऐसा नहीं है, कि ग्राम में कोई लोग नहीं रहते या वहाँ जनजीवन संभव ही नहीं है। जहाँ गाँव में रहने वाले लोगों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, वही ग्रामीण जीवन के कई फायदे भी है, जिसके कारण पुराने ग्रामीण लोग अपना गाँव छोड़ना नहीं चाहते। जैसे–शुद्ध प्राकृतिक वातावरण, शुद्ध पोषण युक्त भोजन, त्यौहारों का सही आनंद, एक–दूसरे की मदद के लिये सदैव तत्पर, शहरी भागदौड़ से दूर सुकून की जिंदगी इत्यादि। आज हमारा भारत देश बदल रहा है, क्योंकि गाँवों में पहले के समय के गाँव की अपेक्षा अब के समय के गाँव में काफी बदलाव आया हैं। लेकिन विकास की धीमी रफ्तार के साथ गाँवों को लगातार विकासशील बनाने के लिए सरकार को ठोस कदम उठाने की भी जरूरत है।

शोध की उपलब्धियाँ

"21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित ग्राम्य जीवन" विषय पर अब तक किसी भी शोधकर्त्ता ने शोधकार्य किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं किया है।

- ग्रामीण जन–जीवन की समस्याओं से परिचित करवाना।
- दलित वर्ग, मुस्लिम वर्ग, आदिवासी वर्ग, कृषक वर्ग आदि के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया है।
- इन सभी वर्गों की सांस्कृतिक परंपरा से परिचित करवाया गया है।
- इन सभी वर्ग विशेष की आर्थिक स्थिति से परिचित करवाया गया है।
- भूमंडलीकरण का ग्रामीण जनजीवन व भारत पर प्रभाव दर्शाया गया है।
- वर्तमान समय में राजनीति का दुष्कृत रूप सामने रखा गया है।

अध्ययन की नई दिशाएँ

ग्राम्य जीवन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वर्तमान समय में गाँव का बदलता स्वरूप

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण जनजीवन की अभिव्यक्ति

ग्रामीण जीवन में भूतकाल और वर्तमान में धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीति में आये बदलाव का वर्णन

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ :

मीणा, हरिराम. *धूणी तपे तीर.* साहित्य उपक्रम, 2018.

मोरवाल, भगवानदास. *बाबल तेरे देस में.* राजकमल प्रकाशन, 2004.

... *रेत.* राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008.

माजी, महुआ. *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ.* राजकमल प्रकाशन, 2012.

मुदगल, चित्रा. *एक जमीन अपनी.* राजकमल प्रकाशन, 2004.

बिस्मिल्लाह, अब्दुल. *अपवित्र आख्यान.* राजकमल प्रकाशन, 2008.

सिंह, काशीनाथ. *रेहन पर रग्घू.* राजकमल प्रकाशन, 2011.

... *काशी का अस्सी.* राजकमल प्रकाशन, 2008.

सिंह, पुन्नी. *सहराना.* हिन्दी बुक सैंटर, 2017.

सिंह, राकेश कुमार.*पठार पर कोहरा.* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक, 2003.

...*जो इतिहास में नहीं है.* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक, पहला संस्करण, 2005.

सिहँ, मधुकर. *बाजत अनहद ढ़ोल.* वाणी प्रकाशन, 2005.

दिवाकर, रामधारी सिंह. *अकाल संध्या.* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक, 2006.

पुष्पा, मैत्रेयी. *चाक.* राजकमल पेपरबैक्स, दूसरा संस्करण, 2004.

रणेन्द्र, *ग्लोबल गाँव के देवता.* भारतीय ज्ञानपीठ, 2009.

शर्मा, राजू. *हलफनामें.* राधाकृष्णन प्रकाशन, 2006.

सौरभ, प्रदीप. *मुन्नी मोबाईल.* वाणी प्रकाशन, 2009.

सुबीर, पंकज. *अकाल में उत्सव.* शिवना प्रकाशन, 2016.

संजीव, *फाँस.* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2015.

वजाहत, असगर. *कैसी आग लगाई.* राजकमल प्रकाशन, 2006.

तेजिन्दर, *काला पादरी.* साहित्य भण्डार प्रकाशक, 2002.

नावरिया, अजय. *उधर के लोग.* राजकमल प्रकाशन, 2008.

अरोड़ा, सुधा. *यहीं कहीं था घर.* सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009.

कोश ग्रंथ

दास, श्यामसुंदर. *हिन्दी शब्द सागर.* नागरी प्रचारिणी सभा, 2003.

शुक्ल, रामचन्द्र. *मानक हिन्दी कोष.* नागरी प्रचारिणी सभा, 2007.

बाहरी, हरदेव. *राजपाल हिन्दी शब्दकोष.* नागरी प्रचारिणी सभा, 2009.

वर्मा, श्याम बहादुर. *विश्व सुक्ति कोश.* भाग सं0 3, प्रभात प्रकाशन, 2006.

श्रीवास्तव,प्रेम कुमार. *राजस्थान का ज्ञान कोश.* शिवा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2017.

गुप्ता, मोहन लाल. *राजस्थान ज्ञान कोश.* राजस्थानी ग्रंथाकार, 2008.

बसु, नगेन्द्र नाथ. *हिन्दी विश्वकोष.* नमन प्रकाशन, 1980.

सहायक ग्रंथ

(हिन्दी में)

सिहँ, पुष्पपाल. *इक्कीसवीं सदी का हिन्दी उपन्यास.* वाणी प्रकाशन, 2017.

तोमर, देवेन्द्र पाल सिहँ, समाजशास्त्र के मूल सिद्धांत, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाऊस, 2004.

महाजन, संजीव. ग्रामीण समाजशास्त्र, वाराणसी देवर्षि प्रकाशन, 2004.

यादव, विरेन्द्र सिँह. *हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक विघटन.* नमन प्रकाशन, 2010.

यादव, राजेन्द्र. *अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य.* राजकमल प्रकाशन, 2011.

यादव, वीरेन्द्र सिंह. *इक्कीसवीं सदीं की दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक.* ओमेगा पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2012.

खाँ, मोहम्मद फिरोज. *मुस्लिम मानस और हिन्दी उपन्यास.* काजी पब्लिकेशन, 1998.

शंकर, विवके. *गद्य साहित्य.* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2017.

शर्मा, रामविलास. *प्रेमचन्द और उनका युग.* राजकमल प्रकाशन, 1993.

शर्मा, राजनाथ. *साहित्यिक निबंध : उपन्यास तात्विक विवेचन.* इंडियन बुक डिपो, 2009.

इंदा, उम्मेद सिहँ. *भारत में राज्य–राजनीति.* कान्सेप्ट पब्लिशिंग कैम्पस, 2017.

बहोरा, सिराज. के. *हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम समाज : आलोचनात्मक अनुशीलन.* नमन प्रकाशन, 2015.

बोराणा, रमेश. *राजस्थान के लोक वाद्य.* राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, प्रथम संस्करण 2004.

कृत्यायन, राहुल. *इस्लाम धर्म की रूपरेखा.* किताब महल, नौवां संस्करण, 2017.

कादरी, एस० एस०. *प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं कलायें.* असगर अली लिटरेरी पब्लिकेशन ब्यूरो, प्रथम संस्करण 1972.

कोठारी, रजनी. *भारतीय राजनीति में जाति.*मित्तल पब्लिकेशन, 2009.

कुंदन, संजय. *टूटने के बाद.* भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, 2009.

कुमार दूबे, संपादक अभय.*राजनीति की किताब.* डी.के. पब्लिकेशन, 2003.

कुमार, अरूण. *आधुनिक शिक्षा एवं दलित.* रावत पब्लिकेशन, 2015.

कुलश्रेष्ठ, श्रीमति सर्वेश. *हिन्दी कविता और लोक संस्कृति.* श्रेष्ठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977.

कल्ला, नन्दलाल. *भारतीय लोक साहित्य कोश.* संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010.

कल्ला, नन्द लाल. *राजस्थान लोक साहित्य एवं संस्कृति.* राजस्थानी ग्रंथागार, प्रथम संस्करण 2000.

महादेवी, सरला. *नारी प्रश्न.* राजकमल प्रकाशन, चौथा संस्करण, 2016.

मीणा, हरिराम. *वैश्वीकरण और आदिवासी.* हिन्दी बुक सैन्टर, 2012.

मीणा, रमेश चन्द्र. *आदिवासी विमर्श.* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2013.

मीणा, रेनु.*भारतीय संस्कृति : चिन्तन एवं विचारधारा.* राज पब्लिशिंग हाऊस, प्रथम संस्करण, 2013.

मोहन, एन. *समकालीन हिन्दी उपन्यास.* वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2013.

मैछी, सैयद अबुल आला. *इस्लाम धर्म.* इस्लामिक पब्लिकेशन हाऊस, 2006.

द्विवेद्वी, भगवती प्रसाद. *भारतीय जनजातियाँ.* किताब घर प्रकाशन, 2009.

द्विवेदी, हजारी प्रसाद. *हिन्दी साहित्य का इतिहास.* काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1952.

त्रिपाठी, सत्यवदेव. *हिंदी कथनपर साहित्य : उपन्यास विमर्श.* वाणी प्रकाशन, 2011.

मिश्र, विद्यानिवास. *भारतीय संस्कृति के आधार.* प्रभात प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2006.

मिश्र, गिरिश. *बाजार और समाज.* ढ़िलो ग्रुप आफ पब्लिकेशन, 2009.

सिंह, जे.पी. *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन : 21 वीं सदीं में भारत.* पी.एच.आई. प्राईवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण, अप्रैल 2016.

सिहँ, पुष्पपाल. *हिंदी गद्य इधर की उपलब्धियाँ.* वाणी प्रकाशन, 2004.

सिहँ, प्रेम. *उदारीकरण की तानाशाही.* राजकमल प्रकाशन, 2008.

सिहँ, रमेन्द्र.*अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य.* राजकमल प्रकाशन, 2013.

सिहँ, संजय. *मुस्लिम महिला और शिक्षा.* सर्वाजंलि पब्लिकेशन, वर्ष 2011.

सिहँ, अमित कुमार.*भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प.* सामयिक प्रकाशन, 2010.

सिहँ,लाल साहब.*स्वतंत्रयोत्तर हिंदी उपन्यासों में युग बोध.* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 2008.

सिन्हा, विद्या. *आधुनिक परिदृश्य आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास.* राजकमल प्रकाशन, 2018.

सिन्हा, लक्ष्मण प्रसाद. *भारतीय आदिवासियों की सांस्कृतिक प्रकृति पूजा और पर्व त्यौहार.* अनंध प्रकाशन, 2017.

विश्वकर्मा, विनोद.*हिंदी उपन्यास– संघर्ष, सपने और चुनौतियाँएवं 21 वीं सदी.* अनंग प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2015.

हमीदुल्ला, लेखक. *इस्लाम परिचय.* अनुवाद मंसरू आगा, काजी पब्लिकेशन, 2013.

हसु, जगदीश. *गुजरात लोक संस्कृति और साहित्य.* चन्द्रीकेश नेशनल बुकट्रस्ट, प्रथम संस्करण 2005.

भानावत, महेन्द्र. *लोक रंग.* भारतीय लोक कला मण्डल, प्रथम संस्करण, जनवरी 1971.

पाण्डेय, मृणाल. *परिधि पर स्त्री.* राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2016.

पाण्डेय, रवि प्रकाश. *वैश्वीकरण एवं समाज.* विजय प्रकाशन मन्दिर, 2012.

पाण्डेय, ते० और स० पाण्डेय. *भारत में सामाजिक समस्यायें.* हिल पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2007.

पाण्डेय, अशोक कुमार. *शोषण के अभ्यारण.* शिल्पायन प्रकाशन 2017.

पाण्डेय, गो० और स० पाण्डेय. *हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास.* अभिव्यक्ति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2014.

पाठक, सुप्रिया. *रंगमंच एवं स्त्री.* राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2018.

प्रभाकर, मनोहर. *राजस्थानी साहित्य और संस्कृति.* आशा पब्लिशिंग हाऊस, 2006.

प्रभाकर, राजेश कुमार. *भूमण्डलीकरण की नीति और नियति.* (भारतीय राजनीति व्यवस्था की प्रकति), सम्पादक मुकेश कुमार, सुधाशु शेखर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2009.

प्रसाद, जयकिशन. *भारतीय संस्कृति.* विनोद पुस्तक मन्दिर, चतुर्थ संस्करण 1979.

श्रीवास्तव, परमानन्द लाल. *मध्यकालीन भारत में हिन्दू–मुस्लिम सद्भाव प्रवास एवं प्रभाव.* नारथन बुक्स सैन्टर, 1997.

श्रीवास्तव, अनिल कुमार.*इक्कीसवीं सदीं के राजनीतिक आयाम.* सामयिक प्रकाशन, 2019.

राजोरा, सुरेश चन्द्र. *समकालीन भारत की सामाजिक समस्याएँ.* चतुर्थ संस्करण 2016.

रसूल, बाबा साहेब शेख. *मुस्लिम समाज जीवन और अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास.* राजकमल प्रकाशन, छठवां संस्करण, 2008.

रज़ा, ज़ाफर. *इस्लाम सिद्धान्त और स्वरूप.* मिनहाज पब्लिकेशन हाऊस, 2013.

शर्मा, कालूराम. *भारतीय संस्कृति का विकास.* पंचशील प्रकाशन, संस्करण–1990.

शर्मा, ह० और स० पावा. *भारतीय संस्कृति के आधार.* मनिक एण्ड कम्पनी, छठा संस्करण, 2005.

शर्मा, भगवती लाल. *राजस्थान की सांस्कृति परम्परा.* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चौबीसा संस्करण, 2003.

शर्मा, नीरा.*भारतीय लोकनृत्यों में हरियाणा और राजस्थान.* सत्यम पब्लिकेशन हाऊस, 2005.

शर्मा, गोपनीय. *राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास.* राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चतुर्थ संस्करण, 1989.

संजीव, कथाकार. *मेरी यात्रा.* सम्पादक गिरीश काशिद शिल्पायन, संस्करण 2008.

सोबती, कृष्णा. *सोबती : एक सोहब्बत.* राजकमल प्रकाशन, 2014.

सेठी, हरीश कुमार. *अपसंस्कृतिकरणः लोकतात्विक अध्ययन की प्रासंगिकता.* संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010.

उपाध्याय, रमेश. *साहित्य और भूमण्डलीय यथार्थ.* कान्सेप्ट पब्लिशिंग कैम्पस, 2017.

दाधीच, रामप्रसाद. *राजस्थान भाषा साहित्य–संस्कृति.* राजस्थानी ग्रन्थागार, 1986.

दास, श्यामसुंदर. *हिन्दी शब्द सागर.* नागरी प्रचारिणी सभा, नौवां संस्करण, 2003.

दूबे, एम.सी. *मानव और संस्कृति.* हिल पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2009.

वर्मा, महादेवी. *श्रृंखला की कड़िया.* लोकभारती पेपर बॉक्स, इलाहाबाद, साँतवां संस्करण, 2012.

वर्मा, प्रो० एस० एल०. *हिन्दुत्व का वैश्वीकरण.* सामयिक प्रकाशन, 1999.

वर्मा, सुधीरा. *भारत में चुनाव सुधार दशा और दिशा.* कृष्णा बुक डिस्ट्रीब्यूटर, 2015.

वीर, गौतम. *भारत में राज्यों की राजनीति.* मानस पब्लिकेशन, 2011.

वाजपेयी, नंददुलारे. *आधुनिक साहित्य.* इंडियन बुक डिपो, लखनऊ 2009.

वाल्मीकि, ओमप्रकाश. *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र.* राधाकृष्णन प्रकाशन, 2005.

चौधरी, इन्द्रनाथ. *तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य.* वाणी प्रकाशन, 2006.

चोपड़ा, पी.एन. और बी.एन.पूरी, एम.एन.दास. *भारत का सामाजिक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक इतिहास.* लक्ष्मी पब्लिकेशन, 2014.

फडिया, बी.एल. *भारतीय शासन एवं राजनीति.* आदित्य बुक्स, 2016.

फास्टर, ई.एम. *उपन्यास के पक्ष.* अनुवादक–राजुल भार्गव, वाणी प्रकाशन, 2003.

फॉस्टर, जॉन वेलेमी.*रॉबर्ट डब्ल्यू मेक्चेस्नी इलेन मिक्सिसन्स वुड.* (पूँजीवाद और सूचना का युग), अनुवादक राजेन्द्र शर्मा, ग्रंथ शिल्पी, 2006.

त्योहरा, आशारानी. *भारतीय नारी दिशा–दशा.* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004.

जोशी, इंदिरा. *हिन्दी आँचलिक उपन्यास उद्‌भव और विकास.* अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2013.

जैन, श्री मति रा० और डा० जैन.*भारतीय राजनीति के नये आयाम.* जे.एम. जैन एंड ब्रदर्स प्रकाशन, 2000.

जैन, अरविंद. *औरत होने की सजा.* राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2016.

जैन, अरविंद. *औरत अस्तित्व और अस्मिता.* राजकमल प्रकाशन, चौथा संस्करण, 2018.

नागौरी, एस.एल. *प्राचीन भारतीय संस्कृति.* पोईन्टर पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 1996.

नागनाथ. *ग्रामीण साहित्य : स्वरूप बोध.* राजकमल प्रकाशन, 2006.

नगेन्द्र. *हिन्दी साहित्य का इतिहास.* मयूर पेपर बेक्स, आठवाँ संस्करण, 2002.

टण्डन, किरण. *भारतीय संस्कृति.* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, प्रथम संस्करण, 1994.

अहमद, अकील. *मुस्लिम विधि.* सेंट्रल लॉ ऐजन्सी, 2009.

अरोड़ा, ज्ञानवती. *समकालीन हिंदी कहानी यथार्थ के विविध आयाम.* सामयिक प्रकाशन, 2013.

अस्थाना, ज्ञान. *हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण समस्याएँ.* अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2017.

अग्रवाल, आर० ए०. *कला विलास भारतीय चित्रकला का विवेचन.* इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस, संस्करण 2007.

गाबा, ओम प्रकाश. *तुलनात्मक पर्याय कोश,* इंडियन बुक डिपो, 2013.

गोपाल, राम.*भारतीय मुसलमानों का राजीतिक इतिहास.* विकास पब्लिशिंग हॉउस, 1992.

ग्वाहडे, भगवान. *आदिवासी मोर्चा.* वाणी प्रकाशन, 2015.

गुप्त, विश्वम्भरदयाल. *ग्रामीण समाजशास्त्र : साहित्य के परिप्रेक्ष्य में.* वाणी प्रकाशन, 2016.

लाल, प्रो० चमन. *दलित साहित्य एक मूल्यांकन.* डायमण्ड पॉकेट बुक्स, 2005.

(अंग्रेजी में)

घोष, श्री कान्त. *मुस्लिम पोलिटिक्स इन इण्डिया.* सामयिक प्रकाशन, 1987.

कर्वे, ईरावती. *किनशिप आर्गेनाईजेशन इन इंडिया.* पी.एच.आई. प्राईवेट लिमिटेड, 2017.

कुमारी, रंजना. *वुमन इन डीसीजन मेकिंग.* जोरबा बुक्स प्रकाशन, 1992.

कुशवाहा, कुसुम.*राजनीतिक सहभागिता : महिला सशक्तिकरण का सशक्त माध्यम.* प्रिंट इंडिया, 2001.

मिश्रा, अनिल दत्त. *जेण्डर पर्सपेक्टिव : पार्टी सिपेशन एम्पावरमेंट एण्ड डवलपेमेंट.* आविष्कार पब्लिशर, 1999.

सिदिकी, एच.वाई. *मुस्लिम वुमन इन ट्रॉजिशन : ए सोशल प्रोफाइल.* अरन वुड पब्लिशिंग, 1987.

सिहँ, सूर्य नारायण. *मुस्लिम इन इण्डिया.* ज्ञान बुक्स पब्लिशर्स, 2003.

सिन्हा, निरोज. *वूमन इन इण्डियन पॉलिटिक्स.* आवरसिज प्रैस, 2001.

हुसैन, मुशिरूल. *मुस्लिमस एण्ड द काँग्रेस.* बेसिक बुक्स प्रकाशन, 1979.

पारूथी, रा० और रामे० पारूथी. *वूमेन इन लॉ एण्ड पॉलिटिक्स.* श्री महाबीर पब्लिशर्स, 2001.

पुरी, बलराज.*मुस्लिमस ऑफ इण्डिया सिन्स पार्टीशन.* राजपाल एंड सन्स, 2008.

प्रसाद, विमल. *द फाउडेशन ऑफ मुस्लिम नेशनलिज्म.* चक्रधर पब्लिकेशन, 2001.

के. प्रसाद, लोकेश. *इनक्वारी इन टू दी पार्टी सिपेशन ऑफ वुमन इन दी पंचायती राज इंस्टीटयूशन.* विज बुक्स इंडिया, 1999.

शर्मा, कमलेश. *रोल ऑफ मुस्लिमस इन इण्डियन पॉलटिक्स.* क्लैरिटी प्रैस, 1985.

वर्मा, ए. आर.*पीपुल्स पार्टीसिपेशन इन इण्डियन पॉलिटिक्स.* स्टैन्डर्ड पब्लिशर्स, 2002.

वर्मा, जूही. *फयूचर ऑफ इण्डियन मुस्लिम वूमन.* मनोहर पब्लिकेशन, 2012.

वार्ष्णेय, आशुतोष. *हिन्दू–मुस्लिम रिश्तेः नया शोध, नए निष्कर्ष.* मित्तल बुक्स प्रकाशक, 2005.

वास्तव, श्री कुमार. *द मुस्लिम पोलिटिक्स इन इण्डिया.* फ्रैण्डस पब्लिकेशन, 2012.

जॉली, जूलियस. *हिन्दू लॉ एंड कस्टम.* नोरम्स प्रकाशन, 2012.

जैन, सुशीला. *मुस्लिम एण्ड़ मॉडर्नलाइजेशन : ए स्टडी ऑफ देयर चेलिंब रोल स्ट्रक्चर एण्ड नोरम्स इन अन अरबन सैटिंग.* राजकमल प्रकाशन, 1986.

अली, असगर. *मुस्लिम माइनोरिटी : कंटिन्यूडी एण्ड चेंज.* न्यू ऐज इंटरनेशनल पब्लिशर्स, 2009.

सोरोकिन, पी.ए. सोशल मोबिलिटी. अरन बुड़ पब्लिशिंग, 2016.

लाल, के.एस. *द लेंगेसी ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया.* हारदम यूनिवर्सिटी प्रैस, 1992.

पत्र–पत्रिकाएं

..... "धर्म का संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान", *जागरण पत्रिका,* 15 सितम्बर 2015.

यादव, वीरेन्द्र. "बहिष्कृत होती हाशिए के समाज की चिंताएं", *देहरी.* 9 मई 2015.

ठाकुर, देनेश. "मैला आँचल की प्रक्रिया", *नया ज्ञानोदय.* रवीन्द्र कालिया, जुलाई 2014.

कालिया, रवीन्द्र. "ईमाँ मुझे खैंचे है तो रोके मुझे कुफ्र", *नया ज्ञानोदय.* जून 2012.

कुमार राजीव. "महानगरीय जीवन में सम्बन्धों की नियती" नया ज्ञानोदय, मार्च 2010.

रणेन्द्र, "गायब होता देश पर", *नया ज्ञानोदय.* लीलाधर मंडलोई, जुलाई 2014.

राय, आलोक. "ग्रामीण जीवन को अपनी लेखनी में उकेरा था प्रेमचंद ने", *नागफनी त्रैमासिक पत्रिका,* 30 जुलाई 2010.

"स्वामी विवेकानंद विशेषांक", आजकल पत्रिका, मार्च 2013.

देवेन्द्र. "आज के समय में परिवार का महत्त्व और उसका बदलता स्वरूप" *नया ज्ञानोदय.* 15 मई 2019.

फाजिल, आफताब. "दहेज समस्या और समाधान", *अपना ब्लॉग,* 31 अक्तूबर 2014.

नारायण, विभूति. "प्रेत की भूतकथा" पुस्तकवार्ता, *आलोचना.* अंक 29, जुलाई–अगस्त, 2010.

गर्ग, ललित. "दहेज प्रथा एक सामाजिक अभिशाप" *प्रवक्ता : अभिव्यक्ति का अपना मंच.* ई–पत्रिका, 18 अक्टूबर, 2019.

मंडलोई, लीलाधर. नया ज्ञानोदय, जुलाई 2014.

परिशिष्ट

OUR PUBLICATIONS

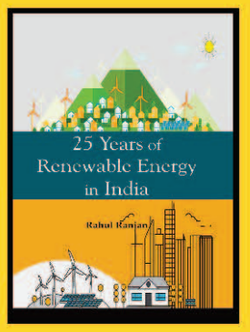

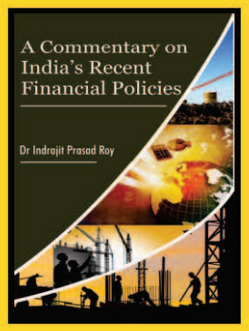

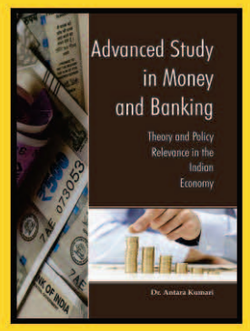

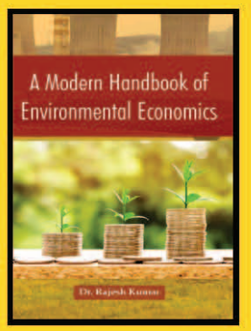

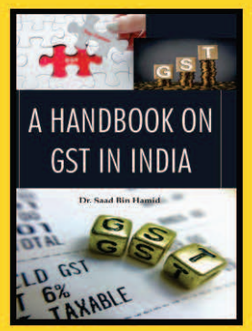

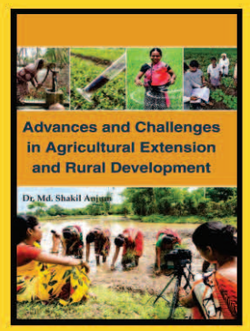

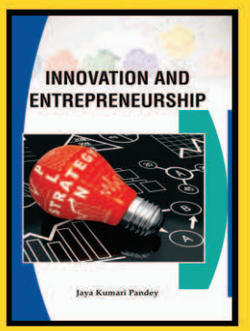

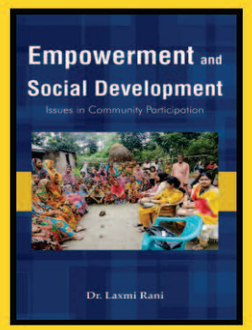

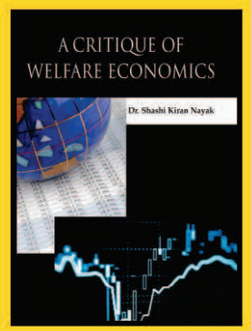

Iobus Press

448, Pocket-V, Mayur Vihar, Phase-I, Delhi-110091 (INDIA)
Ph.: 011-22753916

ISSN 0975-119X

UGC-CARE GROUP I LISTED

वर्ष 12 अंक 6 नवंबर-दिसंबर 2020

दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

India's Leading Referred Hindi Language Journal

IMPACT FACTOR : 5.051

21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आर्थिक पक्ष : 'आदिवासी समाज' के विशेष संदर्भ में

अनिल कुमार

पी.एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

डॉ० रीता सिंह

निर्देशिका

प्राचीन काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यंत सीमित थी, अतएव उसके लिए अर्थ की महत्ता विशेष महत्व नहीं रखती थी। परंतु आधुनिक युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित होती जा रही है। ऐसी स्थिति में आठम अर्थ की अर्थक्ता अत्यंत महत्वपूर्ण बन गई है। आर्थिक आधार पर समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। उच्चवर्ग, मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग। निम्नवर्ग अपने जीवन को जीने के लिए संघर्ष रहता है। इस वर्ग के अंतर्गत आदिवासी समाज आता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी आदिवासी समाज आर्थिक अभाव में जी रहा है। उसे अन्न, वस्त्र और निवास इन मुलभूत आवश्यकताओं में से एक भी आवश्यकता पूर्ण नहीं हो पाती हैं।

आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या है-रोटी। भूख से बिलबिलाने वालों की संख्या चौकाने वाली है। विशेष रूप से झारखंड के पलामू क्षेत्र, बिहार के तैमूर, उड़ीसा के सुदंरगढ़ के आदिवासी भूखमरी के शिकार है। आदिवासियों की आर्थिक स्थिति के कारणों की मीमांसा करते हुए प्रभाश जोशी *21 वीं सदी पहला दशक* में लिखा है :

सबसे पहले इन परिवारों को गरीबी के कारण खाने-पीने, विवाह-शादी इत्यादि के अवसर पर ऋण लेना पड़ता है। एक बार ऋण लेने पर उनकी जीविका के परम्परागत साधन छीन जाते है, जमीन गिरवी रखनी पड़ती है अथवा उच्च समाज के किसी सदस्य के यहाँ बँधक मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में वह अपने श्रम का मालिक नहीं रह जाता।(101)

भगवान दास मोरवाल ने *काला पहाड़* में मेवात के आर्थिक पिछड़ेपन का विवेचन इस प्रकार से किया है। जब प्रधानमंत्री महूँ नामक गाँव में आते है तब अपनी आर्थिक स्थिति को व्यक्त करते हुए सरपंच उनसे निवेदन करते हैं कि :

माननीय प्रधानमंत्री जी जैसा कि आप जानते है हमारा यह इलाका बेहद गरीब और पिछड़ा हुआ है। यहां पिछले कई सालों से न के बराबर बारिश हो रही है। जिसके कारण सारे जोहड और तालाब सूख चुके हैं। मटर, जौ, चना जैसी फसलें पैदा होनी बंद हो गई है। इसलिए इलाके की ओर से चौबीसी की पहली माँग यह है कि मेवात में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ मुहैया कराई जाए और बरसों से मंजूर 'मेवात नहर' का निर्माण जल्दी से शुरू कराया जाए . .।(118)

विडंबना यह है कि मेवात में कारखाने लगाये जायेंगे, रेल की पटरी बिछाई जायेगी, बेरोजगारों को रोजगार दिया जायेगा। यह आश्वासन कई वर्षों से आदिवासी सुन रहे है।

कथाकार संजीव के उपन्यास में बिसराम की तीन साल की बेटी को साँप ने डँसा और उसकी मृत्यु हो गयी। परंतु समस्या यह भी है कि शुद्धि की रस्में पूरी कैसे की जाए। तीसरा दिन था और घर में एक दाना भी नहीं था। खेत भी साहुबार के यहाँ बँधक पड़े हैं। फिर सोचा कि गाय बेच देंगे और इधर-उधर से कुछ रूपये उधार ले लेंगे। इस प्रकार था जनजाति इतनी आर्थिक अभाव में होती है कि शुद्धि की रस्म के लिए भी पैसा नहीं होता। थारू आदिवासी जंगल में अर्थार्जन के लिए कुछ करना चाहते है। लेकिन वहाँ भी परिस्थिति के कारण कुछ कर नहीं पाते। जैसा कि उपन्यासकार संजीव *जंगल जहाँ से शुरू होता* है ने लिखा है :

जंगलों में बेंत हैं, हाथ में हुनर है, झूँड़ी, खाँची तो बना ही सकता है वह। लेकिन उसे लाने कौन देगा? बेंत का एक ठेकेदार जल्लाद, दूसरे जल्लाद वन-विभाग वाले। कहाँ से ले आये रकम, घूस-पाति के लिए।(23)

इस कथन से ज्ञात होता है कि थारू आदिवासियों को अपने आर्थिक अभाव को दूर करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

भारत के अनेक वनवासी क्षेत्रों में आज भी क्रय शक्ति के अभाव में विनिमय प्रणाली चलती है। यहाँ के लोग 10-5 रूपये तक का सौदा नगद खरीदने की क्षमता रखते हैं। परंतु उसके ऊपर कीमत बढ़ जाती है तो उसकी नगदी क्रय शक्ति क्षीण होने लगती है। तब वे वस्तु विनिमय की आदिम बाजार व्यवस्था का व्यवहार करते है विनिमय की शक्ति मुद्रा से वस्तु में स्थानांतरित हो जाती है। एक गज कपड़े के लिए एक मुर्गी, छोटे कठोते पर अमाज के लिए एक

बीसी याने बीस अंडे। आदिवासी जंगलों से शहर आया करते है। अत: गुड़ चीनी लेना हो तो बराबर माप में शहद चुकाना होता है। आदिवासी भोले-भाँले, निरक्षर होने के कारण उनका शोषण होता है। जैसा कि उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह *पठार पर कोहरा* ने लिखा है-'शहर, बाजार की समझ न होने के कारण आदिवासी शहरों में प्राय: ठगे भी जाते हैं। कभी निमोंछिए शहराती लौंड़ें भी धौंस-रोब दिखाकर सोने जैसी चीजे कौड़ियों के मोल उठा लेते हैं।' (18)

आदिवासी क्षेत्रों में कतिपतय ऐसे शक्तिशाली व्यापारी होते है जो अर्थ और शक्तिबल पर आदिवासी क्षेत्रों में शोषण किया करते है। आज भी भारत में ऐसे अनेक क्षेत्र है जहाँ जंगल से संबंधित ठेका किसी आदिवासी के नाम पर लिया जाता है। वे ऐसे किसी आदिवासी को चुनते हैं जो बेचू तिवारी का नमक खाता है और जंगल के नाते भयभीत हो। वैसे तो इस क्षेत्र के वनविभाग के सारे कर्मचारी, अफसर, थाना पुलिस जानती है कि ये ठेका बेचू तिवारी ने ही लिया है।

भारत जो कि विकासशील राष्ट्र है एवं सुनहरे भविष्य की ओर देख रहा है। ऐसे राष्ट्र में आर्थिक रूप से भ्रष्टाचार व्याप्त है। आश्चर्य तो यह है कि शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र में यह भ्रष्टाचार अधिक मात्र में व्याप्त है। आदिवासी एवं दूर-दराज के क्षेत्रों में शिक्षक अनुपस्थित रहते है और स्कूल में पढ़ाना न पड़े इसलिए अफसर, अधिकारियों को वे खुश करते है :

प्राय: अनुपस्थित रहने वाले शिक्षकों की पहुँच जिला शिक्षा अधीक्षक या किसी अन्य पदाधिकारी के आवास पर देखे जा सकते थे। विद्यालयों में कई प्रकार के खर्चे और खरीदारियाँ होती है। प्रधानाध्यापकों को खरीदों पर अच्छी कमीशन मिलती है, यह तो एक नंगा सच है, मगर घर-बैठे वेतन उठाने वाले शिक्षक अपनी अनुपस्थिति, सुविधा हेतु कुछ सुविधा-शुल्क जिला शिक्षा अधीक्षक को अदा करते है, यह जानकर हतप्रभ रह गये थे संजीव...।(51)

लेखक की व्यथा यह है कि सरकारी कर्मचारी सरकारी खजाने का ही अंधाधुंध दोहन कर रहे है। सरकारी खरीद के आदेश ऐसे ठेकेदारों को दिए जाते हैं जो सत्ता पर बैठे लोगों को कमीशन दे। संजीव अनुभव करता है कि शिक्षा विभाग में कुछ प्रबंधन, घोटाले, गबन और गलत तथ्यों की दलदल व्याप्त है। तल से चोटी तक हरी-भरी भ्रष्टाचार की बेल फैली हुई है और आश्चर्य की बात यह है कि कुछ वर्षो पूर्व तक भ्रष्टाचारी व्यक्ति अपने आपको अपराधी मानता था। परंतु अब वह किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं करता है।

भारत में स्पीड़ अर्थात् 'स्टेट प्रोग्राम फॉर ऐलेमेन्ट्री एज्युकेशन' के अंतर्गत जापान, स्वीडन, आस्ट्रेलिया से करोड़ो रूपये प्राप्त होते है जो बिहार और झारखंड के लोगों को शिक्षित बनाने के लिए दिये जाते है। परंतु यह धन बिचौलिए ही हड़प कर लेते है। शिक्षा क्षेत्र में आर्थिक भ्रष्टाचार भयंकर रूप से व्याप्त है। संजीव जानता है कि अधिकांश संस्था इसी प्रकार किसी माफिया या किसी जीवित या दिवंगत छोटे-बड़े राजनेता की छत्रछाया में अटके है। ऐसे महाविद्यालयों में छात्रों और शिक्षकों से धन इकट्ठा किया जाता है। संजीव जब द्वितीय सत्र की फाईल देख रहे थे। तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि फाइल में खरीद का बिल है न भुगतान की पक्की रसीद विद्यालय की मरम्मत के लिए 5000 रूपये की रकम निकाली गई। जिसके भुगतान का प्रपत्र भी हड़बड़ी में तैयार किया हुआ था। वह भी कच्चा प्रपत्र था। कारीगर मजदूरों में से किसी के हस्ताक्षर भुगतान पत्र पर नहीं थे और अँगूठे के निशान थे। इस प्रकार स्कूल में आर्थिक भ्रष्टाचार चल रहा था।

सामान्य रूप से आदिवासियों का एक व्यवसाय होता है, बीड़ी के पत्तों को एकत्रित करना। जिन्हें तेंदु के पत्ते भी कहते है। परंतु इसका लाभ मुनाफाखोर उठाते है। भगवान दास मोरवाल *रेत* में लिखते है :

खूब मेहनत से लू-छाम से सहेजा जायेगा एक-एक पत्ता। सौ-पचास की गड्डी बनाएँगे, फिर इन गड्डियों को औने-पौने भाव में खरीद लेंगे बीड़ी के ठेकेदार और भर-भर बोरे पत्ते खूब मुनाफे वाले भाव पर बेचेंगे।(147)

लेखिका शरद सिंह ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक *पिछले पन्ने की औरतें* में आदिवासी समाज की आर्थिक स्थिति को अभिव्यक्त किया है। लेखिका ने यह प्रश्न किया कि अगर वह जो वेष्यावृत्ति का धंधा करती है उसे छोड़ क्यों नहीं देती है? तब उसका उत्तर विचारणीय बन जाता है-'छोड़ दूंगी'? जो खाँऊगी कहां से? अपना, बच्चों का अपने परिवार का पेट पालने के लिए कुछ तो करना ही होगा और जिस धंधे में पैसा मिलेगा वहीं तो करना होगा। ये स्त्रियाँ चोरी करती है, चोरी करना इनका पेशा है। इसलिए बिलोटी ने चोरी धन के रूप में लायी हुई सोने की मुंदड़ी अपनी माँ के हाथ में रखी तो माँ ने उसकी लाख-लाख बलाईयाँ ली थी। जब माँ भीड़ से घिरी हुई ठुमके लेकर नाच रही थी उसी समय बिलौटी ने भीड़ में घुसकर किसी आदमी की उंगली से मुंदड़ी सरका ली थी।(41)

तेजिन्दर के उपन्यास *काला पादरी* में आदिवासियों का चित्रण हुआ है। जिसमें उनकी घोर दरिद्रता को व्यक्त किया गया है। अकाल पड़ने के कारण इन आदिवासियों की स्थिति और भी बहतर हो गई। थाने में रिपोर्ट दर्ज थी कि बिजापुर गाँव में एक आदिवासी स्त्री तथा उसके दो बच्चे जिनमें एक अभी चार वर्ष का था और दूसरा अभी माँ की छाती में दूध तलाश रहा था उसकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार अंबिकापुर के अस्पताल में भर्ती एक बूढ़े व्यक्ति ने बताया कि उसकी बहु की मृत्यु भूख से हुई है और बेटे की मृत्यु भी कुछ दिन पहले भूख से ही हुई थी। रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि :

इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर उनका माँस खा रहे है।(21)

रेत कंजर समाज पर केन्द्रित उपन्यास है। इस समाज में लड़की वाले को दहेज दिया जाता है। यह रकम भी कम नहीं होती है। उपन्यास में अंगूरी रंभा के प्रेमी ड्राइवर को बुलाकर स्पष्ट शब्दों में कहती है कि अगर वह अपनी पोती को भाभी बनाता है तो उसे कम से कम दो लाख रूपये दहेज मे मिल सकते है। इस समाज में जो वेश्या होती है उसे भाभी कहते है। रंभा जब यह प्रश्न करती है कि उसके प्रेमी की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है। अत: वह इतना धन कहाँ से ला सकता है और फिर मैंने अभी तक इतना कमाकर दिया है उसका क्या? अब अंगूरी यही कहती है कि रंभा अपना घर बसाकर उसका आर्थिक नुकसान ही कर रही है।

कंजर समाज में भी विवाह के अवसर पर आर्थिक समस्या बनी रहती है। वेश्याएँ पुलिसवालों के लिए आर्थिक कमाई का एक महत्वपूर्ण साधन होता है। वेश्याओं को पुलिस को रिश्वत देनी पड़ती है। रूक्मिणी वैध जी से यही कहती है कि इन पुलिसवालों को उनसे संबंध बनाकर रखना पड़ता है क्योंकि इनकी कमाई वेश्याओं से होती है। भगवान दास मोरवाल *रेत* की नारी पात्र रूक्मिणी के शब्दों में :

हमारा शरीर और इस पुलिस का तो जूँ और घाघरी जैसा नाता है। न जूँ से घाघरी छोड़ते बनती है, न घाघरी से जूँ। वैसे भी हम पुलिस से बनाकर ना रखे तो हमें कौन जीने दे। पता है धरमपुरा कोतवाली में आने के लिए पुलिस महकमें में मोटी रकम चढ़ाई जाती है।(147)

पुलिस व्यवहार में सबसे अधिक भ्रष्टाचार है। जैसे धरमपुरा कोतवाली की असली कमाई है। गाजूकी, पठेपुर, कलगाँव, अल्लाहपुर आदि गाँवों के चढ़ावे से होती है और फिर पुलिसवाले आदिवासी कंजरों और इस समाज की वेश्याओं से धन वसूल करते है।

राकेश कुमार सिंह का *पठार पर कोहरा* में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति का यथार्थ चित्रण है। स्वयं राकेश कुमार सिंह ने लिखा है :

आर्थिक तानाशाही ने झारखंड के आदि निवासियों के रहन-सहन, संस्कार, सोच और परम्पराओं को ही निरूपित नहीं किया वरन् पूरे जनजातीय समाज के स्नायुतन्त्र को ही तोड़-फोड़ डाला है।(8)

आदिवासी क्षेत्र में आर्थिक लूट मची हुई है। तूपकाहीड़ रेलवे स्टेशन के पास हाट लगता है। इन दो दिनों के अलावा यदि खरीददारी करनी हो तो बनिये की दो दुकानें है परंतु वे भोथरी छुरी से गला काटते है। हर चीज 10-20 पैसे मंहगी। वैसे आदिवासियों की आर्थिक आवश्यकताओं को रेखांकित करते हुए उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह ने लिखा है :

जैसे बनवासियों की जरूरते है भी कितनी? अनाज, किरासन तेल, नमक, सस्ते, कपड़े, लोहे-लकड़ी के समान, घी-गुड़-शक्कर .. आदिवासियों द्वारा जंगल से इकट्ठी की गयी चीजें, मसलन शहद, पत्तल दाने, लकड़ी के लट्ठे गट्ठर, चीटे, भोज्य पक्षी, मछलियाँ और हँडिया (चावल की मदिरा) शुक्रवारी या मंगलवारी हाट में ही सब कुछ मिल जाता है।(22)

आदिवासी निरक्षर और सरल स्वभाव के होने के कारण साहुकारों, जमींदारों, ठेकेदारों के द्वारा आर्थिक रूप से शोशित हैं, आदिवासी स्त्रियाँ छोटी-छोटी वस्तुएँ तैयार करती है। जैसे- टोकरियाँ सूप, पंखे बनाना। इससे उनका और उनके परिवार का पेट भरता नहीं है। इसी प्रकार कुछ आदिवासी समाज अपराधी वृत्ति से जुड़े हैं, जैसे कबूतरा समाजचोरी, डकैती और शराब बनाना व्यवसाय अपनाये हुए है। *काला पहाड़* उपन्यास में आदिवासी मेवात अपने आर्थिक कष्ट को प्रधानमंत्री तक पहुँचाते है। *जहाँ बाँस फूलते है* का जोबा को भरपेट चावल तो नहीं मिला। इस उपन्यास का द्वद्ध भूख को जानता है क्योंकि वह खुद तीन दिन से भूखा है। *जंगल जहाँ शुरू होता है* में आदिवासी स्त्रियां जंगलों में होने वाले बेंत वस्तुएँ बना सकती है, परंतु बेंत का ठेकेदार जल्लाद है। वह उन्हें बेंत लेने नहीं देता। राकेश कुमार सिंह का *पठार का कोहरा* में उपन्यासकार ने स्पष्ट लिखा है कि निमोछिए बाजार की समझ न होने के कारण आदिवास प्राय: ठगे जाते है। कभी-कभी बिचौलिए अपना रोब दिखाकर सोने जैसी चीजें कौड़ियों के मोल खरीद लेते है।

आर्थिक स्थिति की भयावहता के कारण हैरान-परेशान आदिवासी स्त्रियाँ देह व्यापार करती है। *रेत* में यही सच्चाई ब्यान की गई है। वेश्या व्यवसाय के साथ कातिपय स्त्रियाँ दुकानों में जाकर छोटी-छोटी मोटी चीजें उठा लेती है। *काला पादरी* उपन्यास में आदिवासियों की घोर दरिद्रता वर्णित है। जहां एक बच्चे की मौत भूख से हो जाती है। इसी उपन्यास में भूख की समस्या का निरूपण करते हुए लिखा है कि भूख से मरने वालों का कोई रिकार्ड नहीं है। *ग्लोबल गाँव के देवता* अर्थात् वैदान्त जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और टाटा कंपनी करती है। जो लोहे की वस्तुएँ असुर बनाते थे, उन्हें टाटा की फैक्ट्रियों में बनाने के कारण असुर भूख करने पर विवश हो गये है।

संक्षेप में सभी आदिवासी केंद्रित उपन्यासों में आदिवासियों के घोर आर्थिक संकट को उकेरा गया है। ये आदिवासी अपनी अत्यंत मूलभूत आवश्यकता अन्न के लिए खानाबदोश होने पर विवश है। संवेदनशील उपन्यासकारों ने आदिवासियों की मूल समस्या को प्रस्तुत करते हुए किसी निश्चित समाधान की अपेक्षा की है।

सन्दर्भ ग्रंथ

- जोशी, प्रभाश. *इक्कीसवीं सदी पहला दशक.* राजकमल प्रकाशन, 2010.
- मोरवाल, भगवान दास. *काला पहाड़.* राजकमल प्रकाशन, 2004.
- *रेत.* राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2008.
- संजीव. *जंगल जहाँ से शुरू होता है.* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008.
- सिंह, राकेश कुमार. *पठार पर कोहरा.* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक, 2003.
- सिंह, शरद. *पिछले पन्ने की औरते.* सामयिक प्रकाशन, 2005.
- तेजिन्दर, *काला पादरी.* साहित्य भण्डार प्रकाशक, 2016.

ISSN 0975-119X

UGC-CARE GROUP I LISTED

वर्ष 12 अंक 5 सितंबर-अक्टूबर 2020

दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

IMPACT FACTOR : 5.051

India's Leading Referred Hindi Language Journal

OUR PUBLICATIONS

Iobus Press

448, Pocket-V, Mayur Vihar, Phase-I, Delhi-110091 (INDIA)
Ph.: 011-22753916

21वीं सदी के हिंदी उपन्यास में मुस्लिम समाज : 'अपवित्र आख्यान' के विशेष संदर्भ में

अनिल कुमार

पी.एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

डॉ. रीता सिंह

निर्देशिका

भारत एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतंत्रत्मक राज्य है। यह सभी जाति धर्मों के लोगों को एक समान रूप से देखा जाता है और सभी को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और न्यायविचार, विश्वास, उपासना, धर्म की स्वतंत्रता प्राप्त है। भारत की मुख्य विषेशता यह है कि सब मिल-जुलकर संस्कृति के विकास में सहायक होते हैं। डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव *इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक* में लिखते है, ह्लोकतांत्रिक ढ़ांचे का लोकविरोधी चेहरा और चरित्र, हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध, धार्मिक अतिवादों के घातक टकराव और हिंसक मुठभेड़, इस सदीं के मुख्य सरोकार एवं चिताएँ है।' (63) भारत में बहुसंख्यक जनता हिन्दुओं की है। इसके बाद मुसलमान का स्थान है। मुस्लिम लोगों के यहां सामाजिक जीवन धर्म के आधार पर होता है। धर्म के प्रति आस्था और उनकी वेशभूषा, आचार-विचार, संस्कृति कुछ अलग होती है। उनके जीवन में भी अंधविश्वास का प्रभाव, प्रचलित मान्यताओं का चित्रण किया गया है। ग्रामीण उपन्यासों में मुस्लिम समाज को भी आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आधार पर झूझता इक्कीसवीं सदी के ग्रामीण उपन्यासों में दिखाया गया है।

मुस्लिम धर्म और प्रचलित मान्यताएँ

भारत में अनेक धर्म, जाति के लोग रहते हैं। धर्म के आधार पर भगवान को मानते हैं, ये सभी अंधविश्वास है, इसका विवरण भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य *हंस विशेषांक पत्रिका* में इस तरह से दिया गया है :

इस्लाम की ऐसी शिक्षा किसी भी मुसलमान को धर्मांध बना सकती है। लेकिन इससे यह तो पता चलता ही है कि पैंगबरों-इस्लाम को अपने समय में भौतिकवादी लोगों के तर्कों का सामना करना पड़ता था। उनके तर्क अकाट्य थे। संभवत: इसलिए उन्हें 'शैतान' की संज्ञा देकर उनसे मुसलमानों को दूर रहने की शिक्षा दी गई थी। इस्लाम का भविष्य अब चाहे जो भी हो, पर मुझे नहीं लगता कि आधुनिक शिक्षा के विकास के साथ मुसलमान हमेशा-हमेशा इस 'शैतान' से दूर रह सकेंगे।(67)

धर्म और संप्रदाय एक सिक्के के दो पहलू हैं। अगर इसको हम मान ले तो सिक्का भगवान होता है। क्योंकि धर्म-संप्रदाय किसी न किसी भगवान के नाम पर ही होता है। भगवान में विश्वास करने वाले को भी यह नहीं पता है कि भगवान कैसा है। आज तक कोई धर्म-सम्प्रदाय के लोग भगवान को नहीं देखा है। लेकिन भगवान पर विश्वास रखते है। जिसको देखा नहीं, जिसको छुआ नही तो यह प्रतीत होता है कि वह है नहीं। जो नही है उस पर विश्वास करना अंधविश्वास ही होता है। भगवान है तो फिर भूत ही रहता है। लेकिन आज तक भूत को नहीं देखा, जिसने देखा उसने उसकी पूजा शुरू कर भगवान बना दिया। हर एक धरम के अनुसार स्वर्ग उपर एक अलग दुनिया में है। ऊपर तो चाँद सूरज और तारों तक विज्ञान घूम आया है कहीं स्वर्ग नही दिखा सिवाय आकाश गंगा, ब्राह्माण्ड के। पृथ्वी के लोग भी जाके वापस आ गये हैं। सूरज तक लैंका नामक कुत्ता भेजा गया और आसमान में कहाँ स्वर्ग है? धर्म के नाम पर चल रहे कुछ एक संस्थाएं भगवान के नाम पर लोगों का अंधविश्वास पालकर समाज को पीछे ले जा रही है। एक घर का आजकल अपना एक देवता बन गया है। हिन्दू में भगवान का एक रूप, मुस्लिम में अल्ला का एक रूप, और रूपों को पूजते-पूजते असली भगवान को सारा जगत भूल ही गया जो सबके अंदर है सबने मार दिया है।

मुस्लिम धर्म में सामाजिक यथार्थ

भारतीय मुसलमानों के पिछड़ेपन के मूल में शिक्षा को माना जाता है। क्योंकि शिक्षा अन्य सभी कारणों को प्रभावित करती है। भारतीय मुसलमान शिक्षा में देश के अन्य समूहों की अपेक्षा काफी पीछे है यह स्थापित सत्य है। इस स्थिति को मुसलमानों के पिछड़ेपन का एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया गया है। हालांकि यह भी विचारणीय है कि मुसलमानों का आर्थिक रूप से पिछड़ा होना भी अनेक शैक्षिक पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार है। यूँ शिक्षा में आगे नहीं होने के कारण वे आर्थिक व सामाजिक रूप से पीछे रह जाता है।

इस्लाम धर्म के अनुसार विवाह पुण्य कार्य है। अल्लाह के निगाह में औरत और मर्द के बीच कोई अंतर नहीं है दोनों समान हैं। मुस्लिम विवाह पद्धति में मेहर और मौतुक (दहेज)। इतना अल्प रखने की आज्ञा दी है। जिसका दोनों पक्ष सफलतापूर्वक पालन कर सकें। पति-पत्नी में अच्छे संबंधों पर जोर देता है। कुरान में स्थान-स्थान पर रिज़्तेदारों से पड़ोसियों से सद्व्यवहार करने का आदेश दिया गया। इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद शिक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया। उनका कहना है कि तुमने अगर एक मर्द को पढ़ाया तो केवल एक को तालीन दी। लेकिन अगर एक औरत को पढ़ाया तो एक खानदान को शिक्षित किया। व्याभिचार से बचाव, विधवाओं का उद्धार करने के लिए मुस्लिम समाज में चार शादियों की इज़ाजत है। लेकिन चार शादियाँ करना अनिवार्य नहीं है।

मुस्लिम समाज में पर्दा करने की व्यवस्था हैं। कुरान में कहा गया है, 'हे नवो अपनी पत्नियों और बेटियों और ईमान वाली स्त्रियों से कह दो कि वे (बाहर निकलने पर) अपने ऊपर चादर के पल्ले लटका लें। इसके इस बात की अधिक संभावना है कि पहचान ली जाए और सतायी न जाए और अल्लाह बड़ा क्षमाशील व दयावान हैह इस प्रथा का पालन करने वाली स्त्रियों के प्रतिनिधि प्रस्तुत अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास *अपवित्र आख्यान* में यासमीन है। हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज में भी जाति-पाति के भेद, छुआछुत की समस्या हैं। मुसलमानों में भी अपनी जाति पर रोब दिखाने वाले ज्यादा है :

फिर जातिवाद और साम्प्रदायिकता...यह तो समझिये एक जंगल है। जिसमें हर शिकारी का शिकार मौजूद है। अगर जंगल ही न रहेगा, तो शिकारी अपना शिकार कहाँ ढूँढ़ेगा? और असल बात तो यह है कि अपनी फितरत में हर आदमी कहीं न कहीं जातिवादी और कम्यूनल है।(84)

मुसलमानों में भी नीच जातियाँ होती थीं। उनसे उच्च जाति के लोग नफरत करते हैं। सिद्दीकी, असार जैसे पात्र के माध्यम से इसका निरूपण किया जा रहा है :

मुसलमानों की जितनी भी तथाकथित नीची जातियाँ होती थीं, उन सबसे उनको सख्त परहेज था।...जातिगत श्रेष्ठता पर उन्हें (अंसार साहब को) सिद्दी की साहब से भी ज्यादा आस्था थी। तथाकथित नीची जाति के मुसलमानों से वे नफरत करते थे।(64)

बदलती परिस्थितियों के अनुरूप मुस्लिम जन नारी की शिक्षा और नौकरी को प्रोत्साहन देते रहे है। यासमीन के भाई डॉ. सादिक अपने पिता से कहता है:

तो क्या हुआ, आजकल की लड़कियाँ न जाने कहाँ-कहाँ जाकर अपना कैरियर बना रही है। फिर यह तो सोचिये कि, इस शहर में रखा ही क्या हैं? वह शहर तो मकर्जे-हिन्दुस्तान के बहुत करीब है और मकर्जे हिन्दुस्तान में क्या नहीं हैं?....पूर्र मुल्क की सरकार वहाँ है।(18)

आजकल मुसलमानों मे ज्यादा लोग अपनी लड़कियों के प्रति भरोसा रखने वाले होते हैं। यासमीन के परिवार वाले इसके उदाहरण हैं। यासमीन कहती हैं:

दोपहर वाली बात कि, मैं तुम्हें साथ नहीं ले आई। डरते-डरते छोटे भईया ने बताया, तो सभी लोग गुस्सा होने लगे मुझ पर। कहने लगे, बेटी को कॉलेज में भेजा है, तो यकीन भी है, उस पर।(82)

आधुनिक सामाजिक जीवन में लोग अपनी सुविधा से ज्यादा अपने को प्रदर्शित करने की धुन में लगे हुए हैं। मुस्लिम जन भी इसके अपवाद नहीं है :

डिनर पार्टी का आयोजन लक्ष्मी विलास के लॉन में किया गया है। हाँलाकि गर्मी शुरू हो गई थी, मगर लोग वाकायदा सूट-टाई से सुसज्जित होकर आये थे। धोती अथवा कुर्ता-पजामा पहनकर आने वालों की संख्या कम थी।द्ध84ऋ

हिन्दी विभाग में मुसलमानों को नौकरी मिलना बहुत मुश्किल होता है। विश्वविद्यालय के बी.सी. स्वयं नकवी साहब से कहते हैं, 'हिस्ट्री, इकोनॉमिक्स, कॉमर्स वगैरह डिपार्टमेंट्स में तो यह पौसीबल है। मगर हिन्दी? हिन्दी में तो किसी मुसलमान का होना हमारे यहाँ बहुत मुश्किल है। ऐसा नहीं हो सकता। लोग ऐसा होने नहीं देंगे।'(84, 85) इसका कारण यह है कि भारत समाज में शिक्षा के विषय भी धर्म व जातिगत आधार पर बंटे है। जैसे हिन्दू द्वारा किसी भी विषय को पढ़ा जायेगा, पर उर्दू को नहीं क्योंकि उर्दू तो मुसलमानों से जुड़ी है। इसी तरह प्रत्येक धर्म के लोगों ने भाषा को भी अपना और पराया बना दिया है। मुसलमान इलाके के जन-जीवन का वर्णन उपन्यासकार ने इस प्रकार किया :

गली में ससती आईसक्रीम और चाट बेचने वालों की आवाजें गूँजने लगी थी। नंगे-अधनंगे बच्चे अपनी मिट्टियों में पैसे दबाये उनके इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे थे। दरवाजों पर पड़े मैले-कुचैले पर्दो की आड़ से उनकी अम्माओं के चेहेरे झाँक रहे थे। मुहल्ले की दुकानों में बत्तियां जल गई थी।...सड़क के किनारे लगे एकमात्र नल पर नहाने वालों की भीड़ जुटने लगी।(14)

इकबाल अहमद अपनी बिगड़ी जीवन स्थिति का जिक्र करते हुए जमील को बताता है-

मैं यहाँ हिन्दू बनकर रहा हूँ। राय के फुसफसाते हुए कहा, कम्बख्त क्या मुसीबत है। इस शहर के मुहल्ले भी हिन्दू और मुसलमान हैं। मगर कोई भी मुसलमान मुझे मुसलमान मानने को तैयार नहीं। कहते है, राय भी कहीं मुसलमान होता है। (101, 102)

मुसलमान मुहल्ले के मकानों के बारे में प्रस्तुत उपन्यास में वर्णन यों मिलता है :

मुसलमान मुहल्लों में या तो किराये के घर मिलते ही नहीं थे या फिर इसी तरह के ऊटपटाँग कमरे मिलते हैं। जो मकान ठीक-ठीक होते थे, उनका किराया बहुत ज्यादा होता था।...टॉयलेट बाहर था, कुएँ के पास। नल नहीं था। आस-पास के लोग भी उसी टॉयलेट का इस्तेमाल करते थे। दोनों कमरों में एक-एक बल्ब लगाया चालीस वॉट के। उन दोनों बल्बों के स्विच पीछे, मकान-मालिक के मकान में थे। शाम को अँधेरा होने के बाद वे औन कर दिये जाते थे और रात ग्यारह बजे के बाद ऑफ।(103)

उच्च पद प्राप्त करते ही गर्व होने लगता है हर एक व्यक्ति को। मुसलमान भी इसके अपवाद नहीं है। यासमीन के पात्र के द्वारा इसका निरूपण किया जा रहा है। यासमीन और जीमल सहपाठी थे। एक-दूसरे को पहले-पहल चाहने वाले थे। यासमीन यूनिवर्सिटी में हिन्दी विभागाध्यक्ष होती है। जीमल उसके

मिलने जाने पर अपने रोब का प्रदर्शन करती है, ह्मैं विभागाध्यक्ष हूँ। इसलिए यहाँ आप मुझे 'प्लीज' तुम मत कहिये।...विश्व हिन्दी सम्मेलन...में भी आमंत्रित थी। खूब मजा आया। हिन्दी के बड़े-बड़े विदेशी विद्वानों से मुलाकात हुई। यासमीन की आवाज में गर्व था।(126-129)

गाँव के मुसलमानों के सामाजिक जीवन का वर्णन जीमल से करवाते है। उपन्यासकार अब्दुल बिस्मिल्लाह मुस्लिम समाज का ग्रामीण पक्ष इस तरह से प्रस्तुत करते है 'अपवित्र आख्यान' में :

आप गाँवों में जाकर देखिए, वहाँ के हिन्दु और मुसलमान कैसे हैं? उनका जीवन एक जैसा है, उनकी समस्याएँ एक जैसी हैं। जो समस्या हिन्दू किसान की है वही समस्या मुस्लिम किसान की भी है। अगर गरीब मुसलमान अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दे पाता तो गरीब हिन्दू भी नहीं दे पाता। यही नहीं तो भाषा हिन्दू बोलता है, वही भाषा मुसलमान भी बोलता है। और अगर आप यह सोचते हो कि हर मुसलमान उर्दू बोलता है तो यह आपकी गलतफहमी है। अधिकांश मुसलमान उर्दू का आलिक-वे नहीं जानते। गाँव में चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, वो अपनी बातचीत में एक जैसी बोलियों, एक जैसे मुहावरों का प्रयोग करते है।(133)

इस प्रकार सामाजिक संदर्भ में आदर्शमय मुस्लिम जीवन का प्रस्तुतीकरण जमील पात्र के द्वारा प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है।

मुस्लिम धर्म में सांस्कृतिक यथार्थ

संस्कृति शब्द का अर्थ है परिष्कृत या परिमार्जित करना। इस शब्द से परिमार्जित के साथ-साथ शिष्टता और सौजन्य के भावों का भी बोध होता है। अत: संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है, जिसका अर्थ संशोधन करना, उत्तम बनना, परिष्कार करना। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, प्राकृतिक शक्तियों और उसके परिष्कार का घोतक संस्कृति शब्द है। संस्कृति संस्कार की क्रिया है। संस्कृति से तात्पर्य है कि खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, साहित्य-कला, आचार-विचार, व्यवहार, राजनीति, दर्शन, नीति, रीति, रूचि, धर्म, अर्थ आदि समाज और जीवन से संबंधित सभी तत्व आते हैं। इन सभी के संस्कार, सुधार और विकास से इसका संबंध होता है।

किसी भी समाज में संस्कृति को जानने के लिए उस समाज में प्रचलित रूढ़ि परंपरा के अनुसार ही उसे हम जान सकते हैं। आज आधुनिकता के कारण व्यक्ति के सोच-समझ में परिवर्तन आ रहा है। मानवतावादी संस्कृति के विकास की संभावना ने जन्म लिया। संस्कृति के क्षेत्र में अध्ययन के स्थान पर भौतिकवाद को स्वीकृति दी गई। प्राय: सांस्कृतिक मूल्य धर्म दर्शन को आधार बनाकर मानव जीवन के अंतरिक तथ्य जीवन को सशक्त अभिव्यक्ति देते हैं। लेकिन आज संस्कृति विज्ञान से अत्यधिक प्रभावित है। युगीन परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है।

संस्कृति युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इसका निरूपण *अपवित्र आख्यान* उपन्यास में कई स्थानों व संदर्भो में किया गया। उदाहरण के तौर पर पहले पहल दहेज प्रथा मुस्लिम संस्कृति में नहीं थी। लेकिन आज भी स्थिति श्यामू भैया के विवाह के संदर्भ में प्रस्तुत की गयी है।

हम हिन्दूअन में यही न खराबी है। जमील बोला, तो लोग चौंके ख़्रख़्रख़्र मंगनी के नाम पर वहाँ भी यही सब होता है। .... मुसलमानों के यहाँ भी अब दूल्हे बिकने लगे हैं। .. डिमांड से भी शादियाँ होती है। स्कूटर और कार से लेकर नकद रूपये तक वहाँ भी माँग की जाती है।'(150)

एक धर्म के त्यौहारों को दूसरे धर्मावलंबी न मानने पर भी उसकी संस्कृति का प्रभाव तो दूसरे धर्मालंबियों पर पड़ता है। दीपावली त्यौहार मुसलमान नहीं मानते है। लेकिन उस दिन हिन्दू लोग जहाँ-जहाँ दिया जलाते हैं, वहाँ-वहाँ मुसलमान लोग भी जलाते हैं। खासकर गाँवों में यह दिखाई देता है।

हदिवाली के दिन मुसलमान औरतें भी चूल्हे के पास देहरी पर दिया जलाती है।..दिवाली रात राबिया देवी ने....देहरी पर और चूल्हे के पास दीया जलाया।' त्यौहारों के दिनों में एक-एक त्यौहार में एक-एक तरह का खास पकवान या मिठाई बनाने की संस्कृति जीवन में है। मुस्लिम जीवन में भी यह संस्कृति दिखाई देती है। 'दिवाली बीतने न बीतने शबे-बरात त्यौहार आ टपका। घर-घर हलवे बनाने की तैयारियाँ शुरू हो गई।'(104)

रहन-सहन, पहनावे ओढ़ावे में भी धर्म की अपनी-अपनी संस्कृति होती है। लेकिन इस आधुनिक युग में यह भी दूसरे धर्म व वातावरण से प्रभावित होती रहती है। प्रस्तुत उपन्यास में राबिया पात्र के माध्यम से इसका निरूपण किया गया। राबिया वेदी के वेश-भूषा हिन्दू स्त्री जैसी है। इसे देखकर इकबाल बहादुर राय जमील की पत्नी को हिन्दू समझने लगा तो जीमल कहता है, ह्मतलब यह कि, जैसे तुम नाम से तो हिन्दू लगते हो, मगर हो मुसलमान। उसी तरह यह देखने में तो हिन्दू लगती है, मगर है मुसलमान।ह (206)

उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम होता है कि लोग देखने में हिन्दू, मुस्लिम, पारसी तो है, लेकिन सभ्यता व संस्कृति ही ऐसी हो गई है कि कोई यह नहीं कह सकता है, यह हिन्दू है या यह मुसलमान या यह फारसी। युगीन परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक मूल्य में परिवर्तन होता है। अत: सांस्कृतिक नेतृत्व देने वाले लोगों में भी आज परिवर्तन दिखाई देता है।

सन्दर्भ ग्रंथ

- यादव, वीरेन्द्र सिंह. *इक्कीसवीं सदीं की दहलीज पर उपन्यासिक दस्तक.* ओमेगा पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2012.
- भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य *हंस विषेशांक पत्रिका.* 13 दिसम्बर 2018.
- बिस्मिल्लाह, अब्दुल. *अपवित्र आख्यान.* राजकमल प्रकाशन, 2008.

(U.G.C. Approved Peer Reviewed Refereed Journal) ISSN No. - 2319–5908

Hindi : Shodh Sandarsh-VIII, Vol.-XXVI, March 2020, Page : 169-172

General Impact Factor : 1.7276, Scientific Journal Impact Factor : 6.756

21वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन के संघर्ष : 'फाँस और अकाल में उत्सव' के विशेष संदर्भ में

अनिल कुमार डॉ. रीता सिंह***

साहित्य समाज को देखने का एक अच्छा जरिया है। जिस समय प्रेमचंद 'गोदान' और 'प्रेमाश्रम' उपन्यास लिख रहे थे उस समय भारत में स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। किसान सामन्ती और जमीदारी तथा महाजनी जैसी कुव्यवस्थाओं से जूझ रहा था। समाज में घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव लेखक पर पड़ना स्वाभाविक था। आम तौर पर प्रेमचंद को किसानों का कथाकार कहा जाता है और गोदान भारतीय किसानों के जीवन का महाकाव्य। हिंदी साहित्य में औपन्यासिक क्षेत्र में पहली बार ऐसा हुआ था। जब प्रेमचंद ने किसी किसान को नायक बनाकर उपन्यास लिखा तथा किसानों की दयनीय स्थिति को हू–ब–हू अभिव्यक्त किया है।

आज का भारत प्रेमचंद के भारत से काफी बदला है। मनुष्य अब उतना और वैसा सामाजिक नहीं रहा जैसा पहले था। समाज में आर्य इन परिवर्तनों का असर उपन्यासकारों के लेखन में भी दिखाई देता है। नब्बे दशक में भारत सरकार द्वारा लागू की गई 'नई आर्थिक नीति' (1991) अर्थशास्त्रियों के अनुसार भारतीय समाज के निम्न तबके से उच्च तबकों तक एक परिवर्तन दिखाई दिया और किसानों के जीवन शैली में भी कुछ बदलाव दिखाई दिया। एक वैश्विक ग्राम या बाजारवाद का प्रभाव समाज में दिखाई दे रहा है। इसी समय उदारवाद और नव–उदारवाद का दौर आरम्भ होता है और किस तरह साहित्य लेखन में भी एक नई शैली पनपती है। कार्पोरेट कंपनियों का लगातार विस्तार हो रहा है। किसानों के उपजाऊ जमीनों को पूंजीपतियों द्वारा अपार्टमेन्ट में बदला जा रहा है।

सामाजिक व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति के संबर्धन और विकास के लिए अर्थ (रुपया) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत कृषि प्रधान देश माना जाता है। आज भी सत्तर फीसदी लोग जीवन यापन के लिए कृषि को आधार बनाया है। समय की माँग के अनुसार कृषि के उत्पादन में परिवर्तन होना लाजमी है। इग्लैंड़ से भारत तक का औद्योगिक क्रांति का सफर और भारत में हरित क्रांति होने से कृषि उत्पादन में काफी बदलाव आया है। परन्तु किसान किसी न किसी रूप से शोशित और प्रताड़ित रहा है। जिसकी अभिव्यक्ति उपन्यासकारों ने की है।

फाँस सजीव कृत उपन्यास जो महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ क्षेत्र में निवास करने वाले किसानों के जीवन तथा उनके जीवन में आने वाली तमाम विनाशकारी समस्याओं पर आधारित है। यह उपन्यास सबका पेट भरने वाले और तन ढ़कने वाले देश के लाखों किसानों द्वारा किए जा रहे आत्महत्या पर केन्द्रित है। यह कहा जाता रहा है कि भारत किसानों का देष है और भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। यहाँ आधे से अधिक जनता कृषि पर निर्भर रहती है। विगत कुछ दशकों से इस देश में किसान आत्महत्या तेजी से हो रही है।

उपन्यास की कथावस्तु के शुरूआत महाराष्ट्र के 'यवतमाल' जिले से होती है जो आधा वन है आधा गाँव, एक ओर देखो तो जंगल दिखाई देता है दूसरी ओर पठार। वनगांव का चित्र संजीव इस तरह खीचते हैं :

भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूरबी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा वन होगा, आधा गाँव, आधा गीला होगा, आधा सूखा। स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियाँ भी, जुए में भैंस के साथ बैल भी। जो भी होगा आधा–आधा।

* *शोध छात्र, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब*

** *शोध निर्देशिका, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब*

संजीव के इस उपन्यास में एक किसान की बुनियादी समस्याओं जैसे – बीज बोने से लेकर खाद–पानी तथा घर परिवार की आर्थिक समस्या या फिर उत्पादित की गई फसलों को बेचने की जैसी समस्याओं को देखते हुए सहज ही प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान' के केन्द्रीय पात्र 'होरी' की आ जाती है। संजीव प्रेमचंद की लेखन परम्परा को आगे बढ़ाने का काम करते हैं। जिस प्रकार गोदान में प्रेमचंद ने होरी के माध्यम से भारतीय किसानों की दयनीय स्थिति को दिखाया है। उसी तरह 'फाँस' उपन्यास में संजीव ने 'शिबू' के माध्यम से किसानों की बदहाली को दिखाया है। फर्क इतना है कि होरी खेतों में काम करते–करते अपना प्राण त्याग देता है अर्थात् प्रेमचंद के यहाँ संघर्ष दिखाई देता है। वास्तव में प्रेमचंद ने होरी का संघर्ष करते हुए प्राण त्यागते हुए दिखाते हैं पर सच्चाई कुछ और ही है। वह यह कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था का शिकार होकर होरी आत्महत्या करता है। 'फांस' में किसान आर्थिक समस्याओं का सामना करते–करते अंत में हताश और निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। संजीव का यह उपन्यास सामाजिक संरचनास के तमाम जटिलताओं के बीच खेती किसानी की त्रासदी के हकीकतों को परत–दर–परत भेदते हुए समस्या और विकास के नाम पर जारी उपक्रमों की समीक्षा करता है। यह किसान जो कभी 'भारत की आत्मा' के नाम से जाना जाता रहा है वही आज अपनी गरीबी भरी जिंदगी से टूटकर आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है। यह आत्महत्या एक किसान की आत्महत्या नहीं है बल्कि यह किसानी संस्कृति की हत्या है।

उपन्यास में एक पात्र 'शिबू' जब समस्याओं का सामना नहीं कर पाता और आत्महत्या कर लेता है। तब उसके आत्महत्या को पात्र ठहराने के लिए घरवालों को काफी मशक्कत करनी पड़ती है। यदि सरकारी कर्मचारी, बिचौलियों, दलालों को कुछ नहीं मिलता तो आत्महत्या, आत्महत्या नहीं ठहराते। अंत में घरवालों को मुआवजा भी नहीं मिलता है। कर्ज के जाल में फंस कर किसान आत्महत्या कर रहे हैं। बहुचर्चित उपन्यास फाँस को पढ़ते हुए ऐसा लग रहा है कि यह व्यवस्था किसानों के साथ छल कर रही है। बड़े जमींदारों, काश्तकारों तथा साधारण किसान और माध्यम वर्ग के किसानों का यही हाल है। महँगाई आकाश चूम रही है। पहले किसान फसल बोने के लिए अपने घर में ही रखे बीज का प्रयोग करते थे। उत्पादन की वृद्धि के लिए नए–नए बीजों का प्रयोग तथा उर्वर शक्ति बढ़ाने के लिए नई–नई खादों जैसी सामग्री का प्रयोग किया जाने लगा जिससे खेतों की उर्वर शक्ति धीरे–धीरे समाप्त होती गई। परिस्थिति से मजबूर किसान कर्ज के लिए बैंकों या ग्रामीण स्तर के सूदखोरों की मदद लेने लगा। फसल अच्छी न होने से सूखा, बाढ़ से किसान इन कर्ज को चुका नहीं पाता था। दिन प्रतिदिन कर्ज बढ़ता जाता इन्हीं समस्याओं की मकड़जाल में फँसकर किसान आत्महत्या कर रहा है।

विदेशी बीजों के प्रयोग से कर्ज तो बढ़ता ही था साथ ही साथ जमीन की उर्वर शक्ति भी नष्ट होती रही। बी.टी. कॉटन और सोयाबीन की खेती करने वाले किसानों ने सबसे ज्यादा इस त्रासदी के शिकार हुए। कपास की खेती से परेशान होकर किसान इस प्रकार फसलों को बदलने की बात करते है :

कापूस में क्या है? आत्महत्या! हमने तो ताई कापूस छोड़कर ऊस (ईख) की शेती (खेती) करने का निर्णय ले लिया है। आप बताओ सबको, सबका भला हो जाए। सिर्फ बताया ही नहीं, उत्साह में उसे सरपंच के घर तक लाकर ही दम लिया। सरपंच के यहाँ तीन धातोधारी, दो पैंट वाले चाय–पानी कर रहे थे। बीस–एक षेतकरी पहले से हाजिर थे।

यह माना जाता है कि चीन दुनिया का सबसे ज्यादा कपास उत्पादन करने वाला देश है। पूरे विश्व में होने वाले कपास उत्पादन का एक चौथाई भाग भारत के हिस्से में आता है। विश्व पटल पर खासकर चीन की तुलना में कपास उत्पादन और किसानों की बदहाली से संबंधित भारतीय आंकड़े चिंतनीय है। आखिर क्या कारण है कि इसी कपास खेती करने वाला चीन लगातार समृद्ध होता जाता है और भारतीय किसान लगातार आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है। कथाकार संजीव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस उपन्यास में कहीं बिखराब नहीं दिखाई देता है। ये सिर्फ किसान समस्या या उसकी विडम्बना की ही बात नहीं करते बल्कि उसके समाधान का विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं।

उपन्यासों में किसान जीवन की अभिव्यक्ति की अगली कड़ी में पंकज सुबीर का *अकाल में उत्सव* उपन्यास है जो गाँव और किसानी संस्कृति का एक बहुत ही बेहतरीन उपन्यास है। किस प्रकार किसान महाजनी, सामंती

व्यवस्था, सूदखोरी और कर्ज के दलदल में फँसकर आत्महत्या करने पर विवश हो रहा है। पंकज सुबीर के इस उपन्यास को पढ़ते समय प्रेमचंद के उपन्यास गोदान और गबन की याद दिलाती है। दरअसल प्रेमचंद के समय में किसान के समक्ष जो समस्याएँ थी चाहे वह ऋण संबंधी समस्याएँ हो या किसानों की बदहाली संबंधी अन्य समस्याएँ हो उसी कड़ी या परम्परा को उपन्यास जगत में आगे बढ़ाने का काम पंकज सुबीर ने किया है। *अकाल में उत्सव* उपन्यास में एक तरफ सरकारी फंड को सही समय में उपयोग करने के लिए सरकारी प्यादों द्वारा उत्सव मनाया जा रहा है और वहीं दूसरी तरफ 'सूखापानी' नामक गाँव के किसान आत्महत्या कर रहा है। इस उपन्यास में चित्रित गाँव 'सूखापानी' का एक अजीब नाम है। यानी किसान की फसल को अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों ही स्थिति में नुकसान है। किसान जीवन संबंधी समस्याओं का केन्द्रीय बिंदु बनाकर यद्यपि कई उपन्यास लिखे गए। किसी उपन्यास में जमीन बेदखली की समस्या तो किसी में कास्तकारों द्वारा किया जा रहा बेरहमी से शोषण। लेकिन कर्ज जैसी समस्याओं के बेसुमार मार से आत्महत्या करते किसान पर मेरे संज्ञान में अभी तक दो ही उपन्यास हैं एक है कथाकार संजीव का उपन्यास 'फाँस' और दूसरा पंकज सुबीर का 'अकाल में उत्सव'। इन दोनों उपन्यासों में कर्ज जैसी समस्या को किसान परिवार में पीढ़ी–दर–पीढ़ी ट्रांसफर होता दिखाया गया है।

अकाल में उत्सव : *किसान जीवन की त्रासदी* उपन्यास की कथावस्तु 'सूखापानी' नामक गाँव से प्रारम्भ होती है जो मध्य प्रदेश का एक आदिवासी गाँव है। इसकी कहानी दो एकड़ जमीन के जोत वाले छोटे किसान रामप्रसाद के इर्द–गिर्द घूमती है। किसान खेतों में रात दिन जी तोड़ मेहनत करता है, तभी तो फसलें भी अच्छी होती हैं। परन्तु महाजन खलिहान पर ही फसल को उठवा लेता है। अंत में राम प्रसाद बैंक द्वारा लिया गया कर्ज के फर्जीवाड़े का शिकार होता है। ऊपर से प्रकृति की मार से उसकी सारी फसल बर्बाद हो जाती है। बैंक के कर्जे को सुनकर उसे ऐसा सदमा लगता है कि वह आत्महत्या कर लेता है और अंत में भ्रष्ट शासन तंत्र के चलते उसे पागल सिद्ध कर दिया जाता था। पंकज सुबीर छोटे–छोट वाक्यों में पूरा दृश्य खड़ा कर देते हैं, "कमला की तोड़ी बिक गई, बिकनी ही थी, छोटे जोत किसान की पत्नी के शरीर पर के जेवन क्रमशः घटने के लिए ही होते हैं। और घटाव का एक भौतिक अंत शून्य से होता है, घटाव की प्रक्रिया शून्य होने तक जारी रहती है।" इस अपार दुःख में दाम्पत्य का विरल प्रसंग भी है जो बेहत मर्मस्पर्शी है। संवेदना और विचार में संतुलन *अकाल में उत्सव* की बहुत बड़ी उपलब्धि है। उपन्यास में प्रशासन की कथित चालाकियों को बेपर्दा किया गया है। शासन तंत्र इतना भ्रष्ट है कि किसानों के हित में सरकार द्वारा चलाई गई योजना जिसके अंतर्गत किसान अपना 'क्रेडिट कार्ड' दिखाकर कृषिकार्य हेतु बैंक से लोन के रूप में रुपया ले सकता है। समाज में फर्जीवाड़ा इतना हो रहा है कि बैंक अधिकारी और दलाल की मिलीभगत से गरीब और भोले–भाले किसानों के नाम पर लोन लिया करते हैं। *अकाल में उत्सव* उपन्यास की कथावस्तु दो खण्डों में चलती है। एक तरफ मुख्यमंत्री के आदेशानुसार भव्य उत्सव के आयोजचन की चर्चा हो रही है तो दूसरी तरफ वर्षा, तूफान और ओले पड़ने से किसानों के नष्ट हुई फसल का दृश्य दिखाई दे रहा है। प्रशासनिक अधिकारियों को मंच की सजावट की चिंता ज्यादा रहती है। भारत का अन्नदाता किसान की कोई चिंता नहीं रहती है। वास्तव में यह उपन्यास किसानों के शोषण का रेशे–रेशे को उधेड़ने वाला उपन्यास है जो यह जाहिर करता है कि किसानों की आत्महत्या के पीछे केवल ओलावृष्टि, सूखा और प्रशासनिक निष्ठुरता ही जवाबदार है। इसके पीछे और भी कई कारण हैं जो साफ–साफ दिखाई नहीं देते है।

भारतीय किसानों का हृदय इतना सरल और निष्कपट होता है कि वह मनुष्य तथा मानवेतर प्राणियों से भी भावात्मक लगाव रखता है। 'तोड़ी' नामक आभूषण जिसे स्त्रियां पैरों में पहनती है को आधार बनाकर लेखक ने किसानों का जो गहनों के प्रति परंपरागत लगाव होता है उसे बड़े ही दृश्यविदारक लहजे में अभिव्यक्त किया है। रामप्रसाद जब तोड़ी बेचने महाजन के पास जाता है वहाँ का दृश्य उसे अपने पुरखों की बनी बनाई ईमारत को ढहते दिखाई देता हैं। तोड़ी पिघल रही है ऐसा लग रहा है कि कोई पदार्थ नहीं बल्कि रामप्रसाद का हृदय पिघल रहा है। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास का ताना–बाना मुहावरों और कहावतों से बुना गया है। इस उपन्यास को आलोचकों ने अपने–अपने तरीके से व्याख्यायित किया है। पुष्पपाल सिंह ने *21 वीं सदी का हिन्दी उपन्यास* में

इसे "प्रेमचंद का गाँव एक नई भाषा शैली में फिर से जिंदा हो उठा' कहा है।" भारतीय किसान के जीवन का शोकगीत, कंपकंपाती लौ और थरथराते धुएँ की दुःख भरी कहानी, किसानों के दुःख दर्द का बेचैन करने वाला किस्सा आज के किसान की जिंदगी का सच्चा दस्तावेज" आदि संज्ञाएँ दी है। मेरे हिसाब से यह उपन्यास 'किसान की बदकिस्मती का जीता जागता आईना' है। ऐसा आईना जिसमें किसानों की दयनीयता को देखा जा सकता है। एक बार फिर से पंकज सुबीर ने गंवाई शैली और किसान आत्महत्या जैसे विषय को कथा साहित्य में पाठकों, आलोचकों और समीक्षकों को सोचने पर मजबूर करता है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. सुबीर, पंकज. *अकाल में उत्सव.* शिवना प्रकाशन, 2016.
2. संजीव, *फाँस.* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2015.
3. सिहँ, पुष्पपाल. *इक्कीसवीं सदी का हिन्दी उपन्यास.* वाणी प्रकाशन, 2017.

* * * * *

(U.G.C. Approved Journal No. : 41329) ISSN No. - 2319–5908

Hindi : Shodh Sandarsh-VII, Vol.-XXII, March. 2019, Page : 399-402

General Impact Factor : 1.7276, Scientific Journal Impact Factor : 4.713

21वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों का परिदृश्य भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में

अनिल कुमार डॉ. रीता सिंह**

भारत तथा विश्व के सभी देशों में भूमंडलीकरण की पहली दस्तक आर्थिक दरवाजे पर ही हुई। वैसे भूमंडलीय अवधारणा बहुआयामी है, जिसमें आर्थिक–सांस्कृतिक, सामाजिक–राजनीतिक जैसे सभी परिदृश्य दिखते है, परंतु आर्थिक पक्ष सबसे अधिक मजबूत है। आज समूची दुनिया पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों से ही घिरी हुई है। वैश्विक नीति नियंताओं द्वारा एक विश्व–अर्थतन्त्र का निर्माण किया जा रहा है अर्थात् 'एक विश्व एक बाजार'।

अपनी आर्थिक नीतियों के कुशल संचालन के लिए शक्तिशाली देशों ने 'विश्व बैंक', 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष' और 'विश्व व्यापार संगठन' जैसे वैश्विक संस्थानों का सहारा लिया। 'संयुक्त राष्ट्र संघ' तो जैसे विकसित देशों का एजेंट ही हो। 21वीं सदीं में समूचे विश्व का जो आर्थिक विकासक्रम है वह बहुत कुछ एकपक्षीय है। कुछ लोग मिनटों में करोड़ों–अरबों रुपये का वारा–न्यारा कर रहे हैं तो बहुतों के पास रोज रात को रोटी के लिए कुछ व्यवस्था होगी इसकी कोई गारंटी नहीं। साफ–साफ बात यह है कि भूमंडलीकरण युग में अमीर तेजी से अमीर और गरीब तेजी से गरीब हो रहे हैं। *उदारीकरण की तानाषाही* में प्रेम सिंह अपनी सहमति इसी तरह से देते हैं।

लगातार भूखमरी महामारी या प्यास कल्याणकारी प्रतिकारों के अभाव में झुंड के झुंड लोग तड़पकर किन्तु धीमी गति या मात्रा में मरने लगेंगे, तब इक्कीसवीं सदीं में उसे दैवी विनाश या विकास की कीमत कहकर ओझल कर दिया जाएगा।

बाजारीकरण : 21 वीं सदी में बाजार की रोशनी से सभी परिचित तो हुए मगर उजाला सभी घरों में हुआ तो ऐसा नहीं है। कम शब्दों में कहे तो हम रिश्तों से ज्यादा वस्तुओं को संभालने लगे हैं। राबर्ट डब्ल्यू अपनी पुस्तक *पूँजीवाद और सूचना का युग* में लिखते है "समाज के बुनियादी फैसले जनता की जरूरतों के बजाए ज्यादा से ज्यादा बाजार के अधिकार क्षेत्र से तय हो रहे है।"

हम सभी जानते हैं कि कुछ समय पहले गाँव–कस्बों के हाट–बाजार में वस्तु विनिमय का ही चलन था अर्थात् लिए हुए समान के बदले उसी मूल्य का कोई सामान देकर हम अपनी जरूरतें पूरी कर लेते थे। रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता* में इस प्रसंग को चित्रित किया है :

पाट पर बड़े–बड़े मिट्टी के घर। बड़ा सा हाता। कोठरियाँ आँगन और एक कोने में लम्बा सा गोहाल। बरामदे में मुर्गियों के भी बाड़े। ये गाय–गोरू बकरी–छगरी, मुर्गी–सुअर केवल पशु–पक्षी नहीं थे, बल्कि आदिवासियों के पास बुक भी थे। हारी–बीमारी, शादी–विवाह इन्हीं के भरोसे। जब भी जरूरत होती, बेचारे मूक प्राणी घर पहुंचा दिये जाते।

बाजार ने हर चीज की ब्राडिंग कर रखी है। खान–पान, रहन–सहन, बाहर–भीतर, रात–दिन इन सभी पर बाजार का भरपूर हस्तक्षेप हो रहा है।

आर्थिक उदारीकरण : किसी भी व्यवस्था के संचालन में अत्यधिक लचीला और सरल दर्षष्टिकोण रखने की प्रक्रिया को ही उदारीकरण कहा जा सकता है। बात जब अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की हो तब इसका सीधा–सीधा मतलब है 'आर्थिक नियमन के क्षेत्र में कम–से–कम सरकारी हस्तक्षेप' से है। इस पूरे घटनाक्रम का

* *शोध छात्र, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल युनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब*

** *निर्देशिका, हिन्दी विभाग, लवली प्रोफेशनल युनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब*

हिंदी मीडिया ने भले ही समर्थन न के बराबर किया हो पर अंग्रेजी मीड़िया ने इसका खूब प्रचार किया। *उदारीकरण की तानाशाही* में प्रेम सिंह लिखते है "अंग्रेजी मीड़िया ने बात साफ कर दी है : जो उदारीकरण के पक्ष में है वह राष्ट्रहितैशी हैं और जो विरोध में है वह राष्ट्रविरोधी।" फिलहाल, विरोध और समर्थन का छिटपुट स्वर भले ही संसद या सड़क पर दिखा हो लेकिन अंतिम रूप में यह उदारीकृत व्यवस्था भारतीय अर्थव्यवस्था में चल निकली।

वस्तुतः उदारीकृत व्यवस्था ने किसानों के साथ खूब छल किया है। प्रेम सिंह ने *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखा है कि "भूमंडलीकरण–उदारीकरण के तहत चल रही नई आर्थिक नीतियों ने देश की खेती–किसानी पर अभूतपूर्व संकट ला दिया है।" हालात ये है कि कोई भी व्यक्ति किसानी नहीं करना चाहता। किसान बनना षायद ही किसी का ख्वाब हो सब डॉक्टर, इंजीनियर, ऑफिसर, व्यवसायी आदि बनना चाहते हैं। राजू शर्मा के उपन्यास *हलफनामें* में कामकई भी इन्हीं हालातों का मारा है – "खानदान में वह पहला है जिसने गाँव से बाहर, इस कस्बे में घर बसाया और खेती से अलग धँधा शुरू किया।" जब खेती में कुछ रहा ही नहीं तो कौन ये सब करे ? मुनाफा तो छोड़िए कभी–कभी लागत भी निकालना मुश्किल हो जाता है। गौरतलब है कि उदारीकष्त व्यवस्था से किसानों की आर्थिक हैसियत दिन भर दिन बदतर ही हो रही है।

इधर कुछ वर्षों से पश्चिमी देशों में जाकर डॉलर कमाना इन सभी के मन की मुराद रही है। इस आकर्शण की जद में देश की बेहतरीन प्रतिभा भी शामिल है। ऐसा ही कुछ वातावरण काशीनाथ सिहँ ने *रेहन पर रग्घू* उपन्यास में दिखाया है जिसमें गाँव–गाँव डॉलर प्रेम का प्रपंच है – "जिस कम्पनी में और जिस कांट्रेक्ट पर अमेरिका जाना है उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा कि अगर उसका बाप चाहे तो गाँव का गाँव खरीद ले।" सबकी यही मंशा है कि जो दिखे खरीद लो, जो पसंद आए खरीद लो। आज के इस ग्लोबल युग में रणेन्द्र का उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* पूरी तरह से इन्हीं षड्यंत्रों का खुलासा करता है। इसमें अवैध खनन पर लिखा गया है कि "छोटे–बड़े सभी खदान–मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैरमजरूआ, जमीन से ज्यादा खान किया करते। अवैध खनन खुलेआम और वर्षों से जारी था।"

औद्योगीकरण : मशीनों के आविष्कार को समूची मानव सभ्यता की सर्वोच्च बौद्धिक उपलब्धि माना जा सकता है। मध्यकाल में यूरोप में हुई इस क्रांतिकारी घटना ने दुनिया भर में लोगों को जीवन जीने के नए–नए तरीके बताये। औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने ऐसा पूँजीपति वर्ग पैदा किया जिससे आज पूरी धरती को अपना चरागाह बना रखा है। 21 वीं सदी में एक से बढ़कर एक उच्च तकनीकी व्यवस्था ने जीवन को जितनी तेजी से भौतिक स्तर पर सुलभ बनाया उतनी ही गति से उसके सपने उलझनों का ढ़ेर भी लगाया। मनुष्य मशीन बनकर रह गया और मशीन मानव होते जा रहे हैं। प्रेमसिंह *उदारीकरण की तानाशाही* में लिखते हैं कि "पूंजीवादी व्यवस्था में आधुनिक औद्योगिक प्रबंधन के माध्यम से बड़ी सूक्ष्मता से मशीनों को मजदूरों को हटाकर नियुक्त किया जाता है।" निश्चित रूप से इस प्रक्रिया से समाज में बेरोजगारी बढ़ेगी और इस बढ़ती बेरोजगारी से भाँति–भाँति की अवांछनीय चीजें पैदा होती है।

रेहन पर रग्घू उपन्यास में लेखक ने गाँव का जो चित्र खींचा है उसका दृश्य भी बहुत कुछ औद्योगीकरण की स्याही से रंगा हुआ है। इतना सब होते हुए भी उपन्यास का नायक भ्रमित है कि गाँव उसके लिए बेहतर है या शहर जाकर बहू के साथ रहे। काशीनाथ सिहँ लिखते हैं कि "गाँव में वह सब पहुँच रहा था धीरे–धीरे, जो षहर में था– बिजली भी, नल भी, फ्रिज भी, टी.वी. भी अखबार भी लेकिन वह मजा नहीं था जो शहर में था।" यही तो मोह है, रघुनाथ का मन भी प्रलोभित है। उसका मन शहर की ओर भाग रहा है और गाँव से मोह भी नहीं छूट पा रहा है।

यह बात किसी से छुपी नहीं है कि देश में जहाँ भी खदानें है, खनन कार्य हो रहा है उस जगह के आस–पास इतनी बजबजाती गंदगी होती है कि इलाके भर में भयंकर बीमारियाँ फैली रहती हैं। लेकिन पास में ही कुछ किलोमीटर की दूरी पर खनन अधिकारियों के लिए जो कालोनियाँ बनाई जाती है उसका चित्र बड़ी विश्वसनीयता से उपन्यास *ग्लोबल गाँव के देवता* में किया गया है :

हमारा बॉक्साइट यहाँ से डेढ़–दो सौ किलोमीटर दूर जहाँ प्रोसेस होकर अल्यूमिनियम में ढ़लता है, वह जगह सिल्वर सिटी ऑफ इण्डिया कहलाती है। एक बार घूमने का मौका मिला था। फूलों चार्कों से लदी हरी–भरी

खूबसूरत कॉलोनी। एक से एक स्कूल, चमचमाते बाजार, क्लब घर, योग केंद्र, लाइब्रेरी, खेल के मैदान और न जाने क्या–क्या! सुन्दर–सुन्दर कुतों को घुमाती सुन्दर–सुन्दर महिलाएं, बर्फ के गोलों से गुलथुल उजले–उजले बच्चे, रंग–बिरंगी गाडियाँ। लगा, इन्द्रलोक धरती पर उतर आया हो।

भेदभाव और शोषण का यह दृश्य इस औद्योगिक समाज में कई स्तरों पर नासूर की तरह फैला हुआ है।

निजीकरण : निजीकरण का अर्थशास्त्रीय दृष्टि से बहुत ही संक्षिप्त और सरल अर्थ ग्रहण करे तो इसका मतलब 'सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार की अंशधारिता को कम करना' होता है। अर्थात् देश के अंदर जितने भी शासन के अधीन प्रतिष्ठा और उपक्रम हैं उनका धीरे–धीरे निजी संस्थानों में परिवर्तन करना ही निजीकरण की प्रक्रिया को मजबूत करना होता है। रवि प्रकाश पाण्डेय *वैष्वीकरण एवं समाज* में निजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि :

आर्थिक क्रियाओं के दायित्वों का राज्य से निजी क्षेत्र में हस्तांतरण की प्रक्रिया को निजीकरण कहते हैं। इसके कई रूप हो सकते हैं जो संबंधित दायित्वों की प्रकषति और हस्तांतरण किए जाने वालों पर निर्भर करता है।

किसानों को सिंचाई के लिए सरकार पानी तक की व्यवस्था नहीं कर पा रही है। अब पीने का पानी बोतल बंद गाँव–गाँव तो दिखता है लेकिन जितने भी हैंडपम्प और नलकूप हैं वो अधिकतर सूखे हैं या जर्जर पड़े हैं। *हलफनामें* उपन्यास में भी इसी तरह का दृश्य है। राजू शर्मा ने पेश किया है :

वे जल व्यवस्था (जिसे वह निजल अव्यवस्था कहकर उसका मजाक उड़ाते थे), पानी के टैक्स में बढ़ोतरी, सिंचाई साधनों के प्रस्तावित निजीकरण और विश्वबैंक द्वारा थोपी गई नीतियों की पुरजोर खिलाफत कर रहे थे। उनकी चेतावनी थी कि अगर सरकार अभी नहीं सँभली तो वह दिन दूर नहीं जब गाँव–गाँव में पानी के पीछे कत्लेआम होगा।

निजी स्वार्थों की पूर्ति और सत्ता में बने रहने की मंशा ने सरकार को पंगु बना दिया है। प्राकृतिक संपदाओं की लूटपाट करने में कोई भी निजी कंपनी पीछे नहीं रहना चाहती। नदी–पहाड़ जंगल जमीन सब पर ये शक्तियाँ अपना आधिपत्य चाहती हैं – *ग्लोबल गाँव के देवता* उपन्यास में ऐसी स्थिति पर रणेन्द्र ने गहरी चिंता व्यक्त की है :

छतीसगढ़ के रायगढ़, जिले से होकर बहने वाली एक बड़ी नदी शिवनाथ द्वारा एक इंडस्ट्री समूह को बेच दी गयी थी। उसका निजीकरण हो गया। कई–कई गाँवों के लोग, मवेशी, चिरई–चुन चुन, खेत–बघार सब पानी के लिए छद्दन रहे थे।

अर्थकेन्द्रित मानसिकता : वस्तुतः हम जिस युग में जीवन–यापन कर रहे हैं उसमें सबसे बड़ी सत्ता रुपये की है। इस अर्थ प्रधान संस्कृति में मनुष्य रुपये की जुगाड़ में जाने कहाँ–कहाँ भागा फिरता है। जिस भी स्थान पर उसे अधिक रुपया दिखता है तो वहीं का होकर रह जाता है। अपनी जड़ और संस्कृति में वास्ता रखने की बात दूर अब तो मानसिकता इतनी रूग्ण हो चुकी है कि संबंधों की सारी अहमियत थी कब्रगाह में दफन हो गई।

हम सभी जीवन भर पूँजी इकट्ठा करने में गुजार देते हैं, इसी के भ्रामक चक्रव्यूह में पूरी उम्र फँसे रहते हैं। कभी गलत तो कभी सही, कभी कानूनी तो कभी गैर–कानूनी जैसे बन पड़ा सभी पूँजी के संयोजन में मरे जा रहे हैं। *ग्लोबल गाँव के देवता* में कई ऐसे पात्र हैं जो दिखावे के लिए कोई भी रोजगार कर लेते हैं मगर पर्दे के पीछे दूसरा ही खेल जारी रहता है :

जिसके पास जितना पैसा रहता है, उसे उतनी ही पैसे की हाय–हाय लगी रहती है। सिंह जी को ट्रकों के ड्राइवर– खलासी, हाट–बाजार के दुकानदारों और माइन्स ऑफिस के कर्मचारियों से भरे होटल की आमदनी से संतोष नहीं था। शाम होते ही वहां चुपके हडिया–दारू की बिक्री षुरू हो जाती। खरीफ कटनी के बाद लेबर सप्लाई से भी अच्छा पैसा बनाते थे सिंह जी।

केवल शिक्षा व्यवस्था को ही क्यों दोषी ठहराया जाए हमारी न्यायपालिका भी कम जिम्मेवार नहीं है इस तरह के समाज निर्माण में। किसी कानूनी सलाह के लिए आप कोर्ट–कचहरी जाते हैं तो पग–पग पर प्रसाद चढ़ाने को तैयार रहिए। राजू शर्मा ने *हलफनामें* में किसान की समस्या के साथ न्याय व्यवस्था पर भी व्यंग्य किया गया है : तुम्हें झूठ को सच बनाना हो या सच को सच, शपथ की तसदीक तो नोटरी ही करेगा या ओथ कमिश्नर ये जो

नोटरी होता है, सच में भंडार की चाबी उसी के पास है। उसे खुश रखने में भलाई है, अरे भगवान को प्रसाद चढ़ाते हो कि नहीं, यहाँ भी काम आखिर चढ़ाव से ही होता है।

बात हलफनामें तक ही सीमित नहीं है सबूतों और गवाहों की बहुतायत खरीद–फरोख्त भी अदालतों में होते देखा जा सकता है। वकीलों की फीस निर्धारण पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं है। बहुत सारे वाजिब मामले पैरवी के अभाव में अदालत के दरवाजे पर पहुँच ही नहीं पाते।

स्वार्थवादी प्रवृत्ति : जैसे–जैसे विश्वभर में भूमंडलीकरण की अवधारणा मजबूत हो रही है वैसे–वैसे समाज में संवेदनहीनता बढ़ रही है। मनुष्य की बढ़ती हुई आकांक्षा और आर्थिक संपन्नता की धुन धीरे–धीरे सामाजिक जीवन शैली को परिवर्तित कर भोग–विलासी प्रवृत्ति को आत्मसात करती जा रही है।

अमानवीय होते समाज में उपन्यासकार काशीनाथ सिहँ *रेहन पर रग्घू* में जो भय देख रहे हैं वो बहुत ही यथार्थ प्रतीकों में व्यक्त करते हैं वे स्त्री पात्र से कहलवाते हैं :

मान लो, किसी के घर में कोई चोर घुस आए – किसी के क्या मेरे ही घर में चोर घुस आए और वह भी अकेले, बिना किसी साथी के, औजार के, डाकू घुस आए दिन दहाड़े और मुझे उठाकर ले जाये पार्क में और मैं चिल्लाऊँ कि बचाओ! बचाओ! तो कौन सुनेगा? (ज्यादातर बूढ़े या तो बहरे हैं या ऊंचा सुनते है) कौन दौड़ेगा... यह सब न कर सके तो खड़ा होकर चिल्लाएँ तो सही (ज्यादातर की कमर झुकी है और मुँह में दाँत नहीं है, वे गुगुआ तो सकते हैं, चिल्ला नहीं सकते)।

इसी कड़ी में यही पूँजीवादी शक्तियाँ अपनी मल्टीनेषनल कंपनियों को मजबूत करती हुई दुनिया भर में विजय पताका फहराने भेजती है। हमारे देष में भी इन्हीं विदेशी कंपनियों की निर्ममता आदिवासी एवं अन्य इलाकों में देखी जा सकती है। रणेन्द्र ने *ग्लोबल गाँव के देवता* में बहुत ही भावुकता से इस ओर इशारा किया है :

ग्लोबल गाँव के देवता खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हजार–हजार इंद्र जिसे अंजाम नहीं दे सकते थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने मुकाम पा लिया था।...वह लहराती–इठलाती राज्यों की राजधानियों से होती वाया दिल्ली, वाशिंगटन डी.सी. की ओर दौड़ी जा रही थी।

देश हित में बनने वाली ढ़ेरों सरकारी योजनाओं का जमीनी स्तर पर क्रियान्वयन न हो पाना व्यवस्था की स्वार्थवादी उदासीनता का परिणाम है।

निष्कर्ष :– हम देखते है कि दुनिया भर में हुए आर्थिक प्रपंचों ने 21 वीं सदी का जो परिदृश्य बनाया उसकी मूलभूत प्रवृत्ति अधिनायकवादी की तरफ जाती है। माहौल कुछ ऐसा है कि कुछ चुने हुए देशों एवं संगठनों के द्वारा निर्धारित किए गए रास्तों पर ही अन्य सभी देशों को चलना पड़ता है, कभी मन से तो कभी बेमन से। इस समय कोई भी देश आर्थिक संपन्नता से सर्वश्रेष्ठ देश बन सकता है, भले ही उसकी कोई समृद्धशाली सांस्कृतिक–धार्मिक–राजनीतिक विरासत न रही हो। मतलब आप रुपये से मजबूत हैं तो आप अन्य पर दादागिरी कर सकते हैं। उस पर अपनी मर्जी थोप सकते हैं, श्रेष्ठ हो सकते हैं और 21वीं सदी में परोक्ष रूप से यही हो रहा है कभी–कभी प्रत्यक्ष में भी। माना कि यह तथाकथित भूमंडलीकरण की अवधारणा कुछ चुनिन्दा लोगों के लिए सराहनीय रही हो, पर अधिकांश पक्षों पर यह नाकामयाब ही है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. सिंह, काशीनाथ. *रेहन पर रग्घू.* राजकमल प्रकाशन, 2011.
2. शर्मा, राजू. *हलफनामें.* राधाकृष्णन प्रकाशन, 2006.
3. रणेन्द्र, *ग्लोबल गाँव के देवता,* भारतीय ज्ञानपीठ, 2009.
4. सिंह, प्रेम. *उदारीकरण की तानाशाही.* राजकमल प्रकाशन, 2008.
5. फॉस्टर, जॉन वेलेमी. *रॉबर्ट डब्ल्यू. मेक्चेस्नी इलेन मिक्सिसन्स वुड.* (पूँजीवाद और सूचना का युग), अनुवादक राजेन्द्र शर्मा, ग्रंथ शिल्पी, 2006.

* * * * *

ISSN - 2229-3620
UGC CARE LISTED JOURNAL
EIS

शोध संचार बुलेटिन

January-March, 2021
Vol. 11, Issue 41
Page Nos. 74-76

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

हिंदी उपन्यासों के ग्राम्य जीवन में भूमण्डलीकरण का प्रभाव

अनिल कुमार*

शोध सारांश

भूमंडलीकरण का आरम्भ प्रथा 20 वी सदी के अंतिम दशक से मानी जाती है। 21 वीं सदी में भूंमडलीकरण का प्रभाव भारत पर व्यापक रूप से दिखाई पड़ता है। इस सदी के प्रारंभिक कुछ वर्शों से ही भूमंडलीकरण का प्रभाव भारतीय ग्रामीण जन जीवन पर साफ रूप से दिखाई देता है। ग्राम्य जीवन का कोई सरेन पक्ष नहीं है जो भूमंडलीकरण से प्रभावित रहा हो फिर वो पक्ष चाहे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक ही क्यों ना हो। हर पक्ष पर भूमंडलीकरण का प्रभाव पढ़ने से ग्रामीण ढ़ांचा बदल चुका है या यूँ कहे के भारतीय ग्रामीण अपनी प्राचीन सभ्यता को खो चुके है तो भी अनुचित नहीं होगा। भारत जो अपनी सभ्यता के बल पर विश्व प्रसिद्ध हुआ करता था। आज वह सभ्यता प्रायः लुप्त होती नजर आ रही है। भूमंडलीकरण के कारण वैज्ञानिक उपकरणों ने जो सुख–सुविधाएं हमें दी है उन्हें सम्भालने में हम इतने व्यस्त हो गए है कि वास्तविक जीवन का अर्थ हम भूल चुके है। आज के युग में हर व्यक्ति पूँजी के बल पर अपने को सामर्थ्य सिद्ध करना चाहता है। वह पूँजी चाहे किसी भी तरीके से कोई भी कार्य करने से प्राप्त हो इसका कोई फर्क नहीं होता है। आज हम अपने दायित्व को भूल चुके है और ऐसे रंग में रंग चुके है। जिस रंग का रंगीला पन सिर्फ दिखावे हेतु रह गया है। इस दिखावे की प्रवृति ने हमें अपनो से पराया करने में जो भूमिका अदा की है उसका वर्णन करना इतना सरल भी नहीं है।

Keywords : भूमंडलीकरण से उमड़ते गाँव, संयुक्त परिवार का अन्त, आपसी रिश्तों में दरारें, प्रतियोगिता की अँधी दौड़।

भूमंडलीकरण ने सम्पूर्ण विश्व को बाजार बना दिया है। इस बाजार की विशेशता यह है कि लोग न सिर्फ अपने जरूरत की चीजे खरीदते है बल्कि उपलब्ध चीजो के आधार पर अपनी–अपनी जरूरतें पैदा करते हैं। इस स्थिति को यूँ कहा जा सकता है कि पहले जरूरतों के हिसाब से बाजार का निर्माण होता या अब बाजार के हिसाब से जरूरतों का निर्माण हो रहा है। भूमंडलीकरण हमारे जीवन में अकेले नहीं आया है। यह काफी कुछ लेकर आया है जैसे जानलेवा प्रतियोगिता, मुनाफे की संस्कृति और मानवाधिकारों जैसे कई प्रभावशाली घटक इसी की देन हैं। मानवाधिकार से तात्पर्य है मानवाधिकार किस मानव के लिए है? क्योंकि भूमंडलीकरण के कारण तो यहाँ के शोशित, उपेक्षित, बहिश्कृत, आदिवासी जनजाति, दलित, किसान–कृशि को तबाह किया जा रहा है। वे पूरी तरह विस्थापित हो रहे है फिर ऐसी स्थिति में मानवाधिकार का क्या मतलब है ? यह किस मानव के लिए है ? यह बेशक उस मानव के अधिकारों के हित में है जो पूँजीपति है। बाजारवादी माहौल में मुनाफा, शोशणकारी ताकतों एवं विदेशियों को मिल रहा है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। भूमंडलीकरण पर अमित कुमार सिंह अपनी पुस्तक भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प में लिखते है "बाजार सुदंरता को सेक्स अपील से जोड़ता है, धर्म और अध्यात्म का व्यावसायीकरण करता है और प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु मानता है। यह अश्लीलता एवं नग्नता को कला, संस्कृति व स्वतंत्रता से जोड़ने में भी कोई संकोच नहीं करता है।"(88) भूमंडलीकरण के ग्रामीण समाज पर पड़ने वाले प्रभाव निम्नलिखित है –

भूमंडलीकरण से उजड़ते गाँव – गाँव की परम्परा शहर, कस्बों से कुछ मामलों में हमेशा भिन्न रही है वो रहन–सहन का मामला हो या खान–पान, गीत–संगीत, पहनावा या फिर ग्रामीण संस्कृति का। सदियों से गाँव का कार्य हमेशा विस्तृत एवं लोक परंपरा से जुड़ा हुआ होता है। सवाल यह उठता है कि भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में क्या सच में हमारे गाँव विकसित हो रहे है या फिर हम इन्हें खोते जा रहे है ? लोक की मिठास से ज्यादा हमें बनावटी चासनी ही क्यों पसंद आ रही है ? क्या सच में यह पसंद आ रही हैं या फिर जबरदस्ती मार्डन बनने की होड़ में हम उसे पसंद करने की कोशिश में लगे हैं ? हमें कुछेक सवाल खुद से पूछने की आवश्यकता है। रेहन पर रग्घू वरिश्ठ उपन्यासकार काशीनाथ सिहँ की अनुपम कृति है जिसमें एक सामान्य परिवार का कथानक बाजारों के प्रभावों के तहत उजड़ते गाँव का ब्यौरा है। उपन्यास का पात्र रघुनाथ अपनी आँखों के

*शोधार्थी – लवली प्रोफैशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, जालंधर, पंजाब

सामने अपनी जमीन, गाँव, परिवार टूटते देखता हैं लेकिन कुछ नहीं कर पाता। क्योंकि समय की माँग रघुनाथ के विचारों को सहन नहीं कर सकती। व्यक्ति आजीवन जिन बच्चों के लिए संघर्श करता है, वहीं बच्चे अंत में पिता, परिवार से दूर जा बशते हैं, रघुनाथ कहता है "जो सर्विस कर रहा है, वह उसी नगर में रम गया है और वहाँ से लौटकर यहाँ नहीं आना चाहता। अगर वह आना भी चाहता है उसके बच्चे नहीं आना चाहते।"(146) पलायन, अकेलापन, पारिवारिक विघटन, गाँव खाली यद्यपि उपन्यास के प्रकरण हैं लेकिन कथानक के मूल में जाए तो वैश्वीकरण ने भारतीय समाज व्यवस्था पारिवारिक आदर्श, जीवन मूल्य तथा संस्कृति, पुरातन परम्परा, हँसते–बशते गाँव को जड़ से हिलाने का कार्य किया है। विपिन चन्द्र अपनी पुस्तक वैश्वीकरण : हिन्दी भाशा और साहित्य में लिखते है : "वैश्वीकरण समाज के सम्मुख जहाँ असीमित सम्भावनाएँ लेकर प्रस्तुत होता है, वहीं संबंधों की मिठास, रिश्तों की निकटता तथा मानव की संवेदना को भी गहरा आघात पहुँचाता है। आज व्यक्ति मॉल, फेसबुक, व्हाट्सएप पर तो हर वक्त है, परन्तु एक–दूसरे के दिल में नहीं है।"(27) मध्यवर्गीय परिवार में पुरानी एवं नई पीढ़ी के बीच जो अन्तर दिखाई देता है वहीं उजड़ते गाँव का इस भूमंडलीकरण में मुख्य कारण है।

भूमंडलीकरण से संयुक्त परिवार पद्धति का क्षरण – भारत के गाँवों के संयुक्त परिवार की प्राचीन परम्परा रही है। एक ही छत के नीचे 15–20 लोग एक साथ रहा करते थे। जिनमें माता–पिता, चाचा–चाची, ताया–ताई, दादा–दादी, इनके बच्चे एक साथ आनंद से रहा करते थे। परन्तु वर्तमान में संयुक्त परिवार पद्धति विलुप्त हो गयी है। परिवार बेहद छोटे–छोटे हो गए है। परिवार में पति–पत्नी तथा एक बच्चा इतना छोटा परिवार बन गया है। दरअसल भूमंडलीकरण के कारण मनुश्य बुरी तरह व्यक्तिवादी बन गया है। उसे अपने सगे–संबंधियों से भी तकलीफ होने लगती है। चाक उपन्यास की विशेशताओं का जिक्र करते हुए मैत्रेयी पुश्पा लिखती हैं कि "इस गाँव के जर्रे–जर्रे में किसानों के आपसी रिश्ते, लगाव, संयुक्त परिवार और मुहब्बत भरा व्यवहार उन्हें एक–दूसरे से जोड़े रखता है।" (भूमिका) कई घरों में तो प्रायः लोग अकेले ही नजर आते है। देखा जाता है कि माँ–बाप का एक ही बेटा है और वह भी अपनी पत्नी, बच्चों के साथ अलग रह रहा है। अमित कुमार सिंह अपनी पुस्तक भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प में एक सर्वे के अनुसार "महानगरों के 30 प्रतिशत एकाकी परिवारों में 20–24 प्रतिशत बच्चों में विरोधात्मक रवैया और चापलूसी की प्रवृत्ति पाई गई है जबकि 40 प्रतिशत माताओं में उदासीनता, अकेलेपन, तनाव आदि समस्याएँ सामने आयी है। वही 30 प्रतिशत पुरूशों में प्री और पोस्ट रिटायरमेंट अवसाद देखा गया है। उनका कहना है कि बच्चे उन्हें नहीं पूछते, आगे जाने क्या होगा ?"(104) यूँ तो संयुक्त परिवार में रहना कई लिहाज से समझदारी का काम है, लेकिन बढ़ती भागदौड़ और अपनी–अपनी ख्वाहिशें पूरी करने की तमन्ना एकल परिवारों को बढ़ावा दे रही है। टूटते संयुक्त परिवार न सिर्फ बच्चों से दादी–बाबा का प्यार छीन रहे हैं, बल्कि उन्हें पुराने संस्कारों से भी कहीं न कहीं दूर कर रहे हैं।

रिश्ते में दरार – भूमंडलीकरण के प्रभाव स्वरूप पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था का जोर बढ़ा है। समाज में नौकरी के प्रति आकर्शण का भाव बढ़ रहा है। नौकरियों के कारण युवा अपने माता–पिता से दूर रहने लगे हैं। जिसके परिणामस्वरूप छोटे परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है। आधुनिक परिवारों में व्यक्ति की मनः स्थिति के संदर्भ में द ग्रेट इंडियन फैमिली पुस्तक में लेखक लिखते है "परिवार जबरदस्त दबाव के शिकार हो रहे है। कामकाजी माँ, अति व्यावसायिक पिता, काल सेंटर में काम करने वाले बच्चे .... परिवार में साहचर्य के लिए कोई समय शेश नहीं रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला, अपनी दुनिया में जी रहा है।" (106) भूमंडलीकरण से प्रभावित ग्रामीण समाज में माँ–बाप, बाई–बहन और दूसरे संगे संबंधियों से अलग सिर्फ पत्नी–बच्चों के साथ रहना रूढ़ हो गया है। औद्योगिक समाज के तनाव और व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं की टकराहट के कानून पारिवारिक आपसी रिश्तों के संबंध अस्थायी बन गए है। ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास में रणेन्द्र लिखते है "इंसान अपना छोटा घर बनाता है, उसमें जिंदगी के दो पल खुशियों के साथ बिताता है, लेकिन कई बार कुछ लोगों को दूसरे की खुशी की कीमत अपनी खुशियों की कुर्बानी देकर चुकानी पड़ती है।"(17) आज हर कोई विश्व को गाँव बनाने की बात कर रहा है एक ग्लोबल गाँव। लेकिन दुनिया को गाँव बनाने की दौड़ में जो असल गाँव हैं। हम उनको गाँव बनाए रखने में नाकाम साबित हो रहे है। गाँव विलुप्त होते जा रहे है और हम विश्व को ग्लोबल गाँव में बदलने की बात करते है।

वृद्धों की दयनीय स्थिति – भारतीय समाज में वर्तमान समय में वृद्धों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। इंडिया टुडे ने भारतीय समाज में वृद्धों की चिंतनीय स्थिति को लेकर एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट पेश की थी। जो हर संवेदनशील व्यक्ति को सोचने के लिए मजबूर करती है। रिपोर्ट के अनुसार "11 प्रतिशत बुजुर्गों के साथ एक भी युवा नहीं रहता। 64 प्रतिशत शहरी बुजुर्ग महिलाएं पूरी तरह से अन्य लोगों पर आश्रित है। 30 प्रतिशत नागरिकों को स्वास्थ्य सुविधा की दर करार है। वृद्ध जनसंख्या में 40 प्रतिशत मानसिक एवं शारीरिक रूप से प्रताड़ित है तथा 50 प्रतिशत महिलाएं भारत में अकेले रहने को मजबूर है।(14) हमारा समाज आज से पहले पेड़ों, पत्थरों से लेकर जानवरों तक को पूजता था। आज अपने बुजुर्गों को दर किनार कर रहा है। माता–पिता को देवता मानने वाले बेटे, अब उन्हें बोझ समझने लगे है। बुजुर्गों पर होने वाले अत्याचार के मामले बढ़ रहे है। काशीनाथ सिहँ के उपन्यास रेहन

पर रग्घू में पात्र रघुनाथ का बेटा संजय अमेरिका में घर बसाने की सोच रहा है और रघुनाथ जमीन से मोह दिखा रहे हैं। 'अशोक विहार' कालोनी में जब रघुनाथ आते है तब इस दुख दर्द को बयां करते है "जिन संतानों के लिए घर, गाँव, परिवार, नाते–रिश्ते छोड़कर आए वही आज वहाँ नहीं।"(144)

प्रतियोगिता की अंधी दौड़ – भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने दिशाहीन प्रतियोगिता को जन्म दिया है। बच्चा बोलना सीखे इससे पहले महत्वाकांक्षी माता–पिता उसके कैरियर के सपने सजाने शुरू कर देते है। प्रतियोगिता के दबाव में आधुनिक जीवन शैली और ऊँची आकांक्षाओं, व्यस्त माता–पिता की उदासीनता समाज में बढ़ते खुलेपन के कारण लड़के–लड़कियों में मूल्य, नैतिकता एवं वर्जनाओं के प्रति लापरवाही का भाव तेजी से बढ़ रहा है। शराब, सिगरेट, सेक्स और अश्लील साहित्य की कोई बात नहीं, जैसे सामान्य शब्दों के साथ स्वीकार किया जा रहा है। इधर कुछ वर्शों से पश्चिमी देशों में जाकर डॉलर कमाना सभी के मन की मुराद रही है ऐसा कुछ वातावरण काशीनाथ सिंह ने उपन्यास में दिखाया है जिसमें गाँव–गाँव डॉलर प्रेम का प्रपंच है – "जिस कम्पनी में और जिस कांट्रेक्ट पर अमेरिका जाना है उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा कि अगर उसका बाप चाहे तो गाँव का गाँव खरीद ले।"(23)

नए मध्य वर्ग का उदय – नया मध्य वर्ग सामाजिक सरोकारों से अछूता और घोर स्वार्थी है जो समाज में एक ऐसे उपभोक्ता वर्ग के रूप में उभरकर सामने आया है जिसकी दिलचस्पी अपने दैनिक सुख तक सीमित है। इस पर अमित कुमार सिंह अपनी पुस्तक भूमंडलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प में लिखते है "घरों में बाहर खड़ी महँगी गाडियाँ दरअसल, यही सोच जाहिर करती है – बस ऐश करो बाकी चीजे भूल जाओ। अपनी जड़ो से कटा हुआ, परंपरा से मोह ग्रस्त और आधुनिकता की ललचाई आँखों से देखने वाला यह मध्यवर्ग भूमंडलीकृत भारत की सांस्कृतिक देन है।(104) नए मध्य वर्ग पर ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास में रणेन्द्र ने लिखा है "जिसके पास जितना पैसा रहता है, उसे उतनी ही पैसे की हाय–हाय लगी रहती है।"(30)

इस प्रकार स्पश्ट है कि भूमंडलीकरण ने ग्रामीण व्यवस्था को अस्त–व्यस्त कर दिया है। शहरों का आगमन अब गाँवों की तरफ हो रहा है। जिसके फलस्वरूप गाँव अपनी सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक व सम्पदा को खो रहे है। वह दिन भी दूर नहीं जब गाँव अपने–आप में पूर्णतः शहर बनकर बैठ जाएगा।

सन्दर्भ :–

1. अमित कुमार सिहँ, भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, जी.एन.प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 88
2. काशी नाथ सिहँ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ0 सं0 146
3. विपिन चन्द्र, वैश्वीकरणः हिन्दी भाशा और साहित्य, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ0 सं0 27
4. मैत्रेयी पुश्पा, चाक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ0 सं0 1
5. अमित कुमार सिहँ, भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, जी.एन.प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 104
6. द ग्रेट इंडियन फैमिली, गीताजंलि प्रसाद, पेंन्गुइन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006, पृ0 सं0 39
7. रणेन्द्र ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2017, पृ0 सं0 17
8. भारतीय समाज में वृद्धों की दशा, इंडिया टूडे पत्रिका, दिसम्बर 2019, पृ0 14
9. रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ0 सं0 144
10. अमित कुमार, भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प, जी.एन.प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 104
11. ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2017, पृ0 सं0 30

SUS Panjab University Constituent College

Guru Har Sahai, Distt. Ferozepur, Punjab, India

E-certificate

International Webinar on

Parvasi Punjabi Sahit Vich Maat-Bhumi Te Vass-Bhumi Da Antar Sanvaad

09th July 2020 at 09:30AM

We hereby certify that,

Prof./Dr./Mr./Ms. **Anil kumar**

Designation **Ph.d**

From **Lovely professionl university**

has attended International Webinar on **"Parvasi Punjabi Sahit Vich Maat-Bhumi Te Vass-Bhumi Da Antar Sanvaad"** 09th July 2020 at 09:30AM hosted by Shaheed Udham Singh Panjab University Constituent College, Guru Har Sahai (Ferozepur), Punjab, India.

Dr. N. R. Sharma
Principal & Convener

राजकीय महाविद्यालय, संत कबीर नगर

(सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु)

तीन दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय वेबिनार

विषय

प्रेमचंद और हिंदी कथा साहित्य

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य

साहित्य और मीडिया:आज के सवाल

3, 4, 5 सितम्बर , 2020

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/डॉ./प्रो. Anil kumar, Lovelly professional university ने हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय,संत कबीर नगर द्वारा आयोजित तीन दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय वेबिनार में सफलता पूर्वक भाग लिया। हम इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

डॉ. चन्दन कुमार
प्राचार्य/संरक्षक

डॉ. महात्मा पाण्डेय
संयोजक

नलिनभुज सिंह
आयोजन सचिव

आशीष शर्मा
आयोजन सचिव

ज्योति कुमारी
आयोजन सह-सचिव

Swami Shukdevanand College

Mumukshu Ashram Shahjahanpur (U.P.)

Certificate of Merit

This is to certify that Anil kumar
has done excellent performance in online "Hindi Quiz- 4"
organised by Department of Hindi, Swami Shukdevanand
College, Shahjahanpur (U.P.)

Dr. A. K. Mishra
(Principal)
Swami Shukdevanand College

Dr. Alok Mishra
(Head)
Faculty of Arts

Organised By
Dr.Pramod Yadav
(Assistant Professor)
Department of Hindi

A new version of Adobe Acrobat Reader DC is av

राजकीय महाविद्यालय, संत कबीर नगर

(सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु)

तीन दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय वेबिनार

26, 27, 28 अगस्त, 2020

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/डॉ./प्रो. Anil kumar, Lovely professional university ने हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय,संत कबीर नगर द्वारा आयोजित तीन दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय वेबिनार में सफलता पूर्वक भाग लिया। हम इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं!

डॉ. चन्दन कुमार	डॉ. अभिषेक कुमार	नीलाम्बुज सिंह	ज्योति कुमारी
प्राचार्य/संरक्षक	संयोजक	आयोजन सचिव	आयोजन सह-सचिव

SANATANDHARMA COLLEGE (Lahore)
AMBALA CANTT

"Under the Veda Vyaas Restructuring Sanskrit Scheme"
One Day National Seminar

DEFINING ROLE OF BRAHMINS & BRAHMINICAL ELEMENTS IN INDIAN HISTORY [PART-2]

(WITH REFERENCE TO INDIA'S FREEDOM STRUGGLE)

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और ब्राह्मणीय तत्त्वों के योगदान का परिभाषण (भारतीय स्वतन्त्रता सङ्ग्राम के सन्दर्भ में)

Sponsored By – Indian Council of Historical Research, New Delhi. Organized by – Department of Sanskrit, History & Hindi
Academic collaboration – National Centre for Historical Research & Comparative Studies, Panchkula, Darshan Yoga Sansthan, Dalhuosie (HP)
Sanatan Dharma Human Development Training & Research Centre, Chandigarh, Sanatan Dharma Adarsha Sanskrit College, Ambala Cantt.

CERTIFICATE

This is to certify that Mr. / Ms. / Dr. अनिल कुमार

attended & presented his/ her critical views as speaker in one day national seminar organized by department of Sanskrit of this college on 27th August, 2016, Saturday. He /she presented his /her research paper as Keynote Speaker/Resource Person/Paper Presenter on the topic स्वतन्त्रता संग्राम में ब्राह्मणों का-योगदान !

ASHUTOSH ANGIRAS (DR., CAPT.)
Convener

DR. RAJINDER SINGH
Principal

हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, पंचकूला

विद्या ददाति विनयम्

हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

वसुधैव कुटुम्बकम् संस्कृति सेवा आयाम

"अहं वरीतार्थं तु सर्वमेव कुटुम्बकम्"

अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी

हरियाणा स्वर्ण जयन्ती व हिन्दी दिवस के उपलक्ष्य पर आयोजित

भारतीय संस्कृति का वैश्विक प्रसार

सहर्ष प्रमाणित किया जाता है कि प्रो/डॉ/सुश्री/श्रीमती/श्रीमान् अनिल

संस्था कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ने

सत्र के मुख्यातिथि/विशिष्टातिथि/सारस्वतातिथि/मुख्यवक्ता/अध्यक्ष/प्रतिभागी के रूप में अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी में सक्रिय प्रतिभागिता की एवं वैचारिक योगदान दिया।

इन्होंने मारीशस में भारतीय संस्कृति जीवन शैली के संदर्भ में विषय पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया।

डॉ. केवल कृष्ण	डॉ. चित्तरंजन दयाल सिंह कौशल	डॉ. बाबूराम	डॉ. विजय दत्त शर्मा
संगोष्ठी-संयोजक	संगोष्ठी-सहनिदेशक	संगोष्ठी-निदेशक	निदेशक

(11 सितम्बर 2016)

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

हिन्दी-विभाग

Established by the State Legislature Act XII of 1956
(A+ Grade, NAAC Accredited)

विद्ययाऽमृतमश्नुते

हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला

एवं

मातृभूमि सेवा मिशन

अध्यात्म प्रेरित सेवा संस्थान

अभिमन्युपुर (अमीन) रोड, फतुहपुर, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, भारत-136118

के संयुक्त तत्त्वाधान में

राष्ट्रीय संगोष्ठी

विषय :- **''सामाजिक समरसता के सन्दर्भ में संत रविदास''**

प्रमाणित किया जाता है प्रो./डॉ./श्रीमती/सुश्री अनिल कुमार

पद शोधार्थी संस्थान LPU, फगवाड़ा

ने 18 फरवरी, 2019 (सोमवार) को **''सामाजिक समरसता के सन्दर्भ में संत रविदास''** पर आयोजित एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्ष/ बीज वक्ता/विषय विशेषज्ञ/आलेख वाचक/प्रतिभागी के रूप में सक्रिय भाग लिया तथा अपना बहुमूल्य वैचारिक योगदान दिया । इन्होंने इस संगोष्ठी में संत रविदास की वाणी में मानवीय दृष्टिकोण विषय पर शोध–पत्र/आलेख प्रस्तुत किया ।

प्रोफ़ेसर पुष्पा रानी
संयोजिका एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डॉ. श्रीप्रकाश मिश्र
संस्थापक एवं अध्यक्ष,
मातृभूमि सेवा मिशन, कुरुक्षेत्र

डॉ. पूर्णमल गौड़
निदेशक
हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला

महात्मा गांधी जी के जन्म के 150 वर्ष पूर्ण के उपलक्ष्य में

विद्या ददाति विनयम्

कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र

हिन्दी–विभाग

हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, पंचकूला

Established by the State Legislature Act XII of 1956
(A+ Grade, NAAC Accredited)

मातृभूमि सेवा मिशन

अध्यात्म प्रेरित सेवा संस्थान
के संयुक्त तत्त्वाधान में

राष्ट्रीय संगोष्ठी

विषय :- ''सामाजिक समरसता के संदर्भ में महात्मा गांधी का दृष्टिकोण''

प्रमाणित किया जाता है प्रो./डॉ./श्रीमती/सुश्री अनिल कुमार

पद शोधार्थी संस्थान हिन्दी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

ने 23 अक्तूबर, 2018 (मंगलवार) को महात्मा गांधी जी के जन्म के 150 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में के अवसर पर आयोजित एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्ष/बीज वक्ता/विषय विशेषज्ञ/आलेख वाचक/प्रतिभागी के रूप में सक्रिय भाग लिया तथा अपना बहुमूल्य वैचारिक योगदान दिया। इन्होंने इस संगोष्ठी में महात्मा गाँधी का दलितों के प्रति दृष्टिकोण विषय पर शोध–पत्र/आलेख प्रस्तुत किया।

वीरेन्द्र सिंह चौहान
उपाध्यक्ष
हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, पंचकूला

प्रोफ़ेसर पुष्पा रानी
संयोजिका एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डॉ. श्रीप्रकाश मिश्र
संस्थापक एवं अध्यक्ष,
मातृभूमि सेवा मिशन, कुरुक्षेत्र

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीमद्भगवद गीता जयन्ती समारोह

के पावन अवसर पर

हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

Established by the State Legislature Act XII of 1956
(A+ Grade, NAAC Accredited)

मातृभूमि सेवा मिशन

अध्यात्म प्रेरित सेवा संस्थान

अभिमन्युपुर (अमीन) रोड, फतुहपुर, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, भारत-136118

के संयुक्त तत्त्वाधान में

अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

विषय :- ''विश्व मानवता के संदर्भ में श्रीमद्भगवद गीता का दृष्टिकोण''

प्रमाणित किया जाता है प्रो./डॉ./श्रीमती/सुश्री अनिल कुमार

पद शोधार्थी संस्थान LPU, Phagwara

ने 9 दिसम्बर, 2018 (रविवार) को ''विश्व मानवता के संदर्भ में श्रीमद्भगवद गीता का दृष्टिकोण'' पर आयोजित एक दिवसीय अर्न्राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्ष/ बीज वक्ता/विषय विशेषज्ञ/आलेख वाचक/प्रतिभागी के रूप में सक्रिय भाग लिया तथा अपना बहुमूल्य वैचारिक योगदान दिया । इन्होंने इस संगोष्ठी में विश्व मानवता के संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता विषय पर शोध–पत्र/आलेख प्रस्तुत किया ।

प्रोफ़ेसर पुष्पा रानी
संयोजिका एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डॉ. श्रीप्रकाश मिश्र
संस्थापक एवं अध्यक्ष,
मातृभूमि सेवा मिशन, कुरुक्षेत्र

स्वामी विवेकानन्द जयन्ती

के उपलक्ष्य में

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

हिन्दी-विभाग

Established by the State Legislature Act XII of 1956

(A+ Grade, NAAC Accredited)

एवं

मातृभूमि सेवा मिशन

अध्यात्म प्रेरित सेवा संस्थान

के संयुक्त तत्त्वाधान में

अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी

विषय :- वर्तमान युवा पीढ़ी के सर्वांगीण विकास के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द

प्रमाणित किया जाता है प्रो./डॉ./श्रीमती/सुश्री ---------अनिल कुमार---------

पद----शोधार्थी---------- संस्थान--LPU, फगवाड़ा----------

ने 23 जनवरी, 2018 (मंगलवार) को "वर्तमान युवा पीढ़ी के सर्वांगीण विकास के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द" पर आयोजित एक दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्ष/बीज वक्ता/विषय विशेषज्ञ/आलेख वाचक/प्रतिभागी के रूप में सक्रिय भाग लिया तथा अपना बहुमूल्य वैचारिक योगदान दिया । इन्होंने इस संगोष्ठी में--वर्तमान युवा पीढ़ी के विकास में स्वामी विवेकानन्द का इतिहास--विषय पर शोध-पत्र/आलेख प्रस्तुत किया ।

प्रोफ़ेसर पुष्पा रानी
संयोजिका एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डॉ. श्री प्रकाश मिश्र
संस्थापक एवं अध्यक्ष,
मातृभूमि सेवा मिशन, कुरुक्षेत्र

National Webinar

Raj Rishi Bhartrihari Matsaya University, Alwar

In Collaboration with

Babu Shobha Ram Govt. Arts College, Alwar

Certificate of Participation

This is to certify that

ANIL KUMAR

Research Scholar

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY

participated in one day national webinar on "गाँधी चिंतन में किसान आंदोलन और ग्राम स्वराज" on January 30, 2021.

Prof. J. P. Yadav Vice Chancellor RRBMU Alwar	Dr. Smita Mishra Principal BSR Govt. Arts College Alwar	Dr. Phool Singh Sahariya Research Coordinator RRBMU Alwar	Dr. Mahesh Chand Gothwal Organizing Secretary

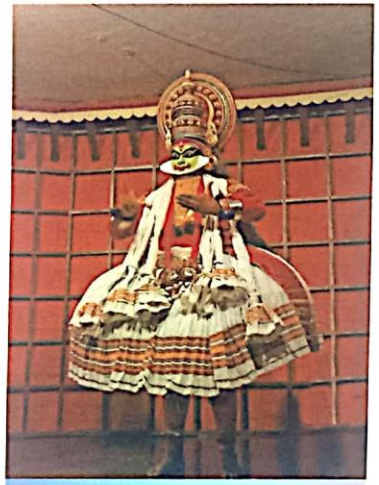

INDIRA GANDHI RAJKEEYA MAHILA MAHAVIDYALAYA
RAEBARELI-UP

COVID-19 : EK BHARAT SHRESHTHA BHARAT QUIZ

Certificate ID:
Q3RNLS-CE000385

E-CERTIFICATE

Dated:
1-6-2020

This is to certify that **Mr./Mrs./Miss./Prof./Dr.** ***Anil kumar ,Ph.d*** of ***Lovely Professional University*** has Participated in online COVID-19 EK BHARAT SHRESHTHA BHARAT QUIZ OF INDIRA GANDHI RAJKEEYA MAHILA MAHAVIDYALAYA,RAEBARELI-UP.

We heartily appreciate and congratulate the participant for enthusiastic performance. He/She has also solemnly pledged to discharge his/her duties as a responsible citizen and strengthen the fight against COVID-19 pandemic.

Protect yourself and others! Download Aarogya Setu and Ayush Kavach App.

DR. VINAY KUMAR PRAJAPATI	Mrs. PRIYANKA	DR. SUSHMA DEVI
ASSIT. PROF.- BOTANY,GDC NIHASTHA, RAEBARELI	NODAL OFFICER E.B.S.B.	PRINCIPAL
CONVENER	(ORGANISING SECRETORY)	

क्रम संख्या UPBS26

उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान, लखनऊ

(भाषा विभाग, उत्तर प्रदेश शासन के नियंत्रणाधीन कार्यरत स्वायत्तशासी संस्था)

दो दिवसीय अंतरराष्ट्रीय ई -संगोष्ठी

विषय : सारे जग के राम

दिनांक : 21-22 फरवरी 2021

प्रमाण पत्र

प्रो0/डॉ0/श्री/सुश्री/श्रीमती अनिल कुमार

संस्था लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी ने

21 एवं 22 फरवरी 2021 को आयोजित 'सारे जग के राम' विषयक अन्तर्राष्ट्रीय ई-संगोष्ठी में सहभागिता की।

उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान आपके उज्जवल जीवन की कामना करता है।

(डॉ0 राजनारायण शुक्ल)
कार्यकारी अध्यक्ष
उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान

उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान
721-722, इन्दिरा भवन, अशोक मार्ग, लखनऊ
वेबसाइट : upbhashasansthan.co.in ई-मेल : upbhashasansthan@gmail.com

साक्षात्कार

भगवान दास मोरवाल से साक्षात्कार के दौरान किए गए प्रश्न

अनिलः सर, आपने अपना अधिकतर लेखन कार्य मेवात क्षेत्र पर किया है ऐसा क्यों?

मोरवाल : मेरा जन्म मेवात के नगीना गाँव में हुआ है। जन्म से मैं इस क्षेत्र से परिचित हूँ इस क्षेत्र में समय के साथ–साथ जो भी परिवर्तन आया वह मेरी नजरों के सामने है इसलिए मैंने अपना अधिकतर लेखन कार्य मेवात क्षेत्र पर किया है।

अनिल : सर, आपके उपन्यासों में मेवात क्षेत्र के जो ग्रामीण परिवेश का चित्रण किया है वह काल्पनिक है या यथार्थ है ?

मोरवाल : मैंने अपने उपन्यासों में मेवात क्षेत्र के जिन गाँवों को अपनी कथा का विषय बनाया है वह वास्तविक है जिन गाँवों का मैंनें वर्णन किया है वही गाँव मेवात क्षेत्र में मौजूद है। बात है कथा का तो लगभग मेरी लेखनी में यथार्थ है। कल्पना का मैंने बहुत अधिक प्रयोग नहीं किया है और ना ही कल्पना के पंखों के सहारे मैंने कोई ऊँची उड़ान भरी।

अनिल : सर, आप अपने उपन्यासों के पात्रों के बारे में क्या कहना चाहते हो वो किस तरह के है, काल्पनिक या यथार्थ ?

मोरवाल : जो पात्र मैंने अपने उपन्यासों में लिए है वह दोनों ही प्रकार के है काल्पनिक भी, यथार्थ भी। लेकिन अधिकतर पात्र यथार्थ है और इन पात्रों में अधिकत्तर पात्र अब इस समय में भी मौजूद है। जो कथा इन पात्रों के द्वारा मैंने लिखी है अपने उपन्यासों में, वह कथा इन यथार्थ पात्रों की है।

अनिलः तो सर, आपके उपन्यासों के काल्पनिक पात्र कौन से है ?

मोरवाल : काल्पनिक पात्र वो है जिनका वर्णन करना उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाना या फिर सीधे तौर पर कहूँ तो सारी बातें किसी पात्र का सही नाम, सही यथार्थ स्टोरी को साफ–साफ नहीं लिखा जा सकता। मैं भी इसी क्षेत्र का वासी हूँ मैं ऐसी बातें नहीं लिखना चाहूँगा। जिसके चलते मेरे अपने क्षेत्र के लोग ही मेरे

दुश्मन बन जाए, या मैं फिर उन्हें अपनी लेखनी के दौरान उनको अपना दुश्मन बनने के लिए मजबूर कर दूँ।

अनिल : सर, आपके उपन्यासों को दलित उपन्यास कहाँ जाए या ग्रामीण आँचल से जुड़े उपन्यास ?

मोरवाल : देखिए मैंने जो उपन्यास लिखे है उनका विषय मेवात क्षेत्र का पिछड़ापन है। इस पिछड़े क्षेत्र में दलित भी है और ग्रामीण अँचल के सामान्यतः सभी लोग वो फिर चाहे हिन्दू हो मुसलमान हो या फिर इस क्षेत्र के सभी जातियों के लोग। मैंने सब को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। फिर भी अगर अधिक कथा पात्रों की बात कहूँ तो पिछड़ी जाति के लोग जो गाँवों में रह रहे है और जन्म से गाँवों के ही निवासी रहे है और उनकी कई पीढ़ियाँ भी इनकी गाँवों में विभिन्न कार्यों के दौरान अपना जीवन यापन करती आई है।

अनिलः सर, आपने जो अपने उपन्यास में वैश्यावृत्ति, पिछड़ापन और जो लड़कियों को बेचना आदि का वर्णन किया है वह क्या जी इस वर्तमान समय में ऐसा है ?

मोरवाल : जी बिल्कुल है, यहाँ आज भी यह बुराईयाँ है। वैश्यावृत्ति यहाँ के घरों जो पेट भरने में बिल्कुल असमर्थ है, उनका पेशा है। पर इस तरह की कथा का वर्णन करते समय मैंने जो पात्र लिए है वो काल्पनिक है, पर कथा यथार्थ है। यहाँ का पिछड़ापन ही इन सब समस्याओं की जड़ है। लड़की को जो आप बेचना कह रहे है वह असलियत में दो तरह से है। एक तो लड़कियों के माता–पिता इनकी शादी करवाने में होने वाले खर्चे के लिए असमर्थ है और दूसरा यहाँ बेचना लड़कियों को इसलिए कहाँ जाता है, कि बाहर से लोग आते है जिनकी किसी कारणवंश शादी न हुई या होकर कोई समस्या आ गई वे फिर इन लड़कियों से शादी करने के लिए आते हैं और कुछ रूपये इन लड़कियों के घर वालों को आर्थिक सहायता के रूप में देते हैं...।

अनिल : सर, जो इस तरह की शादियाँ करवाई जाती है क्या वह समाज में सही है या गलत ?

मोरवाल : देखिए, दोनों ही बात है। सही, ये है कि इन लड़कियों का जीवन निर्वाह सही हो जाता है या फिर यूँ कहूँ कि कुछ के घर बस जाते है। गलत ये है इस तरह की शादी में लगभग अयोग्य वर ही ऐसा करता है जो यहाँ शादी के लिए आता है। जिसकी आर्थिक क्षमता कमजोर हो या फिर उनकी पहले वाली पत्नी से तलाक हुआ हो या फिर वो चल बसी हो। कई बार तो अनमेल विवाह भी होता है लड़की की उम्र 18–20 साल होती है और लड़के की उम्र यूँ कह लो जो पहले से ही एक–दो बच्चों का पिता होता है ....।

अनिलः सर, मेवात क्षेत्र के पिछड़ेपन के क्या कारण है या किन कारणों से ये ग्रामीण लोग पिछड़े हुए है ?

मोरवालः ये आपने बहुत बढ़िया सवाल किया। देखिए, इनके पिछड़ेपन का प्रमुख कारण तो है अशिक्षित होना। यहाँ पढ़े–लिखे लोग बहुत कम है अब शिक्षित न होने के कारण, यहाँ के व्यक्तियों की संताने बहुत है। कहने का अभिप्राय है एक परिवार में एक व्यक्ति के बच्चों की शादी होने तक भी पिता के खुद की संताने जन्म लेती रहती है .....। दूसरा, यहाँ कोई पानी का जरिया नहीं है जिससे खेती की जा सके, सारी खेती बारिश पर निर्भर है .....। तीसरी बात, यहाँ कोई उद्योग धन्धे नहीं है जिसमें इन लोगों को मजदूरी मिल जाए, ये आर्थिक सहायता के लिए काम कर सके .....।

अनिल : जी, आप अपनी भाषा शैली के बारे में क्या कहना चाहते है ?

मोरवाल : मैंने यूँ तो जनसाधारण में प्रचलित लोक भाषा को ही अपना आधार बनाया है लेकिन सारा साहित्य क्षेत्रीय बोली में नहीं लिखा जा सकता है। इसलिए मैंने मेवाती, हिन्दी व कहीं–कहीं राजस्थानी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है, क्योंकि राजस्थान से मेवात की सीमा लगती है तो लोगों के जन–सम्पर्क के कारण राजस्थानी भी जन साधारण में बोली–समझी जाती है। जन साधारण में बोले जाने वाले कटु–वचन, मान–सम्मान के शब्द, गाली–गलौच, ताने सबका वर्णन किया है साथ ही साथ जन साधारण की भाषा की खूबियों का भी वर्णन .....।

अनिल : सर, आपके क्षेत्र में मुस्लिम लोग भी अधिक है उनका जीवन व्यापन कैसा है?

मोरवाल : जो मैंने बताया है उसमें लगभग सभी धर्म चाहे हिन्दू या मुसलमान। या फिर कोई भी इन धर्मो की जाति लगभग सभी इस समाज का हिस्सा है सबकी स्थिति एक जैसी ही है जो पढ़–लिख गया या कोई काम धंधा चल निकला तो उसकी स्थिति इनके विपरीत अच्छी है, फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, फिर चाहे वह कोई भी जाति के हो .....।

हरिराम मीणा जी से साक्षात्कार के दौरान किए गए प्रश्न

अनिल : सर, आपके बचपन का अधिक समय कैसे व्यतीत हुआ ?

मीणा : मेरा बचपन का अधिकतर समय मेरे गाँव वामनवास, जिला सवाई माधोपुर, राजस्थान में व्यतीत हुआ है। बचपन अत्यंत आर्थिक गरीबी में गुजरा, सुविधाओं के नाम पर मात्र जीवन की मूलभूत आवश्यकता रोटी, कपड़ा और मकान ही मिले ये सब भी निम्न स्तर के, कोई हाई–फाई बचपन में कुछ भी नहीं मिला। पर मैं खुश हूँ कि सम्पूर्ण बचपन अपने माता–पिता, दादा–दादी व पाँच भाई–बहनों के साथ बीता। कुल मिलाकर उस समय के अनुसार ठीक–ठाक रहा।

अनिल : सर, आपकी शिक्षा दीक्षा के कोई अच्छे प्रबंध नहीं थे। फिर भी आप आई. पी.एस. जैसे इतने बड़े पद पर पहुँचे इस दौरान आपका जीवन संघर्ष कैसा था ?

मीणा : ये एक बहुत लम्बी त्रासदी, जीवन की कहानी है मेरी आरम्भिक शिक्षा गाँव में ही शुरू हुई। इसके बाद मैंने बाहर के कुछ महाविद्यालयों से शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् नौकरी की तलाश में जुट गया। कारण यह था कि घर में पिता जी तीन पढ़े थे, पाँच भाई–बहनों में सिर्फ मैं ही ग्रेजुएट कर पाया था या यूँ कहूँ के उस समय में मेरे गाँव में मुझ जैसे परिवार के बच्चे का इतना पढ़ना भी बहुत बड़ी बात थी ... तो घर के हालात ठीक नहीं थे तत्काल आर्थिक सहायता के लिए नौकरी की जरूरत थी पहले कुछ बैंकों में अस्थायी व स्थायी पद पर चार साल तक कार्य किया। फिर पुलिस में भर्ती हुआ। इस दौरान आगे की पढ़ाई भी जारी रखी ....। कुछ प्रोमोशन हुए, मैं यहाँ तक पहुँचा तो माता–पिता के आर्शीवाद और परमात्मा की असीम कृपा से ....।

अनिल : सर, आप थे पुलिस ऑफिसर फिर ये लेखन कार्य में कैसे रूझान बना आपका ?

मीणा : जी ऐसा है कि शुरूआती दिनों में जब मैं बैंक में अस्थायी पद पर कार्य करता था तो बहुत अधिक मेहनत करनी पड़ती थी और शायद यह भी डर था कि कही इस अस्थायी नौकरी से भी निकाल दिया तो बहुत बड़ी समस्या आ जाएगी।

फिर कुछ समय पश्चात् जब बैंक में स्थायी नौकरी मिली तो बहुत चैन मिला। एक तो उस समय में थोड़े अच्छे पैसे मिलने लगे अस्थायी नौकरी की तुलना में दूसरा बैंक में कार्य करने के पश्चात् मैं पूर्ण रूप से खाली था, इतना कोई नौकरी का प्रेशर मुझ पर नहीं था। इसी दौरान मेरा लेखन कार्य की ओर रूझान बनने लगा। फिर पुलिस में नौकरी मिलने पर ये सब छुट गया। बाद में प्रोमोशन के दौरान फिर से कुछ समय मिलने पर दोबारा लिखना शुरू कर दिया।

अनिल : सर, आपने शुरूआत में किस तरह का लेखन कार्य किया ?

मीणाः जब मैं बैंक में था उस समय का मेरा लेखन कार्य मैंने कभी प्रकाशित नहीं करवाया। सिर्फ एक डायरी में लिखता था वो भी सिर्फ कुछ आप बीती या आत्मकथा की सी बाते ...।

अनिल : जो आपका 'धूणी तपे तीर' उपन्यास है, उसको लिखने की प्रेरणा कैसे मिली?

मीणा : दरअसल, यह सब मेरे जीवन में बचपन से ही चल रहा था पर मैं कभी इसको कलमबद्ध नहीं कर पाया। कभी समय के अभाव में, तो कभी कथन के अभावों में। फिर जब मैं पुलिस में था और पदोन्नति हुई तो लगभग पूरे राजस्थान में मैंने भ्रमण किया। इस दौरान में अपने भावों को ना तो रोक पाया और ना ही लिखने से अपने आप को रोक पाया। जब मैंने अपने राज्य के आदिवासी लोगों को देखा तो उनके दुःख–दर्द, तकलीफों व पिछड़ेपन के कारणों का अपने मन में छुपाना मुझे एक अपराधी होने के समान लगा और मैंने ये उपन्यास लिखा।

अनिलः आपके उपन्यास में जो आदिवासी है वो किस तरह के है ?

मीणा : मेरे उपन्यास में राजस्थान के बांसवाड़ा अंचल में स्थित मानगढ़ पहाड़ी पर बशे भील–मीणों, बंजारा व स्थानीय पिछड़ा वर्ग के स्थानीय लोग है। जो प्राचीन समय से पिछड़े और आधुनिक सुख–सुविधाओं से वंचित रहे हैं। इन लोगों के पास सुख–सुविधाओं के नाम पर केवल कुछ बदला है तो इतना कि ये स्थायी हो गये है और स्थानीय स्थलों पर अपने कुछ टुटे–फुट्टे कच्चे मकान बना लिये है। पुराने

समय पर ये जातियां स्थानीय नहीं हुआ करती थी। इधर–उधर भटकते रहते थे। जीवन व्यापन के लिए कुछ छोटे–मोटे काम धंधे भी कर लिया करते थे। परन्तु अभी भी बंजारा, भाट जातियाँ स्थायी निवासी नहीं हुए है ये आज भी इधर–उधर भटकते रहते और जीवन निर्वाह करते है।

अनिल : सर, आपके आदिवासी लोगों और झारखंड के आदिवासी लोगों में क्या अन्तर है ?

मीणा : हमारे क्षेत्र के आदिवासी झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों के मुकाबले गाँव की तरह रहते है पर रहते पहाड़ी क्षेत्र पर जो क्षेत्र बहुत पिछड़ा है। विकास के नाम पर ना स्कूल है, ना पीने का पानी, ना सड़के, ना हॉस्पिटल, ना बस सुविधा है, ना बिजली है। फर्क की बात करे तो वो जंगलों में रहकर पिछड़ेपन के शिकार है और ये गाँव या कबीलों की तरह खुले में रहकर। आम लोगों के बीच या पास रहकर मूलभूत सुविधाओं से वंचित है। हालात लगभग वही है जो उन आदिवासी लोगों के है।

अनिल : फिर आपके लोगों को दलित भी तो कहाँ जा सकता है जी।

मीणाः ये लोग है तो दलित ही, इनके स्थान पर, इनके साथ कोई भी उच्च जाति के लोग नहीं है। बस इतना है कि यहाँ जंगलों की जगह झाड़ीदार पहाड़ियों के बीच ये लोग छोटे गाँव के रूप में बसे है जिन्हें हमारे यहाँ 'चक' या 'मील' भी कह देते है इतना नम्बर मील, इतना नम्बर ढ़ाणी इत्यादि।

अनिलः अपनी लेखनी में प्रयोग की गई भाषा के बारे में आपका क्या कहना है ?

मीणा : मैंने अपने साहित्य में अधिकतर हिन्दी मिश्रित राजस्थानी भाषा का प्रयोग किया है। वही लोकल स्तर पर बोले जाने वाली बोलियों में मेवाड़ी, शेखावाटी, मारवाड़ी, बीकानेरी, अहीरवाटी, ढूँढ़ाणी इत्यादि का प्रयोग भी मैंने जनसाधारण के रूप में चयनित पात्रों के माध्यम से इन सब तरह की बोलियों को उनके मुँह से कहलवाया है। क्योंकि जब तक मैं अपने क्षेत्र विशेष की बोलियों का प्रयोग नहीं

करूँगा तो वह भाव व दर्द को नहीं कह पाऊँगा जिनका वर्णन करना मेरा उद्देश्य रहा हैं।

अनिल : सर, आपके उपन्यास 'धूणी तपे तीर' की कथावस्तु में कितनी की काल्पनिकता और यथार्थ है।

मीणा : देखिए, कल्पना के बिना तो कोई साहित्य रचा ही नहीं जा सकता है पर कल्पना का मैंने अपने उपन्यास या अपने पूर्ण साहित्य में ना के बराबर प्रयोग किया है। बात रही इस उपन्यास की तो इसमें लगभग कथा यथार्थ ही है जो राजस्थान क्षेत्र में स्पष्ट दिखाई देती है। कल्पना के आधार पर अपने आप को प्रसिद्धि दिलाकर, मैं अपने लोगों की नजरों में उनका गुनाहगार नहीं बनना चाहता। जिस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए मैंने कलम उठाई है। वह उद्देश्य यथार्थ को चित्रित करके ही पूरा किया जा सकता है .....।

अनिलः सर, आप हम जैसे विद्यार्थियों को क्या सन्देश देना चाहोगे ?

मीणाः मैं सिर्फ यही कहना चाहूँगा! कि जिस तरह से आपके परिजन आप लोगों को पढ़ाने के लिए किस–किस तरह की परेशानियों का सामना करते है। आप उन परेशानियों का मोल कोई गलत कार्य करके ना चुकाना, जिससे की आपके परिजनों का जीने का उद्देश्य ही खत्म हो जाए। आज की दुनिया में चंकाचौध जो परिवर्तन हो रहे है, वह सारे परिवर्तन बाहर से सुंदर दिखने के साथ–साथ अंदर से खोखले भी बहुत है ....।

राजू शर्मा जी से साक्षातकार

अनिल : जी आपका उपन्यास 'हलफनामें' मेरे शोध कार्य का हिस्सा है, जी आप इसके बारे में कुछ कहना चाहेगे जी ?

शर्मा : सुनकर, बहुत अच्छा लगा। आप जैसे विद्यार्थियों की सराहना और प्रेम की लेखकों को लिखने के लिए प्रोत्साहित करता है। उपन्यास की कथा वस्तु बिल्कुल आज के युग के अनुकूल है। कोरी कल्पना भी नहीं है।

अनिल : जी आप अपने उपन्यास के बारे में बतायेगे जो मैं नहीं जानता या जो मैं उपन्यास में नहीं पढ़ पाया हूँ।

शर्मा : बेटे जो आपने पढ़ा समझा वही उपन्यास की सच्चाई है साहित्यकार कभी कोई बात अपने मन में दबाकर नहीं रखना चाहता है। एक बात ओर भी है अगर कोई बात अपने में दबा कर रखना आता तो लेखक कभी नहीं बन पाता। बातें मन में नहीं दबा सकता तभी तो कलम उठाकर उसे लिखित रूप प्रदान करता है।

शर्मा : आपने उपन्यास पढ़ा, उसमें क्या–क्या विषय आपको दिखाई दिए ?

अनिल : किसान आत्महत्या और उसकी घोषणा करना अजीब बात लगी। इसके इलावा सरकार द्वारा किसान आत्महत्या पर मुआवजी झूठी बात। शासन तंत्र में निर्दयता, पानी के संकट की कथा, विकास के नाम पर समाज के तथाकथित विकास के मॉडल मजबूत करना इत्यादि।

अनिल : ये सब विषय मुझे उपन्यास में दिखाई दिए या सर कुछ ओर भी छूट गया ?

शर्मा : नहीं, आपने उपन्यास का गहन अध्ययन किया है इसमें कोई शक नहीं। पानी का संकट आज के युग में ऐसा संकट बनेगा। जिसके चलते किसान और किसानी दोनों खत्म हो जाऐगे। अगर ये खत्म हुए तो बचेगा कुछ भी नहीं। जहाँ अन्न नहीं, कृषि नहीं वहाँ ना लोग जीवित रहेगे, विकास तो दूसरी बात है। जीवन के लाले पड़ेगे।

अनिल : सर, आज गाँव बदल रहे है तो किस रूप में ?

शर्मा : गाँव नहीं बदला है, गाँवों में रहने वाले लोग बदल गए है। लोगों को अब लगने लगा है कि गाँव में अब उनके लायक कुछ बचा ही नहीं है। एक समय था जब शहर की जरूरते और गाँव की जरूरते, खुद गाँव पूरी किया करते थे। परन्तु आज समय यह है कि गाँव की जरूरतें शहर पूरा करते है। ये सब हुआ है बाजारवाद के कारण। अब कोई भी वस्तु, साजों–समान केवल शहर के लिए न रहकर पूरे समाज के लिए बन गया है। फिर चाहे वह क्या गाँव ? क्या शहर ? क्या समुदाय, कस्बा या कुछ भी।

अनिल : जी, क्या गाँवों ने आज तरक्की की हैं ?

शर्मा : तरक्की तो शहर किया करते थे। गाँवों क्या तरक्की करेंगें। गाँवों तो अपने–आप में हमेशा से ही तरक्कीशील ही थे। गाँवों वालों को कब कोई वस्तु को लेने शहर जाना पड़ता था। बल्कि शहर की जरूरतों को गाँवों पूरा किया करता था। अब शहर गाँवों में आ गया है। यूँ कह लो के गाँवों शहर बनता जा रहा है। तो अपने आप में गाँव अपने को अधूरा पाने लगा है। शहरों से गाँवों को सड़के निकली, गाँवों खुद उठकर ही शहर को जा लिया। हम कहते है गाँवों ने तरक्की की है।

अनिल : गाँवों को शहर के रूप में बदलने के क्या कारण है ?

शर्मा : कोई एक हो तो बताए। सारे तत्व ही विद्मान है। गाँवो को शहर बनाने में चाहे वो राजनीति, मीड़िया, विदेशी सभ्यता, वैज्ञानिक उपकरण, इंटरनेट तमाम क्रिया कलापों ने ही तो गाँवों को शहरों की रोशनी से प्रभावित किया है।

संजीव जी से साक्षातकार

अनिल : सर, आप अपने उपन्यास 'फाँस' के बारे में कुछ कहना चाहते हैं ?

संजीव : 'फाँस' मेरे सबसे प्रसिद्ध उपन्यासों में से एक है। फाँस पर मुझे पाठकों का बहुत प्यार मिला। बड़े–बड़े आलोचकों द्वारा प्रशंसा की गई। मैं सभी का तह–दिल से शुक्रिया करता हूँ। आप सब के सहयोग से मेरा एक नया उपन्यास 'प्रत्यंचा' वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हो रहा है। ये आप सभी पाठकों के सहयोग के बिना असम्भव है।

अनिल : सर, आपका नया उपन्यास 'प्रत्यंचा' की विषय वस्तु क्या है ?

संजीव : मेरा नया उपन्यास छात्रपति शाहूजी महाराज की जीवनगाथा है। जिसे उस समय का आधार मानकर आज के युग के प्रसंगानुकूल लिखा गया है।

अनिल : सर, मैंने सुना है आप विज्ञान विषय के छात्र थे फिर आपके मन में लेखनी का ख्याल कैसे आया ?

संजीव : मेरा जन्म बाँगर कलाँ, सुल्तानपुर (जिले के अन्तर्गत आने वाला एक पिछड़ा सा गाँव है) में हुआ। घर का माहौल एक मध्यवर्गीय परिवार का था। बचपन का समय भी लगभग ठीक–ठाक गुजरा। जब बचपन में उभरकर विद्यार्थी जीवन दसवीं पास किया। तो उस समय उत्तरप्रदेश जो कि मेरा राज्य है उसके पिछड़ेपन की ओर ध्यान आकर्षित होने लगा। परन्तु उस समय मेरा कार्य विद्यार्थी होने के नाते सिर्फ शिक्षा ग्रहण करना ही था। जैसे ही मैंने बारहवीं की शिक्षा के उपरान्त बी.एस.सी. में एडमिशन लिया। तो घर से बाहर निकलने का मौका मिला। तब सुल्तानपुर का पिछड़ापन मेरे दिल में काफी–हद तक सोचने की जगह बना चुका था। यह सब देखकर मुझसे रहा न गया। और कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया। यही से मेरे साहित्यकार जीवन का आरम्भ हुआ। समय के अनुसार इस चुपी को उपन्यासों में उतारा। जिसमें मुझे साहित्यकार के रूप में पहचान दिलाई।

अनिल : सर, आपका उपन्यास 'फाँस' किसान आत्महत्या पर आधारित है सर ये यथार्थ है या काल्पनिक ?

संजीव : ये उपन्यास पूर्ण रूप से यथार्थ है। काफी कुछ पात्र भी यथार्थ है। क्षेत्र विशेष का जो वर्णन किया है। वह भी यथार्थ है। कल्पना सिर्फ इस उपन्यास की कथा वस्तु को जोड़ना है। क्योंकि घटनाएँ बहुत सारी है। परन्तु किस घटना को कहा जोड़ना है। जिस घटना को उठाया है। उन घटनाओं को कितना किस उपन्यास में खिंचना है ये सब एक कल्पना के समान हो सकता है। क्योंकि पूरी घटना का वर्णन करता तो किसी एक घटना को, या फिर किसी एक किसान की आत्महत्या को ही उपन्यास में रखा जा सकता था।

अनिल : सर, क्या आज भी इतने बड़े दर्जे पर किसान आत्महत्या कर रहे है ?

संजीव : बिल्कुल, क्यों नहीं कर रहे है। पंजाब और हरियाणा के समृद्ध किसानों को छोड़कर। देश के अन्य राज्यों के किसानों पर नजर डालिये। ऐसा ना हो तो कहना। यू.पी. बिहार के किसान तो आत्महत्या में सबसे आगे है। आत्महत्या करना इतना आसान नहीं है। जब सारे रास्ते बंद हो जाते है। तब मृत्यु जिंदगी से आसान लगने लगती है और मौत को गले से लगाया जाता है। किसान बनना आज अभिशाप सहने के बराबर हो गया है। कौन कदर करता है आज किसानी की। आप कह दो के आप सरकारी नौकरी पे है। आपका अपना बिजनेस है सब आपसे अच्छे से पेश आएंगे। आप कह दो मैं खेती करता हूँ सब आपको एक पिछड़ा समझेगे। अनपढ़ गँवार समझेगे। बिना नौकरी के किसान के परिवार में तो आज कोई अपनी लड़की भी नहीं देता है।

अनिल : सर, आपको क्या लगता है किन कारणों से किसानी पिछड़ रही हैं ?

संजीव : ये तो मैं उपन्यास में भी बता चुका हूँ। आज तरह–तरह के बीज, दवाईयाँ जो मार्केट में आ रही है। वह कहा से आ रहे है। दवाईयाँ तैयार की जा रही है रेट अधिक है। परन्तु इनका परिणाम तो यह नहीं है जो लेबल पर दिखाया जाता है।

बीज मार्केट में आ रहे है वह किसानो के खेत से काटी हुई फसले जिसे बस थोड़ा साफ–सफाई करते है। पैंकिंग करते है और उसे अधिक मूल्य पर बेचते है।

संजीव : बच्चे आपके यहाँ कौन सी फसले होती है। बताओ जरा ?

अनिल : सर, गेहूँ, कपास, धान इत्यादि।

संजीव : इन सब फसलों का रेट बता पाओगे बच्चे ?

अनिल : जी क्यों नहीं मैं भी किसान का ही बेटा हूँ। सब चीजें बहुत अच्छे से देखी है। सर गेहूँ 1800 से 2000, कपास 4500 से 5000 रू0, धान 1700 से 2200 तक।

संजीव : बहुत अच्छे अब मेरी सुनिये ! आपने कपास बेची 4500 से 5000 तक क्विंटल, इसका बीज मिलता है। 2000 का आधा किलो। गेहूँ बेची 1800 रू0 में इसका बीज है 4500 रू0 का 50 किलो बल्कि आजकल तो 45 किलो ही मिलता है। धान बेचा 2000 में, बीज इससे कही गुना अधिक कीमतों पर। आप मेहनत करते है छहः महीने मिला क्या ? आप देख लो। बीज मिला इतना महँगा, व्यापारी की मेहनत सिर्फ 15 दिन की। अगर सब खर्चा जोड़ों तो किसान को बचता नहीं बीज लेने का पैसा भी। अब ऊपर से नकली बीज व दवाईयाँ, अच्छी–अच्छी चमक–धमक की पैकिंग में वो भी अलग लूटने का जरिया .... !

अनिल : सर, किसान आत्महत्या को लेकर अपनी राजनीति किस हद तक जिम्मेदार है ?

संजीव : बच्चे, कभी भी किसी घटना का एक कारण नहीं होता और किसान आत्महत्या तो पूरे देश की कहानी है। ये फिर किसी एक कारण का हिस्सा कैसे हो सकती है। बात रही राजनीति की तो जिम्मेदार है ही। कभी किसी किसान आत्महत्या पर किसी राजनेता ने शौक मनाया है। किसी भी समस्या के लिए किसान खुद जिम्मेदार होता है। दूसरा अन्य नहीं। जब चाहे मौसम की मार हो या नकली बीज, खाद, दवाईयाँ। किसी कंपनी पर कोई केश नहीं होता। रिजल्ट भले ही विपरीत हो। बाकि सब आप जानते हो ...।

रणेन्द्र जी से साक्षातकार

अनिल : सर, आपके उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' का नामकरण आपने किस आधार पर किया है ऐसी कोई घटना या पात्र तो नहीं है ?

रणेन्द्र : उपन्यास की घटना एक विशेष समय अवधि की है। जिस समय आदिवासी उन व्यक्तियों के लिए सम्बोधित होता था जब वे जंगल में रहा करते थे। बाहरी दुनिया की आबो हवा से दूर रहते थे। परन्तु आज ये आदिवासी एक समुदाय विशेष न रहकर एक कुटुम्ब या गाँव की तरह रहने लगे है। जिसका कारण इन लोगों का बाहरी लोगों से सम्पर्क है। रही बात उपन्यास के नामकरण की तो ग्लोबल गाँव अपने आप में बाहरी दुनिया से जुड़ा है।

अनिल : सर, आपके उपन्यास में इस 'देवता' से क्या अभिप्राय है ?

रणेन्द्र : देवता से अभिप्रायः उस वैश्वीकरण से है जिसने किसी को नहीं छोड़ा अर्थात् आज हर व्यक्ति एक–दूसरे की चकाचौंध से प्रभावित है। वह चकाचौंध इस वैश्वीकरण के कारण ही आई है। जिस प्रकार भगवान सब कुछ देखता है सब पर अपनी नजर रखता है। उसी तरह वैश्वीकरण भी सब पर अपनी नजरे गाड़े हुए हैं आज देवता (भगवान) बन बैठा है। इसी कारण उपन्यास का नामकरण बिल्कुल सार्थक बैठता है।

अनिल : सर, आपके उपन्यास की कथा कितनी के सार्थक है ?

रणेन्द्र : ये बात तो आप जैसे शोधार्थी मुझ से बेहतर जानते है। आप जैसे युवा तो अपने जीवन में हर दिन परिवर्तन ला रहे है। फिर भी कथावस्तु की बात करते है तो सार्थक ही सार्थक है। उपन्यास का पात्र रूमझूम एक वास्तविक, यथार्थ पात्र है जो असुर समुदाय से सम्बन्ध रखता है। जिसका अभी कुछ समय पहले ही एक लम्बी बीमारी के दौरान मृत्यु हुई है।

अनिल : सर, आपके उपन्यास के पात्र रूमझूम के बारे में कुछ बताइए ?

रणेन्द्र : रूमझूम संस्कृत में बी.ए. पास थे गाँव में इस तरह के पढ़े–लिखे लोग असुर समुदाय में है ही नहीं। पढ़े–लिखे होने पर भी आदिम जनजाति से सम्बन्धित होने के कारण उनकी योग्यता को शक की निगाहों से देखा जाता था। गाँवों के आसपास बहुत सी बॉक्साइट की खदानें थी परन्तु उनको योग्य न समझते हुए कही भी कार्य नहीं मिला। पूरी उम्र संघर्ष किया ....।

अनिल : सर, आपका एक ओर उपन्यास 'गायब होता देश' भी इसी तरह का है ?

रणेन्द्र : इस तरह का है परन्तु ऐसा नहीं है। उसका विषय विस्थापन, घुसपैठ, स्त्री शोषण, धार्मिक विभिन्नता, भाषिक अस्मिता इत्यादि है। मेरा एक ओर उपन्यास 'गूँगी रूलाई का कोरस' का अभी प्रकाशन होने वाला है। उसको जरूर पढ़ना बहुत अच्छा उपन्यास है। अभी थोड़ा समय लग रहा है। लॉक डाऊन के चलते।

अनिल : सर, आपके नये उपन्यास 'गूँगी रूलाई का कोरस' का विषय क्या है जी ?

रणेन्द्र : उपन्यास का विषय औरत समस्या, बलात्कार, भूखमरी, प्रतिष्ठा, अधिक बच्चे पैदा करना, अनपढ़ता इत्यादि काफी विषयों पर इस उपन्यास में चर्चा की गई है।

अनिल : सर, आप भारतीय गाँव और आदिवासी समुदाय में कुछ अन्तर बताएंगे ?

रणेन्द्र : गाँवों तो भारतीय ख्याति का आधार रहे है। ठीक है के गाँवों में शहरों, नगरों के इलावा कुछ कमियाँ होगी। परन्तु भारत का आधार तो गाँवों से ही है। रही बात आदिवासी समुदायों की तो आदिवासी अब समुदायों को जंगल में गाँव का रूप दे चुके है। ऐसे गाँव जो अभी नए–नए बशे हो। जिस तरह ये भी पढ़ लिख रहे है बाहर के लोगों के साथ–आवागमन बढ़ रहा है। अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत होते जा रहे है। समय आने पर ये भी समाज की मुख्यधारा के विलासी हो जाएंगे।

अनिल : सर, इनके गाँवों और प्राचीन गाँवों में क्या भेद है जी ?

रणेन्द्र : प्राचीन गाँवो जो शहर के आस–पास लगते है वो लगभग विकसित हो चुके है। उनमें आज शहरों की तरह लोगों के पास घर, गाडियाँ, वाहन, रहने का तौर

तरीका शहरों की तरह हो गया है। परन्तु इनके गाँवो जो अन्य गाँवो आज से 50 साल वर्ष पूर्व हुआ करते थे वैसे है। विकास की धीमी रफ्तार, अशिक्षा, बेरोजगारी इत्यादि। परन्तु इन 10 वर्षों में इनमे काफी कुछ बदलाव आया है। ये बदलाव जरूर इन्हें पूर्णतः समुदायों से निकालकर ग्रामीण बना देगा इसमें कोई दौराह नहीं है ....।

अनिल : सर, इनके जीवन निर्वाह में कितना के परिवर्तन आया है ?

रणेन्द्र : लगभग परिवर्तन आया है पहले ये वस्त्रों के अभाव में पेड़–पौधों के पत्तो से अपना शरीर ढ़ापते थे। अब लगभग सभी वस्त्र पहनने लगे है। वैसे आप कभी यहाँ आओगे तो आपको भारत के प्राचीन गाँवों की याददाश्त ताजा हो जाएगी। अब ये सब से मिल–जुलते है। पहले की तरह नहीं के कोई अजनबी देखा, तीर–भालों से उस पर हमला कर दिया। अब तो बदलाव ही बदलाव है .....।

प्रदीप सौरभ जी से साक्षातकार

अनिल : सर, आपके उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' का नाम कुछ अलग सा प्रतीत नहीं हो रहा है ?

सौरभ : मैं पहले अपने उपन्यास का नाम 'गोधरा टू गाँधी नगर' रखना चाहता था। गाँधी नगर गुजरात की राजनीतिक राजधानी है। परन्तु जब मैं इअ उपन्यास का प्रकाशन करवाने गया तो इस शीर्षक के साथ उपन्यास को छापने से मना कर दिया गया। ऐसा इस उपन्यास को लेकर कई बार हुआ। कुछ समय तक उपन्यास पूर्ण होने के बाद भी हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ ऐसे ही पड़ी रही।

अनिल : सर, आपने फिर इस उपन्यास का नाम 'मुन्नी मोबाइल' कैसे उपयुक्त समझा ?

सौरभ : आपने उपन्यास को पड़ा है आप इसकी स्टोरी अच्छी तरह जानते हो। मुन्नी एक आम व्यक्ति या समाज को एक आम जनता का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु राजनीतिक दावपेच के चलते वह आम आदमी से एक डॉन के रूप में अपनी पहचान बनाती है। इस डॉन बनाने के पीछे के कारण उसके साथ हुए दुव्यर्वहार और कानून की लापरवाहिया है जिसके चलते वह न चाहकर भी ऐसा करती है। यही समाज के हर एक व्यक्ति की गाथा है।

अनिल : सर, आपके उपन्यास का विषय तो गुजरात दंगे है। परन्तु दँगों का तो कोई स्पष्ट वर्णन आपने उपन्यास में नहीं किया है। ऐसा क्यों ?

सौरभ : मैं एक रिपोर्टर हूँ मैं अपने कानून और अधिकारों को अच्छी तरह से जानता हूँ। अगर मैं गुजरात दँगों को कहानी को सीधा–सीधा लिखता तो मुझे आम जनता वह सरकार के कड़े विरोधों का सामना करना पड़ता। मैं कानून की नजर में गुनाहगार होता। वैसे भी मैं कई बार इस तरह की गतिविधियों को लेकर जेल जा चुका हूँ। तब की बात ओर थी। मैं युवा था। अन्याय न देखा जाता था उसका

विरोध करता और जेल की हवा खानी पड़ती पर अब मैं इस उम्र में जेल नहीं जाना चाहता .....।

अनिल : सर, आप तो पत्रकारिता से जुड़े थे फिर उपन्यासकार कैसे बने ?

सौरभ : पत्रकारिता ने ही मुझे साहित्यकार बनाया। अगर मैं पत्रकारिता से न जुड़ा होता तो आज साहित्यकार भी नहीं होता।

अनिल : सर, पत्रकारिता ने किस तरह आपको साहित्यकार बनाया ?

सौरभ : जब मैं अपने काम के दौरान कुछ सच्चाईयां सामने लाना चाहता हूँ तब–तब मुझे कड़े विरोध का सामना करना पड़ता है। काफी समय तक मैं चुपी साधे रहा परन्तु अधिक समय तक चुपी साधना सम्भव न हो सका। मैं अपनी बातों को कहने के लिए व्याकुल था ....। ऐसा कोई मुझे जरिचा चाहिए था जो मैं अपनी बातों को कह सकूँ। तब मैंने कलम तो पत्रकारिता के लिए उठा ही रखी थी उसे एक साहित्यकार के रूप में प्रयोग किया। यही मेरे साहित्यक बनने का सफर था .... ।

अनिल : सर, आपके उपन्यास में जो राजनीतिक वर्णन है और एक आम व्यक्ति के संघर्ष की कहानी है वह आज इस समय में कितनी सार्थक है ?

सौरभ : कोई व्यक्ति अपनी मर्जी से अत्याचारी नहीं बनता है। समाज में हुए अत्याचार उसे गुनहगार बना देते है। जब कोई रास्ता नहीं बचता है। तो एक कदम ऐसा उठाना पड़ता है जो एक कदम मौत के करीब तो लाता है परन्तु वह मृत्यु भी उस जीवन से काफी सरल और आनन्दमय प्रतीत होती है। जब वह एक मृत जीवन जीता था।

अनिल : सर, आज की राजनीति के बारे में आपका क्या कहना है ?

सौरभ : 21 वीं सदी की राजनीति या यूँ कहा जा सकता है भूमण्डलीकरण की राजनीति में काफी उथल–पुथल रही है। जितनी उथल–पुथल या तो आजादी के समय रही थी या फिर आज है। उस समय राजनीति देश के संचालन की थी आज

राजनीति का कोई एक विशिष्ट उद्देश्य नहीं रहा है। इतना तो स्पष्ट है कि हर बार देशवासियों के हाथ निराशा ही लगी है। इस निराशा के कारण भिन्न हो सकते है।

अनिल : सर, अभी इस समय में अगर आप कोई और उपन्यास लिखना चाहोगे तो उसका विषय आप क्या रखना पसंद करोगे ?

सौरभ : जब समाज में कोई ऐसी घटना घटित होगी जिसको कलम की आवाज की जरूरत है। जब मेरी कलम उठेगी ओर वही घटना मेरे उपन्यास का विषय बनेगी।

अनिल : सर, हम जैसे युवाओं के लिए आपका क्या संदेश है ?

सौरभ : आप जैसे युवा इस देश में परिवर्तन ला सकते है। वही परिवर्तन जो ये देश चाहता है। एक युवा उस समय आया था जिसने देश को सही आजादी का अर्थ समझाया था (भगत सिहँ) अब देखते है कौन सा युवा किस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आते है। युवा देश की शक्ति है सर्वोच्च शक्ति, परिवर्तन लाने वाली शक्ति ....।

आत्मवृत

नाम : अनिल कुमार

पिता का नाम : श्री सुभाष चन्द्र

माता का नाम : श्रीमति बिमला देवी

जिला : फतेहाबाद

राज्य : हरियाणा

मो. नं. : 9467775358, 8168613068

ई–मेल : anilnoorki1@gmail.com

शैक्षणिक योग्यता :

एम.फिल. हिन्दी, कुरूक्षेत्र यूनिवर्सिटी, कुरूक्षेत्र, हरियाणा (2016)

एम.ए. चौधरी देवीलाल यूनिवर्सिटी, सिरसा, हरियाणा (2014)

बी.ए. चौधरी देवीलाल यूनिवर्सिटी, सिरसा, हरियाणा (2012)

सीनियर सैकण्डरी हरियाणा बोर्ड ऑफ स्कूल एजुकेशन, भिवानी (2009)

मैट्रिक हरियाणा बोर्ड ऑफ स्कूल एजुकेशन, भिवानी (2006)